नाटक समयसार अक्षरशः प्रवचन

भाग-३

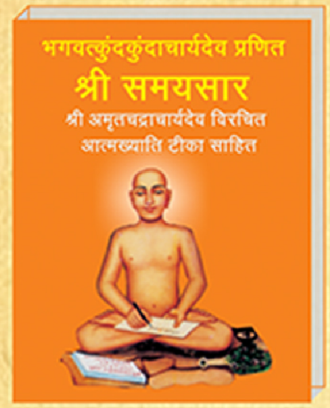

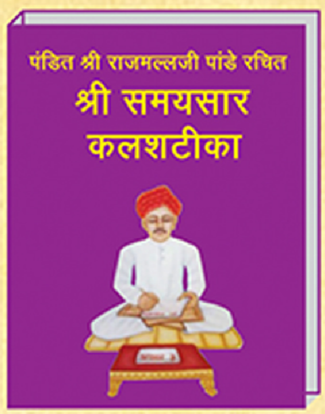

-:प्रकाशक:-
श्री कुंदकुंदकहान दिगंबर
जैन मुमुक्षु मंडल ट्रस्ट
पार्ला-सांताक्रुझ , मुंबई

ॐ

परमात्मने नमः

नाटक समयसार प्रवचन

(भाग-3)

अध्यात्म प्रेमी कविवर पण्डित बनारसीदासजी कृत
नाटक समयसार ग्रन्थ पर
अध्यात्म युगप्रवर्तक पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के
शब्दशः प्रवचन संवर द्वार का सार,
निर्जरा द्वार पद 1 से 61, बन्ध द्वार पद 1 से 51,
प्रवचन क्रमांक 69 से 100

: हिन्दी अनुवाद :

पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन

बिजौलियाँ, जिला-भीलवाड़ा (राज.)

: प्रकाशक :

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र) – 364250

फोन : 02846-244334

: सह-प्रकाशक :

श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट

302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.

वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056

फोन : (022) 26130820

विक्रम संवत
2080

वीर संवत
2550

ई. सन
2024

—: प्रकाशन :—

—: प्राप्ति स्थान :—

1. श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र) – 364250 फोन : 02846-244334

2. श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट
302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.
वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ला (वेस्ट), मुम्बई-400 056
फोन : (022) 26130820, 26104912, 62369046
www.vitragvani.com, email - info@vitragvani.com

टाईप सेटिंग :
विवेक कम्प्यूटर
अलीगढ़।

प्रकाशकीय

नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते।
चित्स्वभावायभावाय: सर्व भावान्तरच्छिदे॥

सदेह विदेह जाकर महाविदेहक्षेत्र में विराजमान त्रिलोकनाथ वीतराग सर्वज्ञ परमदेवाधिदेवश्री सीमन्धर भगवान की दिव्य देशना का अपूर्व संचय करनेवाले, भरतक्षेत्र में सीमन्धर लघुनन्दन, ज्ञानसाम्राज्य के सम्राट, भरतक्षेत्र के कलिकाल सर्वज्ञ, शुद्धात्मा में निरन्तर केली करनेवाले हालते-चालते सिद्ध-सम भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य विक्रम संवत् 49 के वर्ष में हुए हैं।

भगवान महावीर से प्रवाहित ज्ञान में आचार्यों की परम्परा से श्री गुणधर आचार्य को ज्ञानप्रवाद पूर्व के दसवें पूर्व अधिकार के तीसरे प्राभृत का ज्ञान था। तत्पश्चात् के आचार्यों ने अनुक्रम से सिद्धान्त रचे और परम्परा से वह ज्ञान भगवान कुन्दकुन्द आचार्य को प्राप्त हुआ।

भगवान कुन्दकुन्दाचार्य वि.सं. 49 में सदेह महाविदेह में आठ दिन गये थे, उन्होंने श्री सीमन्धर भगवान के श्रीमुख से प्रवाहित श्रुतामृतरूपी ज्ञानसरिता का तथा श्रुतकेवलियों के साथ हुई आध्यात्मिक सूक्ष्मचर्चा का अमूल्य खजाना हृदयगत करके भरतक्षेत्र में आकर पंच परमागम आदि आध्यात्मिक शास्त्रों की रचना की। उनमें का एक श्री समयसारजी द्वितीय श्रुतस्कन्ध का सर्वोत्कृष्ट अध्यात्म शास्त्र है। जिसमें श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने 415 मार्मिक गाथाओं की रचना की है। यह शास्त्र सूक्ष्म दृष्टिप्रधान ग्रन्थाधिराज है, जो भवरहित अशरीरी होने का शास्त्र है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य के बाद लगभग एक हजार वर्ष पश्चात् अध्यात्म के अनाहत प्रवाह की परिपाटी में इस अध्यात्म के अमूल्य खजाने के गहरे हार्द को स्वानुभवगत कर श्री कुन्दकुन्ददेव के ज्ञान हृदय को खोलनवाले, सिद्धपद साधक, मुनिवर सम्पदा को आत्मसात करके निज स्वरूप साधना के अलौकिक अनुभव से श्री समयसार शास्त्र की 415 गाथाओं की टीका करने का सौभाग्य श्री अमृतचन्द्र आचार्यदेव को प्राप्त हुआ। उन्होंने 'आत्मख्याति' नामक टीका की रचना की। तदुपरान्त उन गाथाओं पर 278 मार्मिक कलश तथा परिशिष्ट की रचना की। यह टीका वाँचते हुए परमार्थतत्त्व के मधुर रसास्वादी धर्मजिज्ञासुओं के हृदय में नि:सन्देह आत्मा की अपूर्व महिमा आती है, क्योंकि आचार्यदेव ने इसमें परम हितोपदेशक, सर्वज्ञ वीतराग तीर्थंकर भगवन्तों का हार्द खोलकर अध्यात्मतत्त्व के निधान ठसाठस भर दिये हैं। अध्यात्मतत्त्व के हार्द को सर्वांग प्रकाशित करनेवाली यह 'आत्मख्याति' जैसी सुन्दर टीका अभी तक दूसरी किसी जैन अध्यात्मग्रन्थ की लिखी हुई नहीं है।

श्री समयसार कलश पर अध्यात्मरसिक पण्डित श्री राजमलजी पाण्डे ने टीका लिखी है, जो वि.सं. सत्रहवीं शताब्दी में हुए हैं। वह उन्होंने राजस्थान के ढूंढार प्रदेश में बोली जानेवाली प्राचीन ढूंढारी भाषा में लिखी है। सामान्यबुद्धि के जिज्ञासु जीव भी सरलता से समझ सकें, इस प्रकार विस्तार से स्पष्टतापूर्वक और जोरदार शैली से स्पष्ट किया है। टीका में स्थान-स्थान पर निर्विकल्प सहज

स्वानुभव का अतिशय महत्त्व बतलाया है और उसकी प्राप्ति करने के लिये प्रेरणा दी है। वे कविवर श्री बनारसीदासजी से थोड़े से वर्ष पहले ही हो गये हों, ऐसा विद्वानों का मानना है।

श्री समयसार कलश की विद्वान् पण्डित राजमलजी ने टीका की और उसके आधार से विद्वान् पण्डित कविवर श्री बनारसीदासजी ने 'नाटक समयसार' की रचना की है। यह ग्रन्थ अध्यात्म का एक उज्ज्वल रत्न है।

पण्डित बनारसीदासजी का जन्म वि.सं. 1943 के माघ महीने में मध्य भारत में रोहतकपुर के पास बिहोली गाँव में हुआ था। उनका कुल श्रीमाण था और गोत्र बिहोलिया था। विद्वान कविवर श्री बनारसीदासजी ने पण्डित राजमलजी रचित 'समयसार कलश' के आधार से 'नाटक समयसार' की रचना की है। उसमें मंगलाचरण तथा उत्थानिका के 51 पद, जीवद्वार के 35 पद्य, अजीवद्वार के 14, कर्ता-कर्म-क्रिया द्वार के 36, पुण्य-पाप एकत्व द्वार—16, आस्रव द्वार—15, संवर द्वार—11, निर्जरा द्वार—61, बन्ध द्वार—58, मोक्ष द्वार—53, सर्वविशुद्धिद्वार—137, स्याद्वाद द्वार—21+1, साध्यसाधक द्वार—56, चौदह गुणस्थानाधिकार—115, ग्रन्थ समाप्ति और अन्तिम प्रशस्ति के 40 पद की रचना की गयी है।

वर्तमान इस काल में मोक्षमार्ग प्रायः लुप्त हुआ था। मिथ्यात्व का घोर अन्धकार छाया हुआ था। जैनदर्शन के मूलभूत सिद्धान्त मृतप्रायः हुए थे। परमागम मौजूद होने पर भी उनके गूढ़ रहस्यों को समझानेवाला कोई नहीं था। ऐसे में जैनशासन के नभमण्डल में एक महाप्रतापी वीर पुरुष, अध्यात्ममूर्ति, अध्यात्मयुगसृष्टा, आत्मज्ञसन्त, अध्यात्म युगपुरुष, निष्कारण करुणाशील, भवोदधि तारणहार, भावि तीर्थाधिराज परम पूज्य सद्गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का उदय हुआ।

भारत की भव्य वसुन्धरा, वह सन्तरत्न पकने की पवित्र भूमि है। उसमें सौराष्ट्र का नाम अग्रगण्य है। अर्वाचीनयुग में अध्यात्मप्रधान जैन गगनमण्डल में चमकते नक्षत्र सम समीप समयज्ञ श्रीमद् राजचन्द्र, अध्यात्म युगसृष्टा आत्मज्ञ सन्त पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी और प्रशममूर्ति स्वानुभवविभूषित पवित्रात्मा बहिनश्री चम्पाबेन जैसे असाधारण स्वानुभूति धर्मप्रकाशक साधक महात्माओं की जगत को भेंट देकर, सौराष्ट्र की धरती पुण्यभूमि बनी है। तथा सोनगढ़ में एक ही रात्रि में सम्यग्दर्शन प्राप्त कर श्री निहालचन्द सोगानीजी ने सोनगढ़ से अपनी मोक्षयात्रा शुरु की है।

परम देवाधिदेव चरमतीर्थंकर परम पूज्य श्री महावीरस्वामी की दिव्यध्वनि द्वारा पुनः प्रवाहित और गुरु परम्परा द्वारा सम्प्राप्त जिस परम पावन अध्यात्मप्रवाह को भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने 'परमागम समयसार' इत्यादि प्राभृत भाजनों में सूत्रबद्ध करके चिरंजीवी किया है, उस पुनीत प्रवाह के अमृत का पान करके, अन्तर के पुरुषार्थ द्वारा स्वानुभूति समृद्ध आत्मसाक्षात्कार पाकर, जिन्होंने सौराष्ट्र, गुजरात, समग्र भारतवर्ष तथा विदेश में भी शुद्धात्मतत्त्व प्रमुख अध्यात्मविद्या का पवित्र आन्दोलन

प्रसारित कर वर्तमान सदी के विषमय भौतिकयुग में दु:खी जीवों का उद्धार किया है, वे जिनशासन प्रभावक, करुणामूर्ति परमोपकारी परम पूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजीस्वामी की शुद्धात्म सुधारस मंगलमय पवित्रता, पुरुषार्थ से धधकता ध्येयनिष्ठ सहज वैराग्य नितरता उत्तम बालब्रह्मचर्यसहित पवित्र जीवन, स्वानुभूतिमूलक वीतरागमार्गदर्शक सदुपदेशों और दूसरे अनेकानेक उपकारों का वर्णन चाहे जितना संक्षिप्तरूप से किया जाये तो भी बहुत पृष्ठ भर जायें, ऐसा है।

पूज्य सद्गुरुदेवश्री कानजीस्वामी ने 45-45 वर्षों तक अलौकिक प्रवचनों और तत्त्वचर्चाओं द्वारा मुमुक्षुओं को निहाल कर दिया। उन्होंने 15 शास्त्रों पर सम्पूर्ण तथा अन्य सात शास्त्रों पर अमुक प्रवचन तथा अमुक शास्त्रों पर बहुत बार प्रवचन किये हैं। लगभग 9400 घण्टे के प्रवचन टेप और सी.डी. में संग्रहित किये गये हैं।

यदि अक्षरश: प्रवचन की पुस्तक बनायी जाये तो उसका बहुत लाभ मुमुक्षुओं को होगा। प्रवचन में आये हुए सन्दर्भ को शान्तचित्त से विशेष घोलन कर सके। न समझ में आये हुए सन्दर्भ पूछ सके, तथा किस अपेक्षा से और न्याय पूज्य गुरुदेव निकालकर देते हैं, उसका अवलोकन भी कर सके इत्यादि। अलग-अलग मण्डलों तथा व्यक्तियों की भावना थी कि सभी शास्त्रों के अक्षरश: प्रवचन प्रकाशित हों तो मुमुक्षुओं को बहुत लाभ का कारण होगा।

हमारे पार्ला मण्डल के ट्रस्टियों के समक्ष मुमुक्षुओं ने अनुरोध करने पर उन्होंने सहर्ष स्वीकारता पूर्वक अनुमोदना दी और पार्ला मण्डल ने श्री नाटक समयसार पर अक्षरश: प्रवचन प्रकाशित करने का निर्णय किया और तत्सम्बन्धी सम्पूर्ण कार्यवाही श्री पंकजभाई प्राणभाई कामदार को सौंपी गयी। जिससे मुमुक्षुओं से प्रवचन लिखाना, उन्हें जाँचना, कम्पोज कराना, दो बार प्रूफ रीडिंग और भाषा दृष्टि से चैक कराना तथा प्रकाशित कराना इत्यादि गतिविधियाँ सम्मिलित हैं।

प्रस्तुत प्रवचन ग्रन्थ का हिन्दी भाषी मुमुक्षु समाज भी लाभ प्राप्त करे, इस भावना से और हिन्दी भाषी मुमुक्षु समाज की विशेष माँग को दृष्टिगोचर करते हुए प्रस्तुत प्रवचन ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद और सी.डी. प्रवचन से मिलान करने का कार्य पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियां (राज.) द्वारा किया गया है।

प्रस्तुत प्रवचन ग्रन्थ में नाटक समयसार संवरद्वार का सार, निर्जराद्वार पद 1 से 61 तथा बन्धद्वार पद 1 से 51, के कुल 32 प्रवचन संग्रहित हैं।

सभी आत्मार्थी मुमुक्षुजन प्रस्तुत प्रवचन ग्रन्थ का भरपूर लाभ प्राप्त करें, इस पवित्र भावना के साथ विराम लेते हैं।

ट्रस्टीगण,
श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट,
विले पार्ला, मुम्बई

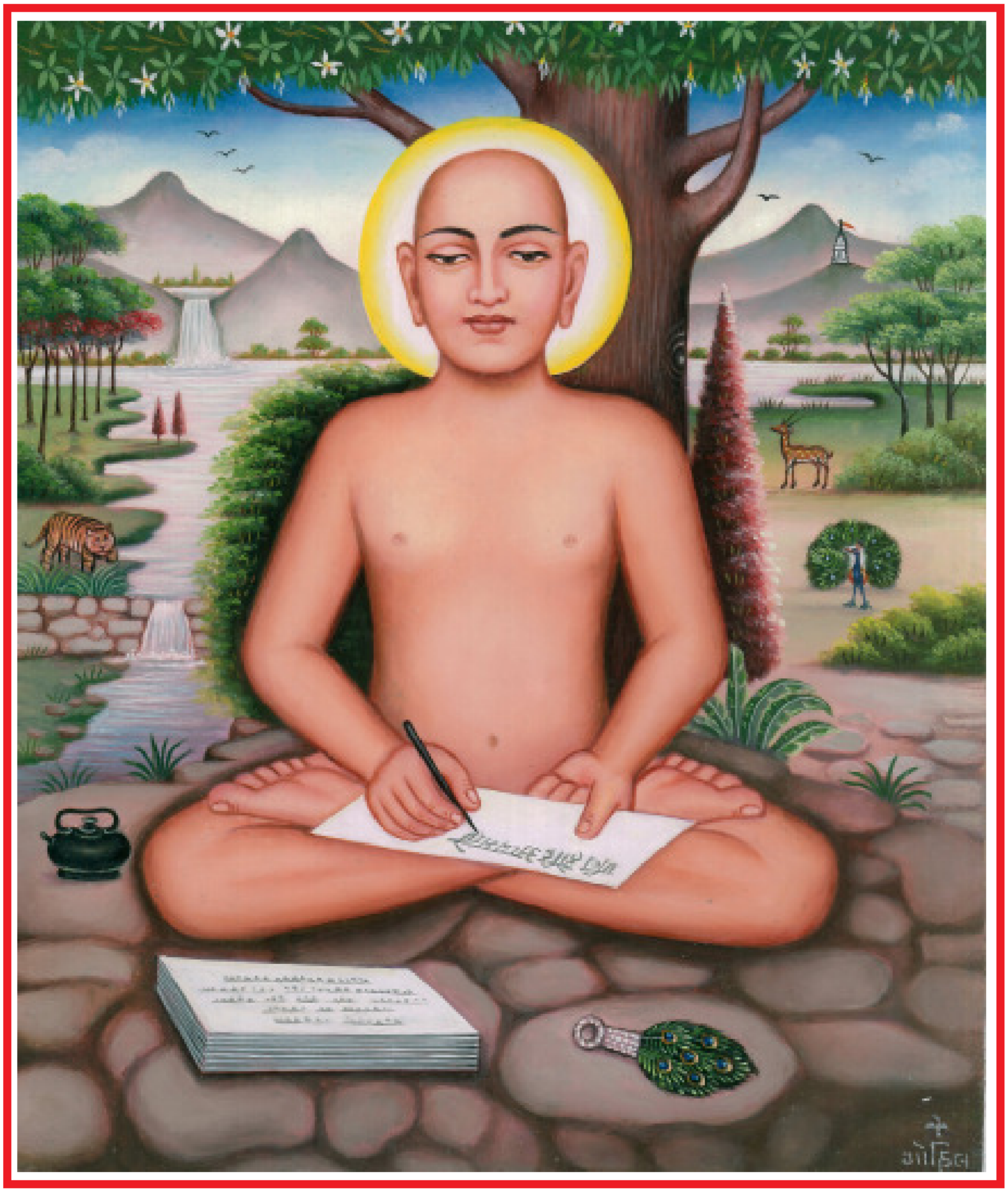

कलिकाल सर्वज्ञ श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव

श्री समयसारजी-स्तुति

(हरिगीत)

संसारी जीवनां भावमरणो टाळवा करुणा करी,
सरिता वहावी सुधा तणी प्रभु वीर! ते संजीवनी;
शोषाती देखी सरितने करुणाभीना हृदये करी,
मुनिकुंद संजीवनी समयप्राभृत तणे भाजन भरी।

(अनुष्टुप)

कुन्दकुन्द रच्युं शास्त्र, साथिया अमृते पूर्या,
ग्रंथाधिराज! तारामां भावो ब्रह्मांडना भर्या।

(शिखरिणी)

अहो! वाणी तारी प्रशमरस-भावे नीतरती,
मुमुक्षुने पाती अमृतरस अंजलि भरी भरी;
अनादिनी मूर्छा विष तणी त्वराथी ऊतरती,
विभावेथी थंभी स्वरूप भणी दोड़े परिणति।

(शार्दूलविक्रीड़ित)

तुं छे निश्चयग्रंथ भंग सघळा व्यवहारना भेदवा,
तुं प्रज्ञाछीणी ज्ञान ने उदयनी संधि सहु छेदवा;
साथीसाधकनो, तुं भानु जगनो, संदेश महावीरनो,
विसामो भवक्लांतना हृदयनो, तुं पंथ मुक्ति तणो।

(वसंततिलका)

सुण्ये तने रसनिबंध शिथिल थाय,
जाण्ये तने हृदय ज्ञानी तणां जणाय;
तुं रुचतां जगतनी रुचि आळसे सौ,
तुं रीझतां सकलज्ञायकदेव रीझे।

(अनुष्टुप)

बनावुं पत्र कुंदननां, रत्नोना अक्षरो लखी;
तथापि कुंदसूत्रोनां अंकाये मूल्य ना कदी।

अध्यात्मयुगसर्जक पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

श्री सद्गुरुदेव-स्तुति

(हरिगीत)

संसारसागर तारवा जिनवाणी छे नौका भली,
ज्ञानी सुकानी मळ्या विना ए नाव पण तारे नहीं;
आ काळमां शुद्धात्मज्ञानी सुकानी बहु बहु दोह्यलो,
मुज पुण्यराशि फळ्यो अहो! गुरु कहान तुं नाविक मळ्यो।

(अनुष्टुप)

अहो! भक्त चिदात्माना, सीमंधर-वीर-कुंदना।
बाह्यांतर विभवो तारा, तारे नाव मुमुक्षुनां।

(शिखरिणी)

सदा दृष्टि तारी विमळ निज चैतन्य नीरखे,
अने ज्ञप्तिमांही दरव-गुण-पर्याय विलसे;
निजालंबीभावे परिणति स्वरूपे जई भळे,
निमित्तो वहेवारो चिद्घन विषे कांई न मळे।

(शार्दूलविक्रीडित)

हैयु 'सत सत, ज्ञान ज्ञान' धबके ने वज्रवाणी छूटे,
जे वज्रे सुमुमुक्षु सत्त्व झळके; परद्रव्य नातो तूटे;
- रागद्वेष रुचे न, जंप न वळे भावेंद्रिमां-अंशमां,
टंकोत्कीर्ण अकंप ज्ञान महिमा हृदये रहे सर्वदा।

(वसंततिलका)

नित्ये सुधाझरण चंद्र! तने नमुं हुं,
करुणा अकारण समुद्र! तने नमुं हुं;
हे ज्ञानपोषक सुमेघ! तने नमुं हुं,
आ दासना जीवनशिल्पी! तने नमुं हुं।

(स्त्रग्धरा)

ऊंडी ऊंडी, ऊंडेथी सुखनिधि सतना वायु नित्ये वहंती,
वाणी चिन्मूर्ति! तारी उर-अनुभवना सूक्ष्म भावे भरेली;
भावो ऊंडा विचारी, अभिनव महिमा चित्तमां लावी लावी,
खोयेलुं रत्न पामुं, - मनरथ मननो; पूरजो शक्तिशाळी!

अध्यात्मयुगसृष्टा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

(संक्षिप्त जीवनवृत्त)

भारतदेश के सौराष्ट्र प्रान्त में, बलभीपुर के समीप समागत 'उमराला' गाँव में स्थानकवासी सम्प्रदाय के दशाश्रीमाली वणिक परिवार के श्रेष्ठीवर्य श्री मोतीचन्दभाई के घर, माता उजमबा की कूख से विक्रम संवत् 1946 के वैशाख शुक्ल दूज, रविवार (दिनाङ्क 21 अप्रैल 1890 – ईस्वी) प्रात:काल इन बाल महात्मा का जन्म हुआ।

जिस समय यह बाल महात्मा इस वसुधा पर पधारे, उस समय जैन समाज का जीवन अन्ध-विश्वास, रूढ़ि, अन्धश्रद्धा, पाखण्ड, और शुष्क क्रियाकाण्ड में फँस रहा था। जहाँ कहीं भी आध्यात्मिक चिन्तन चलता था, उस चिन्तन में अध्यात्म होता ही नहीं था। ऐसे इस अन्धकारमय कलिकाल में तेजस्वी कहानसूर्य का उदय हुआ।

पिताश्री ने सात वर्ष की लघुवय में लौकिक शिक्षा हेतु विद्यालय में प्रवेश दिलाया। प्रत्येक वस्तु के हार्द तक पहुँचने की तेजस्वी बुद्धि, प्रतिभा, मधुरभाषी, शान्तस्वभावी, सौम्य गम्भीर मुखमुद्रा, तथा स्वयं कुछ करने के स्वभाववाले होने से बाल 'कानजी' शिक्षकों तथा विद्यार्थियों में लोकप्रिय हो गये। विद्यालय और जैन पाठशाला के अभ्यास में प्राय: प्रथम नम्बर आता था, किन्तु विद्यालय की लौकिक शिक्षा से उन्हें सन्तोष नहीं होता था। अन्दर ही अन्दर ऐसा लगता था कि मैं जिसकी खोज में हूँ, वह यह नहीं है।

तेरह वर्ष की उम्र में छह कक्षा उत्तीर्ण होने के पश्चात्, पिताजी के साथ उनके व्यवसाय के कारण पालेज जाना हुआ, और चार वर्ष बाद पिताजी के स्वर्गवास के कारण, सत्रह वर्ष की उम्र में भागीदार के साथ व्यवसायिक प्रवृत्ति में जुड़ना हुआ।

व्यवसाय की प्रवृत्ति के समय भी आप अप्रमाणिकता से अत्यन्त दूर थे, सत्यनिष्ठा, नैतिज्ञता, निखालिसता और निर्दोषता से सुगन्धित आपका व्यावहारिक जीवन था। साथ ही आन्तरिक व्यापार और झुकाव तो सतत् सत्य की शोध में ही संलग्न था। दुकान पर भी धार्मिक पुस्तकें पढ़ते थे। वैरागी चित्तवाले कहानकुँवर कभी रात्रि को रामलीला या नाटक देखने जाते तो उसमें से वैराग्यरस का घोलन करते थे। जिसके फलस्वरूप पहली बार सत्रह वर्ष की उम्र में पूर्व की आराधना के संस्कार और मङ्गलमय उज्ज्वल भविष्य की अभिव्यक्ति करता हुआ, बारह लाईन का काव्य इस प्रकार रच जाता है —

शिवरमणी रमनार तूं, तूं ही देवनो देव।

उन्नीस वर्ष की उम्र से तो रात्रि का आहार, जल, तथा अचार का त्याग कर दिया था।

सत्य की शोध के लिए दीक्षा लेने के भाव से 22 वर्ष की युवा अवस्था में दुकान का परित्याग करके, गुरु के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार कर लिया और 24 वर्ष की उम्र में (अगहन शुक्ल 9, संवत् 1970) के दिन छोटे से उमराला गाँव में 2000 साधर्मियों के विशाल जनसमुदाय की उपस्थिति में स्थानकवासी सम्प्रदाय की दीक्षा अंगीकार कर ली। दीक्षा के समय हाथी पर चढ़ते हुए धोती फट जाने से तीक्ष्ण बुद्धि के धारक – इन महापुरुष को शंका हो गयी कि कुछ गलत हो रहा है परन्तु सत्य क्या है ? यह तो मुझे ही शोधना पड़ेगा।

दीक्षा के बाद सत्य के शोधक इन महात्मा ने स्थानकवासी और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समस्त आगमों का गहन अभ्यास मात्र चार वर्ष में पूर्ण कर लिया। सम्प्रदाय में बड़ी चर्चा चलती थी, कि कर्म है तो विकार होता है न ? यद्यपि गुरुदेवश्री को अभी दिगम्बर शास्त्र प्राप्त नहीं हुए थे, तथापि पूर्व संस्कार के बल से वे दृढ़तापूर्वक सिंह गर्जना करते हैं — **जीव स्वयं से स्वतन्त्ररूप से विकार करता है; कर्म से नहीं अथवा पर से नहीं। जीव अपने उल्टे पुरुषार्थ से विकार करता है और सुल्टे पुरुषार्थ से उसका नाश करता है।**

विक्रम संवत् 1978 में महावीर प्रभु के शासन–उद्धार का और हजारों मुमुक्षुओं के महान पुण्योदय का सूचक एक मङ्गलकारी पवित्र प्रसंग बना —

32 वर्ष की उम्र में, विधि के किसी धन्य पल में श्रीमद्‌भगवत् कुन्दकन्दाचार्यदेव रचित 'समयसार' नामक महान परमागम, एक सेठ द्वारा महाराजश्री के हस्तकमल में आया, इन पवित्र पुरुष के अन्तर में से सहज ही उद्‌गार निकले — **'सेठ! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।'** इसका अध्ययन और चिन्तवन करने से अन्तर में आनन्द और उल्लास प्रगट होता है। इन महापुरुष के अन्तरंग जीवन में भी परम पवित्र परिवर्तन हुआ। भूली पड़ी परिणति ने निज घर देखा। तत्पश्चात् श्री प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, मोक्षमार्गप्रकाशक, द्रव्यसंग्रह, सम्यग्ज्ञानदीपिका इत्यादि दिगम्बर शास्त्रों के अभ्यास से आपको नि:शंक निर्णय हो गया कि दिगम्बर जैनधर्म ही मूलमार्ग है और वही सच्चा धर्म है। इस कारण आपकी अन्तरंग श्रद्धा कुछ और बाहर में वेष कुछ — यह स्थिति आपको असह्य हो गयी। अत: अन्तरंग में अत्यन्त मनोमन्थन के पश्चात् सम्प्रदाय के परित्याग का निर्णय लिया।

परिवर्तन के लिये योग्य स्थान की खोज करते–करते सोनगढ़ आकर वहाँ 'स्टार ऑफ इण्डिया' नामक एकान्त मकान में महावीर प्रभु के जन्मदिवस, चैत्र शुक्ल 13, संवत् 1991 (दिनांक 16 अप्रैल 1935) के दिन दोपहर सवा बजे सम्प्रदाय का चिह्न मुँह पट्टी का त्याग कर दिया और स्वयं घोषित किया कि **अब मैं स्थानकवासी साधु नहीं; मैं सनातन दिगम्बर जैनधर्म का श्रावक हूँ।** सिंह–समान वृत्ति के धारक इन महापुरुष ने 45 वर्ष की उम्र में महावीर्य उछाल कर यह

अद्भुत पराक्रमी कार्य किया।

स्टार ऑफ इण्डिया में निवास करते हुए मात्र तीन वर्ष के दौरान ही जिज्ञासु भक्तजनों का प्रवाह दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया, जिसके कारण यह मकान एकदम छोटा पड़ने लगा; अतः भक्तों ने इन परम प्रतापी सत् पुरुष के निवास और प्रवचन का स्थल **'श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर'** का निर्माण कराया। गुरुदेवश्री ने वैशाख कृष्ण 8, संवत् 1994 (दिनांक 22 मई 1938) के दिन इस निवासस्थान में मंगल पदार्पण किया। यह स्वाध्याय मन्दिर, जीवनपर्यन्त इन महापुरुष की आत्मसाधना और वीरशासन की प्रभावना का केन्द्र बन गया।

दिगम्बर धर्म के चारों अनुयोगों के छोटे बड़े 183 ग्रन्थों का गहनता से अध्ययन किया, उनमें से मुख्य 38 ग्रन्थों पर सभा में प्रवचन किये। जिनमें श्री समयसार ग्रन्थ पर 19 बार की गयी अध्यात्म वर्षा विशेष उल्लेखनीय है। प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, परमात्मप्रकाश, नियमसार, पंचास्तिकायसंग्रह, समयसार कलश-टीका इत्यादि ग्रन्थों पर भी बहुत बार प्रवचन किये हैं।

दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले और कुन्दकुन्दादि आचार्यों के गहन शास्त्रों के रहस्योद्घाटक इन महापुरुष की भवताप विनाशक अमृतवाणी को ईस्वी सन् 1960 से नियमितरूप से टेप में उत्कीर्ण कर लिया गया, जिसके प्रताप से आज अपने पास नौ हजार से अधिक प्रवचन सुरक्षित उपलब्ध हैं। यह मङ्गल गुरुवाणी, देश-विदेश के समस्त मुमुक्षु मण्डलों में तथा लाखों जिज्ञासु मुमुक्षुओं के घर-घर में गुंजायमान हो रही है। इससे इतना तो निश्चित है कि भरतक्षेत्र के भव्यजीवों को पञ्चम काल के अन्त तक यह दिव्यवाणी ही भव के अभाव में प्रबल निमित्त होगी।

इन महापुरुष का धर्म सन्देश, समग्र भारतवर्ष के मुमुक्षुओं को नियमित उपलब्ध होता रहे, तदर्थ सर्व प्रथम विक्रम संवत् 2000 के माघ माह से (दिसम्बर 1943 से) **आत्मधर्म** नामक मासिक आध्यात्मिक पत्रिका का प्रकाशन सोनगढ़ से मुरब्बी श्री रामजीभाई माणिकचन्द दोशी के सम्पादकत्व में प्रारम्भ हुआ, जो वर्तमान में भी गुजराती एवं हिन्दी भाषा में नियमित प्रकाशित हो रहा है। पूज्य गुरुदेवश्री के दैनिक प्रवचनों को प्रसिद्धि करता दैनिक पत्र **श्री सद्गुरु प्रवचनप्रसाद** ईस्वी सन् 1950 सितम्बर माह से नवम्बर 1956 तक प्रकाशित हुआ। स्वानुभवविभूषित चैतन्यविहारी इन महापुरुष की मङ्गल-वाणी को पढ़कर और सुनकर हजारों स्थानकवासी श्वेताम्बर तथा अन्य कौम के भव्य जीव भी तत्त्व की समझपूर्वक सच्चे दिगम्बर जैनधर्म के अनुयायी हुए। अरे! मूल दिगम्बर जैन भी सच्चे अर्थ में दिगम्बर जैन बने।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा दिगम्बर आचार्यों और मान्यवर, पण्डितवर्यों के ग्रन्थों तथा पूज्य गुरुदेवश्री के उन ग्रन्थों पर हुए प्रवचन-ग्रन्थों का प्रकाशन कार्य विक्रम संवत् 1999 (ईस्वी सन् 1943 से) शुरु हुआ। इस सत्साहित्य द्वारा वीतरागी तत्त्वज्ञान की

देश-विदेश में अपूर्व प्रभावना हुई, जो आज भी अविरलरूप से चल रही है। परमागमों का गहन रहस्य समझाकर कृपालु कहान गुरुदेव ने अपने पर करुणा बरसायी है। तत्त्वजिज्ञासु जीवों के लिये यह एक महान आधार है और दिगम्बर जैन साहित्य की यह एक अमूल्य सम्पत्ति है।

ईस्वीं सन् 1962 के दशलक्षण पर्व से भारत भर में अनेक स्थानों पर पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रवाहित तत्त्वज्ञान के प्रचार के लिए प्रवचनकार भेजना प्रारम्भ हुआ। इस प्रवृत्ति से भारत भर के समस्त दिगम्बर जैन समाज में अभूतपूर्व आध्यात्मिक जागृति उत्पन्न हुई। आज भी देश-विदेश में दशलक्षण पर्व में सैकड़ों प्रवचनकार विद्वान इस वीतरागी तत्त्वज्ञान का डंका बजा रहे हैं।

बालकों में तत्त्वज्ञान के संस्कारों का अभिसिंचन हो, तदर्थ सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 (ईस्वीं सन् 1941) के मई महीने के ग्रीष्मकालीन अवकाश में बीस दिवसीय धार्मिक शिक्षण वर्ग प्रारम्भ हुआ, बड़े लोगों के लिये प्रौढ़ शिक्षण वर्ग विक्रम संवत् 2003 के श्रावण महीने से शुरु किया गया।

सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 - फाल्गुन शुक्ल दूज के दिन नूतन दिगम्बर जिनमन्दिर में कहानगुरु के मङ्गल हस्त से श्री सीमन्धर आदि भगवन्तों की पंच कल्याणक विधिपूर्वक प्रतिष्ठा हुई। उस समय सौराष्ट्र में मुश्किल से चार-पाँच दिगम्बर मन्दिर थे और दिगम्बर जैन तो भाग्य से ही दृष्टिगोचर होते थे। जिनमन्दिर निर्माण के बाद दोपहरकालीन प्रवचन के पश्चात् जिनमन्दिर में नित्यप्रति भक्ति का क्रम प्रारम्भ हुआ, जिसमें जिनवर भक्त गुरुराज हमेशा उपस्थित रहते थे, और कभी-कभी अतिभाववाही भक्ति भी कराते थे। इस प्रकार गुरुदेवश्री का जीवन निश्चय-व्यवहार की अपूर्व सन्धियुक्त था।

ईस्वी सन् 1941 से ईस्वीं सन् 1980 तक सौराष्ट्र-गुजरात के उपरान्त समग्र भारतदेश के अनेक शहरों में तथा नैरोबी में कुल 66 दिगम्बर जिनमन्दिरों की मङ्गल प्रतिष्ठा इन वीतराग-मार्ग प्रभावक सत्पुरुष के पावन कर-कमलों से हुई।

जन्म-मरण से रहित होने का सन्देश निरन्तर सुनानेवाले इन चैतन्यविहारी पुरुष की मङ्गलकारी जन्म-जयन्ती 59 वें वर्ष से सोनगढ़ में मनाना शुरु हुआ। तत्पश्चात् अनेकों मुमुक्षु मण्डलों द्वारा और अन्तिम 91 वें जन्मोत्सव तक भव्य रीति से मनाये गये। 75 वीं हीरक जयन्ती के अवसर पर समग्र भारत की जैन समाज द्वारा चाँदी जड़ित एक आठ सौ पृष्ठीय अभिनन्दन ग्रन्थ, भारत सरकार के तत्कालीन गृहमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री द्वारा मुम्बई में देशभर के हजारों भक्तों की उपस्थिति में पूज्यश्री को अर्पित किया गया।

श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रा के निमित्त समग्र उत्तर और पूर्व भारत में मङ्गल विहार ईस्वी सन् 1957 और ईस्वी सन् 1967 में ऐसे दो बार हुआ। इसी प्रकार समग्र दक्षिण और

मध्यभारत में ईस्वी सन् 1959 और ईस्वी सन् 1964 में ऐसे दो बार विहार हुआ। इस मङ्गल तीर्थयात्रा के विहार दौरान लाखों जिज्ञासुओं ने इन सिद्धपद के साधक सन्त के दर्शन किये, तथा भवान्तकारी अमृतमय वाणी सुनकर अनेक भव्य जीवों के जीवन की दिशा आत्मसन्मुख हो गयी। इन सन्त पुरुष को अनेक स्थानों से अस्सी से अधिक अभिनन्दन पत्र अर्पण किये गये हैं।

श्री महावीर प्रभु के निर्वाण के पश्चात् यह अविच्छिन्न पैंतालीस वर्ष का समय (वीर संवत् 2461 से 2507 अर्थात् ईस्वी सन् 1935 से 1980) वीतरागमार्ग की प्रभावना का स्वर्णकाल था। जो कोई मुमुक्षु, अध्यात्म तीर्थधाम स्वर्णपुरी / सोनगढ़ जाते, उन्हें वहाँ तो चतुर्थ काल का ही अनुभव होता था।

विक्रम संवत् 2037, कार्तिक कृष्ण 7, दिनांक 28 नवम्बर 1980 शुक्रवार के दिन ये प्रबल पुरुषार्थी आत्मज्ञ सन्त पुरुष — देह का, बीमारी का और मुमुक्षु समाज का भी लक्ष्य छोड़कर अपने ज्ञायक भगवान के अन्तरध्यान में एकाग्र हुए, अतीन्द्रिय आनन्दकन्द निज परमात्मतत्त्व में लीन हुए। सायंकाल आकाश का सूर्य अस्त हुआ, तब सर्वज्ञपद के साधक सन्त ने मुक्तिपुरी के पन्थ में यहाँ भरतक्षेत्र से स्वर्गपुरी में प्रयाण किया। वीरशासन को प्राणवन्त करके अध्यात्म युग सृजक बनकर प्रस्थान किया।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस युग का एक महान और असाधारण व्यक्तित्व थे, उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने सत्य से अत्यन्त दूर जन्म लेकर स्वयंबुद्ध की तरह स्वयं सत्य का अनुसन्धान किया और अपने प्रचण्ड पुरुषार्थ से जीवन में उसे आत्मसात किया।

इन विदेही दशावन्त महापुरुष का अन्तर जितना उज्ज्वल है, उतना ही बाह्य भी पवित्र है; ऐसा पवित्रता और पुण्य का संयोग इस कलिकाल में भाग्य से ही दृष्टिगोचर होता है। आपश्री की अत्यन्त नियमित दिनचर्या, सात्विक और परिमित आहार, आगम सम्मत्त संभाषण, करुण और सुकोमल हृदय, आपके विरल व्यक्तित्व के अभिन्न अवयव हैं। शुद्धात्मतत्त्व का निरन्तर चिन्तवन और स्वाध्याय ही आपका जीवन था। जैन श्रावक के पवित्र आचार के प्रति आप सदैव सतर्क और सावधान थे। जगत् की प्रशंसा और निन्दा से अप्रभावित रहकर, मात्र अपनी साधना में ही तत्पर रहे। आप भावलिंगी मुनियों के परम उपासक थे।

आचार्य भगवन्तों ने जो मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उसे इन रत्नत्रय विभूषित सन्त पुरुष ने अपने शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति के आधार से सातिशय ज्ञान और वाणी द्वारा युक्ति और न्याय से सर्व प्रकार से स्पष्ट समझाया है। द्रव्य की स्वतन्त्रता, द्रव्य-गुण-पर्याय, उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार, क्रमबद्धपर्याय, कारणशुद्धपर्याय, आत्मा का शुद्धस्वरूप, सम्यग्दर्शन,

और उसका विषय, सम्यग्ज्ञान और ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता, तथा सम्यक्चारित्र का स्वरूप इत्यादि समस्त ही आपश्री के परम प्रताप से इस काल में सत्यरूप से प्रसिद्धि में आये हैं। आज देश-विदेश में लाखों जीव, मोक्षमार्ग को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं - यह आपश्री का ही प्रभाव है।

समग्र जीवन के दौरान इन गुणवन्ता ज्ञानी पुरुष ने बहुत ही अल्प लिखा है क्योंकि आपको तो तीर्थङ्कर की वाणी जैसा योग था, आपकी अमृतमय मङ्गलवाणी का प्रभाव ही ऐसा था कि सुननेवाला उसका रसपान करते हुए थकता ही नहीं। दिव्य भावश्रुतज्ञानधारी इस पुराण पुरुष ने स्वयं ही परमागम के यह सारभूत सिद्धान्त लिखाये हैं :—

1. एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करता।
2. प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध ही होती है।
3. उत्पाद, उत्पाद से है; व्यय या ध्रुव से नहीं।
4. उत्पाद, अपने षट्कारक के परिणमन से होता है।
5. पर्याय के और ध्रुव के प्रदेश भिन्न हैं।
6. भावशक्ति के कारण पर्याय होती ही है, करनी नहीं पड़ती।
7. भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है।
8. चारों अनुयोगों का तात्पर्य वीतरागता है।
9. स्वद्रव्य में भी द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद करना, वह अन्यवशपना है।
10. ध्रुव का अवलम्बन है परन्तु वेदन नहीं; और पर्याय का वेदन है, अवलम्बन नहीं।

इन अध्यात्मयुगसृष्टा महापुरुष द्वारा प्रकाशित स्वानुभूति का पावन पथ जगत में सदा जयवन्त वर्तो!

तीर्थङ्कर श्री महावीर भगवान की दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले शासन स्तम्भ श्री कहानगुरुदेव त्रिकाल जयवन्त वर्तो!!

सत्पुरुषों का प्रभावना उदय जयवन्त वर्तो!!!

❖ ❖ ❖

अनुक्रमणिका

प्रवचन नं.	अधिकार तथा पद नम्बर	पृष्ठ नं.
६९.	**संवर द्वार सार** तथा **निर्जरा द्वार** पद —१,२	१
७०.	निर्जरा द्वार, पद—१, २, ३, ४, ५	२०
७१.	निर्जरा द्वार, पद—६, ७, ८, ९	३७
७२.	निर्जरा द्वार, पद—१०, ११, १२	५५
७३.	निर्जरा द्वार, पद—१३ से १६	७४
७४.	निर्जरा द्वार, पद—१७ से २०	९५
७५.	निर्जरा द्वार, पद—२० से २४	११५
७६.	निर्जरा द्वार, पद—२५ से २९	१३७
७७.	निर्जरा द्वार, पद—३० से ३३	१५६
७८.	निर्जरा द्वार, पद—३४ से ३८	१७३
७९.	निर्जरा द्वार, पद—३९ से ४२	१९१
८०.	निर्जरा द्वार, पद—४३, ४४, ४५	२०८
८१.	निर्जरा द्वार, पद—४६ से ४९	२२६
८२.	निर्जरा द्वार, पद—५०, ५१, ५२	२४६
८३.	निर्जरा द्वार, पद—५३, ५४	२६४
८४.	निर्जरा द्वार, पद—५५, ५६, ५७	२८१
८५.	निर्जरा द्वार, पद—५८ से ६१ तथा सार	२९९
८६.	निर्जरा द्वार का सार	३२०
८७.	**बन्ध द्वार,** पद—१,२,३,४	३३८
८८.	बन्ध द्वार, पद—४,५,६	३३८
८९.	बन्ध द्वार, पद—७ से १२	३७५
९०.	बन्ध द्वार, पद—१३,१४,१५	३९६
९१.	बन्ध द्वार, पद—१६,१७,१८	४१७
९२.	बन्ध द्वार, पद—१८,१९,२०	४३७
९३.	बन्ध द्वार, पद—२१ से २४	४५४
९४.	बन्ध द्वार, पद—२५ से २७	४७७
९५.	बन्ध द्वार, पद—२७ से ३०	४९६
९६.	बन्ध द्वार, पद—३१ से ३४	५१६
९७.	बन्ध द्वार, पद—३५ से ३९	५३५
९८.	बन्ध द्वार, पद—४० से ४४	५५४
९९.	बन्ध द्वार, पद—४५ से ४८	५७७
१००.	बन्ध द्वार, पद—४८ से ५१	६०१

ॐ

॥ श्री परमात्मने नमः ॥

नाटक समयसार प्रवचन

(भाग - 3)

कविवर पण्डित बनारसीदासजी कृत **नाटक समयसार** पर
अध्यात्मयुगपुरुष पूज्य सद्गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के
अक्षरश: प्रवचन

प्रवचन नं. ६९, चैत्र शुक्ल १४, शुक्रवार, दिनांक ०९-४-१९७१
संवर द्वार का सार तथा निर्जरा द्वार, काव्य १, २

संवर द्वार का सार

पूर्व अधिकार में कह आये हैं कि मिथ्यात्व ही आस्रव है, इसलिए आस्रव का निरोध अर्थात् सम्यक्त्व संवर है। यह संवर निर्जरा का और अनुक्रम से मोक्ष का कारण है। जब आत्मा स्वयं बुद्धि से अथवा श्रीगुरु के उपदेश आदि से आत्म-अनात्म का भेदविज्ञान अथवा स्वभाव-विभाव की पहिचान करता है, तब सम्यग्दर्शन गुण प्रगट होता है। स्व को स्व और पर को पर जानना इसी का नाम भेदविज्ञान है, इसी को स्व-पर विवेक कहते हैं। 'तासु ज्ञानकौ कारन स्व-पर विवेक बखानौ' की उक्ति से भेदविज्ञान सम्यग्दर्शन का कारण है। जिस प्रकार कपड़ा साफ करने में साबु सहायक है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में भेदविज्ञान सहायक होता है और जब कपड़े साफ हो जावें, तब साबुन का कुछ काम नहीं रहता और यदि साबुन हो तो एक बोझ ही होता है; उसी प्रकार सम्यग्दर्शन हुए पीछे जब स्व-पर के विकल्प की आवश्यकता नहीं रहती, तब भेदविज्ञान हेय ही होता है। भाव यह है कि भेदज्ञान प्रथम अवस्था में उपादेय है और सम्यग्दर्शन निर्मल हुए पीछे उसका कुछ काम नहीं है, हेय है। भेदविज्ञान यद्यपि

हेय है तो भी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का कारण होने से उपादेय है, इसलिए स्वगुण और परगुण की परख करके परपरिणति से विरक्त होना चाहिए और शुद्ध अनुभव का अभ्यास करके समताभाव ग्रहण करना चाहिए।

संवर द्वार के सार पर प्रवचन

नाटक समयसार, संवरद्वार का सार। **पूर्व अधिकार में कह आये हैं...** पहले ऐसा कहा गया है।

मुमुक्षु : आज तो गुजराती चलेगा न!

पूज्य गुरुदेवश्री : आज तो गुजराती। यह तो वे थे... एक भाई ने कहा है। कुछ कहा है, हिन्दी, कहो हिन्दी। पूर्व में कहा गया है कि मिथ्यात्व ही आस्रव है। मुख्य आस्रव मिथ्यात्व को कहा। चारित्रदोष जो हो, पीछे, वह तो गौण आस्रव है। और जिसे बहुत अल्पस्थिति, रसवाले परिणाम हैं, उसे मुख्यरूप से आस्रव कहा नहीं गया। दुनिया उसे मुख्य करे, हिंसा के परिणाम क्रोध, मान, माया के भाव वे पाप हैं और वे मुख्य हैं, ऐसा करे दुनिया।

यहाँ कहते हैं कि मिथ्यात्व के परिणाम वे ही मुख्यरूप से बन्धन का कारण हैं। मिथ्यात्व की व्याख्या कठिन। कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र को माने, उसे मिथ्यात्व है। तदुपरान्त देहादि की क्रिया को 'मैं कर सकता हूँ', यह भी मिथ्यात्व है। अन्तर में पाप के भाव में मजा आये, वह भी मिथ्यात्व है; पुण्य के भाव में ठीक लगे, हित लगे, यह भी (मिथ्यात्व है)।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : उसमें मिठास लगे, सुखबुद्धि। उसमें हितबुद्धि कि यह मेरे हित का कारण है।

मुमुक्षु : वह सुख का कारण, यह हित का कारण।

पूज्य गुरुदेवश्री : दोनों एक ही है, परन्तु दूसरी भाषा से... ऐसा जो मिथ्यात्वभाव

अर्थात् एक समय की पर्याय पर दृष्टि रखना, वह भी मिथ्यात्वभाव है और मिथ्यात्वभाव, वही आस्रव है। समझ में आया?

मिथ्यात्व, वही वास्तव में पाप है, ऐसा कहा। विपरीत मान्यता... आत्मा आनन्द और अनाकुल शान्तस्वरूप है, उसे उस प्रकार से न मानकर, न जानकर, न अनुभव करके 'किसी भी निमित्त के सम्बन्ध से मुझे धर्म का लाभ होता है, मैं दूसरे को निमित्त होकर दूसरे को धर्म का लाभ होता'—यह सब मिथ्यात्व है।

मुमुक्षु : सर्वत्र से लागू पड़े?

पूज्य गुरुदेवश्री : सूक्ष्म बात है। कहो, पण्डितजी! लाभ तो स्व-स्वरूप चैतन्यमूर्ति आत्मा अनन्त-अनन्त गुण का एकरूप, उसके आश्रय बिना लाभ तीन काल में दूसरे से है (नहीं)। ऐसा मान लिया जाये उसमें (कि) सम्मेदशिखर से लाभ होगा, गिरनार से होगा, शास्त्र पढ़ने से मुझे लाभ होगा। कठिन बात, भाई!

मिथ्यात्व का स्वरूप बहुत सूक्ष्म है। भगवान आत्मा... इसलिए यहाँ कहा, मिथ्यात्व, वही पाप है। पश्चात् पुण्य और पाप दोनों विकल्प है, वे मेरे हैं... जिसे मेरे माना, उस पर उसकी दृष्टि होती है, इसलिए उसे यहाँ मिथ्यात्व कहा जाता है। कहो, प्रकाशदासजी! यह महाव्रत के परिणाम राग हैं, उनसे लाभ माने तो मिथ्यात्व है, महापाप है, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : तब धर्म, ऐसा होगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : पहले धर्म होगा, ऐसा कहते हैं, तब। परन्तु माना था सही न!

मुमुक्षु : हजार बार।

पूज्य गुरुदेवश्री : ...उस समय माना हो न। यह धर्म है, ऐसा माना हो न। आहाहा! वृत्ति उत्पन्न हो (कि) 'इसे नहीं मारूँ और इसे दुःख नहीं दूँ, इसे यह करूँ' वह विकल्पमात्र विकार है। और 'वह विभाव मेरा स्वभाव है और मेरा स्वरूप है', यह मान्यता एकदम मिथ्यात्व है।

इसलिए यहाँ मिथ्यात्व, वही आस्रव—ऐसा लिया न, 'ही' कहा न! 'ही' अर्थात्

मिथ्यात्व ही आस्रव है। भाई! एकान्त हो जाता है इसमें। ऐई! मिथ्यात्व आस्रव है, परन्तु शास्त्र में मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग...

मुमुक्षु : सब मिथ्यात्व है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सब मिथ्यात्व—उल्टी श्रद्धा है, वहाँ ही ये पाँचों परिणाम अशुद्ध होते हैं। जहाँ मिथ्यात्व नहीं, वहाँ अशुद्ध परिणाम होते ही नहीं। आहाहा! क्योंकि मिथ्यात्व है वह, एक समय की पर्याय और राग और निमित्त के ऊपर अस्तित्व का स्वीकार है, वही मिथ्यात्व है और उसके साथ अव्रत, प्रमाद, कषाय, योग के पाप भी उसके साथ होते हैं।

इसलिए आस्रव का निरोध सम्यक्त्व संवर है। देखो! यह आस्रव कौन? कि यह मिथ्यात्व, ऐसा। उसे आस्रव कहा न! **इसलिए आस्रव का निरोध सम्यक्त्व संवर है।** भगवान आत्मा निमित्त, राग और अल्पज्ञपने से रुचि उठाकर, पूर्ण स्वरूप में रुचि को पसरावे, उसका नाम सम्यग्दर्शन। और सम्यग्दर्शन है, वह स्वयं शुद्ध है और उसका विषय भी शुद्ध है, इसलिए सम्यग्दृष्टि को अशुद्धता का उत्पन्न होना (रहता) नहीं, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? क्योंकि मिथ्यात्व गया, वहाँ अव्रत, प्रमाद, कषाय, योग के जो अशुद्ध परिणाम हैं, वे मेरा स्वभाव ही नहीं। मेरे स्वभाव में—द्रव्य में नहीं, गुण में नहीं और पर्याय में भी वे नहीं। आहाहा! ऐसे मिथ्यात्व का निरोध होने से अर्थात् कि आस्रव का निरोध कहो या मिथ्यात्व का निरोध कहो। क्योंकि मिथ्यात्व को ही यहाँ आस्रव कहा गया है। सम्यक् संवर होता है। सम्यक्त्व संवर होता है। वहाँ मिथ्यात्व—विपरीत श्रद्धा का व्यय हुआ और शुद्ध आनन्दस्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ, वह उत्पाद हुआ। उस शुद्धता के उत्पाद में मिथ्यात्वरूपी अशुद्धता का आस्रव है नहीं। उसके साथ व्रतादि का आस्रव वास्तव में समकिती को है (नहीं)। समझ में आया? गजब भाई!

और **यह संवर निर्जरा का और अनुक्रम से मोक्ष का कारण है...** लो, सम्यग्दर्शन, वह संवर (अर्थात्) मिथ्यात्व के आस्रव का रुंधन। वही संवर और उसी संवर से निर्जरा। वह संवरपूर्वक निर्जरा होती है। अशुद्धता टलती है, कर्म गलते हैं, शुद्धता

बढ़ती है। समझ में आया? अरे व्याख्या गजब! सम्प्रदाय के साथ तो कहीं मिलान खाये नहीं। लगे कि यह चबूतरा अलग लगता है।

मुमुक्षु : अलग नहीं, विपरीत है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कहो, पण्डितजी! आहाहा! संवर निर्जरा का... 'यह' अर्थात् समकित, ऐसा। सम्यग्दर्शन आत्मा का शुद्ध चैतन्य अखण्ड, अभेदस्वरूप का अन्तर अनुभव और उसमें प्रतीति, वही सम्यग्दर्शन (रूपी) संवर-निर्जरा का और अनुक्रम से मोक्ष का कारण है। वह सम्यग्दर्शन ही निर्जरा और मोक्ष का कारण है, ऐसा कहते हैं। कहो, क्रम अच्छा रखा। जो सम्यक् चैतन्यवस्तु का अनुभव, शुद्धता का अनुभव, उसमें प्रतीति, वह सम्यग्दर्शन है। वही संवर और वही संवर और निर्जरा का कारण। सम्यग्दर्शन संवर का कारण, सम्यग्दर्शन निर्जरा का—अशुद्धता के नाश का कारण, सम्यग्दर्शन अनुक्रम से मोक्ष का कारण है। समझ में आया?

यह सम्यग्दर्शन क्या, इसकी कीमत नहीं होती। और यह राग घटाओ, क्रिया की और दया पालन की और व्रत पालन किये और तपस्या-अपवास किये, सब लंघन है। लंघन है?

मुमुक्षु : आत्मा को पहिचाना नहीं और ....

पूज्य गुरुदेवश्री : जहाँ से लाभ हो, उस चीज़ को तो जाना नहीं और अलाभ हो, ऐसे विकल्प खड़े किये। समझ में आया? कहते हैं, वही संवर, निर्जरा और अनुक्रम से मोक्ष का कारण है। आत्मा अखण्ड आनन्द शुद्ध का अनुभव (और) राग और पुण्य का अनुभव नहीं, क्योंकि वह तो अशुद्ध है। समझ में आया? पुण्य-पाप की वृत्तियाँ विकल्प उठे, उसका अनुभव नहीं, ऐसा कहते हैं। भगवान शुद्धस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, चैतन्यस्वरूप, आनन्दस्वरूप का अनुभव, ऐसा जो सम्यग्दर्शन, वही संवर का कारण और वही अशुद्धता और कर्म को गलाने का कारण है। कर्म तो अपने आप गलते हैं परन्तु असद्भूतव्यवहारनय के कथन ऐसे होते हैं।

कर्म को टालना, वह कहीं आत्मा का अधिकार नहीं है, परन्तु आत्मा अपने स्वरूप की दृष्टि और अनुभव करे, इससे उस काल में कर्म के उदय का परिणमन

अकर्मरूप परिणम जाये, उसे आत्मा ने टाला और निर्जरा की जड़ की, ऐसा कहा जाता है। झूठी दृष्टि से कहा जाता है, असद्भूतव्यवहार से। कहो, समझ में आया? **जब आत्मा स्वयं बुद्धि से...** अब कहते हैं कि कैसे उत्पन्न होता है वह? आत्मा स्वयं अपने कारण से सीधा स्वभाव को अनुभव करके, पकड़कर, **अथवा श्रीगुरु के उपदेश आदि से...**

मुमुक्षु : गुरु उपदेश आया।

पूज्य गुरुदेवश्री : उपदेश आदि से... निसर्गज और अधिगम, दो कहना है न! निसर्गज है (अर्थात्) या अपने आप प्राप्त करता है कि यह वस्तु का स्वरूप है, अथवा निमित्त—सुनकर फिर अन्तर में उतरता है, ऐसा कहना है। उतरता है तो अन्दर में। कुछ निमित्त के सामने लक्ष्य रखकर अन्दर में उतरना बने? बाहर लक्ष्य, वह तो बाह्यलक्षी है। गुरु और गुरु का उपदेश, वह सुनता है, वह तो बाह्यलक्षी है। भारी कठिन काम! समझ में आया? परन्तु व्यवहार से ऐसा कहने में आता है।

श्रीगुरु के उपदेश आदि से आत्मा अनात्मा का भेदविज्ञान... भगवान के उपदेश में आया क्या? शास्त्र आदि में, है न! शास्त्र का वाँचन करे, गुरु ने कहा (उसे) सुनकर। वह शास्त्र में या गुरु के वचनों में यह आता है कि तेरा आत्मा पूर्णानन्द शुद्ध है, वह अशुद्धता के राग से भिन्न है। तू अशुद्धता कर तो तुझे शुद्धता प्रगटे, ऐसा उपदेश ज्ञानी का और शास्त्र का होता (नहीं)। ऐसा जो उपदेश है, वह मिथ्यादृष्टि का उपदेश है। समझ में आया? यह व्रत पालन करो और तपस्या करो बाहर की, उससे तुमको धर्म होगा, यह उपदेश मिथ्यादृष्टि का है और उपदेश मिथ्यात्व है। वह मिथ्यात्व का पोषक उपदेश है। वह गुरु का और शास्त्र का उपदेश नहीं है।

गुरु का और शास्त्र का उपदेश तो, 'तू तुझमें अन्दर में देख। तुझमें आनन्द और शान्ति की सम्पदा बेहद-अनन्त पड़ी है। जिसका स्वभाव है, उसकी मर्यादा क्या?' ऐसे अन्तर्मुख के ध्येय में जो चैतन्य को पकड़े, ऐसा उपदेश गुरु ने किया है, ऐसा कहते हैं। हमारे सामने देखेगा तो तुझे मिलेगा, ऐसा नहीं कहा था।

मुमुक्षु : पहले तो गुरु के सामने देखना पड़े न?

पूज्य गुरुदेवश्री : हो, परन्तु सामने देखा, इसलिए अन्दर में जा सकता है—ऐसा नहीं है।

मुमुक्षु : आपकी बात सच्ची।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो वस्तु की स्थिति ऐसी है। बहिर्मुख के लक्ष्य से अन्तर्मुख में जाया जाये? मुख ऐसे रखना और एकाग्रता अन्दर में हो?

मुमुक्षु : पहला उपदेश, अन्दर जाये बाद में...

पूज्य गुरुदेवश्री : बाद में नहीं। पहले जाये, तब उसको—उपदेश को निमित्त कहा जाता है, ऐसा कहते हैं। यहाँ तो, उपदेश आदि से आत्मा-अनात्मा का भेदज्ञान होता है। होता है, तब उसे गुरु के उपदेश से हुआ, ऐसा कहा जाता है। असद्भूत-व्यवहारनय से कहा जाता है। ऐसी बात! इनको अभी ही पूछते हैं, कितना अन्तर है इसमें?

मुमुक्षु : पूरा-पूरा।

पूज्य गुरुदेवश्री : लो, पूरा-पूरा अन्तर है, कहते हैं।

आत्मा अनात्मा... भगवान आत्मा तो आनन्द और शुद्ध चैतन्यधातु और अनात्मा, वह विकल्प और राग आदि सब अनात्मा। दो ही बात, एक ज्ञान—एक अज्ञान, एक आत्मा—एक अनात्मा। ऐसा या अपने अन्तर से हो, या गुरु ने कहा, फिर विचार करके अन्तर में उतरे तो हो। कहो, समझ में आया? **आत्मा अनात्मा का भेदविज्ञान...** भेदविज्ञान है न! दो की भिन्नता। यह राग का विकल्प और आत्मा शुद्धचैतन्य, दो की भिन्नता का भेदविज्ञान... **अथवा स्वभाव-विभाव की पहिचान करता है, तब सम्यग्दर्शन गुण प्रगट होता है।** देखो, पण्डितजी! 'गुण' शब्द प्रयोग किया है। 'सम्यग्दर्शन' गुण है? वह तो पर्याय है। **स्वभाव-विभाव की पहिचान करता है।** शुद्ध चैतन्यस्वभाव, वह आत्मा और विकल्पमात्र उठे, वह अनात्मा अर्थात् विभाव। ऐसे विभाव और स्वभाव की अन्तर में भेदज्ञान द्वारा पहिचान करता है, **तब सम्यग्दर्शन गुण प्रगट होता है।** देखो, यह प्रगट होने की क्रिया! तब उसे सम्यग्दर्शन—ऐसी पर्याय प्रगट होती है। हुई, वह संवर है और उस संवरपूर्वक निर्जरा और निर्जरापूर्वक मोक्ष, वह समकित से होता है। इसके बिना लाख उपाय दूसरे करे, उससे कुछ होता नहीं। समझ में आया?

स्व को स्व और पर को पर जानना, इसी का नाम भेदविज्ञान है। अपनी निज सम्पदा शुद्ध चैतन्य जाननस्वभाव, आनन्दस्वभाव वह स्व और विकल्प आदि पर... पर को पर जानना और स्व को स्व, इसी का नाम भेदविज्ञान है। इसका नाम भेद अर्थात् दो पृथक् है, उन्हें पृथक्रूप से जानना, इसका नाम भेदविज्ञान। कहो, समझ में आया? **इसी को स्व-पर विवेक कहते हैं।** भेदविज्ञान को स्व-पर की भिन्नता का विवेक कहते हैं। 'धर्म विवेके नीपजे, जो समझे तो थाय।' आता है न? वह विवेक यह। विवेक यह बाहर का करना और बड़े लोग आये और विवेक करना और यह करना, वह विवेक नहीं। बड़े व्यक्ति जैसा भगवान आत्मा, उसका आदर करना और राग का आदर छोड़ना। राग का आदर नहीं करना। ऐसे स्व-पर के विवेक को भेदज्ञान कहा जाता है। बहुत सादी भाषा प्रयोग की है, लो! आहाहा! तब वह सुख के पंथ में मुड़े, बाकी यह सब दुःख के पंथ में मुड़े हुए हैं। समझ में आया?

यह पुण्य-पाप के भाव, इनके फल, उनमें जब तक इसकी मिठास है, तब तक उनके अस्तित्व का स्वीकार करनेवाला मिथ्यादृष्टि दुःख के पंथ में है, यह सब पैसेवाले दिखते हैं और लाल-पीले-सफेद दिखते हैं और लाख-लाख रुपये की मोटरें, क्या कहलाता है? ऊँची मोटर नहीं आती लाख-लाख की? इनके आवे मलूकचन्दभाई के। वहाँ रहे हैं न इनके घर में। ईम्पाला और चंपाला, क्या ऐसा कुछ बोलते थे।

मुमुक्षु : ईम्पाला।

पूज्य गुरुदेवश्री : ईम्पाला, जो हो वह। चंपल-चंपल, जैसे मारे न जूतियाँ। चंपाला जूतियाँ मारे अन्दर। वह मोटर सिर पर बैठी है या यह उसमें बैठा है, इसका कुछ भान नहीं इसे। आहाहा! मोटर में जब बैठे, तब उसके प्रमाण रुतबा बना रहे तो मोटर में बैठा कहलाये। वह रुतबा सिर पर बैठा हो अन्दर शेर छाती पर। मान और दर्जा (हैसियत) छोड़े बिना... मान और दर्जा रखकर मोटर में बैठे, इसमें मोटर चढ़ बैठी है।

मुमुक्षु : सही बात।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा!

कहते हैं, यह स्व-पर विवेक उसे कहने में है, भेदज्ञानी को कहने में आता है। दृष्टान्त दिया है। **'तासु ज्ञानकी कारण स्व-पर विवेक बखानो।'**

मुमुक्षु : छहढाला में है।

पूज्य गुरुदेवश्री : छहढाला में? '**तासु ज्ञानकी कारण**' देखो, आत्मा के ज्ञान का कारण '**स्व-पर विवेक बखानो।**' ऐ सेठी! यह छहढाला में आता है। इसका नाम स्व-पर ज्ञान का कारण, वह '**स्व-पर विवेक बखानो।' की उक्ति से भेदविज्ञान सम्यग्दर्शन का कारण है...** लो। भेदविज्ञान सम्यग्दर्शन का कारण है। एक ओर सम्यग्दर्शन कारण और ज्ञान कार्य। भाई! इस ओर ज्ञान कारण यह तो धारा हुआ ज्ञान है। वह नहीं, यह तो भेदविज्ञान सम्यग्दर्शन का कारण है। कहो, समझ में आया? जहाँ जिसकी मुख्यता हो, उसका उसे समझना चाहिए न! खींचतान किसकी इतनी अधिक? जेठाभाई!

मुमुक्षु : जहाँ-जहाँ जो-जो योग्य हो....

पूज्य गुरुदेवश्री : उसके योग्य हो... वहाँ आगे दर्शन की मुख्यता है। किसी समय ज्ञान (को मुख्य करे) क्योंकि आत्मा क्या चीज़ है, उसके ज्ञान से (श्रद्धा हो)। उसका ज्ञान, हों! वह बाहर का ज्ञान नहीं, बहिर्लक्षी नहीं। आत्मा शुद्ध चैतन्यमूर्ति के अनुभव बिना, ज्ञान बिना श्रद्धा किसकी? जो वस्तु ज्ञान में आयी नहीं, उसकी श्रद्धा करो, परन्तु क्या श्रद्धा करे? खरगोश के सींग? उसके भान में भास में आना चाहिए न कि यह आत्मा। वह तो शुद्ध अनुभव हुए बिना शुद्ध आत्मा है, ऐसा भास होता ही नहीं। तब ज्ञान में आया कि यह आत्मा! चैतन्यस्वरूप तो साथ में, परन्तु भेदविज्ञान, वही सम्यग्दर्शन का कारण है। और वहाँ पुरुषार्थसिद्धि में कहा जाता है कि सम्यग्दर्शन कारण, सम्यग्ज्ञान कार्य। बराबर बैठे ऐसी बात है। समझ में आया?

जिस प्रकार कपड़ा साफ करने में साबुन सहायक है... लो ठीक। लो, सहायक है। कपड़ा तो स्वयं से साफ होता है। है न पंचास्तिकाय में? सोना उसके स्वयं के कारण से सोलहवान ऐसे हो, ऐसा स्पष्ट होता है। अग्नि तो निमित्त कहलाती है। परन्तु स्वयं अपना स्वरूप है सोने का, वह ऐसे स्वयं उजला होते-होते सोलहवान को पाता है। अग्नि तो निमित्त है। वह तो कहे, अग्नि से होता है। गजब बात! बड़ा विवाद! मिट्टी का घड़ा... वह घड़ा होने की पूर्व पर्याय कारण और घड़े की पर्याय कार्य, इतना नहीं, परन्तु उसके पहले जितनी पर्यायें हुईं, वे सब कारण और यह कार्य।

मुमुक्षु : यह तो बहुत सूक्ष्म है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पूर्व की जो पर्याय है, वह भी जिस समय की पर्याय है, उसके बाद के कार्य का वह पर्याय कारण है और पहले की पर्याय का यह पर्याय कार्य है। ऐसी शृंखला अनादि-अनन्त पर्याय की चलती जाती है। क्या कहा, पण्डितजी!

मुमुक्षु : पहले की पर्याय कारण है और बाद की पर्याय कार्य।

पूज्य गुरुदेवश्री : बस, प्रत्येक द्रव्य की जिस समय की पर्याय है, वह पर्याय कारण है और बाद की (पर्याय) कार्य है। वह स्वतन्त्र है, वह यह हों। यह (कारण) है, इसलिए (कार्य) है, ऐसा नहीं। और वह कारण जो पर्याय है, उस पूर्व की पर्याय की अपेक्षा से यह कार्य है, यही कार्य और यही कारण एक समय में लागू पड़ता है। समझ में आया? इस प्रमाण अनादि-अनन्त ऐसा है। मानो कि मिट्टी में घड़ा होने की योग्यता पहले से है। कुम्हार को वहाँ से किसलिए ले आये? कौन लावे? ऐसे प्रश्न उठाये उसमें। आहाहा! यह गेहूँ का, कपड़े का, मिट्टी का... गेहूँ देव... देव कहा है उसे। ऐई! गेहूँ देव, तब उगे अन्दर... गेहूँ देव पड़े अन्दर में। अरे भगवान! क्या करता है यह?

अनन्त रजकण स्वतन्त्र हैं। उस-उस रजकण की एक-एक पर्याय पर के कारण से नहीं, उसके कारण से वहाँ होती है। उस पर्याय का कारण तो पूर्व की पर्याय है। यह भी व्यवहार है। निश्चय से तो प्रत्येक समय की वह पर्याय... समकित की पर्याय को पूर्व की पर्याय का कारण कहे तो वह पूर्व में तो मिथ्यात्व था। ऐई! अब उसका व्यय कारण कहना, परन्तु वह तो गयी अब। देखो न, मिथ्यात्व आस्रव दो को... इसका अर्थ क्या? न्याय कुछ... कारण तो उस समय की पर्याय स्वतन्त्र है। द्रव्य कारण कहो तो भी यथार्थ परन्तु वह अपेक्षित (कथन है)। वास्तव में तो उस पर्याय का कारण पर्याय है। समकित की पर्याय होने का कारण पर्याय स्वयं वही है। आहाहा! वस्तु की स्थिति की मर्यादा ही ऐसी है। उसमें किसी का कोई कर्ता नहीं। यह उपादान की पर्याय कर्ता कहना, कारण कहना, यह भी एक व्यवहार है। यह भी नहीं बैठता। परन्तु कठिन जगत को! जैसे त्रिकाली द्रव्य सत् है, उसे जैसे किसी की अपेक्षा नहीं; उसी प्रकार वर्तमान पर्याय की प्रगटता में किसी की अथवा हुई में किसी की अपेक्षा नहीं है। सत् है न! अंश भी सत् है न! त्रिकाली सत् को जैसे हेतु नहीं, वैसे वर्तमान को भी हेतु नहीं। समझ में आया?

ऐसा जो सम्यग्दर्शन... **जिस प्रकार कपड़ा साफ करने में साबुन सहायक,...** '**सहायक**' शब्द से निमित्त। सह+आय—साथ में होता है। परन्तु साथ में हो... अकेला काम न करे और मदद करे? परन्तु काम तो निमित्त, निमित्त का करे। साबुन, साबुन में काम करे; कपड़े में काम करे? ...धोता है या नहीं व्यवस्थित रीति से ऐसे? बराबर व्यवस्थित। फिर डण्डा मारे और मैल पृथक्... और पानी में, क्या कहलाता है?

मुमुक्षु : डुबोबे।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा करे तो मैल पृथक् पड़ जाये। यह पुरुषार्थ के संग बिना होता है? आहाहा! गप्प मारते हैं न! उस परमाणु की पर्याय में जो मैल था, वह पूर्व पर्याय थी और बाद में टली, वह उत्तर पर्याय हुई। यह टली, वह कारण हुआ और हुई वह कार्य हुआ। गजब बात है! पण्डितजी!

'**उपादान त्रिभवनात**' है न? तत्त्वार्थ राजवार्तिक, अकलंकदेव का। उपादान की पर्याय, वह बाद की पर्याय का कारण है और उपादान की पर्याय को बाद की पर्याय, वह कार्य है। ऐसी अनादि-अनन्त प्रत्येक द्रव्य में क्रमबद्धपर्याय चली आती है। ऐसा जो माने, उसकी दृष्टि द्रव्य के ऊपर—ज्ञायक के ऊपर जाती है, ऐसा यहाँ कहते हैं। समझ में आया? वस्तुस्वरूप चैतन्य भगवान महाप्रभु महाशक्ति का साहेबा, उसकी तत्त्वदृष्टि होने पर पर्याय में सम्यक् होता है। कहते हैं कि उस सम्यक् को सम्यक् में भेदज्ञान, वह साबुन कहा। परन्तु यह तो दृष्टान्त है। यहाँ तो भेदज्ञान स्वयं ही पर्याय है निर्मलता आने के लिये। समझ में आया? ऐसी सिरपच्ची छोड़कर सब करने लगो प्रतिक्रमण और... क्या करे परन्तु चीज़ को?

जिस प्रकार कपड़ा साफ करने में साबुन सहायक है। यह तो कथन की बात है। **उसी प्रकार सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में भेदविज्ञान सहायक होता है।** लो। समझ में आया? वास्तव में तो वह ज्ञान की पर्याय दर्शन की पर्याय को उसे कारण कहना वह भी व्यवहार है।

मुमुक्षु : निमित्त कारण है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह निमित्त है ज्ञान की भेदज्ञान की पर्याय। पण्डितजी! एक

गुण की पर्याय दूसरे गुण की पर्याय को कारण कहना, वह तो निमित्त है। उपादान तो स्वतन्त्र अपनी पर्याय है। यहाँ तो समझाना है कि सम्यग्ज्ञान होता है राग से भिन्न पड़कर, वह ज्ञान सम्यक् (दर्शन) का कारण होता है। आहाहा! ऐसा जगत ने नोंच डाला है। पढ़े उन्होंने नोंच डाला है। यह इकट्ठे हुए न कुत्ते। गुड़ के गद्दे थे गुड़ के गद्दे। उसमें गर्मी की ऋतु आयी। बड़ा पडियो हो। क्या कहलाता है बड़े को? रवा... रवा हो। गुड़ का रवा हो और उसे गर्मी लगे और गुड़ पिघले। उसमें गद्दे रखे हों साथ में। गद्दे भींगे। अब? डालो धूप में और उसमें लगे डाघा कुत्ते लगे चूँथने। अपने सो जाने के गद्दे के टुकड़े-टुकड़े कर डाले। एकान्त खींच-खींचकर मारकर अखण्ड तत्त्व को मान्यता में खण्ड किया, हों!

वहाँ सम्प्रदाय में यह दृष्टान्त देते थे, हों!

मुमुक्षु : नारणभाई देते थे।

पूज्य गुरुदेवश्री : दृष्टान्त सम्प्रदाय में है। फिर हमारा था और दृष्टान्त देते थे। ठाणे, चौथे ठाणे। सुखशैय्या और दु:खशैय्या। सुखसज्जा। सम्यग्दर्शन-ज्ञान वह सुखसज्जा है। मिथ्यादर्शन आदि दु:खशैय्या, दु:ख में सो रहा है वह। समझ में आया? दु:ख की शैय्या करके सो रहा है। जो मिथ्यात्वभाव है (कि) राग से धर्म माने, पुण्य से धर्म माने और पर में जरा आह्लाद और ठीक लगे, आहाहा! वह दु:ख में सो रहा है। और जो अपने आनन्द में आकर अनुभव की प्रतीति करे, हो वह सुख में सो रहा है। सुखशैय्या— वह सुख की सेज है। कहो, भीखाभाई! यह सब गद्दे-बद्दे बिछाकर सोते हैं न? खाट में क्या कहलाता है वह? पाटी और लो।

मुमुक्षु : अब तो पलंग हो गये।

पूज्य गुरुदेवश्री : पलंग हो गये अब। खाट भी नहीं, लो ठीक। यहाँ तो तीन खाट निकले, शान्तिभाई के यहाँ से। तीन खाट थी। तीन व्यक्ति ले गये तीन। करो खाली करो न अब। आहाहा!

श्रीकृष्ण की शैय्या नाग की। सूत की कहलाती है न, क्या कहलाती है? पाटी। पाटी के बदले नाग थे। ऐ पण्डितजी! नागशैय्या। शेषनाग। उसकी शेषनाग की शैय्या। कोमल शरीर, पोंचा हो न कोमल।

मुमुक्षु : कोई क्षेत्र खाली न हो तो वहाँ सोना पड़े।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं, वह तो एक उनका पराक्रम बताते हैं। यह ठीक कहते हैं। ऐसा क्षेत्र था, ऐसा उनका पलंग था कि इस पाटी के भाँति सब नाग रचे गये हों, पूँछ ऐसी समान और उनके मुख ऐसे चारों ओर फाण मांडे, उसमें सोवे... यह बात आती है न। ऐसा पराक्रम था, वह उन्हें ऐसा योग था, पुण्य का योग था। बात नहीं आती?

एक बार भगवान नेमिनाथ ने नहाकर वस्त्र निकाल दिया। रुक्मणी को कहा कि धो डालो। कृष्ण की रानी। 'धो डालो।' 'हमारे कृष्ण हमको कह सकते हैं, तुम नहीं कह सकते, तुम्हारा काम नहीं।' ले, हमारे कृष्ण की कितनी सत्ता! ऐसी तुम यह क्या कहते हो धो डालने का? हमारे स्वामी हो? स्वामी तो श्रीकृष्ण हैं, वे नाग की शैय्या में सोते हैं।' आहाहा! ऐसा कहा और भगवान वहाँ से निकले। अभी संसार है न, राजकुमार हैं न? निकलकर नागशैय्या थी, वहाँ गये। अपना धनुष-बाण हाथ में लिया, शंख लिया, फूँका। वहाँ तो बारह योजन में और नौ योजन में, बारह योजन चौड़ी और नौ योजन लम्बी नगरी में खलबलाहट! कौन है यह? यह दूसरा वासुदेव कौन है?

कृष्ण को खबर पड़ती है। वहाँ जाते हैं। प्रभु! यह क्या करते हो तुम? ऐसा कहे, ... निश्चित् यह तो .... मोटा फटा। विवाह कर दो इनका। यह सब संसार के दाँव-पेच। भगवान तो तीर्थंकर थे (परन्तु) गृहस्थाश्रम में थे न! ऐसा विकल्प आया। नागशैय्या के ऊपर... धनुष-बाण लिया हाथ में, टंकार की ऐसी जरा। तार होता है न! और शंख फूँका ऐसे जोर से आस-पास की वह होती है न? धारुं। धारुं (धरती) काँप उठी। समझ में आया? उनकी आवाज से धरती काँप उठी। और श्रीकृष्ण आये। प्रभु! क्षमा करो। कहे, 'यह तुम्हारी रानी ने ऐसा कहा।' देखो, यह संसार का जाल। सम्यग्दर्शन और अनुभव, तीन ज्ञान हैं, तथापि यह विकल्प की मर्यादा आती है। गिरधरभाई!

कहते हैं, **सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में भेदविज्ञान सहायक होता है और जब कपड़े साफ हो जावें, तब साबुन का कुछ काम नहीं रहता।** साधकपना होकर साध्य हो गया, फिर साधकपने की कुछ आवश्यकता नहीं रहती। विकल्प की आवश्यकता नहीं, ऐसा कहा। **और यदि साबुन हो तो एक बोझ ही होता है।** पूर्ण जहाँ शुद्धता हुई, कपड़ा सफेद हो गया, फिर साबुन की आवश्यकता नहीं पड़ती। ऐसा करके लोग ऐसा

कहते हैं कि देखो, पहले साबुन की आवश्यकता पड़ती है। परन्तु वह तो साधकभाव पहले होता है। साधक जब तक साध्य केवलज्ञान न हो, तब तक साधन होता है, परन्तु पूर्ण हो जाने के पश्चात् साधन नहीं रहता। समझ में आया? **और यदि साबुन हो तो एक बोझ ही होता है।** साबुन हो तो फिर। **उसी प्रकार सम्यग्दर्शन हुए पीछे,...** देखो, यहाँ तो यह बात की है साध्य की।

सम्यग्दर्शन हुए पीछे, जब स्व-पर के विकल्प की आवश्यकता नहीं रहती... ऐसा। 'यह मैं शुद्ध हूँ, यह राग अशुद्ध है'—ऐसे विकल्प की आवश्यकता नहीं रहती। भेद पड़ गया जहाँ आत्मा में। राग से स्वरूप का भान हुआ भेद पड़कर, फिर भेद करने का विकल्प नहीं रहता, ऐसा कहते हैं। **सम्यग्दर्शन हुए पीछे, जब स्व-पर के विकल्प की आवश्यकता नहीं रहती, तब भेदविज्ञान हेय ही होता है।** पश्चात् कुछ विकल्प की आवश्यकता नहीं। सम्यग्दर्शन होने पर भिन्न पड़ा, फिर भिन्न करना रहता नहीं। **भाव यह है कि भेदज्ञान प्रथम अवस्था में उपादेय है।** शुरुआत में भेदज्ञान आदरणीय कहा जाता है। **सम्यग्दर्शन निर्मल हुए पीछे उसका कुछ काम नहीं है...** लो। आहाहा! रागरहित आत्मा का अनुभव निर्विकल्प हुआ, पश्चात् उसे इस विकल्प की आवश्यकता नहीं रहती। तथापि वह अनुभव भी पर्याय है। ज्ञानी को उस पर्याय के सामने देखने का वास्तव में रहता नहीं। वस्तु अभेद एकरूप चैतन्य के ऊपर दृष्टि पड़ी है। उस दृष्टि का परिणमन ही ऐसा हो गया होता है शुद्ध का। उसे अशुद्धता का परिणमन रहता नहीं, ऐसा सिद्ध करना था न यहाँ। एक पर्याय में दूसरी पर्याय, दो भाग नहीं करना। यहाँ तो अखण्ड एक ही है बस, शुद्धता ही है।

भेदज्ञान यद्यपि हेय है तो भी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का कारण होने से उपादेय है, इसलिए स्वगुण और परगुण की परख करके... स्वगुण और परगुण की परीक्षा करना। यह हीरा माणेक की परीक्षा करते हैं या नहीं? **परपरिणति से विरक्त होना चाहिए।** रागादि की अशुद्ध दशा से तो विरक्त रहना चाहिए। आहाहा! **और शुद्ध अनुभव का अभ्यास करके समताभाव ग्रहण करना चाहिए।** लो। वीतरागभाव... शुद्ध आत्मा का अनुभव करके, वीतरागता प्रगट करके वीतरागभाव में रहना चाहिए। देखो, यह संवर का सार। आहाहा! अब निर्जरा की थोड़ी शुरुआत करते हैं न! अब पाठ है न अन्तिम यहाँ तो अभी... निर्जरा द्वार, लो।

(७) निर्जरा द्वार

प्रतिज्ञा (दोहा)

वरनी संवरकी दसा, जथा जुगति परवांन।
मुकति वितरनी निरजरा, सुनहु भविक धरि कान।।१।।

शब्दार्थ:-जथा जुगति परवांन=जैसी आगम में कही है। वितरनी=देनेवाली।

अर्थ:-जैसा आगम में संवर का कथन है, वैसा वर्णन किया, हे भव्यों! अब मोक्षदायिनी निर्जरा का कथन कान लगाकर सुनो।।१।।

काव्य-१ पर प्रवचन

वरनी संवरकी दसा, जथा जुगति परवांन।
मुकति वितरनी निरजरा, सुनहु भविक धरि कान॥१॥

सुन, कहते हैं, बराबर ध्यान रखकर (सुन)। समझ में आया? '**वरनी संवरकी दसा**' आत्मा की सम्यग्दर्शन दशा के संवरस्वरूप का वर्णन किया। '**जथा जुगति परवांन...**' यथायुक्ति से, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? जैसे आगम में कहा है, तत्प्रमाण। '**जथा जुगति परवांन...**'

मुमुक्षु : युक्ति का अर्थ ही आगम प्रमाण।

पूज्य गुरुदेवश्री : आगम प्रमाण। जैसे आगम में कहा है, तत्प्रमाण संवर की दशा का भेदज्ञानपूर्वक वर्णन किया। '**मुकति वितरनी निरजरा।**' अब अशुद्धता टालकर शुद्धता प्रगटे, वह मुक्ति की देनेवाली है। यह निर्जरा मुक्ति की देनेवाली है। संवरपूर्वक निर्जरा होती है, उसे निर्जरा कहा जाता है। अज्ञानी को जरा मिथ्यात्व में अकामनिर्जरा होती है, वह कहीं वास्तव में निर्जरा नहीं है। इसलिए कहते हैं, यह तो मुक्ति की देनेवाली निर्जरा है। अकामनिर्जरा से तो पुण्य बँधता है और स्वर्ग में जाते हैं, वह कहीं निर्जरा नहीं।

निर्जरा उसे कहते हैं कि मुक्ति पूर्ण शुद्धता... पूर्ण शुद्धता पद को दे, उसे यहाँ निर्जरा, अशुद्धता का टलना, कर्म का गलना, शुद्धता का बढ़ना—तीनों को निर्जरा कहा जाता है। समझ में आया? क्या कहा तीन? बहुत बार कहा जा चुका है?

मुमुक्षु : अशुद्धता का टलना, कर्म का खिरना, शुद्धता की वृद्धि होना।

पूज्य गुरुदेवश्री : इन तीनों को निर्जरा कहा जाता है। अस्ति से शुद्धता का बढ़ना, वह निर्जरा। स्व की पर्याय में से अशुद्ध निश्चयनय से अशुद्धता का टलना, यह नास्ति से (कथन) और असद्भूतव्यवहारनय से यह कर्म का टलना। आहाहा! '**मुक्ति वितरनी निरजरा, सुनहु भविक धरि कान...**' **कान लगाकर सुनो...** ऐसा डाला है, देखा पण्डितजी ने! तुम्हारे गाँव के हैं यह। जयपुर।

पहला श्लोक।

रागाद्यास्रव-रोधतो निजधुरां धृत्वा परः सम्वरः,
कर्मागामि समस्तमेव भरतो दूरान्निरुन्धन् स्थितः।
प्राग्बद्धं तु तदेव दग्धु-मधुना व्याजृम्भते निर्जरा,
ज्ञानज्योति-रपावृतं न हि यतो रागादिभिर्मूर्छति।।१।।

कितने सादे शब्द, संस्कृत भी बहुत सरल।

★ ★ ★

काव्य - १

मंगलाचरण (चौपाई)

जो संवरपद पाइ अनंदै।
सो पूरवकृत कर्म निकंदै।।
जो अफंद ह्वै बहुरि न फंदै।
सो निरजरा बनारसि बंदै।।२।।

शब्दार्थ:-अनंदै=प्रसन्न होवे। निकंद=नष्ट करे। अफंद=सुलझना। बहुरि=फिर। फंदै=उलझ।

अर्थः-जो संवर की अवस्था प्राप्त करके आनंद करता है, जो पूर्व में बाँधे हुए कर्मों को नष्ट करता है, जो कर्म के फंदे से छूटकर फिर नहीं फँसता; उस निर्जराभाव को पण्डित बनारसीदासजी नमस्कार करते हैं।।२।।

काव्य-२ पर प्रवचन

जो संवरपद पाई अनंदै।
सो पूरवकृत कर्म निकंदै॥
जो अफंद ह्वै बहुरि न फंदै।
सो निरजरा बनारसि बंदै॥२॥

देखो, बनारसीदास निर्जरा की दशा को वन्दन करते हैं। निर्जरा, वह शुद्धपर्याय है। '**जो संवरपद पाई अनंदै**' आहाहा! जो कोई राग की भिन्नता करके आत्मा के आनन्दस्वरूप को अनुभव करे, आनन्द में रहे। आनन्द है, संवर में आनन्द है, कहते हैं। ऐसे आस्रव रोधा और आस्रव... वह नहीं। आनन्द है। संवर पाई... '**संवरपद पाई अनंदै**' आहाहा! संवर उसे कहते हैं कि आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आवे। आहाहा! जो आस्रव पुण्य-पाप के मिथ्यात्व का स्वाद था, वह तो जहर का स्वाद, दु:खदायी स्वाद था। यह सब सेठिया और राजा सविकल्प जहर के पेय पीते हैं। ऐसे अकेले पंच महाव्रत के विकल्प से लाभ होगा, यह माननेवाले जहर के पेय पीते हैं। राजा और भोज दोनों। आहाहा! समझ में आया? यह महाव्रत के परिणाम या पाँच अणुव्रत के परिणाम या बारह व्रत के परिणाम—वे जहर के प्याला हैं। गजब भाई! वे दु:खदायक बन्ध के भाव हैं।

तब '**संवरपद पाई अनंदै**' जब यह विकार के भाव जो दु:खरूप हैं, उनसे भिन्न पड़कर आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द में रहे, उसका नाम संवर कहा जाता है। गजब व्याख्या संवर की! इसमें कहते हैं न, भाई! ऐसी क्रिया कष्ट की, वह तो देखो। अपवास, नंगे पैर चलना, लोंच करना, नग्नपने रहना सर्दी में, चातुर्मास में पानी का झपाटा बजे और नग्नपने (रहना)। बापू! वह क्रिया कठोर है। कहते हैं, वह कष्टदायी भाव तो सब मिथ्यात्व का दु:खदायी भाव है। आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : जानवर भी नग्न होते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वयं सहन करने का हो तब नग्न होता है। बापू! राग बिना के नग्न हुए बिना तुझे आनन्द नहीं आयेगा। भगवान तो दिगम्बर आत्मा है। पुण्य-पाप के वस्त्ररहित है वह। पण्डितजी! लो। यह आत्मा, दिगम्बर आत्मा।

अन्दर में पुण्य और पाप के वस्त्र पहनकर माने कि हम धर्मी हैं, वह जहर के घोलन पीता है, ऐसा कहते हैं। जहर को घोलता है। कहो, समझ में आया? घोलता है समझते हो? क्या कहलाता है? आम नहीं घोलते आम? इसी प्रकार यह राग को घोलता है। आहाहा! दु:ख को घोलता है, दु:ख को अनुभव करता है। यह महाव्रत के पालनेवाले, २८ मूलगुण पालनेवाले आत्मा के भान के अनुभव बिना, वे दु:ख को वेदते हैं। ऐ धीरुभाई! क्या परन्तु बराबर? सुना होगा कब यह सब? यह सब पालते होंगे वे नहीं पालें। कौन पालता था? दु:ख पालता है। आत्मा कौन है अन्दर वस्तु? आनन्दस्वरूप है उसमें उसे राग की एकताबुद्धि मिथ्यात्व है, वह तो महा जहर है। जहर के प्याले का नाश किया नहीं, उसे अमृत का प्याला आवे कहाँ से? समझ में आया?

'जो संवरपद पाई अनंदै...' जो संवर की अवस्था प्राप्त करके आनन्द करता है... लो ठीक। **'सो पूरवकृत कर्म...'** वह पूर्व के कर्मों को टालने का प्रयत्न उसके पास है। जिसे संवर होकर आत्मा का आश्रय लेकर... रागादि विकल्प का आश्रय छोड़ा है और आत्मा का आश्रय लेकर आनन्द जिसने प्रगट किया है, वह पूर्व के कर्म को अब टालेगा। उसे नया बन्धन होता नहीं। संवर के कारण नया बन्धन नहीं। वह पूर्व में जो अज्ञान अवस्था में बँधे हुए कर्म का उदय आवे, उस समय आत्मा तो अपनी दशा में है, स्वरूपसन्मुख की स्थिति में है, इसलिए उदय खिर जाता है। वह पूर्व के किये हुए कर्मों को निकंदे। समझ में आया? वहाँ पद है। सत्ता नाश करे... सत्ता नाश करे, ऐसा कुछ है अवश्य। सत्ता नाश कलश में है? कलश में होगा कहीं। उसमें होगा। कहीं सत्ता नाश है सही। निर्जरा, निर्जरा में कहीं है सही। वह सत्ता नाश का कहीं आया है, हों! स्वरूप में रहे नहीं, वह सत्ता का नाश करता है। सत्ता नाश ऐसा शब्द है, हों! भाई नहीं कहते थे पण्डितजी?

यह आया आया। यह मूल से सत्ता नाम आता है। संवर के अधिकार में है। अन्तिम। यह प्रलय है न, प्रलय। '**रागग्रामप्रलयकरणात्**' उसमें है। संवर का अन्तिम श्लोक (१३२)। प्रलय। हाँ, अन्तिम श्लोक है न! प्रलय शब्द पड़ा है न! '**रागग्राम-प्रलयकरणात्**' दूसरे पद में है। प्रलय का अर्थ मूल से सत्तानाश। समझ में आया? '**सो पूरवकृत कर्म निकंदे।**' धर्मी तो पूर्व के उदय की सत्ता का नाश कर डालता है—सत्यानाश। सत् जो पड़ा है उदय, उसका—सत् का नाश कर डालता है। '**जो अफंद ह्वै बहुरि न फंदै।' जो कर्म के फन्दे से छूटकर फिर नहीं फंसता। 'अफंद ह्वै बहुरि न फंदै।**' राग के फन्द में नहीं फँसा, धर्मी तो ज्ञान के आनन्द में रहता है। वह राग के फन्द में फँसता नहीं। वह '**अफंद ह्वै बहुरि न फंदै।**' वह किसी फन्द में फँसता नहीं। आहाहा! व्यवहार के विकल्प में फँसता नहीं, ऐसा कहते हैं। प्रसन्न होकर, आहाहा! मेरा व्यवहार तो देखो व्यवहार, महाव्रत के परिणाम तो देखो। वह तो फन्द में फँस गया है। आहाहा!

'**जो अफंद ह्वै बहुरि न फंदै, सो निरजरा बनारसी वंदै।**' ऐसी निर्मल शुद्ध उपयोगरूपी दशा जो निर्जरा है, बनारसीदास कहते हैं, उसे मैं वन्दन करता हूँ। देखो, कितना स्वयं का नाम डाला अपना। पहले से शुरु किया है न निर्जरा। तो उसमें डाला अपना नाम। '**अफंद ह्वै बहुरि न फंदै।**' लो, बहुरि इसमें भी शब्द डाला है। साधारण हिन्दी में तो आता है। बहुरि, इसमें भी डाला है। '**अफंद ह्वै बहुरि न फंदै।**' धर्मी तो अफन्द जीव है। राग और निमित्त में फँसता नहीं। आहाहा! वे सब राग के लकड़े में चढ़ गये हैं। समझ में आया? निमित्त के लकड़े में फँसा गये हैं। कहते हैं, धर्मी अफन्द है। राग और निमित्त के फन्द में फँसता नहीं। '**अफंद ह्वै बहुरि न फंदै, सो निरजरा...**' ऐसी शुद्धता की अन्तर प्रगट दशा को, बनारसीदास कहते हैं कि मैं वन्दन करता हूँ। यह मांगलिक किया।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ७०, ज्येष्ठ कृष्ण २, गुरुवार, दिनांक १०-०६-१९७१
निर्जरा द्वार, काव्य - १ से ५

यह समयसार नाटक, निर्जरा अधिकार है। प्रतिज्ञा। पहला (पद)। दोहा।

वरनी संवरकी दसा, जथा जुगति परवांन।
मुकति वितरनी निरजरा, सुनहु भविक धरि कान॥१॥

क्या कहते हैं ? **जैसा आगम में संवर का कथन है...** है ऐसा वर्णन किया। राग और विकार से भिन्न ऐसा अपना स्वरूप है, ऐसा भान होने पर उसे स्वभाव में एकत्व होता है, उसका नाम संवरदशा है। वह आगम प्रमाण पहले बात की। **जैसा आगम में संवर का कथन है, वैसा वर्णन किया।** संवर का अर्थ यह (कि) भेदज्ञान अथवा स्वभाव में एकता। राग की एकता, वह मिथ्यात्व बन्ध। राग की पृथक्ता (और) अपने स्वभाव का स्वभाव में एकपना, उसका नाम संवर। ज्ञानी को वहाँ से धर्म की शुरुआत—संवरदशा होती है। '**जुगति परवांन, मुक्ति वितरनी...**' अब, वर्तमान में तो संवर हुआ, परन्तु पूर्व के कर्म हैं, वे अब निर्जरित हो जाते हैं। मुक्ति की देनेवाली—देनेवाली ऐसी निर्जरा सुनो, (ऐसा) बनारसीदास कहते हैं। '**भविक धरि कान।**' हे भव्य जीवों! कान बराबर रखकर सुनने का... ध्यान रखकर सुनो, ऐसा कहते हैं। निर्जरा। **हे भव्यो! अब मोक्षदायिनी निर्जरा का कथन कान लगाकर सुनो।**

अब मंगलाचरण। नीचे श्लोक है।

रागाद्यास्रव-रोधतो निजधुरां धृत्वा परः सम्वरः,
कर्मागामि समस्तमेव भरतो दूरान्निरुन्धन् स्थितः।
प्राग्बद्धं तु तदेव दग्धु-मधुना व्याजृम्भते निर्जरा,
ज्ञानज्योति-रपावृतं न हि यतो रागादिभिर्मूर्छति।।१।।

इसका अर्थ। पद... पद।

जो संवरपद पाई अनंदै।
सो पूरवकृत कर्म निकंदै॥

जो अफंद ह्वै बहुरि न फंदै।
सो निरजरा बनारसि बंदै॥२॥

'**जो संवरपद पाई अनंदै...**' जिसने विकार से आत्मा का स्वरूप भिन्न जाना, अनुभव किया, उसे आनन्द होता है। संवर होने पर अतीन्द्रिय आनन्द आता है। श्रीचन्दजी! जब आस्रव था, तब दुःख था। मिथ्यात्व और राग-द्वेष, ऐसे जो परिणाम थे, वे आस्रव हैं, वे दुःख (रूप हैं)। उनसे भिन्न पड़कर आत्मा का आनन्दस्वभाव... अतीन्द्रिय आनन्द को राग से भिन्न करके अनुभव किया, इसका नाम संवर। देखो, यह संवर की व्याख्या। '**जो संवरपद पाई...**' सम्यग्दर्शनरूपी संवर पाकर '**अनंदै**' आनन्द करता है। आहाहा! '**सो पूरवकृत कर्म निकंदै...**' जो वर्तमान में विभाव के—विकार के दुःख परिणाम से भिन्न पड़कर अपना अतीन्द्रिय आनन्द, ऐसा स्वभाव, उसे अनुभव करता है, उस जीव को '**सो पूरवकृत कर्म निकंदै...**' उसे पूर्व के बाँधे हुए कर्मों का नाश होता है। संवरपूर्वक निर्जरा गिना है न यहाँ। सूक्ष्म भारी!

यह पहले ही कहते हैं, ऐसे-ऐसे हो संवर। मिथ्यात्व में और राग-द्वेष में दुःख था। उससे भिन्न पड़ा तत्त्व अर्थात् अतीन्द्रिय आनन्द की उत्पत्ति हुई। ऐसा अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभवी संवरी जीव, वह पूर्वकृत कर्म को टालता है। है न? '**सो पूरवकृत कर्म निकंदै...**' **जो पूर्व में बाँधे हुए कर्मों को....** '**सो**' ऐसा चाहिए। शब्द नहीं... नष्ट करता है। ऐसी बात ही नहीं। यहाँ तो कहते हैं, पाँच आचरण लेने के प्रत्याख्यान करो, संवर (हो गया), लो।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या? अहिंसा (करना), झूठ नहीं बोलना, चोरी (नहीं करना)। लो, करो प्रत्याख्यान। लो, संवर हो गया। जामनगर में बहुत संवर होता है। संवर हुए इतने, संवर प्रौषध हुए इतने। किसे संवर प्रौषध कहना? जिसमें आत्मा आनन्दमय ऐसा अनुभव में आवे, तब उसे मिथ्यात्व और राग-द्वेष उस प्रकार के दुःख की कारणदशा टले, तब उसे आनन्द का अनुभव होता है। उस आनन्द में रहता हुआ पूर्व के बँधे हुए कर्म को खिपाता है, ऐसा कहते हैं। वह क्या कहते हैं, समझ में आया?

वे अपवास करना और दु:ख लगे, तब कर्म खपे, तब निर्जरा हो। बहुत कष्ट करे न... वह निर्जरा ही नहीं। कष्ट लगे, वह तो राग, अज्ञान है।

यहाँ तो **संवर की अवस्था प्राप्त करके आनन्द करता है।** वह पूर्व में बाँधे हुए कर्म का नष्ट करता है। आहाहा! आनन्द में रहता हुआ... पूर्व के कर्म के उदय से प्रतिकूलता अनेक हो, अरे! रागादि हो, उसमें जुड़ता नहीं। आहाहा! कहो, प्रकाशदासजी! यह क्या है? संवर ऐसा है? महाव्रत लिया, वह संवर हो गया नहीं? जिसके स्वभाव में विकल्प नहीं, राग नहीं। महाव्रत तो राग है, आस्रव है, दु:ख है। आहाहा! उससे भिन्न तत्त्व चैतन्य आनन्दमय, जो '**अनंदै, सो पूर्वकृतकर्म निकंदै। अनंदै**' साथ में '**निकंदै**' है न? पद के साथ मेल है न? अनंदे और निकंदे। अपने अनाकुल आनन्द की दशा संवररूप प्रगट की है, वह पूर्व के बाँधे हुए कर्म को नष्ट करता है। आनन्द में रहता हुआ नष्ट करता है, ऐसा कहते हैं। दु:खी होता हुआ कष्ट भोगकर कर्म खिपते हैं, ऐसा है नहीं। '**जो अफंद व्है बहुरि न फंदै।**' वह अफन्द हुआ है। संवर हुआ है न? राग के फन्दे में से छूटा है। आहाहा! समझ में आया?

'**कर्मगामि समस्तमेव भरतो दुराभिरुन्धन् स्थितः, प्राग्बद्धं तुं तदेव दग्धुमधुना व्याजृम्भते निर्जरा।**' उसे निर्जरा होती है। जो स्वभाव के अन्तर शरण में आया है और राग के फन्द में से छूटा है। वह '**अफंद व्है बहुरि न फंदै।**' वह फिर से राग के फन्द में आता नहीं। अरे गजब धर्म ऐसा! **जो कर्म के फंदे से छूटकर....** ऐसे अफन्द की व्याख्या की। अफन्द—जिसे राग का फन्द है, वह छूट गया है, कहते हैं। 'जगत द्वंद्व फंद...' वह छूटा है। राग के विकल्प से पृथक् तत्त्व अफन्द में अर्थात् राग के फन्द में नहीं। वह '**बहुरि न फंदै...**' फिर से फँसता नहीं। यह निर्जरा की व्याख्या। वे कहे, अपवास करे तो निर्जरा हो, ऊनोदरी करे तो निर्जरा हो, अठ्ठम करे तो निर्जरा हो और अठ्ठम पर एक पोरसी चढ़ावे तो पच्चीस अपवास का फल मिले। ऐई! सुना है या नहीं? अठ्ठम करे तो महाफल, एक अपवास (ऊपर) पोरसी चढ़ावे तो पच्चीस अपवास का फल, बहुत निर्जरा होती है। धूल भी निर्जरा नहीं होती, सुन न!

मुमुक्षु : निर्जरा की लालच में मर गये।

पूज्य गुरुदेवश्री : मर गये ?

यहाँ कहते हैं कि '**जो अफंद व्है बहुरि न फंदै।**' जिसने आत्मा को राग से भिन्न किया है, ऐसा सम्यग्दृष्टि संवरवाला जीव फिर से राग के आधीन नहीं होता। उसे पूर्व के कर्म खिरते हैं। '**सो निरजरा,**' लो। उसे निर्जरा कहते हैं। उसकी अशुद्धता टलती है, शुद्धता बढ़ती है, कर्म गलते हैं—तीनों निर्जरा। आहाहा! '**बनारसी वंदै...**' बनारसीदास कहते हैं, अहो! ऐसी पवित्र भावना—स्वभाव की एकता, ऐसी दशा को मैं आदर करता हूँ, वन्दन करता हूँ। निर्जरा अर्थात् शुद्धभाव। ऐसे शुद्धभाव को वन्दन करता हूँ। दूसरा (पद) हुआ पद्य का, हों! यह कविता का पहला (श्लोक) हुआ। अब कविता का दूसरा (श्लोक)।

तज्ज्ञानस्यैव सामर्थ्यं विरागस्यैव वा किल।
यत्कोऽपि कर्मभिः कर्म भुञ्जानोऽपि न बध्यते ॥२॥

ज्ञान-वैराग्य के बल से शुभाशुभ क्रियाओं से भी बन्ध नहीं होता। धर्मी जीव को आत्मा का ज्ञान और राग की एकता का अभाव—यह ज्ञान और वैराग्य का बल। अस्ति तत्त्व चिदानन्द आत्मा, उसका स्व-सन्मुख का ज्ञान और राग के अभाव की परिणति—यह ज्ञान और वैराग्य दोनों, धर्मी को दोनों होते हैं। यह वैराग्यबल। समझ में आया ?

★ ★ ★

काव्य - ३

ज्ञान-वैराग्य के बल से शुभाशुभ क्रियायों से भी बन्ध नहीं होता

(दोहा)

महिमा सम्यकज्ञानकी, अरु विरागबल जोइ।
क्रिया करत फल भुंजतैं, करम बंध नहि होइ।।३।।

शब्दार्थः-महिमा=प्रभाव। अरु=और। भुंजतैं=भोगते हुए।

अर्थः-सम्यग्ज्ञान के प्रभाव से और वैराग्य के बल से शुभाशुभ क्रिया करते और उसका फल भोगते हुए भी कर्मबन्ध नहीं होता है।।३।।

काव्य-३ पर प्रवचन

महिमा सम्यकज्ञानकी, अरु विरागबल जोइ।
क्रिया करत फल भुंजतैं, करम बंध नहि होइ॥३॥

'**महिमा सम्यक्ज्ञानकी...**' निर्जरा अधिकार है न? आत्मज्ञान की महिमा है, कहते हैं। आत्मा पूर्ण आनन्द, ऐसा जो अन्तर में राग से भिन्न पड़कर स्वसन्मुख का भान, वह आत्मज्ञान। '**महिमा सम्यक्ज्ञानकी...**' उस सम्यग्ज्ञान के प्रभाव से '**अरु विरागबल जोई...**' वैराग्य का बल। शुभाशुभ परिणाम से रहित जो दशा है, वह वैराग्य का बल है। अकेला अशुभ से छूटे और शुभ में (प्रवर्ते), वह वैराग्य नहीं। शुभ और अशुभ दोनों क्रिया के परिणाम से जो भिन्न (रहता) है, ऐसा वैराग्य का बल है। इसलिए शुभाशुभ क्रिया करते... '**क्रिया करत फल भूंजतैं...**' वह तो समझाया है, हों! कहते हैं कि क्रिया करे अर्थात् हो और फल भोगे। भोगता नहीं, परन्तु भोगता है—ऐसा दुनिया को दिखता है।'**क्रिया कर फल भुंजतैं, करम बंध नहि होई...**' समकिती को कर्मबन्धन होता नहीं। क्योंकि जड़ की क्रिया है, उसका तो वह ज्ञाता है, वह कुछ करता नहीं। राग होता है, उसका स्वामी नहीं। स्वामी तो अपने चैतन्य आनन्द का है। इसलिए राग और देह की क्रिया होने पर भी और राग को मानो भोगता हो, ऐसा दिखने पर भी बन्ध नहीं। उसे बन्धन है नहीं। ऐसा वस्तु का स्वरूप है।

वे कहें कि व्रत करो, तप करो। बस सम्यग्दर्शन। यह (व्रतादि) हों, ऐसा हो वहाँ सम्यग्दर्शन होता ही है। व्रत ले और अपवासादि करे, तो व्रत-तप हो, वहाँ सम्यग्दर्शन होता ही है। यह व्रत-तप तो चारित्र है। चारित्र हो तो सम्यग्दर्शन होता है। थे कब व्रत, तप? व्रत, तप (चारित्र) कहाँ है? वह तो विकल्प है, राग है। पंच महाव्रत की क्रिया और देह की क्रिया... जिसे देह से भिन्न चीज़ का अनुभव है, वह देह की क्रिया और राग का कर्ता दिखता है और भोगता है, ऐसा दिखता है—ऐसा कहते हैं। है न, ऐसा है न। देखो न, पाठ है न! '**क्रिया कर फल भुंजतैं,**' मानो क्रिया करता है और उसका फल भोगता है, तो भी कर्मबन्धन नहीं। ज्ञानी को भोग निर्जरा का हेतु है, यह

कहते हैं। भोग ही नहीं। परन्तु वह तो शब्द है। अपने आनन्द के अनुभव के समक्ष राग का अनुभव है ही नहीं। आहाहा!

देखो, यह मंगलाचरण। आहाहा! पहला मंगलाचरण किया न दूसरे पद में। '**क्रिया करत फल भुंजतैं,** कौन सी क्रिया? जड़ की क्रिया करे ज्ञानी? राग की क्रिया करे ज्ञानी? जड़ की क्रिया भोगे ज्ञानी? राग की क्रिया भोगे ज्ञानी? समझावे क्या तब उसे? पाठ में ऐसा है। '**कर्म भूञ्जानोऽपि...**' ज्ञानी इन्द्रियों से भोग लेता होने पर भी, '**भुंजाणो ते न बध्यते...**' भोगता होने पर भी वह बन्ध नहीं पाता। आहाहा! यह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और वैराग्य का बल है वहाँ। समझ में आया? उसके कारण निर्जरा है। कहीं क्रिया और राग के कारण निर्जरा नहीं। अस्तिरूप से वस्तु परिपूर्ण है आत्मा, ऐसा अन्तर्मुख का ज्ञान-भान और रागादि से अभाव का वैराग्य, इन दो के बल से रागादि की क्रिया होने पर भी, देह की क्रिया होने पर भी, वह कर्म से बँधता नहीं। आहाहा! '**करम बंध नहि होई।' भोग भोगते हुए भी ज्ञानियों को कर्म-कालिमा नहीं लगती**। दृष्टान्त देते हैं। इस पर दृष्टान्त है, हों! श्लोक तो दूसरे (पद) का है।

★ ★ ★

काव्य - ४

भोग भोगते हुए भी ज्ञानियों को कर्म-कालिमा नहीं लगती

(सवैया इकतीसा)

जैसैं भूप कौतुक सरूप करै नीच कर्म,
कौतुकी कहावै तासौं कौन कहै रंक है।
जैसैं विभचारिनी विचारै विभचार वाकौ,
जारहीसौं प्रेम भरतासौं चित बंक है।।
जैसैं धाइ बालक चुँघाइ करै लालिपालि,
जानै ताहि औरकौ जदपि वाकै अंक है।
तैसैं ग्यानवंत नाना भांति करतूति ठानै,
किरियाकौं भिन्न मानै याते निकलंक है।।४।।

शब्दार्थः-भूप=राजा। कौतुक=खेल। नीच कर्म=छोट काम। रंक=कंगाल। वाकौ=उसका। जार (यार)=दोस्त। भरता=पति। बंक=विमुख। चँघाइ=पिलाकर। लालिपालि=लालन-पालन। अंक=गोद। निकलंक=निर्दोष।

अर्थः-जिस प्रकार राजा खेलस्वरूप छोटा काम[1] करे तो भी वह खिलाड़ी कहलाता है, उसे कोई गरीब नहीं कहता, अथवा जैसे व्यभिचारिणी स्त्री पति के पास रहे तो भी उसका चित्त यार ही में रहता है-पति से प्रेम नहीं रहता, अथवा जिस प्रकार धाय बालक को दूध पिलाती, लालन-पालन करती और गोद में लेती है, तो भी उसे दूसरे का जानती है, उसी प्रकार ज्ञानी जीव उदय की प्रेरणा[2] से भाँति-भाँति की शुभाशुभ क्रिया करता है, परन्तु उस क्रिया को आत्मस्वभाव से भिन्न कर्मजनित मानता है, इससे सम्यग्ज्ञानी जीव को कर्मकालिमा नहीं लगती।।४।। पुनः

काव्य-४ पर प्रवचन

जैसैं भूप कौतुक सरूप करैं नीच कर्म,
कौतुकी कहावै तासौं कौन कहै रंक है।
जैसैं विभचारिनी विचारै विभचार वाकौ,
जारहीसौं प्रेम भरतासौं चित बंक है॥
जैसैं धाइ बालक चुँघाइ करै लालिपालि,
जानै ताहि औरकौ जदपि वाकै अंक है।
तैसैं ग्यानवंत नाना भांति करतूति ठानै,
किरियाकौं भिन्न मानै याते निकलंक है॥४॥

यह आया, उसमें क्रिया कलंक को भोगता है, (ऐसा) कहा था, उसका यहाँ स्पष्टीकरण किया। क्रिया को भिन्न माने। समझ में आया? वहाँ ऐसा कहा था, क्रिया करे और भोगे। दोनों लिये थे। परन्तु उसका अर्थ कि क्रिया से भिन्न जानता है। करे कौन

१. गधे पर चढ़ना आदि।

२. गृहवासी तीर्थंकर, भरत चक्रवर्ती, राजा श्रेणिक आदि की तरह।

और भोगे कौन ? '**जैसें भूप**' राजा '**कौतुक सरूप करैं...**' खिलाड़ी होकर राजा गधे पर बैठे, तो दुनिया उसे ऐसा नहीं कहती कि यह ... (राजा) रंक है। यह तो खिलाड़ी है। गधे के ऊपर बैठकर खेल करता है, ऐसा कहे। राजा गधे पर बैठा हो तो ऐसा कहे कि यह रंक है, यह कुम्हार है—ऐसा कहे ? गधे का मालिक कुम्हार लगता है यह, ऐसा नहीं कहे। यह तो खेल करता है गधे के ऊपर बैठकर, ऐसा लोग कहें। '**जैसें भूप कौतुक सरूप करैं नीच कर्म...**' हल्का। यह गधे का दृष्टान्त दिया है। **गधे पर चढ़ना...** है न नीचे ? '**कौतुकी कहावे तासौं कौन कहै रंक है**' यह खेल करे, छोटा काम करे परन्तु उसे कंगाल कौन कहे ? भिखारी कहे ? छोटा काम करे तो भी वह भिखारी कहलाता है ? या खिलाड़ी कहलाता है ? भिखारी नहीं कहलाता, खिलाड़ी कहलाता है।

इसी प्रकार धर्मी जीव देहादि की क्रिया उसके समीप में दिखाई दे, तथापि वह ज्ञानी उन देहादि की क्रिया से भिन्न वर्तता है। समझ में आया ? गधे पर चढ़ा होने पर भी वह राजा है, (वह) खिलाड़ी है, ऐसा कहा जाता है। इसी प्रकार धर्मी, रागादि या देहादि की क्रिया ऐसी हो तो भी उसका खेल करनेवाला अर्थात् उसका जाननेवाला है, उसका करनेवाला नहीं। आहाहा! करे कर्ता, तथापि अकर्ता। करता नहीं, कर्ता तो एक नाममात्र कहा। कहा न, क्रिया को भिन्न। देह की क्रिया चाहे जो हो, मुझसे नहीं और अन्दर राग का भाव आवे, वह भी मेरा स्वरूप नहीं। ऐसा समकिती धर्मी अपने स्वभाव में सावधान और राग से असावधान (रहता है), उसे निर्जरा होती है। आहाहा!

'**जैसें विभचारिनी विचारै विभचार वाकौ...**' व्यभिचारी स्त्री हो, वह व्यभिचार विचारे। '**जराहीसौं प्रेम भरतासौं चित बंक है...**' अपने पति से तो टेढ़ा चित्त है और प्यार है दूसरे व्यभिचारी पुरुष के ऊपर। इसी प्रकार धर्मी जीव को प्रेम है आत्मा के ऊपर और राग की क्रिया और देह की क्रिया होती है, परन्तु उससे (अपने को) भिन्न जानता है। देखो, भाषा क्या की है, देखा! **जैसे व्यभिचारिणी स्त्री पति के पास रहे...** उसके साथ रहे, उसके (लिये) रांधे, खिलावे, ऐसा करे, वैसा करे **तो भी उसका चित्त यार में रहता है**। जिसके प्रति प्रेम है, उस पर रहता है। **पति से प्रेम नहीं रहता**। उसे पति के ऊपर प्रेम नहीं। इसी प्रकार धर्मी जीव को राग और देह की क्रिया के समीप में दिखता है, तथापि राग और देह की क्रिया का उसे प्रेम नहीं है, उसमें एकताबुद्धि नहीं

है, ऐसा कहते हैं। अरे भारी कठिन! '**जारहीसौ प्रेम भरतासौं चित बंक है।**'

'**जैसैं धाइ बालक चुँघाई करै लालिपालि...**' धाईमाता। रखते हैं न नौकर। हाँ, उपमाता। माता नहीं, परन्तु उपमाता। यहाँ हमारे धाईमाता कहते हैं। है न पाठ में? देखो, धाई—बालक को दूध पिलानेवाली। चुंघाई... दूध पिलावे, स्तन से दूध पिलावे, सब उसकी माँ जैसा काम करे। है न? चुंघाई करे, लालन-पालन करे। 'बेटा! ऐसा है और वैसा है।' यह सुमनभाई को वह बहुत करती थी। क्या नाम बाई का? मणीबाई। पुत्र जैसा, हों! बाई चुस्त, वह भी...

मुमुक्षु : रबारण।

पूज्य गुरुदेवश्री : खबर है न। एक बार यहाँ वह कुछ .... लाकर देती। क्या कहलाता यह? गुरुकुल। वहाँ रहते न उस ओर रहते। खबर है न। कुछ सुमनभाई ऐसे जाते... ऐसे रखे माँ की तरह, हों! ....बहिनरूप से, इसे भाईरूप से।

उसे पुत्र नहीं था। पुत्र रूप से बनाकर रखते। परन्तु जानती थी कि मेरा पुत्र नहीं।

मुमुक्षु : वह तो उसका अपना मानती थी।

पूज्य गुरुदेवश्री : मानती थी, यह बात सच्ची। भाई कहे, उसे प्रेम बहुत था। आँख में से आँसू बहते जायें, जरा सुमनभाई को कुछ हो, आँख में से आँसू... एक बार खबर है न, वे वहाँ थे और कुछ लाठी-बाठी था। ऐसे... आहाहा! परन्तु यह तो भी मन (ऐसा है कि) मैं कहीं इसकी माता नहीं। ऐसा तो है न अन्तर में? पाल पोसकर बढ़ा (किया, परन्तु अब) यह कहीं अब मुझे (सँभालेगा) नहीं। '**जैसैं धाइ बालक चुँघाई।**' चुंघाई अर्थात् दूध पिलाये। '**करै लालिपालि...**' नहलावे, खिलावे, पिलावे, प्रसन्न रखे। '**जानै ताहि औरकौ जदपि वाकै अंक है।**' यद्यपि उसकी गोद में बैठा हो। अंक—गोद में बैठा हो परन्तु '**जानै ताहि औरकौ...**' वह तो दूसरे का है भाई। '**तैसे ग्यानवंत...**' यह सब उपमा दी। एक तो राजा की, एक व्यभिचारिणी की और धाईमाता की—तीन।

'**तैसैं ग्यानवंत नाना भांति करतूति ठानै,**' लो। ऐसे धर्मात्मा जाने, यह क्रिया होती है, राग होता है, (उसे) जाने। **करतूति ठानै...** ठाने अर्थात् उसमें हो ऐसा। '**किरियाकौ भिन्न मानै।**' आहाहा! समझ में आया? है न अन्दर? **लालन-पालन**

करती और गोद में लेती है, तो भी उसे दूसरे का जानती है, उसी प्रकार ज्ञानी जीव उदय की प्रेरणा से भाँति-भाँति की शुभाशुभ क्रिया करता है। क्रिया करता है। यह तो समझाना हो तो क्या समझावे? शुभ-अशुभ क्रिया वहाँ होती है। होती है, उसे जानता है। आहाहा! आत्मा के आनन्द का जहाँ रस है, उसे फिर राग का और क्रिया का रस अन्दर से उड़ गया है। उसे धर्मी कहते हैं। ऐसा धर्म कोई साधारण बात नहीं है। जिसे आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का रस आया है, उस रस के समक्ष राग का और जड़ की क्रिया का रस उड़ गया है। आहाहा! उसे निर्जरा होती है, उसे अशुद्धता टलती जाती है और कर्म गलता जाता है। कर्म गले, वह कर्म की निर्जरा; अशुद्धता टले, वह अशुद्ध निश्चय की (निर्जरा); शुद्धता बढ़े, वह उसका शुद्धभाव। आहाहा! एक-एक बात जैनदर्शन की ऐसी सूक्ष्म। लोगों को बाहर पड़े तो ऐसा लगे कि यह तो एकान्त... एकान्त... है।

यह तपस्या करने से निर्जरा... 'तपसा निर्जरा च' कही है न! तत्त्वार्थसूत्र में नहीं? 'तपसा निर्जरा च'। यह तो व्यवहार की बात की है। यहाँ प्रश्न हुआ था। (संवत्) २००९ के वर्ष में। आये थे न तोलार के... तोलार के सेठ। फिर उन्होंने हमको पूछा था। लाडनूं गाँव का होगा कोई जवान। 'सेठ! पूछो महाराज को कि यह तपसा निर्जरा कही है न?' (संवत्) २००९ के वर्ष की बात है। मानस्तम्भ होने से पहले। 'भाई! तपसा निर्जरा, यह तो आत्मा का स्वभाव का भान होकर राग से भिन्न पड़कर राग घटे और क्रिया हो, तब उसे जिससे लक्ष्य छूटा था आहार करने का इत्यादि, उसे व्यवहार से नाम दिया कि इसे तप से निर्जरा। निर्जरा तो इससे (शुद्धभाव से) होती है। रोटियाँ नहीं खायी, वह निर्जरा है? लक्ष्य कहाँ से छोड़ा था और लक्ष्य कहाँ स्थिर हुआ, उस स्थिर होने की दशा को निर्जरा न कहकर, यहाँ से लक्ष्य छूटा, वहाँ से निर्जरा कही। वह तो व्यवहार से बात की है। समझ में आया?

ज्ञानी जीव उदय की प्रेरणा से... लो, उसमें भी ऐसा आवे। लो। कर्म का उदय, उसकी प्रेरणा हो उसे। इसका अर्थ यह कि जिसे आनन्द की रुचि है, उसे राग की रुचि नहीं, तथापि कर्म के निमित्त में, अपनी बलजोरी कम है, इसलिए वहाँ जुड़ जाता है। इसलिए कर्म की प्रेरणा से हुआ, ऐसा कहा जाता है। है तो अपनी निर्बलता। परन्तु

निर्बलता को अपनी है ऐसा न जानकर, पर की है (ऐसा जानता है)। वह मेरी चीज़ कहाँ है? मुझमें ही है कहाँ? ऐसा कहते हैं। आहाहा! '**भाँति-भाँति की शुभाशुभ क्रिया करता है।** दिखाई दे कि यह क्रिया करता है। देखो, यह अशुभ होता है, यह भोग लेता है, ऐसे दूधपाक, पूड़ी खाता है। वह रूखा खाता है। यह दूधपाक, पूड़ी खाता है और यह कहे कि हम धर्मी। वह रूखा खाये तो कहे, नहीं, उसे धर्म नहीं होता। ऐ कनुभाई! ... मिला था न ९४ में। ९४, ९४। कितने वर्ष हुए? २७ और ६ = ३३। यहाँ बाहर नहीं बाहर?

कहे, वह धर्मी तीन-तीन गद्दों पर सोवे... यह कनुभाई ने प्रश्न किया था। तब आठ वर्ष की उम्र थी उनकी। ८६ में जन्म और ९४ में हुआ न यह मकान। कहे, यह क्या है यह? चक्रवर्ती बड़े तीन-तीन रेशमी गद्दों पर सोवे, पंखा चलाये, ठण्डा पानी-बर्फ पीवे, खम्मा खम्मा (हो) और वह धर्मी? और हम नीचे सोयें, गद्दा नहीं। कहा था न?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : चींटी और कौवे को गद्दे कहाँ हैं? बेचारे नीचे सोते हैं, लो न! यह बैल नीचे बेचारे... ऐसे रोग हो और हड्डियाँ ऐसी हो गयी हों। नीचे पत्थर चुभे। गद्दे भी नहीं और कपड़ा भी नहीं और घास भी नहीं। 'हमको धर्म नहीं होता और उसे धर्म होगा?' ऐसा प्रश्न किया था। छोटी उम्र थी आठ वर्ष की। आठ-आठ। ३३ और ८ = ४१ हुए। ४१ हुए न? यह ८६ में वहाँ गये थे, तब जन्म नहीं हुआ हो। ८६ में गये थे न, सम्प्रदाय में थे तब। परन्तु यह क्या? तीन-तीन गद्दे पर सोये, ठण्डा पानी पीवे, पंखा चलाये और कहे धर्मी। और हम रूखा खायें, नीचे सोयें (तो भी) हमको धर्म नहीं।

ए मनसुख! परन्तु उसमें अन्तर क्या? अन्तर अन्दर में अनन्तगुणा। वह—अज्ञानी वहाँ राग को एकपने अनुभव करता है। चाहे तो रूखा खाता हो और नीचे सोता हो या जंगल में रहकर नग्न घूमता हो। (परन्तु) विकल्प को एकपने अनुभव करता है, वह मूढ़ है। और राज आदि में पड़ा बैठा हो। और बत्तीस ग्रास चक्रवर्ती के कितने ऊँचे। एक ग्रास छियानवें करोड़ सैनिक नहीं पचास सकें। एक कवल—ग्रास छियानवें

करोड़ सैनिक न पचा सकें। ऐसे बत्तीस ग्रास ले चक्रवर्ती, तो भी उसे (निर्जरा)। तो भी कहे वह धर्मी। उसे राग का रस नहीं है, रस नहीं उस जड़ का। चैतन्य का रस और निर्विकल्प आनन्द के रस में चढ़ा है, उसे रस कहीं नहीं लगता। सर्वत्र श्मशान जैसा लगता है। उदास... उदास... उदास... आहाहा!

मुमुक्षु : उदास हो वह राग करे?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह उदास ही है अन्दर। राग कहाँ करता है? होता है, उसे भिन्न जानता है। यह आया न! यह अन्तिम देखो न, **भिन्न कर्मजनित मानता है...** देखो न, है न! पाठ में है न। **शुभाशुभ क्रिया करता है....** करता अर्थात् होती है। **परन्तु उस क्रिया को आत्मस्वभाव से भिन्न कर्मजनित मानता है।** वह कर्म के निमित्त से उत्पन्न हुआ रोग है, जहर है। आहाहा! वह दु:ख है। अशुभभाव काला नाग है। अज्ञानी उस भाव में ऐसे रसबोळ, अकेला लालपाल घुस जाता है अन्दर में। वह मिथ्यात्व उसे बन्ध का कारण है। आहाहा! धर्मी जीव चैतन्यरस का रसिक, भगवान आत्मा के सुख का रसिक, उस रसिक को राग का रस होता नहीं, यह बात कहते हैं। राग की क्रिया हो, देह की क्रिया ज्ञात हो, तथापि भिन्न (कर्म)जनित मानता है। भिन्न कर्म से उत्पन्न हुआ मानता है। मुझमें है नहीं। आहाहा!

इससे सम्यग्ज्ञानी जीव को कर्मकालिमा नहीं लगती... और कोई ऐसा कहता कि यह ज्ञानी का पक्ष तो करते नहीं न तुम? और ऐसा पूछा। पक्ष का अर्थ, वस्तु का स्वरूप ऐसा है। आहाहा! कहीं ज्ञानी का चित्त चिपकता नहीं राग में, निमित्त में, संयोग में। उसका चित्त जहाँ चिपका है, वहाँ से हटता नहीं। इससे आनन्द, अतीन्द्रिय आनन्द का रसीला धर्मी... उसे धर्मी कहते हैं। आहाहा! उसे कर्म के निमित्त से होती क्रियायें आदि दिखती है, रागादि दिखते हैं, परन्तु उनका उसे बन्धन (होता नहीं)। आहाहा! वह ज्ञान और वैराग्य बल का जोर है, ऐसा कहते हैं। आत्मज्ञान और राग के अभाव का बल, (ऐसी) अस्ति-नास्ति है। चिदानन्द प्रभु ध्रुव नित्यानन्द आत्मा ध्रुवस्वरूप, उस ध्रुव के रस में जो अन्दर रस में चढ़ा है, नित्यानन्द आत्मा के रस में चढ़ा हुआ धर्मी, उसे क्षणिक व्यभिचार रागादि का रस नहीं आता। आहाहा!

'**किरियाकौ भिन्न मानै याते निकलंक है**' ऐसा। शब्द तो कहा कि '**करतूति**

ठानै।' ठाने अर्थात् होती है, ऐसा। **भाँति-भाँति क्रिया करता है...** ऐसा '**ठानै**' का अर्थ किया। '**किरियाकौ भिन्न मानै याते निकलंक है**' ओहोहो! ऐसा स्वरूप है। संवर और निर्जरा का ऐसा स्वरूप है। लोग मानते हैं, उस प्रकार से नहीं। ऐ मनसुख! भगवान का मन्दिर बनाया और यह मन्दिर किया और शान्तियज्ञ किया और ढींकणा किया, हो गयी निर्जरा।

मुमुक्षु : आपकी उपस्थिति में करें।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो उसे वहाँ कहा सभा में, 'पैसे तुम्हारे हैं यह? खर्च करते हो न?' इस बार कहा वहाँ। दो लाख, तीन लाख, चार लाख खर्च किये। परन्तु किसके थे? तुम्हारे कहाँ थे? वह तो अजीव की क्रिया है। कौन करे अजीव को? (अज्ञानी) धर्म माने। यह प्रकाशित किया है न? 'मैं ज्ञानानन्द स्वभावी हूँ' ऐसा बोलते थे वहाँ। व्याख्यान होने के बाद दो-तीन बार बोले, कण्ठ बहुत मीठा न! बोलते थे न? एक दिया है, हों! वह मँढा... क्या कहलाता है? दिया है।

मुमुक्षु : मँढा रखा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : मँढा रखा है।

'मैं ज्ञानानन्द स्वभावी हूँ।' मैं राग, रंग और भेद से निराला हूँ। किसी परद्रव्य के साथ मुझे गन्ध—सम्बन्ध कुछ नहीं। सम्बन्ध कैसा? ऐसा अन्तरभाव परिणमे, उसे निर्जरा होती है, ऐसा कहते हैं। भाषा बोलता है वह और, इसे कुछ नहीं। समझ में आया? ज्ञानानन्दस्वभावी हूँ। है न उसमें? ओहोहो! अन्दर तत्त्व डाला है। 'मैं हूँ अपने में स्वयं पूर्ण।' हुकमचन्दजी ने बनाया है। हुकमचन्दजी का मस्तिष्क ... बहुत... एक से एक बात जोरदार, बहुत जोरदार। .... कौन जाने कैसा क्षयोपशम लेकर आये हैं। किसी भी बात में तर्क करे, सब समुचित ऐसे। सीखना कैसे? पूर्ण हूँ। एक बार लड़कों को ले गये थे। पाँच टुकड़े किये। एक वह है न।

'गृहस्थाश्रम छोड़कर, मुनिधर्म अंगीकार करके, स्वभाव साधन द्वारा, घातिकर्म का नाश करके, अनन्त चतुष्टय को प्राप्त हुए हैं।' मोक्ष अधिकार... मोक्षमार्गप्रकाशक। पाँच टुकड़े कर-करके... ऐसा सबको बुलावे, कहाँ भूल हुई कहो, बोलो। गृहस्थाश्रम

छोड़कर, मुनिधर्म अंगीकार करके... वह व्यय हुआ, इसका उत्पाद। स्वभाव साधन द्वारा... वापस ऐसा। तीसरा बोल ऐसा है न। अध्यापकों को सिखाते थे। एक-एक टुकड़ा काट-काटकर। ऐसी पद्धति से समझावे। स्वरूप साधन द्वारा, चार घातिकर्म का नाश होकर, अनन्त चतुष्टय को प्राप्त हुए। इतने पाँच बोल हैं न? पाँच बोल हैं। अध्यात्म वर्ग रात्रि में... गजब समझाने की शैली उनकी। एक शब्द पड़ा (वहाँ कहे) क्या भूल हुई? क्या उसकी गलती हुई बोलो, परमात्मप्रकाश! तुम वहाँ थे या नहीं? नहीं लाठी? आधे घण्टे तक। सिखाने की पद्धति गजब। हाँ, अध्यापक भी ऐसे प्रसन्न-प्रसन्न हो जाये। ऐसी उनकी पद्धति है।

स्वरूप साधन द्वारा चार गति का नाश होता है। विकल्प और व्यवहार साधन द्वारा नहीं। नाश होकर होता क्या है? अनन्त चतुष्टय को पाते हैं। फिर उनकी कुछ छोटी व्याख्या ली थी। पाँच टुकड़ों की बहुत चली थी। मोक्षमार्गप्रकाशक में है न? वह यह। 'मैं हूँ अपने में स्वयं पूर्ण, पर की मुझमें कुछ गन्ध नहीं। मैं अरस अरूपी अस्पर्शी, पर से कुछ भी सम्बन्ध नहीं।' उसमें गन्ध नहीं, यहाँ सम्बन्ध नहीं। 'मैं रंग-राग से भिन्न भेद से भी मैं भिन्न निराला हूँ।' भेद से भी भिन्न, ऐसे भान में निर्जरा होती है। शब्द बोलने से कुछ होता है? 'मैं हूँ अखण्ड चैतन्यपिण्ड, निज रस में रमनेवाला हूँ।' निजरस में रमनेवाला हूँ। निजरस में रमनेवाला हूँ।

भाई बोलते थे। दो-तीन दिन वे बोले। व्याख्यान पूरा हो न सवेरे, भाई बोले। गोदिका की धुन सुनो, ऐसा कहा... 'मैं ही मेरा कर्ता-धर्ता, मुझमें पर का कुछ काम नहीं। मैं मुझमें रहनेवाला हूँ, पर में मेरा विश्राम नहीं।' यहाँ रहनेवाला है। यहाँ विश्राम नहीं। मैं शुद्ध बुद्ध अविरुद्ध... 'मैं शुद्ध बुद्ध अविरुद्ध एक, परपरिणति से अप्रभावी हूँ।' विभाव से भी मुझमें प्रभाव नहीं पड़ता। पम्पलेट दिये थे बहुत वहाँ। आत्मानुभूति से प्राप्त... यह '**स्वानुभूत्या चकासते**।' 'आत्मानुभूति से प्राप्त तत्त्व...' मेरा तत्त्व तो अनुभूति से प्राप्त है। 'मैं ज्ञानानन्दस्वभावी हूँ।' अन्तिम पद। ऐसा अन्तर में भान हो, वहाँ पूर्व के कर्म की क्रिया वर्ते, उसे अपनी माने नहीं। आहाहा! उसे कर्मकालिका लगती नहीं, लो। वह का वह है यह। यह विशेष स्पष्ट है न।

★ ★ ★

काव्य - ५

जैसैं निसि वासर कमल रहै पंकहीमैं,
पंकज कहावै पै न वाकै ढिग पंक है।
जैसैं मंत्रवादी विषधरसौं गहावै गात,
मंत्रकी सकति वाकै विना-विष डंक है।।
जैसैं जीभ गहै चिकनाई रहै रूखे अंग,
पानीमैं कनक जैसैं काईसौं अटंक है।
तैसैं ग्यानवंत नानाभांति करतूति ठानै,
किरियाकौं भिन्न मानै यातैं निकलंक है।।५।।

शब्दार्थ:-निसि (निशि)=रात्रि। बासर=दिन। पंक=कीचड़। पंकज=कमल। विषधर=सर्प। गात=शरीर। काई=कीट। अटंक=बेदाग।

अर्थ:-जैसे कमल कीच से उत्पन्न होता है और दिन-रात कीचड़ में रहता है परन्तु उस पर कीचड़ नहीं जमती, अथवा जिस प्रकार मन्त्रवादी अपने शरीर को सांप से कटवा लेता है, पर मन्त्र की शक्ति से उस पर विष नहीं चढ़ता, अथवा जिस प्रकार जीभ चिकने पदार्थ खाती है, पर चिकनी नहीं होती, रूखी रहती है, अथवा जिस प्रकार सोना पानी में पड़ा रहे तो भी उस पर काई नहीं जमती; उसी प्रकार ज्ञानी जीव उदय की प्रेरणा से भाँति-भाँति की शुभाशुभ क्रिया करता है परन्तु उसे आत्मस्वभाव से भिन्न कर्मजनित मानता है, इससे सम्यग्ज्ञानी जीव को कर्मकालिमा नहीं लगती।।५।।

काव्य-५ पर प्रवचन

जैसैं निसि वासर कमल रहै पंकहीमैं,
पंकज कहावै पै न वाकै ढिग पंक है।
जैसैं मंत्रवादी विषधरसौं गहावै गात,
मंत्रकी सकति वाकै विना-विष डंक है।।

जैसैं जीभ गहै चिकनाई रहै रूखे अंग,
पानीमैं कनक जैसैं काईसौं अटंक है।
तैसैं ग्यानवंत नानाभांति करतूति ठानै,
किरियाकौं भिन्न मानै यातैं निकलंक है॥५॥

इसमें भी ऐसा आया। '**किरियाकौं भिन्न मानै यातैं निकलंक है।**' उसमें भी यह शब्द था। बहुत सरस।

'**जैसैं निसि वासर...**' निसि अर्थात् रात और वासर अर्थात् दिन। '**कमल रहै पंकहीमैं**' चौबीस घण्टे कादव में रहे। **कमल कीच से उत्पन्न होता है और दिन-रात कीच में रहता है परन्तु उस पर कीचड़ नहीं जमती।** कमल कीचड़ को छूता ही नहीं। आहाहा! दिखता तो ऐसा है कि यह कादव में से उत्पन्न हुआ, कादव में... दृष्टान्त भी कैसा दिया है, देखो न! '**पंकज कहावै**' पंक + ज—कादव में से उत्पन्न हुआ, 'पंक' अर्थात् कादव, उसमें 'ज' (अर्थात् जन्मे)। कमल—पंकज। कादव में उत्पन्न हुआ तथापि कादव को और कमल को कुछ लेना-देना नहीं। आहाहा! '**पंकज कहावै पै न वाकै ढिग पंक है।**' **तथापि उस पर कीचड़ नहीं जमती।**

'**जैसैं मंत्रवादी विषधरसौं गहावै गात**' मन्त्रवादी सर्प के मुख में हाथ डाले। '**विषधरसौं गहावै गात**' है न! **अपने शरीर को साँप से कटवा लेता है।** आहाहा! दृष्टान्त। '**मंत्रकी सकति वाकै विना-विष डंक है।**' परन्तु मन्त्र की शक्ति के कारण सर्प का डंक उसे लगता नहीं। आहाहा! मन्त्र... यह तो विषान्तशक्ति अर्थात् यह तो ऐसा हो तब ऐसा हो।

एक सेठिया आया था। बहुत मन्त्र की पुस्तक-बुस्तक लेकर। वह मानो कि मैं श्रद्धावाला लगता हूँ। ... बड़ी पुस्तक लेकर। क्या है कहा अब इसमें? धूल भी नहीं। यह मन्त्र-तन्त्र भारी भ्रमणा का पार नहीं। आहाहा! इस मन्त्र से ऐसा हो और इस मन्त्र से ऐसा हो और इस मन्त्र से ऐसा हो। नवकार मन्त्र कहा नहीं? कहे। नवकार मन्त्र वह क्या है, वह तो शुभभाव का निमित्त है, कहा। मन्त्र क्या वहाँ दूसरा था? आहाहा! '**जैसैं जीभ गहै चिकनाई।**' यह जीभ में गोंद आदि हो। यह गोंद का लड्डू आदि खाये न,

वह जीभ को छूता नहीं। '**चिकनाई रहै रूखे अंग।**' जीभ को छूता नहीं कुछ। **जीभ चिकने पदार्थ खाती है पर वह चिकनी नहीं होती।** कहो, गोंद खाये, ऐसा (चिकना) खाये, फिर साबुन से धोना पड़े? जीभ को साबुन से धोना पड़े? भाई! बहुत चिकनी हो गयी। उसे—जीभ को चिकनाई लगती ही नहीं। '**पानीमैं कनक जैसैं काईसौं अटंक है।**' पानी में सोना रहे परन्तु काई लगती नहीं, लो। **सोना पानी में पड़ा रहे तो भी उस पर काई नहीं जमती।** ऐसा ही उसका स्वभाव है, ऐसा कहते हैं।

'**तैसैं ग्यानवंत नानाभांति करतूति ठानै।**' ऐसे आनन्दस्वभावी आत्मा... बाहर में देह की क्रियायें, राग की, कुछ दिखाई दे, हो। '**करतूति ठानै।**' है न? **शुभाशुभ क्रिया करता है,...** ऐसे ठानै का अर्थ किया। वहाँ ऐसा कहा था? '**किरियाकौ भिन्न।**' उस क्रिया से अपने आत्मा को अत्यन्त भिन्न जानता है। आहाहा! यह भेदज्ञान की महिमा वर्णन करते हैं। भेदज्ञान बिना तेरे व्रत और तप सब बन्धन के कारण, संसार के कारण हैं। आहाहा! भेदज्ञानी को अशुभभाव हो तो भी वह निर्जरा का कारण है, ऐसा कहते हैं यहाँ तो। क्योंकि उसका रस है नहीं। रस नहीं, स्वामी नहीं। स्वामीपने अशुभभाव को करता नहीं। होता है, उसे अपने आत्मा से भिन्न जानता है; इसलिए उसे कर्मों की निर्जरा होती है। लो, ऐसा निर्जरा का स्वरूप है। आहाहा!

यह तो अज्ञानी भान बिना के कहे अपवास किया, अट्ठम किया, हो गयी निर्जरा। बहुत परीषह सहन किये। गला सूखता था तो भी पानी पिया नहीं, लो। जैसे-जैसे बहुत सहन करे, वैसे बहुत निर्जरा। ऐ प्रकाशदासजी! देहं दुखं महा फलं... देह से जैसे दुःख अधिक सहन हो, ऐसे महाफल हो। धूल भी नहीं होता। यहाँ तो अपने स्वभाव के रस के भान में अतीन्द्रिय आनन्द के रस का रसीला, उसे राग की क्रिया का स्वामीपना नहीं। दिखता है कि यह राग की क्रिया करता है। उसे कोई जैसे पानी में सोना काईरहित रहता है, वैसे धर्मात्मा को राग की क्रिया का रंग नहीं लगता, उसका रस नहीं चढ़ता। **सम्यग्ज्ञानी जीव को कर्मकालिमा नहीं लगती,...** लो। विशेष कहेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ७१, ज्येष्ठ कृष्ण ३, शुक्रवार, दिनांक ११-०६-१९७१
निर्जरा द्वार, काव्य - ६, ७, ८, ९

निर्जरा अधिकार। धर्म पाने पर धर्म की शुद्धि किसे बढ़ती है, उसका अधिकार है। धर्म पाने पर अर्थात् आत्मा का आनन्दस्वभाव सुखस्वरूप आत्मा का अनुभव होने पर आनन्द का स्वाद आवे। ऐसे धर्मी को सुख के स्वादिया, आत्मा के आनन्द का रस का रसिक कहा जाता है। जब तक मिथ्यात्व है, तब तक पर में—पुण्य में, पाप में, पर में कुछ ठीक है, ऐसा सुख भासित होता है। आत्मा के अतिरिक्त कोई भी चीज़ पर और पुण्य और पापभाव, वह पर—उसमें कुछ सुख भासे, तब तक वह दुःख का अनुभवी मिथ्यादृष्टि है। चक्रवर्ती छह खण्ड का धनी, ९६ हजार स्त्रियाँ, उसे उनमें सुख भासित नहीं होता? धर्मी को उसमें रोग भासित होता है। अज्ञानी को उनमें सुख भासित होता है, इतना अन्तर है। इतना पूर्व-पश्चिम का अन्तर है। अज्ञानी त्यागी हो... यह सब कहेंगे, तथापि उसे पुण्य के परिणाम में—क्रिया में, राग में सुखरूप लगता है, अर्थात् ठीक लगता है, इसलिए मिथ्यादृष्टि दुःख का अनुभवी है।

और धर्म होने पर... धर्म अर्थात् वस्तु का स्वभाव, वस्तु-आत्मा का स्वभाव आनन्द। ऐसी आनन्द की दृष्टि होने पर पर्याय में आनन्द का अनुभव आता है। उसे विषय आदि में रोग जैसा लगता है। जैसे रोग आवे—कोढ़ रोग और गळत रोग, ठीक लगता होगा उसे? क्षय रोग आवे, लो। नाम सुने वहाँ (काँप उठे)। उसे कैंसर हुआ यहाँ। खबर नहीं थी कुछ, दुःखता अवश्य था। आहाहा! कैंसर जो हो और दुःख लगे, ऐसे आह... ऐई, हीरालालजी! कैंसर हुआ। पैसेवाले व्यक्ति थे। बहुत वर्ष की बात है। दस लाख रुपये पैदा हुए। दस लाख रुपये हुए, ऐसा कहते थे। एक-दो लाख कम होंगे। दूसरी विवाही थी, उसके पाँच-सात वर्ष हुए होंगे, दस वर्ष हुए होंगे। डॉक्टर ने कहा, कैंसर है। 'भाईसाहेब! स्त्री को कहना नहीं, हों! नया विवाह किया है। मैं तो मानो ठीक।' आहाहा! ऐसे धर्मी को आत्मा के आनन्द के रस के समक्ष पुण्य-पाप के भाव रोग, कोढ़ जैसे लगते हैं। समझ में आया? प्रकाशदासजी! गजब! इसलिए कहते हैं।

देखो, छठा बोल है न इसमें। वैराग्य शक्ति का वर्णन। नीचे तीसरा कलश है तीसरा।

नाश्नुते विषयसेवनेऽपि यत् स्वं फलं विषयसेवनस्य ना।
ज्ञान-वैभव-विरागता-बलात्-सेवकोऽपि तदसावसेवकः ।।२।।

ना अर्थात् नकार आया न। **न फलं**। फल नहीं आता, ऐसा न?

मुमुक्षु : ना अर्थात् पुरुष।

पूज्य गुरुदेवश्री : पुरुष है, ठीक। छठवाँ पद। छठवाँ पद है न!

★ ★ ★

काव्य - ६

वैराग्यशक्ति वर्णन (सोरठा)

पूर्व उदै सनबंध, विषै भोगवै समकिती।
करै न नूतन बन्ध, महिमा ग्यान विरागकी।।६।।

अर्थः-सम्यग्दृष्टि जीव पूर्वबद्ध कर्मों के उदय से विषय आदि भोगते हैं, पर कर्मबन्ध नहीं होता, यह ज्ञान और वैराग्य का प्रभाव है।।६।।

काव्य-६ पर प्रवचन

पूर्व उदै सनबंध, विषै भोगवै समकिती।
करै न नूतन बन्ध, महिमा ग्यान विरागकी।।६ ।।

पूर्व उदै सनबंध, विषै भोगवै समकिती।
करै न नूतन बन्ध, महिमा ग्यान विरागकी।।६ ।।

आहाहा! सम्यग्दृष्टि जीव... आत्मा के आनन्द का अनुभवी जीव अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव। आत्मा की सत्ता आनन्दमयी है। ऐसी सत्ता का स्वीकार अनुभव में आया। भाषा समझते हैं न? वस्तु आत्मा और उसका स्वभाव, वह उसका धर्म। वस्तु आत्मा है तो

उसका धर्म—स्वभाव तो आनन्द है। अतीन्द्रिय सुख का पूर है, प्रभु। ऐसे आनन्द का जिसे अन्तर भान, अनुभव, अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आया, उस जीव को **पूर्वबद्ध कर्मों के उदय से....** पूर्व के जो कर्म थे, वे उदय में आये, कोई अज्ञानपने जो बँधे हुए **विषय आदि भोगते हैं।** भाषा लोक देखे, ऐसी की है। विषय आदि भोगते हैं, ऐसा नहीं, परन्तु उनके संयोग में वह दिखता है। आहा! स्त्री के परिचय में दिखता है, युद्ध के परिचय में दिखता है। इससे 'वह भोगता है' ऐसा शब्द लोक की दृष्टि से प्रयोग किया है।

वहाँ कहे न, लो, इसे ज्ञानी कहते हैं और यह तो अभी विवाह करता है और स्त्री है और पुत्र है। आहा! कहते हैं, सुन भाई! आत्मा के आनन्द के अनुभव के समक्ष यह पूर्व के कर्म से प्राप्त सामग्री के संयोग में यह जरा विकल्प—राग आता है, परन्तु उस राग को रोग जानता है। समझ में आया? आहाहा! राग को रोग जानता है। इसलिए वह भोगता है, ऐसा दिखता है, ऐसा। **भोगते हैं पर कर्मबन्ध नहीं होता।** उसका फल जो आना चाहिए (कर्म) बन्धन, वह तो आता नहीं। क्योंकि जहाँ रस ही उड़ गया है। आहाहा! शुभ-अशुभभाव में से धर्मी को रस उड़ गया है। फीका पड़ गया है। देखो, यह धर्मदशा! धर्म अर्थात् कहीं यह पूजा करना, भक्ति करना, व्रत पालना, तप करना, ऐसा धर्म नहीं। कहते हैं कि ऐसा जो आत्मा... अज्ञानी भी इस प्रकार से ही भोगता हुआ दिखता है बाहर में और ज्ञानी भी इस प्रकार से दिखता है। अन्तर में बहुत अन्तर है। आहाहा!

एक को—मिथ्यादृष्टि को राग का रस है। ज्ञानी को राग का रस नहीं, निज स्वभाव का रस है। बस इतना अन्तर है। आहाहा! इससे पर, उसका जो कर्मबन्धन नहीं होता, वह ज्ञान और वैराग्य का प्रभाव है, देखो। ज्ञान अर्थात् अनुभव, आनन्द। आनन्द की वह महिमा है। ज्ञान अर्थात् आत्मा का ज्ञान अर्थात् अनुभव, आत्मा के अनुभव का वह प्रभाव है। वैराग्य अर्थात् रागरहित शुद्ध परिणति। आहाहा! कहो, समझ में आया? कहो, ... वे कहते हैं या नहीं, अविरत सम्यग्दृष्टि को बन्ध नहीं, इसमें एकान्त है। किस अपेक्षा से कहते हैं, सुन न! वह सब डाला है। इन्होंने डाला है, वे भी डालते हैं। बन्ध नहीं, वह तो दृष्टि के आनन्द के अनुभव के समक्ष, रागरहित की परिणति—वैराग्य के समक्ष, उसे अल्प बन्ध जो राग आदि का है, उसे गिना नहीं। ऐसी बात है। बन्ध तो है।

नहीं है, ऐसा नहीं। अनन्तानुबन्धी का भाव (ऐसे) राग का रस आवे और जिसमें अनन्त संसार (मिले ऐसा) कर्मबन्धन हो, ऐसा बन्धन उसे नहीं होता। इस अपेक्षा से उसे बन्धन नहीं है, ऐसा कहा है।

ऐई! इसकी टीका (आलोचना) करते हैं....। क्या अपेक्षा है, भाई! देखो न, यहाँ तो आचार्य ऐसा कहते हैं। बात सच्ची। सम्यग्दृष्टि हो, उसे भी जितना भोग का राग है, वह बन्धन ही है, वह दु:ख है, वह जहर है। उसका बन्धन भी उसे होता है, ऐसा जानता है। जानता है। धर्मी उसे कहते हैं कि आत्मा के आनन्द के अतिरिक्त कहीं चैन नहीं पड़ता। चक्रवर्ती का राज हो या इन्द्र का इन्द्रासन हो। ऐसी बात है, भाई! धर्म कोई ऐसी चीज़ नहीं कि यह सामायिक कर डाले या प्रतिक्रमण कर डाला, यह किया और हो गया (धर्म)। यह सामायिक किसे कहना, इसकी खबर नहीं होती। यह सब अनुभव और वैराग्य का प्रभाव है, कहते हैं। आहाहा! आत्मा के अनुभव के समक्ष यह पुण्य-पाप के विकल्प और संयोग रोग समान... रोग समान (मानता है)। दुनिया मान दे खम्मा... खम्मा... वह अभिमान... किसे मान?

कर्म की जितनी सामग्री, वह सब... यहाँ कर्म की सामग्री के दो प्रकार हैं। एक घातिकर्म के निमित्तों में होता राग और अघातिकर्म के निमित्त से (प्राप्त) सामग्री—दोनों के प्रति धर्मी को वैराग्य है। आहाहा! जहाँ कर्म ही मेरा नहीं, वहाँ कर्म के निमित्त से होता राग... इस ओर घातिकर्म तथा अघाति के निमित्त से होती सामग्री—बस दो। आहाहा! कहते हैं, '**ज्ञानवैभवविरागता बलात्सेवकोऽपि तदसावसेवकः**' अज्ञानी भोग न ले, विषय न ले, शरीर से बराबर ब्रह्मचर्य पालन करे, परन्तु अन्दर में उसे गहराई से राग का प्रेम है, राग का रस है, मान का रस है। परपने का अधिकपना (उसमें स्वपना) उसे भासित होता है। मेरा स्वरूप राग से अधिक—भिन्न है, ऐसा भासित नहीं होता। आहाहा! समझ में आया? एक बोल हुआ।

चौथा श्लोक। कलश चौथा। श्लोक उसका है।

सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञानवैराग्यशक्तिः,
स्वं वस्तुत्वं कलयितुमयं स्वान्यरूपाप्तिमुक्त्या।

यस्माज्ज्ञात्वा व्यतिकरमिदं तत्त्वतः स्वं परं च,
स्वस्मिन्नास्ते विरमति परात्सर्वतो रागयोगात् ।।४।।

आहाहा! इसका सातवाँ पद। यह कलश कहा। **ज्ञान वैराग्य से मोक्ष की प्राप्ति है।**

★ ★ ★

काव्य - ७

ज्ञान वैराग्य से मोक्ष की प्राप्ति है (सवैया तेईसा)

सम्यकवंत सदा उर अंतर,
ग्यान विराग उभै गुन धारै।
जासु प्रभाव लखै निज लच्छन,
जीव अजीव दसा निरवारै।।
आतमकौ अनुभौ करि ह्वै थिर,
आप तरै अर औरनि तारै।
साधि सुदर्व लहै सिव सर्म,
सु कर्म-उपाधि विभा वमि डारै।।७।।

शब्दार्थः-उर=हृदय। प्रभाव=प्रताप से। निरवारै=निर्णय करे। औरनि=दूसरों को। सुदर्व=(स्वद्रव्य)=आत्मतत्त्व। सर्म (शर्म)=आनंद। उपाधि=दंद-फंद। विधा=कष्ट। वमि डारै=निकाल देता है।

अर्थः-सम्यग्दृष्टि जीव सदैव अन्तःकरण में ज्ञान और वैराग्य दोनों गुण धारण करते हैं, जिनके प्रताप से निज-आत्मस्वरूप को देखते हैं और जीव-अजीव तत्त्वों का निर्णय करते हैं[१]। वे आत्म-अनुभव कर निज स्वरूप में स्थिर होते हैं तथा संसार-समुद्र से आप स्वयं तरते हैं वा दूसरों को तारते हैं[२]। इस प्रकार आत्मतत्त्व को सिद्ध करके कर्मों का फन्दा हटा देते हैं और मोक्ष का आनन्द प्राप्त करते हैं।।७।।

१. जीव ने अनादि काल से देहादि पर वस्तुओं को अपनी मान रक्खी थीं, सो उस हठ को छोड़ देता है और अपने आत्मा को उनसे पृथक् मानने लगता है।

२. धर्मोपदेश देकर।

काव्य-७ पर प्रवचन

सम्यकवंत सदा उर अंतर,
ग्यान विराग उभै गुन धारै।
जासु प्रभाव लखै निज लच्छन,
जीव अजीव दसा निरवारै॥
आतमकौ अनुभौ करि ह्वै थिर,
आप तरै अर औरनि तारै।
साधि सुदर्व लहै सिव सर्म,
सु कर्म-उपाधि विभा वमि डारै॥७॥

क्या कहते हैं ? देखो, धर्मी और अधर्मी की उल्टी दशा। '**सम्यकवंत सदा उर अंतर...**' धर्मी जीव के अन्तर में ज्ञान और वैराग्य—दो गुण सदा धारण करते हैं। आहाहा! निरन्तर धर्मी जीव को आत्मा के आनन्द का ज्ञान और अनुभव तथा राग और निमित्त के प्रति—निमित्त अर्थात् बाह्य और राग अर्थात् अन्तर—दोनों के प्रति जिसे वैराग्य वर्तता है। जिसे राग की प्रीति नहीं, निमित्त में जो अर्पित नहीं हो गया, भिन्न रहता है। चाहे तो चक्रवर्ती के राज हों, आहाहा! वह मेरी चीज़ नहीं, मुझमें नहीं, मुझे वह नहीं। आहाहा! अन्त:करण में, हों! अन्त:करण में ज्ञान और वैराग्य, ऐसा है न ? अन्तर है न, '**सदा उर अंतर...**' आहाहा! ज्ञान और वैराग्य। अस्ति पूरा तत्त्व आनन्दमय, उसका अनुभव, वह ज्ञान और रागादि का अभाव, वह वैराग्य। आहाहा! **दोनों गुण धरण करते हैं।** '**उभै गुन धारै...**' गुण शब्द से है पर्याय दोनों। है तो दोनों पर्याय, परन्तु अवगुण नहीं; इसलिए उसे गुण (कहा है)। ऐई, बड़ा विवाद उठता था। यह आठ गुण कहे हैं, फलाना कहे हैं। भाई! कहे, परन्तु सुन तो (सही)! समकित गुण है। गुण है कौनसा ? वह तो श्रद्धा नाम का त्रिकाली गुण, वह गुण है। समकित पर्याय है, प्रगट है वह तो पर्याय है। उस पर्याय को यहाँ गुण कहा जाता है। आहाहा!

'**जासु प्रभाव लखै निज लच्छन,...**' देखो! यह आत्मा का जो स्वभाव अतीन्द्रिय आनन्द, उसका नाथ प्रभु, ऐसा जहाँ अन्तर में आत्मा के आनन्द का स्वरूप और आनन्द

का ज्ञान हुआ है, उस ज्ञान और वैराग्य के कारण अन्तर के स्वरूप को अनुभवता है, देखता है। यह वह मैं हूँ। रागादि वह मैं हूँ (नहीं)। आहाहा! पूरी दुनिया से विरक्त हो गया है। '**जासु प्रभाव लखै निज लच्छन,...**' अपना लक्षण अर्थात् आत्मा का स्वरूप। ज्ञान और वैराग्यबल के कारण अपना स्वरूप जो अतीन्द्रिय शान्ति, उसे देखता है। धर्मी को शान्ति अपने में दिखती है। आहाहा! संयोग में या पुण्य-पाप के राग में शान्ति है नहीं, इसलिए देखता नहीं। यहाँ है, इसलिए देखता है। **जासु प्रभाव लखै**—अनुभवे **निज लच्छन,...** अपने ज्ञान का अनुभव करे। आहाहा!

'**जीव अजीव दसा निरवारै...**' और जीव और अजीव—दो तत्त्व का निर्णय करे। रागादि अजीव है, शरीर आदि अजीव है। आहाहा! एक चिदानन्द भगवान मैं पूर्णानन्दस्वरूप हूँ। ऐसे जीव और अजीव का दोनों का निर्णय (करके) भिन्न करे। धर्मी उसे कहते हैं कि अजीव को अजीवरूप से भिन्न जाने और जीव को जीवरूप से अपना स्वरूप (जाने)। पर से भिन्न और अपने से अभिन्न जाने। आहाहा! कुटुम्ब-कबीला सब दिखता है, लाखों-करोड़ों लोग। ९६ करोड़ सैनिक हों, कितनी उसका—चक्रवर्ती को (हो)। एक भी नहीं होता, मुझे कुछ नहीं होता, मुझमें है ही नहीं न! आहाहा! वह अजीव की चीज़ अजीव को धारकर रही है। मेरे कारण नहीं और मुझमें (नहीं)। आहाहा!

एक राग का विकल्प उठे, वह अजीव है, वह जीव नहीं; अचेतन है। चैतन्य के आनन्द और ज्ञान के स्वभाव का, यह दया-दान-व्रत के परिणाम में उसका—चैतन्य के अंश का अभाव है। भारी महँगा धर्म भाई ऐसा कुछ! कितने ही कहे, सोनगढ़वालों ने धर्म महँगा किया। धर्म तो जो है, वह अनादि का है, महँगा कहे या सस्ता कहे। वह तो भाई! सामायिक, प्रौषध, प्रतिक्रमण करते थे। धर्म... धर्म... धर्म... बापू! धर्म का मुख बड़ा है। जो केवलज्ञान को प्राप्त करे, ऐसा धर्म कहलाता है। चौथे गुणस्थान में सम्यग्दृष्टि का धर्म, वह श्रद्धा, ज्ञान, शान्ति और आनन्द, वह उसका धर्म है। व्यवहार बीच में आवे, वह उसका धर्म नहीं। आहाहा! जिसे जीव और अजीव दो दशा... दशा अर्थात् दो के भाग—अवस्था दो निराली—भिन्न है। आहाहा! महाव्रत के परिणाम अजीव हैं, ऐसा निर्णय करे।

ऐ प्रकाशदासजी! हस्तीमलजी थे इनके गुरु। जयपुर में। गये, तब थे थोड़े दिन रहे, फिर गुजर गये। हस्तीमलजी। चेतनजी! सुना था? किसी ने कहा था। सब पक्के, पक्के... स्थानकवासी की श्रद्धा में भी अन्तर और स्थानकवासी में अन्तर। उसमें है नहीं दूसरा, इसलिए क्या करे? शास्त्र में दूसरा नहीं। श्वेताम्बर शास्त्र में इन महाव्रत को निर्जरा कहा है उन्होंने। महाव्रत को धर्म कहा है उनके शास्त्र में। परन्तु वे लोग कहे, दिगम्बर के शास्त्र में भी ऐसा लिखा है। गजब किया! हमारे तो महाव्रत, समिति, गुप्ति, वह सब हमारा धर्म है। विचार तो कर, वह धर्म क्या चीज़ होगी? विकल्प उठे, वह तो वृत्ति है और वृत्ति है, उसमें आनन्द तो आता नहीं। अतीन्द्रिय आनन्द आये बिना वह विकल्प तो वृत्ति है, विकार है, वह तो दु:ख है। महाव्रत के परिणाम आदि, वह तो दु:ख है। अपने आनन्द को जीवस्वरूप जाने और रागादि को अजीवस्वरूप जाने। ऐसे दोनों को भिन्न करके निर्णय करे। आहाहा! यह तो निर्णय करे, उसकी बात है। बाकी (ज्ञानी ने) तो किया हुआ ही है। आहाहा! उपदेश में तो ऐसा समझावे न, परन्तु उससे क्या... ?

'**आतमकौ अनुभौ करि ह्वै थिर**' देखो! धर्मी जीव तो आत्मा के आनन्द का अनुभव करके... आहाहा! आठ वर्ष की बालिका हो धर्मी—समकिती। बालिका तो जड़ का शरीर है। आत्मा का शरीर कहाँ था? रागादि अन्दर हो, वह तो अचेतन और विकार है; मैं वह नहीं। आहाहा! '**आतमकौ अनुभौ करि ह्वै थिर**' अपने आत्मा का अनुभव करके निज स्वरूप में स्थिर रहता है, लो। अर्थात्? धर्मी व्यवहार के राग से भिन्न पड़कर अपने में है, व्यवहार और राग में नहीं। आहाहा! भारी कठिन काम! ऐसा धर्म! '**आतमकौ अनुभौ करि ह्वै थिर, आप तरै अर औरनि तारै।**' वह तो स्वयं अनुभव करके अपने आत्मा को तारे और ऐसा ही उपदेश दूसरे को दे और उसकी योग्यता हो तो तिरे। तारे, ऐसा कहने में आवे। आहाहा! समझ में आया? देखो, '**तरै अर औरनि तारै।**' ऐसा कहा है। इसका अर्थ कि जो आत्मा का शान्त, आनन्द स्वभाव का अनुभव आया, इससे स्वयं तिरा और वह दूसरे को कहता है कि यह आत्मा का अनुभव कर तो तू तिरेगा। भाषा तो ऐसी कहे न! अज्ञानी दूसरे को तारने में निमित्त नहीं होता, ऐसा। धर्मी का उपदेश ऐसा आता है (कि) एक भगवान पूर्णानन्द प्रभु का स्वीकार कर, राग

का स्वीकार छोड़ दे। आहाहा! स्वीकार छोड़ दे। ऐसा धर्म तो गजब, भाई!

'आप तरै अर औरनि तारै, साधि सुदर्व।' लो! आहाहा! धर्मी उसे कहते हैं (कि) अपना द्रव्य साधे, छह खण्ड साधे नहीं। भाई ने लिखा है न! निहालचन्दभाई... निहालचन्दभाई सोगानी। लोग कहते हैं कि चक्रवर्ती ने छह खण्ड साधे। (सोगानीजी) कहते हैं, नहीं, वे तो अखण्ड को साधते थे। अखण्ड सुद्रव्य, देखो। मेरा तत्त्व परिपूर्ण है। मैं आनन्द—अतीन्द्रिय आनन्द का छलाछल समुद्र हूँ। आहाहा! एक... ऐसा कहते, वह पुरुषार्थ करना पड़े। ऐसा कहा। भाई! पुरुषार्थ करना, वह तो अनन्तवें भाग में है। वह तो पुरुषार्थ का पिण्ड ही है आत्मा। **सुदर्व**। अकेला वीर्य की मूर्ति। अनन्त-अनन्त बल—सामर्थ्य के स्वभाव का धर्मरूपी मूर्ति, उसमें पुरुषार्थ करना, यह पर्याय, वह तो अनन्तवें भाग में है। वह तो दृष्टि, जहाँ पूर्ण पुरुषार्थ सम्पन्न ऐसा द्रव्य, उसके ऊपर पड़ी तो पुरुषार्थ की परिणति चलती ही है अब। समझ में आया?

ऐसा तो कहा न, **'सुदर्व लहै सिव सर्म... साधि सुदर्व'** ऐसा कहा न? **आप स्वयं तरते हैं वा दूसरों को तारते हैं। आत्मतत्त्व को सिद्ध करके कर्मों का फंदा हटा देते हैं।** इसका अर्थ यह (कि) पूर्ण ध्रुव द्रव्य मेरी चीज़ पूर्ण ध्रुव शाश्वत् दल, नित्य शाश्वत् वस्तु उसे (पर्याय) साधती है। सवेरे आया नहीं था? पारिणामिकभाव की भावना... पारिणामिकभाव की भावना, ऐसा। सवेरे आया था। उसे साधता है अर्थात् पर्याय में उसका ध्येय है। पर्याय में उसका ध्येय है। ऐसा धर्म! वह तो प्रतिक्रमण करो, अपवास करो, सामायिक करो, प्रौषध करो। राग का करना और शान्ति का मरना। यहाँ तो आत्मा में स्थिर होना और राग का मरना। राग मर जाये (अर्थात्) (राग) रहित हो जाये, ऐसा। आहाहा! ऐसी बात है, भाई!

'साधि सुदर्व लहै सिव सर्म' देखो! वह मोक्ष का सुख पाता है। मोक्ष का आनन्द प्राप्त करते हैं। है न, **'सिव सर्म'**—मोक्ष का सर्म—सुख। आत्मा अपना द्रव्य—वस्तु भगवान आत्मा... पूर्ण ज्ञान... शान्ति और आनन्द का स्वभाव, उसे साधता है और उसके कारण वह स्वरूप साधन द्वारा **'सिव सर्म'**—मोक्षरूपी आनन्द प्राप्त होता है, लो। सवेरे आया था न, 'मोक्षमार्गप्रकाशक'। नहीं कहा था? गृहस्थाश्रम छोड़कर, मुनिधर्म अंगीकार करके, स्वरूप साधन द्वारा... स्वरूप साधन द्वारा। पंच महाव्रत के विकल्प

और उसके साधन द्वारा, नग्नपने के साधन द्वारा (नहीं)। फिर लिखा था, ऐसा हो उसकी बाह्य दशा ऐसी होती है। बाद में लिखा है। ऐसा सब सिद्ध करने के बाद। मुनि के स्वरूप में, आचार्य, उपाध्याय....

यहाँ तो कहते हैं कि जिसने सुद्रव्य को साधा। चक्रवर्ती छह खण्ड को साधे, धर्मी स्वद्रव्य को साधे। क्योंकि छह द्रव्य का जाननेवाला एक समय की पर्याय में... एक समय की पर्याय में छह द्रव्य को जाने। ऐसी अनन्त पर्याय का पिण्ड द्रव्य को साधे। आहाहा! '**सु कर्म-उपाधि विथा वमि डारै...**' और कर्म की जो उपाधि—व्यथा—दु:ख को टाले, लो। वमन कर डाले। फन्दा हटा देता है... **कर्मों का फन्दा हटा देते हैं**। ऐसा लिखा, देखो! इसका अर्थ कि उपाधि—व्यथा वमन कर डाले, वमन कर डाले। आहाहा! वह वमन की हुई खुराक मनुष्य नहीं लेता, कुत्ता लेता है। आहाहा! इसी प्रकार धर्मी अपने आनन्दस्वभाव को साधते राग को वमन किया, उस राग को फिर से ग्रहण नहीं करता। '**सु कर्म-उपाधि विथा वमि डारै।' मोक्ष का आनन्द प्राप्त करते हैं।**

पाँचवाँ कलश।

सम्यग्दृष्टिः स्वयमयमहं जातु बन्धो न मे स्या-
दित्युत्तानोत्पुलकवदना रागिणोऽप्याचरन्तु।
आलम्बन्तां समितिपरतां ते यतोऽद्यापि पापा,
आत्मानात्मावगमविरहात्सन्ति सम्यक्त्वरिक्ताः।।५।।

आहाहा! गजब बात है न! कितना स्पष्ट किया है! **सम्यग्ज्ञान के बिना समस्त चारित्र निस्सार है**। आत्मा के अनुभव बिना जितने क्रियाकाण्ड, व्रत, नियम, सब सार (नहीं) थोथा।

मुमुक्षु : वह तो चारित्र है। क्रियाकाण्ड कहाँ?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह क्रिया चारित्र की। चारित्र कहाँ था वहाँ? लोग ऐसा माने न, यह चारित्र है, यह चारित्र है। नग्न मुनि है, व्रतधारी है, अपवास करते हैं, तपस्या करते हैं। धूल भी नहीं। दु:ख करते हैं। आत्मा के राग से भिन्न पड़ने के अनुभव

बिना वह सब दु:ख की क्रियायें हैं। **सम्यग्ज्ञान के बिना समस्त चारित्र निस्सार है।** चारित्र अर्थात् क्रिया। तत्पश्चात् भी ऐसा कहेंगे। **भेदविज्ञान के बिना समस्त चारित्र निस्सार है।**

★ ★ ★

काव्य - ८

सम्यग्ज्ञान के बिना सम्पूर्ण चारित्र निस्सार है।

(सवैया तेईसा)

जो नर सम्यकवंत कहावत,
सम्यकग्यान कला नहि जागी।
आतम अंग अबंध विचारत,
धारत संग कहै हम त्यागी।।
भेष धरै मुनिराज-पटंतर,
अंतर मोह-महा-नल दागी।
सुन्न हिये करतूति करै पर,
सो सठ जीव न होय विरागी।।८।।

शब्दार्थ:-संग=परिग्रह। पटंतर (पटतर)=समान। महानल=तेज अग्नि। दागी= धधकती है। सुन्न हिये=शून्य हृदय से। सठ=मूर्ख।

अर्थ:-जिस मनुष्य के सम्यग्ज्ञान की किरण तो प्रगट हुई नहीं और अपने को सम्यग्दृष्टि मानता है, यह निजात्म स्वरूप को अबन्ध चिन्तवन करता[१] है, शरीर आदि परवस्तु में ममत्व रखता है और कहता है कि हम त्यागी हैं। वह मुनिराज के समान भेष धरता है परन्तु अन्तरंग में मोह की महाज्वाला धधकती है, वह शून्य-हृदय होकर (मुनिराज जैसी) क्रिया करता है परन्तु वह मूर्ख है; वास्तव में साधु नहीं है, द्रव्यलिंगी है।।८।।

१. निश्चयनय का एकान्त पक्ष लेकर।

काव्य-८ पर प्रवचन

जो नर सम्यकवंत कहावत,
सम्यकग्यान कला नहि जागी।
आतम अंग अबंध विचारत,
धारत संग कहै हम त्यागी॥
भेष धरै मुनिराज-पटंतर,
अंतर मोह-महा-नल दागी।
सुन्न हिये करतूति करै पर,
सो सठ जीव न होय विरागी॥८॥

सो सठ जीव न होय विरागी... इसकी महिमा की है भाई ने। दरबारीलाल कोठिया। बहुत महिमा की। ऐसा कहे, इसमें एक शब्द किसी को सठ या पशु कहा नहीं। नहीं होगा उसमें, इससे क्या? इसमें तो कितने ही शब्द आते हैं पशु... पशु... एकान्ती में। उसमें क्या है? वह कल पढ़ा था। .... महिमा बहुत लिखी है। इसमें एक शब्द भी कड़क नहीं, दूसरे प्रयोग करें वैसा। भाई! अब कड़क और फड़क, सुन न! मूढ़ कहे, अज्ञानी कहे, पशु कहे, सुन न!

मुमुक्षु : कुन्दकुन्दाचार्य तो बहुत कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : बहुत कहते हैं।

धारत संग कहे हम त्यागी,
भेष धरे मुनीराज-पटंतर,
अंतर मोह महानल दागी,
सुन्न हिये करतूति करै पर,
सो सठ जीव न होय विरागी।

लो, जो नर (अपने को) सम्यक्वन्त समकिती है, ऐसा कहता है, मानता, मनाता है। जगत के समक्ष हम धर्मी (हैं), ऐसा मनावे। किसी भी प्रकार से हमको समकिती कहो, हम धर्मी। आहाहा!

'सम्यकग्यान कला नहि जागी' जिसे राग और निमित्त से भिन्न आत्मा का ज्ञान तो हुआ नहीं। आत्मा का अनुभव नहीं और कहे, हम समकिती—ऐसा माने। चारित्र पालते हैं, वे समकित बिना होंगे? **जिस मनुष्य के सम्यग्ज्ञान की किरण तो प्रगट हुई नहीं,...** सम्यग्ज्ञान शब्द से (आशय) अनुभव। यह आत्मा के आनन्द का स्वाद तो आया नहीं और समकिती हैं, ऐसा मनाता है। आहाहा! **'आतम अंग अबंध विचारत।'** और कहे, हमारे बन्ध-बन्ध है नहीं, हम तो सम्यग्दृष्टि हैं। आहाहा! हमारे बन्ध नहीं। भगवान ने कहा है कि सम्यग्दृष्टि को बन्ध नहीं होता। **'सम्यक आतम अंग अबंध विचारत।' और अपने को सम्यग्दृष्टि मानता है, वह निजात्मस्वरूप को अबन्ध चिन्तवन करता है।** हम तो अबन्ध हैं। **निश्चयनय का एकान्त पक्ष लेकर,...** ऐसा है न नीचे तिगड़ा (३)। सम्यग्दर्शन में तो आत्मा का अनुभव, आनन्द का स्वाद और उसके साथ स्वज्ञेय का भान यथार्थ (हो) स्वज्ञेय।

'धारत संग कहै हम त्यागी' लो। और **(शरीर आदि) परवस्तु में ममत्व रखता है।** शरीर की क्रिया मेरी, वाणी मैं बोलता हूँ ऐसे। आहाहा! मेरा लेखन... यह बाद में कहेंगे, हों! ग्रन्थ रचे। मेरा लेखन मोती के दाने जैसा है। मैं ऐसा लेखन लिखता हूँ (कि) अक्षर (देखकर) लोग प्रसन्न हो जाते हैं। मूढ़ हो। आहाहा! **धारत संग...** वह परपदार्थ का तो संग करता है (और) वे मेरे हैं, ऐसा मानता है। लो! **परवस्तु में ममत्व रखता है।** है न शरीर आदि। अर्थ में है। शरीर, वाणी, ये शब्द, अक्षर, पुस्तकें इत्यादि (पर) ममत्व रखता है। वे मेरे हैं, लो। आहाहा! हमने किये हैं। हमारी रचना है पुस्तक की। आहाहा! यह कहेंगे बाद में। परन्तु उसमें ममता करता है, ऐसा। यह हमारी चीज़ है, हमने की है। हमने की है। ऐसे परवस्तु के संग का जिसे ममत्व है, मिथ्यात्वभाव है।

और कहते हैं कि हम त्यागी हैं। हमारे कुछ है भाई? लो। **'भेष धरै मुनिराज पटंतर' वह मुनिराज के समान वेश धरता है।** नग्न दिगम्बर, मोरपिच्छी, कमण्डल, लो। मुनिराज का वेश धारता है। परन्तु **'अंतर मोह-महानल दागी।'** मोह की ज्वाला धधकती है मिथ्यात्व की। आहाहा! राग का स्वामी, राग की क्रिया मेरी—ऐसी मिथ्यात्व की अग्नि तो सुलगती है वहाँ, कहते हैं। आहाहा! है न? **'अंतरंग में मोह की महाज्वाला'** मिथ्यात्व। अपनी चीज़ नहीं, उस चीज़ के प्रति एकत्वबुद्धि से मिथ्यात्व की ज्वाला

सुलगती है। धर्मी को शान्ति की धारा आती है, उसे मिथ्यात्व की धारा सुलगती है। आहाहा! **मोह की ज्वाला धधकती है।** नग्न मुनि दिगम्बर, जिसने पर का संग छोड़ दिया है, हम त्यागी हैं। परन्तु है संग अन्दर सब एक-एक। आहाहा! कठिन भाई!

'सुन्न हिये करतूति करै...' **'सुन्न हिये'** नहीं, हमारा भाव है करने का, कहते हैं। यह क्रिया करते हैं, महाव्रत आदि पालते हैं, उसमें हमारा भाव है। शून्य नहीं। परन्तु वह भाव तेरा नहीं। **सुन्न हिये...** आहाहा! राग का अभाव नहीं, ऐसा जो भाव, उससे तो शून्य है। **'सुन्न हिये करतूति करै...'** राग की क्रिया, महाव्रत की क्रिया, देह की क्रिया **सुन्न हिये...** है, अन्ध है। आहाहा! **'करै पर, सो सठ जीव न होय विरागी।'** वह शठ कहीं वैरागी नहीं होता। आहाहा! अब यह नग्न हुए, मुनिपना लिया, अट्ठाईस मूलगुण पालन करे, तो भी कहते हैं शठ? और **सुन्न हिये...** मेरा भाव नहीं? परन्तु भाव कौनसा तेरा है? राग है, वह भाव ही तेरा नहीं। आहाहा! **'सो सठ जीव न होय विरागी।'** आहाहा! **मुनिराज जैसी क्रिया करता है परन्तु वह मूर्ख है।** शठ की व्याख्या की है। शब्द में ऐसा किया है। **मूर्ख है, वास्तव में साधु नहीं है, द्रव्यलिंगी है।** लोगों को कठिन लगे, हों! हम इतनी-इतनी क्रिया करते हैं और शून्य तथा द्रव्यलिंगी?

उसी की और उसी की बात को अधिक स्पष्ट करते हैं। **भेदविज्ञान के बिना समस्त चारित्र...** अर्थात् व्रत की क्रियायें, तप की सभी क्रियायें **निस्सार है।**

★ ★ ★

काव्य - ९

भेदविज्ञान के बिना समस्त चारित्र निस्सार है।

(सवैया तेईसा)

ग्रन्थ रचै चरचै सुभ पंथ,
लखै जगमैं विवहार सुपत्ता।
साधि संतोष अराधि निरंजन,
देइ सुसीख न लेइ अदत्ता।।

नंग धरंग फिरै तजि संग,
छकै सरवंग मुधारस मत्ता।
ए करतूति करै सठ पै,
समुझै न अनातम–आतम–सत्ता।।९।।

शब्दार्थ:–रचै=बनावे। चरचै=कथन करै। सुभ पंथ=धर्ममार्ग। सुपत्ता=सुपात्र। निरंजन=ईश्वर। सुसीख=अच्छा उपदेश। अदत्ता=बिना दिया हुआ। नंग धरंग=नग्न, नंगे। संग=परिग्रह। सुधारस मत्ता=अज्ञान रस में उन्मत्त। आतम सत्ता=शुद्ध चैतन्यभाव। अनातम सत्ता=शरीर राग–द्वेष–मोह आदि।

अर्थ:–वह मूर्ख ग्रन्थ–रचना करता है, धर्म की चर्चा करता है, शुभ–अशुभ क्रिया को जानता है, योग्य व्यवहार रखता है, सन्तोष को सम्हालता है, अरहन्त भगवान की भक्ति करता है, अच्छा उपदेश देता है, बिना दिया हुआ नहीं लेता[१], बाह्य परिग्रह छोड़कर नग्न फिरता है, अज्ञानरस में उन्मत्त होकर बाल–तप करता है, वह मूर्ख ऐसी क्रियाएँ करता है परन्तु आत्मसत्ता का भेद नहीं जानता।।९।।

काव्य-९ पर प्रवचन

ग्रन्थ रचै चरचै सुभ पंथ,
लखै जगमैं विवहार सुपत्ता।
साधि संतोष अराधि निरंजन,
देइ सुसीख न लेइ अदत्ता॥
नंग धरंग फिरै तजि संग,
छकै सरवंग मुधारस मत्ता।
ए करतूति करै सठ पै,
समुझै न अनातम-आतम-सत्ता॥९॥

'ग्रन्थ रचै चरचै सुभ पंथ।' शास्त्र रे—शास्त्र बनावे। स्वयं नये बनावे, हों!

१. अचौर्यादि व्रत और एषणा आदि समिति पालता है।

किसी के बनाये हुए में नाम डाल दे, वह तो और, वह तो और मान लेने का नया भाव। स्वयं बनाये हों तो कहे हमने... ऐसे ग्रन्थ रचे। आहाहा! **'चरचै सुभ पंथ'** लो। **वह मूर्ख ग्रन्थ-रचना करता है।** आहाहा! हमने समयसार छपाया है। हमारी ओर से टीका होकर प्रकाशित हुआ है। अरे, परन्तु यह विकल्प ही तेरा नहीं, वह क्या छपाया? सुन न! आहाहा! **धर्म की चर्चा करता है।** शुभ की व्याख्या हुई। **शुभ पंथ...** धर्म की चर्चा करे। चर्चा, वह तो शुभभाव है। वह कहाँ धर्म है? आहाहा! और ३३-३३ सागर तक सर्वार्थसिद्धि के देव (चर्चा करें)। यह बात आयी थी वहाँ सब। बात तो बहुत आवे न! यह चर्चा करते हैं न? परन्तु यह चर्चा हुई, वह विकल्प है। आहाहा! धर्मी उसे धर्म मानता नहीं। और यह विकल्प है, इसलिए मुझे यहाँ शुद्धि बढ़ती है, (ऐसा नहीं है)।

कहते हैं न, शास्त्र-अभ्यास से आगम अभ्यास में असंख्य गुणी निर्जरा (होती है)। धवल में आता है न? धवल में है। शास्त्र अभ्यास से असंख्य गुणी निर्जरा। वह तो किस अपेक्षा की बात है? अन्तर का—आनन्द का लक्ष्य है, उस समय यहाँ (विकल्प) है और अन्तर स्वरूप में विशेषता बढ़ती है। आहाहा! ऐसी बात—शैली! यह सिवनीवाले धर्मदिवाकर ने लिखा है। कितने ही कहें, शास्त्र के अभ्यास से बन्ध होता है। नहीं। उन रतनचन्दजी ने डाला था न, शुद्ध और शुभ बिना निर्जरा नहीं। यह डाला था, उन्होंने डाला था उसमें। शुद्ध और शुभ बिना निर्जरा नहीं होती। जयधवल में आता है। वह तो होता है, उसकी बात है। क्या हो? यहाँ कहते हैं, शुभपंथ को चर्चे। वह मिथ्यादृष्टि राग को चर्चे, शास्त्र की चर्चा करे, परन्तु अन्दर में राग की एकताबुद्धि पड़ी है (इसलिए) आत्मा का अनुभव नहीं। आहाहा!

सुभ पंथ, लखै जगमै विवहार सुपत्ता, लो। और **शुभ-अशुभ क्रियाओं को जानता है। जग में लखै...** अर्थात् जाने। ऐसा कि **योग्य व्यवहार रखता है।** व्यवहार से करे, बराबर व्यवहार रखे, बराबर पंच महाव्रत, अट्ठाईस मूलगुण इत्यादि (पालन करे)। वह तो अज्ञान है। कुन्दकुन्द आचार्य ने अट्ठाईस मूलगुण पालन किये थे, ऐसा कहते हैं। और तुम कहते हो कि वह आस्रव है। सुन न अब! जहर है, ऐसा कुन्दकुन्द आचार्य स्वयं कहते हैं। अट्ठाईस मूलगुण, वह जहर है, राग है। भान बिना के प्राणी ऐसा करे, व्यवहार सुपत्ता है। बराबर व्यवहार को पावे, ऐसा। व्यवहार सुपत्ता अर्थात् रखे।

बराबर व्यवहार रखे। व्यवहार में कुछ कमी न आने दे। व्यवहार ऐसा होता है, ऐसा कहे, उसकी बात है, हों! तो भी मूढ़ है। आहाहा! जिसके व्यवहार का ठिकाना नहीं, उसकी यहाँ बात भी की नहीं।

साधि संतोष अराधि निरंजन... लो। यहाँ तक लिया। सन्तोष रखता है राग की मन्दता से। परन्तु वह तो बाहर का सन्तोष है। समाधान रखे... समाधान रखे। यह तो उदय का आया, फलाना हुआ, ढींकणा हुआ, ऐसा सन्तोष है, परन्तु है मिथ्यादृष्टि। वह राग से सन्तोष करता हूँ, ऐसा मानता है। और **अराधि निरंजन...** अर्हंत भगवान की भक्ति करे। तो भी शठ है, वह मूर्ख है। भगवान की भक्ति करे बराबर, वह तो शुभराग है। भक्ति भगवान की, वह तो शुभराग है। ऐसी अर्हंत भगवान की भक्ति... देखो, यह बनारसीदास ने विशेष स्पष्ट किया है, उस श्लोक में से, हों! पाँचवाँ श्लोक है न, उसका डाला और फिर विशेष स्पष्ट किया। **अराधि निरंजन...** निरंजन को आराधे। निरंजन अर्थात् अरिहन्त भगवान, अपना आत्मा नहीं।

देइ सुसीख न लेइ अदत्ता,... लो। यह **देइ सुसीख...** ऐसी भाषा है। ऐसी योग्यता से काम निकाल दे। अच्छा उपदेश दे। उपदेश भी अच्छा बराबर दे। उसमें क्या हुआ? उपदेश की क्रिया जड़ की, शास्त्र की रचना जड़ की और हमने किया, हमने बनाये। **देइ सुसीख। सुसीख..** शब्द है अर्थात् अच्छा उपदेश दे। ऐसा कि वैराग्य का उसका। 'भाई! यह संसार खराब है। स्त्री, परिवार किसी का नहीं, किसी का नहीं। किसी का कोई नहीं।' किसी का कोई नहीं, ऐसा तुझे कहाँ बैठा है? राग भी तेरा नहीं। प्रकाशदासजी! ऐसी बातें करे, 'किसी का कोई नहीं बापू! मरते समय कोई साथ में नहीं आता। छोड़ो, छोड़ो। मुक्ति चाहिए है या नहीं? मुक्ति, संसार छोड़ने से मुक्ति मिलेगी या संसार रखने से? आ जाओ यहाँ। छोड़ो और यहाँ आ जाओ'—ऐसा। वहाँ उसके जैसे साधु हो जाओ, ऐसा। परन्तु साधु तू कहाँ था अभी? आहाहा!

बिना दिया हुआ नहीं लेता... अदत्त। **अचौर्य आदि व्रत, एषणा आदि समिति पालता है...** ऐसा।

मुमुक्षु : महाव्रत।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, ऐसा ही। अचौर्य—किसी की चोरी करे नहीं, झूठ बोले नहीं। ऐषणा—निर्दोष आहार ले, उसके लिये चौका बनाकर किया हुआ न ले। ऐसा व्यवहार होने पर भी अज्ञानी है। समझ में आया? आहाहा! उद्देशिक की चर्चा बहुत चली थी। अकेले आये थे और बैठे थे मनोहरलाल। वर्णीजी के शिष्य। दो दिन एकान्त में बहुत चर्चा चली। खास आये थे, हों! प्रेम से, हों! प्रेम से—वात्सल्य से मैं आपसे मिलने आया हूँ। सीकर में थे तब। रेल में बैठकर आये। बहुत अधिक बात हुई।

(समयसार) ४९ गाथा में २९ बोल को पुद्गल परिणाम क्यों कहे हैं? वे आत्मा के स्वभाव नहीं, इसलिए (कहे हैं)। वे आत्मा नहीं। निमित्त से हुए, उन्हें निमित्त में डाला। आत्मा का स्वभाव (नहीं)। आत्मा तो आनन्दकन्द प्रभु है। उसके व्रत-ब्रत पुद्गल परिणाम है। नहीं, वे तो नहीं। परन्तु यह उद्देशिक... एक उद्देशिक का स्पष्टीकरण आपकी ओर से हो जाये तो संगठन हो जाये सब। अपने तो हो नहीं। उनके लिये बनाया हुआ लेते हैं सब, वह उद्देशिक है। चाहे तो गृहस्थों के लिये बनाया हुआ हो या एक का उद्देशकर बनाया हुआ हो या समुच्चय बनाया हुआ हो। यह तो महाराज है, लाओ करो। हम भी खायेंगे और ये भी खायेंगे, सब उद्देशिक है। उद्देशिक के चार बोल हैं न! उसमें बताया है। मोक्षमार्गप्रकाशक, नहीं? यह तो मोक्षमार्गप्रकाशक में डाला है—वे ९६ बोल। नीचे। यह, यह। बताया है। मार्ग दूसरा हो, ऐसा नहीं। मार्ग तो यह है। यह कहीं (पाँचवाँ) काल है और भगवान नहीं, इसलिए कुछ बचाव किया जाये, (ऐसा नहीं है)।

नंग धरंग फिरै तजि संग,... लो। यह नग्नपना धारण करे अर्थात् परिग्रह छोड़ा। **तजि संग,...** ठीक। स्त्री, पुत्र छोड़ दिये। परिग्रह छोड़कर, वस्त्र का ताना छोड़कर। **छकै सरवंग मुधारस मत्ता।** परन्तु आत्मा के आनन्द के भान बिना, उस राग के रस में उन्मत्त होकर... उस राग के प्रेम में, विकल्प के प्रेम में उन्मत्त होकर बालतप करे, वह बालतप अज्ञान (तप) है। आहाहा! **वह मूर्ख ऐसी क्रियाएँ करता है परन्तु आत्मसत्ता का भेद नहीं जानता।** पाठ तो यह है कि **समुझै न अनातम-आतम-सत्ता।** विकल्प आदि अनात्मा है, आनन्द आदि आत्मा है। दो की भिन्नता का भान नहीं तो ऐसा करे, परन्तु वह मूर्ख है। उसे निर्जरा होती नहीं। इस निर्जरा अधिकार में डालने का कारण यह है। उसे धर्म होता नहीं। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ७२, ज्येष्ठ कृष्ण ४, शनिवार, दिनांक १२-०६-१९७१
निर्जरा द्वार, पद १०, ११, १२

निर्जरा द्वार है। उसका दसवाँ पद है। नौ पद हो गये। यह बनारसीदास ने श्लोक का विशेष स्पष्ट किया है। '**सम्यग्दृष्टिः स्वयमयमहं**' इसमें से। दसवाँ पद।

★ ★ ★

काव्य - १०

पुनः

ध्यान धरै करै इन्द्रिय-निग्रह,
विग्रहसौं न गनै निज नत्ता।
त्यागि विभूति विभूति मढै तन,
जोग गहै भवभोग-विरत्ता।।
मौन रहै लहि मंदकषाय,
सहै बध बंधन होइ न तत्ता।
एक करतूति करै सठ पै,
समुझै न अनातम-आतम-सत्ता।।१०।।

शब्दार्थः-निग्रह=दमन करना। विग्रह=शरीर। नत्ता (नाता)=रिश्ता, संबंध। विभूति=धन-सम्पत्ति। विभूति=भस्म (राख)। मढ़े=लगावे। जोग=योग[१]। विरत्ता (विरक्त)=त्यागी। तत्ता (तप्त)=क्रोधित, दुःखी।

अर्थः-आसन लगाकर ध्यान करता है, इन्द्रियों का दमन करता है, शरीर से अपने आत्मा का कुछ सम्बन्ध नहीं गिनता, धन-सम्पत्ति का त्याग करता है, शरीर को

---

१. दोहा- आसन प्राणायाम यम, नियम धारणा ध्यान।
प्रत्याहार समाधि ये, अष्ट योग पहिचान।।

२. स्नान आदि नहीं करने से।

राख से लिप्त रखता है[२], प्राणायाम आदि योग साधन करता है, संसार और भोगों से विरक्त रहता है, मौन धारण करता है, कषायों को मंद करता है, बध बंधन सहकर संतापित नहीं होता। वह मूर्ख ऐसी क्रियाएँ करता है परन्तु आत्मसत्ता और अनात्मसत्ता का भेद नहीं जानता।।१०।।

पद-१० पर प्रवचन

ध्यान धरै करै इन्द्रिय-निग्रह,
विग्रहसौं न गनै निज नत्ता।
त्यागि विभूति विभूति मढै तन,
जोग गहै भवभोग-विरत्ता॥
मौन रहै लहि मंदकषाय,
सहै बध बंधन होइ न तत्ता।
एक करतूति करै सठ पै,
समुझै न अनातम-आतम-सत्ता॥१०॥

कहते हैं कि **ध्यान धरै...** आसन लगाकर ऐसे। परन्तु विकल्पमात्र अनात्मा है और आनन्दस्वरूपी आत्मा है, उसका भान नहीं। **आतम-अनातम-सत्ता...** भगवान आत्मा पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप और उसके अतिरिक्त राग—विकल्प सब अनात्मा। निश्चय से तो एक समय की पर्याय, वह व्यवहार आत्मा है, निश्चय आत्मा नहीं। ऐसा आत्मा और अनात्मा के बीच की भिन्नता का भान नहीं—विवेक नहीं, सम्यक् नहीं, वह जीव आसन लगाकर ध्यान करे, मूढ़ है। कहो, देवचन्दजी! आसन लगावे और **इन्द्रिय निग्रह...** पाँच इन्द्रिय का दमन करे, यह तो नास्ति हुई। अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप अस्ति—सत्ता, वह इन्द्रिय के विषय से और इन्द्रिय के खण्ड-खण्ड पर्याय से भी वह भिन्न चीज़ है। ऐसे आत्मा का और इस अनात्मा का जिसे भान नहीं, वह भले इन्द्रिय निग्रह करे, तो भी वह शठ है—मूर्ख है, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : मुफ्त की मजदूरी....

पूज्य गुरुदेवश्री : मजदूरी मुफ्त की कहाँ? ऐसे तो सफल है उसकी मजदूरी भटकने के लिये।

मुमुक्षु : भटकने के लिये सफल।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह सफल है न! चार गति मिलने के लिये। भटकता है। भटकना है। ऐसी क्रिया करे परन्तु। सूक्ष्म कितना है भाई! परमात्मा सर्वज्ञदेव पूर्ण स्वरूप जिसने जाना तीन काल-तीन लोक, उन्होंने जो आत्मा कहा, वह तो शुद्ध चिद्घन नित्यानन्द चिदानन्दस्वरूप है, उसमें राग और संयोग का सम्बन्ध और लेप नहीं। ऐसे आत्मा का और राग आदि से लेकर सब अनात्मा—इनका जहाँ अन्तर विवेक—भेदज्ञान नहीं। वे यह जीव ऐसे आसन लगावे, इन्द्रियों का दमन करे तो भी, वे मूढ़ और शठ हैं। कहो, इतना करे—इतना तो करते हैं या नहीं?

शरीर से अपने आत्मा का कुछ सम्बन्ध नहीं गिनता। 'विग्रहसौं न गनै निज नत्ता...' शरीर के साथ मुझे कुछ सम्बन्ध नहीं। शरीर के साथ मुझे कुछ रिश्ता (नहीं)। है न तुम्हारे 'रिश्ता' हिन्दी मैं कहते है न?

मुमुक्षु : सम्बन्ध रखे।

पूज्य गुरुदेवश्री : सम्बन्ध। कुछ लगता नहीं, ऐसा माने, ऐसा कहते हैं। परन्तु अन्तर में आत्मा अनाकुल आनन्दस्वरूप का जिसे विवेक नहीं, भान नहीं, भेदज्ञान नहीं, सम्यग्दर्शन नहीं, वे सब शठ अर्थात् मूर्ख हैं। आहाहा! गजब काम! **विग्रहसौं न गनै निज नत्ता...** मुझे और उन्हें कुछ सम्बन्ध नहीं। परन्तु वस्तु क्या? सम्बन्ध नहीं तो सम्बन्धरहित चीज़ क्या है? आहाहा! भगवान परिपूर्ण प्रभु सच्चिदानन्द ध्रुव, जिसमें एक पर्याय का भी प्रवेश नहीं। ऐसे आत्मा का जिसे ज्ञान नहीं, वह ऐसी क्रियायें करे तो भी वह मूर्खाई में खपता है। कहो, समझ में आया?

त्यागि विभूति विभूति मढै तन। कवि है न! **त्यागि विभूति...** सब धन-सम्पत्ति छोड़ देते हैं, राजपाट छोड़े। और **विभूति मढै...** और शरीर में मैल आदि हो तो स्नान न करे। विभूति अर्थात् अन्यमति के बाबा राख चोपड़े, वह यह बात नहीं।

मुमुक्षु : ....ऐसा दिखता हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, परन्तु वह आसन आदि में... विभूति अर्थात् भस्म। वह मैल होता है, ऐसा इसका अर्थ है। **शरीर को राख से लिप्त रखता है।** अर्थात् मैल रखता है। देखो, नीचे कहा है न? **स्नान आदि नहीं करने से,...** बस इतना। नीचे है। यहाँ तो उन बाबा-बाबा की अकेली बात हो न! स्नान भी न करे और मैल-मैल शरीर में हो, मलिन ऐसे मैल... परन्तु अन्तर सच्चिदानन्द प्रभु निर्मलानन्द ज्ञानानन्द, ऐसा आत्मा परिपूर्ण ध्रुव चीज़ है। उसे राग और पर से भिन्नता का (और) स्वभाव से एकता का भान नहीं, वे सब अज्ञान में—मूर्खाई में खपते हैं, ऐसा कहते हैं। कहो।

जोग गहै भव... है न **विभूति मढै तन...** ऐसा। शरीर में मैल हो, स्नान न करे। २८ मूलगुण पालन करे न, २८ मूलगुण (में) अस्नान आता है न? 'अदंतधोवन आदि परम प्रसिद्ध जो।' श्रीमद् में आता है, २८ मूलगुण आते हैं। दाँत भी धोवे नहीं, स्नान करे नहीं, परन्तु उससे क्या हुआ वह क्रिया? आहाहा! भगवान अनाकुल आनन्द अकेला ज्ञान का रसकन्द सचेत मूर्ति पूरा आत्मा, उसका जिसे अन्तर्दृष्टि का भान नहीं, उस बिना के ऐसे प्राणी सब ऐसी क्रियायें करते हैं, तथापि शठ—मूर्ख हैं। **जोग गहै,** लो। प्राणायाम आदि योग साधन करे। करे, है न! नीचे आठ बोल हैं, अष्टांग। 'आसन' लगावे, 'प्राणायाम' करे, ऐसे श्वास को रुंधन ऐसा करना। क्या हुआ? 'यम'—पंच महाव्रत। 'नियम'—अभिग्रह धारण करे। धारणा रखे कि यह आत्मा ऐसा है, ऐसा एक विकल्प रखे। 'धारणा'—ध्यान करे अन्तर का वस्तु के स्वरूप भान बिना का। कहो, समझ में आया?

'प्रत्याहार'—इन्द्रियों को विमुख करके चित्त में जोड़े। बाहर में ऐसे प्रत्याहार। 'समाधि'—मानो कि उसमें राग से भिन्न होकर मानो शान्ति करता हूँ। ऐसे कषाय की मन्दता होती है। ऐसा योग धारण करे। तो भी भगवान निर्लेप शुद्ध चैतन्यमूर्ति, ऐसा जिसे अन्तर्दृष्टि—सम्यग्दर्शन नहीं, स्व का अनुभव नहीं, वे सब ऐसी क्रियायें करने पर भी मिथ्यादृष्टि मूढ़ हैं। कहो, समझ में आया? आहाहा! मिथ्यादृष्टि है, ऐसा कहते हैं। तो यह सब पाँच महाव्रत पाले और यह इन्द्रियदमन करे न, ऐई! अपवास करे अष्टमी-चतुर्दशी के, एक महीने के चार-छह-आठ-दस-पन्द्रह-बीस। कहते हैं कि सब मूर्ख है। ऐसा कहते हैं यहाँ तो।

मुमुक्षु : पण्डितजी कहे।....

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐई, छोटाभाई! आचार्य कहते हैं, वह पण्डित कहते हैं। पण्डित घर का कहते हैं? पाठ में सामान्यरूप से है, उसका स्पष्टीकरण किया है। दिगम्बर जैन साधु (होकर) नौवें ग्रैवेयक में अनन्त बार गया। 'मुनिव्रत धार अनन्त बार, ग्रीवक उपजायो।' चमड़ी उतारकर नमक छिड़के तो क्रोध न करे। तो यह तो नास्ति हुई। वस्तु क्या है?

अस्ति महासत्ता आनन्द का धाम भगवान पूर्णानन्द का निर्विकल्प अनुभव नहीं, वह सब क्रियाकाण्ड सब थोथे चार गति में भटकने के लिये हैं। मनसुख! तीनों इकट्ठे हो गये थे अब आज।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, वरना कहीं तीनों इकट्ठे नहीं होते। कहो, समझ में आया इसमें? आहाहा! अरे प्रभु! तू कहाँ कितना? जिसके एक समय की पर्याय को भी यहाँ तो परद्रव्य गिन डाला है। ज्ञान का एक समय का जो उघाड़—व्यक्त, वह वस्तु परद्रव्य है। क्योंकि स्वद्रव्य में वह नहीं। अखण्डानन्द प्रभु पूर्ण सर्वज्ञ ने देखा वह, हों! अज्ञानी आत्मा... आत्मा करे, वह नहीं। परमेश्वर वीतरागदेव ने जो देखा निर्विकल्प पूर्णानन्द प्रभु, ऐसी जिसे दृष्टि का अनुभव नहीं, भेदज्ञान नहीं, वह सब यह क्रियायें करे... कहो, **संसार और भोगों से विरक्त रहते हैं।** संसार के जाल में पड़े नहीं। अशुद्ध ... बाह्य, वह मिथ्या-संसारी कहा। आहाहा! पाँच इन्द्रिय के भोग न भोगे। आजीवन बालब्रह्मचारी हो तो भी मूढ़ है। अरे, कठिन काम!

शुद्ध कारणपरमात्मा परमानन्द की मूर्ति प्रभु, ऐसे अतीन्द्रिय स्वाद के अनुभव बिना यह सब क्रियाकष्ट चार गति में भटकने के लिये है। आहाहा! कहो, **संसार और भोगों से विरक्त....** बिल्कुल भोग नहीं, विषय नहीं, रस-बस खाना नहीं। यह रूखा खाये, मुरमरा—भुंवरा, वह खाकर चलावे। उससे क्या हुआ? वह तो जड़ क्रिया है। उसमें कदाचित् राग की मन्दता हो, वह अचेतनभाव राग है। वह कहीं आत्मा नहीं। आहाहा! **मौन धारण करता है।** मौन रहे, बोलना नहीं। भगवान ने कहा है, वचनों का

निग्रह करना। वचन का निग्रह, वह तो वाणी जड़ है। जड़ नहीं बोला गया, वह तो जड़ के कारण से। भाषावर्गणा उस समय होनेवाली नहीं थी, वह नहीं हुई। और यह कहे, मैं मौन रहा हूँ। अब कष्टमौन अन्यमति में बहुत चलता है। वे मथुरादास थे न, वे बहुत करते थे। मौन धारण करे। उसमें भी महीने-महीने तक मौन धारण करे। बोलते नहीं, मौन है। मौन धारण करे, उसमें आत्मा को क्या?

आत्मा में विकल्प ही नहीं। प्रशस्त राग जो पंच महाव्रत का, वह राग ही स्वरूप में नहीं। आहाहा! ऐसे स्वरूप के भान बिना, ऐसे पंच महाव्रत और २८ मूलगुण आदि पाले तो भी वह शठ—मूर्ख है। ....गजब काम! ऐई प्रकाशदासजी! क्या है उसमें? अणुव्रत, महाव्रत लो! तो सब ज्ञानी को भी अणुव्रत और महाव्रत लेने पड़ते हैं न, ऐसा कहते हैं। ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : .... बाल ब्रह्मचारी होते हैं न?

पूज्य गुरुदेवश्री : बस जाओ।

मुमुक्षु : वे बताते हैं न, साहेब!

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में ही नहीं है। कौन है? बाहर के बाल ब्रह्मचर्य, वह कहीं आत्मा का स्वरूप कहाँ से? आहाहा! स्त्री का सेवन नहीं किया। वह तो कदाचित् राग की मन्दता हो तो नहीं हुआ। उससे आत्मा कहाँ आया उसमें? आहाहा!

आत्मा तो... जिसमें विकल्प परमात्मा का स्मरण करना अथवा मैं आत्मा गुणी—अनन्तगुण का स्वामी और यह मुझमें गुण हैं, ऐसा भेद पड़कर (होनेवाला) विकल्प भी जहाँ उस चीज़ में नहीं। ऐसी चीज़ के भेदज्ञान बिना... आहाहा! भारी कठिन काम लोगों को! ऐसा जैन का स्वरूप होगा? कोई कहे वीतराग का...

मुमुक्षु : जैन का ही ऐसा होता है, दूसरे का होता नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कहा था वहाँ १५वीं गाथा में, चलती थी न अन्तिम वहाँ उमराला में। जैनशासन यह है कि कर्म का सम्बन्ध जिसे नहीं, राग का सम्बन्ध नहीं, पुण्य-पाप के विकल्प का सम्बन्ध नहीं। सम्बन्ध है, वह मान्यता मिथ्यात्व है। आहाहा!

व्यवहार का विकल्प जो दया-दान-व्रत कहलाता है, उसका आत्मा को सम्बन्ध है, सम्+बंध है, वह तो एकत्वबुद्धि मिथ्यात्व है। आहाहा!

मौन धारण करता है। '**मौन रहै लहि मंदकषाय**' है न। राग की मन्दता, सरलता। ऐई देवानुप्रिया! सरलता और समता।

मुमुक्षु : सरलता कैसी....

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु वह सरलता कैसी? मिथ्यादृष्टि को सरलता कहाँ रही? आहाहा! समता कहाँ से? समता तो रागरहित विकल्परहित निर्विकल्प होने से जो शान्ति प्रगट हो, उसे समता कहते हैं और उसे सरल कहते हैं। आहाहा कठिन काम! जगत को तो ऐसा लगे कि यह सब ऐसा जैनधर्म होगा? यह वेदान्त का धर्म होगा यह?

मुमुक्षु : वेदान्त में ऐसी बात ही नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : अपने तो भाई! अभी तक सुनते हैं कि कन्दमूल नहीं खाना, रात्रि में चारों प्रकार का आहार छोड़ना। चौविहार अर्थात् नहीं चार (आहार)। है न?

मुमुक्षु : परन्तु खाता कौन है?

पूज्य गुरुदेवश्री : कन्दमूल खाना नहीं, आठ-छह परबी ब्रह्मचर्य पालना, पंच परबी पालना, ऐसा करना, सामायिक करना, प्रौषध करना, प्रतिक्रमण करना—ऐसा धर्म तो हमने सुना है। वह धर्म कब था? आहाहा! सुन न! तेरे सामायिक, प्रौषध, वे बिना एक के शून्य हैं सब। ऐई छोटाभाई! चित्तौड़ में तो बहुत तुम्हारे धमाल चले, क्रियाकाण्ड। अरे, क्रियाकाण्ड को तो उत्थापित कर दिया। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, कषाय की मन्दता करे तो भी वह मूढ़ है। और कषाय की मन्दता को धर्म मानता है। परन्तु उस कषाय की मन्दता से भिन्न भगवान है, निष्क्रिय पर्याय में जिसका पर्यायरूप परिणमन नहीं। आहाहा! ऐसा जो ध्रुव भगवान सर्वज्ञ वीतरागीस्वभाव से परिपूर्ण भरपूर है, ऐसा जिसे पर्याय और राग से भिन्न (आत्मा) का भान नहीं, ऐसे कषाय के मन्दतावाले जीव भी यहाँ शठ कहे गये हैं। यह भी लिखा है यह शठ—अशठ की व्याख्या करते हुए। अशठ की व्याख्या की है न दरबारीलाल

कोठिया ने। उसमें आया है वह। जैनगजट नहीं कहीं आया था? अष्टसहस्त्री में तो मिठास... किसी को कुछ... भाई! अब शब्द चाहे जो हो न!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा कुछ शब्द है। मिठास शब्द प्रयोग किया है, ऐसा कुछ है, हों! ऐसा कहे, यह ऐसे-ऐसे हैं अनात्मा और दूसरी भाषा की है। आया है अभी। प्रयोग की हो वह। विद्यानन्दस्वामी। विद्यानन्दस्वामी ब्राह्मण थे न, फिर हो गये जैन साधु। फिर श्लोक पढ़े। बहुत विद्वत्ता भरी हुई हो, ऐसी बात। श्लोक विद्वता भरपूर बहुत ऊँचा। यह तत्त्वार्थसूत्र की टीका है। परन्तु शास्त्र में स्वयं कुन्दकुन्द आचार्य कहते हैं।

जो आत्मा एक समय की पर्याय को माने, त्रिकाली द्रव्यस्वभाव की दृष्टि का जिसे अभाव है, वह पशु है, ढोर है। आहाहा! चाहे तो दिगम्बर साधु हो, नग्न मुनि हो, २८ मूलगुण पालता हो, वनवास में रहता हो, परन्तु (मानता है कि) महाव्रत के राग की मन्दता के परिणाम वह मुझे धर्म है अथवा उनसे मुझे धर्म होता है अथवा वह चीज़ मेरी है, कहते हैं कि मिथ्यादृष्टि मूढ़—शठ है। आहाहा! कठिन काम, हों! अधिक लोगों में तो रहने न दे।

मुमुक्षु : अब तो अधिक लोगों में ही यह होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो अब तो वहाँ जयपुर में तो मूसलाधार चलता था बीस दिन। परन्तु अब यहाँ इतना अधिक नहीं काठियावाड़ में ऐसा। इसमें देखा है न सब। प्रकाशदास आ गये हैं वहाँ। आहाहा!

कहते हैं, **सहै बध बंधन...** अरे, देखो ऐसे मार मारे अकेले ऐसे कोड़े और चमड़ी उतारकर नमक छिड़के तो भी **न तत्ता**—क्रोध न करे। है? **सहै बध बंधन...** बाँधे, मुख बाँधे, मुख सिल डाले... तो भी क्रोध न करे, तथापि मूढ़ है। क्योंकि वह विकल्प जो उठता है, उससे निर्विकल्प चीज़ अत्यन्त निराली आत्मा है, ऐसा जिसे अन्तर विवेक भेदज्ञान प्रगट हुआ नहीं, वे सब जीव ऐसा करें तो भी (मूढ़ हैं)। आहाहा! भारी कठिन काम! जैन में भारी कठिन लगे। यह तो जैन परमेश्वर कहते हैं। समझ में आया? **सहै बध बंधन होइ न तत्ता... बध-बंधन सहकर सन्तापित नहीं होता...** जरा भी

खेद न करे। समता... समता... वह मन्दकषायी की समता है, हों!

ए करतूति करै.... ऐसी क्रिया करे ऊपर कही वैसी सब। **सठ पै समुझै न अनातम-आतम-सत्ता....** आहाहा! परन्तु आत्मा के भा बिना ऐसा करते होंगे? ऐसा एक व्यक्ति कहता था। यह सब अपवास करे, यह सब करे, वह कहीं आत्मा के भान बिना (करते हैं)? अरे भाई! आत्मा अर्थात् क्या चीज़? बापू! पूर्णानन्द प्रभु ध्रुव ज्ञायकभाव अकेला सहज परमस्वभावभाव, जिसे पर्याय के चार भाव भी स्पर्श नहीं करते। आहाहा! क्षायिकभाव भी जिसे स्पर्श नहीं करता। आहाहा! ऐसा द्रव्यस्वभाव, उसका जिसे (भान नहीं)। **समुझे न अनातम....** अनातम है न वह। एक समय की पर्याय, वह निश्चय से तो अनातम है। आहाहा! गजब बात है।

समुझे न अनातम-आतम-सत्ता। वह मूर्ख ऐसी क्रियाएँ करता है परन्तु आत्मसत्ता और अनात्मसत्ता का भेद नहीं जानता। आहाहा! भगवान आत्मा **पूर्णम् इदम्।** सर्वज्ञ स्वभाव से भरपूर प्रभु, वह अल्पज्ञेय नहीं। अल्प पर्याय के उपयोगवाला वह नहीं, आहाहा! ऐसा जो आत्मा... यह निर्जरा अधिकार में डाला है कि ऐसा करे तो भी उसे निर्जरा नहीं होती, परन्तु मूर्ख को मिथ्यात्वबन्ध होता है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? निर्जरा अधिकार में डाला न, निर्जरा कैसी? अपवास करे तो निर्जरा नहीं होती? तपस्या... अपवास करे, वह तपस्या और तपस्या, वह निर्जरा। अरे भाई! तपस्या किसे कहना (इसकी) तुझे खबर नहीं। अतीन्द्रिय आनन्द प्रभु... जैसे सोना में गेरु लगने से सोना ओपता—शोभता है, उसी प्रकार अतीन्द्रिय आनन्द भगवान निर्विकल्प, निष्क्रिय जिसमें स्थिर होने से जिसकी शान्ति और आनन्द की शोभा वृद्धि को पावे, उसे तपस्या और उपवास कहा जाता है। उपवास—यह उप अर्थात् आत्मा के समीप में बसा। बाकी यह रोटियाँ-बोटियाँ न खाये, वह सब अपवास—बुरावास है। अठ्ठम करे और चतुर्विध आहार त्याग करे और यह सब करे। आहाहा! ११वाँ पद। यह १०वाँ पद हुआ। ११वाँ पद।

★ ★ ★

काव्य - ११

(चौपाई)

जो बिनु ग्यान क्रिया अवगाहै।
जो बिनु क्रिया मोखपद चाहै।।
जो बिनु मोख कहै मैं सुखिया।
सो अजान मूढनिमैं मुखिया।।११।।

शब्दार्थ:-क्रिया=चारित्र। अवगाहै=ग्रहण करे। अजान=मूर्ख। मूढ़निमें=मूर्खों में। मुखिया=प्रधान।

अर्थ:-जो सम्यग्ज्ञान के बिना चारित्र धारण करता है, वा बिना चारित्र के मोक्षपद चाहता है, तथा बिना मोक्ष के अपने को सुखी कहता है, वह अज्ञानी है, मूर्खों में प्रधान अर्थात् महामूर्ख है।।११।।

काव्य-११ पर प्रवचन

जो बिनु ग्यान क्रिया अवगाहै।
जो बिनु क्रिया मोखपद चाहै॥
जो बिनु मौख कहै मैं सुखिया।
सो अजान मूढनिमैं मुखिया॥११॥

मूढ़ का मुखिया है वह प्रमुख। आहाहा! **जो बिनु ग्यान क्रिया अवगाहै...** आत्मा के आनन्द का वेदन—स्वसंवेदन नहीं और क्रिया अर्थात् व्रत और नियम आदि ग्रहण करे, वह मूर्ख है, मूढ़ में मुखिया है। **जो बिनु क्रिया मोखपद चाहै...** और स्वसंवेदन ज्ञान में चारित्र की रमणता बिना मोक्ष को चाहे। क्रिया शब्द से आनन्दस्वरूप प्रभु का भान (हुआ) सम्यक्(दर्शन) में, फिर अन्दर स्थिरता—लीनता—आनन्द में लीनता। वह चारित्र न इच्छे और ऐसे का ऐसा सम्यग्ज्ञान से अकेली मुक्ति हो जाये, ऐसा भी नहीं है। परन्तु चारित्र यह, हों! आहाहा! नग्नपना और महाव्रत के विकल्प और वह कोई चारित्र नहीं। महाव्रत का विकल्प तो चारित्र में दोष है। आहाहा! जगत से भारी उल्टा!

कहते हैं, **जो बिनु क्रिया मोखपद चाहै...** देखो, चारित्र—स्वरूप की रमणता, ओहो! आनन्दधाम में लीनता। भगवान आनन्द में निवास करता है प्रभु स्वयं, उसमें स्थिर होना अन्दर में, इसका नाम चारित्र। यह ज्ञान होने पर भी चारित्र बिना मुक्ति चाहे, वह भी कहते हैं कि झूठा है। समझ में आया?

जो बिनु मौख कहै मैं सुखिया.... और मोक्ष बिना हम सुखी हैं, ऐसा माने। मोक्ष बिना हम संसार में सुखी हैं, वह अजान—वह आत्मा के सुख और आनन्द का अजान मूढ़ में मुखिया है। पैसे टके से सुखी हो, पुत्र-स्त्री से सुखी हो। स्त्री आज्ञाकारी, लड़के होशियार हों। देखो, दुकान एक-एक लड़का चलाता हो और स्वयं पितारूप से ऐसे बैठा हो, आहाहा! एक-एक लड़का १०-१० लाख, २०-२० लाख आमदनी करता हो, लो। और ५० वर्ष की उम्र हो, पिता की उपस्थिति में लड़के पके हों छह बड़े योद्धा जैसे, लो। सुखी हैं, सुखी कहते हैं। धूल भी सुखी नहीं, सुन न! आहाहा! मूढ़ दुःखी है। लक्ष्मी के प्रति विकल्प उठता है, वह विकल्प आकुलता का दुःख है। यहाँ तो कहते हैं कि चारित्र बिना मुक्ति नहीं होती और मुक्ति बिना सुख नहीं होता, ऐसा कहते हैं। क्योंकि जो विकल्प उठता है, वह दुःख है। शुभभाव जो हो दया-दान-व्रत-भक्ति-पूजा का शुभभाव, वह दुःख है, कषाय अग्नि है, भट्ठी है। अरे.. अरे! ऐ मनसुख! अब तुम्हारे व्यापार के धन्धे का भाव क्या कहना? ऐई! यह करता है तुम्हारा अकेला वहाँ... भाव करे, भाव। आहाहा!

प्रभु तो कहते हैं कि शुभभाव स्वयं भट्टी है और उसके फलरूप से स्वर्ग में जाये और अंगारे के दुःख भोगेगा वहाँ। आहाहा! इन्द्र और इन्द्राणियाँ सब ऐसे, ओहोहो! देव को कभी शरीर में रोग नहीं, हजार वर्ष में आहार की इच्छा उत्पन्न हो एक सागरवाले को, पखवाड़े में तो श्वास ऊँचा-नीचा पखवाड़े में ले। पखवाडिया समझते हैं?

मुमुक्षु : पन्द्रह दिन।

पूज्य गुरुदेवश्री : पन्द्रह दिन, इतना सुखी। कहो, श्वास लेने को पन्द्रह दिन हो उसे। पन्द्रह दिन में एक बार। हजार वर्ष में तो आहार की इच्छा उपजे। और संयोग इन्द्राणियों के, उसके बड़े संगमरमर के तो कहाँ परन्तु रतन... रत्न के बँगले। लो, कहते हैं कि वह अंगारों में सिंकता है, कषाय की अग्नि में सिंकता है। आहाहा! भगवान

अकषायस्वरूप आनन्द का जहाँ आनन्द का वेदन और भान नहीं, वे सब सुखी हैं, ऐसा मानते हैं, ये अजान मूढ़ में मुखिया हैं। भारी कठिन बात! दुनिया को तो सुनना कठिन पड़े। है या नहीं इसमें?

सम्यग्ज्ञान के बिना चारित्र धारण करता है। सम्यग्दर्शन और ज्ञान तो नहीं। ले लो, व्रत लो, महाव्रत लो। उलझन में नहीं आओ, उलझन में नहीं आओ, तुम छोड़ दो। नग्न हो जाओ। दिगम्बर हो जाओ। यह वस्त्र पहनकर महाव्रत ले लेवे। आहाहा! यहाँ तो कहते हैं कि वस्त्र का एक धागा रखे और मुनि मनावे-माने, निगोद में जायेगा।

मुमुक्षु : कुन्दकुन्द आचार्य बहुत कठोर।

पूज्य गुरुदेवश्री : कठोर नहीं, ऐसा स्वरूप है। उसे नौ तत्त्व की भूल है। आहाहा! यहाँ तो कहते हैं, सम्यक् (दर्शन) बिना चारित्र अंगीकार (करके) व्रत ले लेवे, निर्विकल्प आनन्द का स्वाद तो आया नहीं। आत्मा कौन है, उसका तो भान नहीं और महाव्रत और दीक्षा ले लो। छोड़ो स्त्री-पुत्र, तुम्हारा कल्याण होगा। धूल में भी नहीं होगा। भटक मरेगा। अभिमान होगा अमुक मुफ्त का। ऐई!

बिना चारित्र के मोक्षपद चाहता है। सम्यग्दर्शन और ज्ञान होने पर भी स्वरूप के आनन्द की लीनता, उस चारित्र के बिना मुक्ति तीन काल में नहीं होगी। चारित्र अर्थात् यह स्वरूप की लीनता। है न? **बिना चारित्र...** सम्यक् अनुभव हुआ... आत्मा तो निर्विकल्प आनन्द का धाम, ऐसा वेदन हुआ, वह तो सम्यग्दर्शन और ज्ञान। अब उस आनन्द में रमना, उस अतीन्द्रिय आनन्द में जमावट—लीनता होना, उसका नाम चारित्र। यह वस्त्र-बस्त्र बदलकर महाव्रत लिये और चारित्र हो गया, रण में शोर मचाने जैसी बात है सब।

मुमुक्षु : अरण्य रुदन है साहेब!

पूज्य गुरुदेवश्री : अरण्य रुदन। तुम भी पड़नेवाले थे उसमें, और रह गये।

मुमुक्षु : पड़ते को बचाया न आपने!

पूज्य गुरुदेवश्री : बचाया... आहाहा! अरे रे! तत्त्व की खबर नहीं होती और स्वयं मूढ़ में पड़े हों और दूसरे को डाले। पड़ो तुम इसमें। दीक्षा ले लो अब दीक्षा झट।

यहाँ तो सम्यक् अनुभव बिना चारित्र होता नहीं और चारित्र बिना मुक्ति होती नहीं और मुक्ति बिना सुख होता नहीं। यह तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान हुआ, वह भी इतना अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आया। और चारित्र हुआ, उसमें अतीन्द्रिय आनन्द का विशेष स्वाद है और उसका पूर्ण फल सुख-मोक्ष है। आहाहा! कैसे सुखिया अन्त में मोक्ष में? इसकी अपेक्षा नीचे सुख नहीं? परन्तु पूर्ण सुखी नहीं। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान, उसमें अतीन्द्रिय आनन्द का सुख आया, परन्तु आंशिक आया और चारित्र हो, तब अतीन्द्रिय आनन्द की उग्रता का आनन्द आया और उसका पूर्ण फलरूप से मुक्ति में तो पूर्ण आनन्द होता है। आनन्द का फल वह आनन्द हो या दुःख का फल वह आनन्द हो? समझ में आया? महाव्रत के परिणाम, वे तो दुःख है, राग है, विकल्प है। उसका फल मुक्ति? आहाहा!

वह अज्ञानी है, मूर्खों में प्रधान अर्थात् महामूर्ख है। अर्थ यह किया है न! अब छठवाँ कलश नीचे। यह उसका १२वाँ पद है। छठवाँ कलश नीचे है। अमृतचन्द्र आचार्य मुनि दिगम्बर सन्त ९०० वर्ष पहले भरतक्षेत्र में विचरते थे। आनन्दमूर्ति अतीन्द्रिय आनन्द में झूलते थे। आहाहा! उन्होंने इस शास्त्र में... विकल्प का निमित्त होकर शास्त्र अपने आप बन गया। शास्त्र के कर्ता वे हैं नहीं। रजकण को कौन करे? ऐसे निमित्त से कथन कहते हैं।

आसंसारात्प्रतिपद-ममी रागिणो नित्य-मत्ताः,
सुप्ता यस्मिन्नपद-मपदं तद्विबुध्यध्व-मन्धाः।
एतैतेतः पद-मिद-मिदं यत्र चैतन्य-धातुः,
शुद्धः शुद्धः स्वरसभरतः स्थायिभावत्वमेति।।६।।

स्थायीभाव को प्राप्त चीज़ अन्दर भगवान आनन्द है। आहाहा! उसका पद। **श्री गुरु का उपदेश अज्ञानी जीव नहीं मानते।**

★ ★ ★

काव्य - १२

श्रीगुरु का उपदेश अज्ञानी जीव नहीं मानते

(सवैया इकतीसा)

जगवासी जीवनिसौं गुरु उपदेस कहै,
तुमैं इहां सोवत अनंत काल बीते हैं।
जागौ ह्वै सचेत चित्त समता समेत सुनौ,
केवल-वचन जामैं अक्ष-रस जीते हैं।।
आवौ मेरै निकट बताऊं मैं तुम्हारे गुन,
परम सुरस-भरे करमसौं रीते हैं।
ऐसे बैन कहै गुरु तौऊ ते न धरै उर,
मित्रकैसे पुत्र किधौं चित्रकैसे चीते हैं।।१२।।

शब्दार्थ:-मित्रकैसे पुत्र=मिट्टी के पुतले जैसे। चित्रकैसे चीते=चित्र में बने हुए।

अर्थ:-श्रीगुरु जगवासी जीवों को उपदेश करते हैं कि, तुम्हें इस संसार में मोहनिद्रा लेते हुए अनन्त काल बीत गया; अब तो जागो और सावधान वा शान्तचित्त होकर भगवान की वाणी सुनो, जिससे इन्द्रियों के विषय जीते जा सकते हैं। मेरे समीप आओ, मैं कर्म-कलंक रहित परम आनन्दमय तुम्हारे आत्मा के गुण तुम्हें बताऊँ। श्रीगुरु ऐसे वचन कहते हैं तो भी संसारी मोही जीव कुछ ध्यान नहीं देते, मानों वे मिट्टी के पुतले हैं अथवा चित्र में बने हुए मनुष्य हैं।।१२।।

काव्य-१२ पर प्रवचन

जगवासी जीवनिसौं गुरु उपदेस कहै,
तुमैं इहां सोवत अनंत काल बीते हैं।
जागौ ह्वै सचेत चित्त समता समेत सुनौ,
केवल-वचन जामैं अक्ष-रस जीते हैं।।

आवौ मैरे निकट बताऊं मैं तुम्हारे गुन,
परम सुरस-भरे करमसौं रीते हैं।
ऐसे बैन कहै गुरु तौऊ ते न धरै उर,
मित्रकैसे पुत्र किधौं चित्रकैसे चीते हैं॥१२॥

मिट्टी के पुतले हैं, कहते हैं। मित्र अर्थात् मिट्टी। मिट्टी के पुतले जैसे हैं। अथवा चित्र में बने हुए मनुष्य हों चित्र में। आहाहा! देख लो।

जगवासी... जग में रहे हुए—संसार में रहे हुए ऐसे जीव को गुरु उपदेश कहते हैं। **तुमैं इहां सोवत...** अरे आत्मा! पर्यायबुद्धि में, रागबुद्धि में, निमित्तबुद्धि में रहा, वह (वहाँ) सोते हुए अनन्त काल बीता। व्यवहार में रहा—पर्याय में, राग में, उसमें तो अनन्त काल बीता प्रभु तेरा। आहाहा! चौरासी के अवतार। **इस संसार में मोहनिद्रा लेते हुए,...** लो, **अनन्त काल बीते हैं।** भगवान आत्मा आनन्दस्वरूप का सावधानपना तूने किया नहीं और अनन्त काल एक समय की पर्याय और राग में मोह से सचेत रहा। मिथ्यात्व के कारण उसमें जागृत रहा। आहा! मुनि हुआ तो भी वह राग की क्रिया एक समय की पर्याय में रत रहा।

तुमैं इहां सोवत अनंत काल बीते हैं,.... मोह में। **जागो ह्वै सचेत चित्त...** अरे जीव! अब तो जाग। आहाहा! सावधान हो। **सचेत चित्त...** चित्त में चेत कर... चेत कर। अरे! मैं कौन हूँ? आहाहा! अतीन्द्रिय ज्ञानानन्दस्वरूप का चेत कर। **समता समेत सुनौ...** और शान्त चित्त होकर एक बार भगवान की वाणी सुन। आहाहा! भगवान की वाणी, ऐसा कहती हैं कि एक समय की पर्याय और राग में सोता है, वह मोह है, मिथ्यात्व है। आहाहा! सावधान हो। शान्त चित्त से भगवान की वाणी सुन। भगवान की वाणी सुन, ऐसा कहते हैं। है न? अहा!

केवल वचन... भगवान की वाणी के वचन कैसे हैं? **अक्ष-रस जीते हैं....** उसमें इन्द्रियों के विषय जीते जा सकते हैं। आहाहा! पाँच विषय—शब्द, रूप आदि भगवान की वाणी भी विषय है। उसमें ऐसा कहा था। उसकी ओर का लक्ष्यवाला विकल्प, खण्ड इन्द्रिय और जड़—सब इन्द्रियों को जीतना अर्थात् उनकी रुचि छोड़कर अतीन्द्रिय आनन्द में आना, इसका नाम इन्द्रियों को जीता कहा जाता है। आहाहा! **जिससे इन्द्रियों**

के विषय जीते जा सकते हैं। इसका स्थूल अर्थ करे कि पाँच इन्द्रियों के विषय सेवन नहीं करना। परन्तु वह कहाँ है? कौन सेवन करता था पर को? पर्याय में इन्द्रिय भावेन्द्रिय उसमें जिसका लक्ष्य है, वह विषय को ही सेवन करता है, वह परविषय है। भावेन्द्रिय जो ज्ञान का एक समय का खण्ड-खण्ड भाग क्षयोपशम, वह परविषय है, स्वविषय नहीं। आहा!

उस परविषय को भोगनेवाला विषय को ही भोगता है, ऐसा कहते हैं। ऐसे तो नौवें ग्रैवेयक में गया तो विषय राजपाट में सब छोड़ा है, तो भी वह विषय को सेवन करता है, कहते हैं। ऐसे एक समय की पर्याय और विकल्प राग, वह परविषय है। परविषय का लक्ष्य और ध्येय है, वह परविषय को ही सेवन करता है। आहाहा! ऐसा मार्ग... एक व्यक्ति कहे, ऐसा मार्ग निकाला कहाँ से? यह क्या है?

मुमुक्षु : यह तो अनादि का है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अब निकाले कहाँ? अनादि का है। आहाहा! तुझे खबर नहीं थी, इसलिए वह नहीं था? यहाँ तो कहते हैं, **केवल-वचन...** भगवान के वचन कि जिसमें इन्द्रियों का जीतना, वह भगवान की वाणी में ऐसा आया है, देखो! भगवान की वाणी में ऐसा आया कि हमारे सामने देखने का (विकल्प) जो इन्द्रिय का विषय, उसे छोड़ दे, ऐसा कहते हैं। आहाहा! हमको सुनना छोड़ दे, ऐसा कहते हैं। '**सुनौ**' कहा परन्तु '**सुनौ**' में यह। (**मुमुक्षु :** यह हमारे कहना है।)

केवल-वचन जामैं.... भगवान की वाणी में तो इन्द्रियाँ और पर्यायबुद्धि का नाश कराते हैं, यह इन्द्रियों के विषयों का जीतना, उसमें होता है। आहाहा! वीतराग की वाणी स्वभाव-सन्मुख कराती है और निमित्त तथा विकल्प से विमुख कराती है, इसका नाम वीतराग की वाणी है। '**सुनौ**' तो कहा, परन्तु क्या सुनना है तुझे? कि हमारे सामने देखना छोड़कर अन्दर सन्मुख देख। आहाहा! तेरा भगवान तेरे पास पूरा पड़ा है। आहाहा! कठिन काम भाई ऐसा! एक-एक बात में जगत के साथ मेल—तुलना हो, ऐसी नहीं। आहाहा! कहते हैं, भगवान की वाणी सुन कि जिसके कारण इन्द्रियों के विषय जीते जा सकते हैं। अर्थात् कि त्रिलोकनाथ वीतराग परमात्मा की वाणी में ऐसा

आता है कि यह मेरी वाणी आती है, उस इन्द्रिय से जो मुझे लक्ष्य करके सुनता है, वह भी इन्द्रिय का जीतना नहीं। इन्द्रिय से तू जीता जाता है। आहाहा!

अन्तर भगवान आत्मा अकेला ज्ञान के पूर का नूर, सुख का सागर, ऐसा ध्रुव प्रभु उसका ही (लक्ष्य) कर, उसमें दृष्टि दे, वह इन्द्रियों को जीतना कहा जाता है। इस प्रकार भगवान की वाणी में ऐसा आया है। भगवान की वाणी ऐसा नहीं कहती कि पंच महाव्रत पालन कर और यह कर। ऐसे नहीं आयी, ऐसा कहते हैं। आहाहा! गजब! व्यवहार से आया है न, यह तो ज्ञान कराया है। ऐसा कहे, पंच महाव्रत आते हैं न। आते हैं वे क्या? कहाँ आते हैं? वह तो राग है। परन्तु उस सम्बन्धी का यहाँ ज्ञान होता है आनन्दसहित का, उसे वह ज्ञान आया है। अज्ञानी को महाव्रत कैसे और उसे चारित्र कैसा और सम्यग्दर्शन कैसा? आहाहा! जहाँ आत्मा का स्वसंवेदन आनन्दसहित प्रगट हुआ है, उसे आगे बढ़ने पर स्वरूप में लीनता होने पर, फिर विकल्प ऐसा महाव्रत का उठे, उसे उसी समय में राग का ज्ञान करता ज्ञान उत्पन्न होता है। उस ज्ञान, स्वभाव के सन्मुख हुए को होता है। वह राग के सन्मुख हुए को होता नहीं। अरे!

आवौ मैरे निकट बताऊं मैं तुम्हारे गुन.... देखो, अब यह बात करते हैं। **आवौ मैरे निकट....** नजदीक आओ नजदीक। सुनने के योग्य होओ, ऐसा कहते हैं। सत्य बात सुनने के निकट आओ। आहाहा! **बताऊं मैं तुम्हारे गुन....** तुम्हारे में आनन्द और शान्ति और अतीन्द्रिय सुख पड़ा है, ऐसे गुण को मैं बताऊँ। राग को बताऊँ और निमित्त को बताऊँ, ऐसा नहीं कहा यहाँ। आहाहा! **आवौ मैरे निकट बताऊं मैं तुम्हारे गुन.... तुम्हारे गुन....** का अर्थ तुम्हारा द्रव्यस्वभाव। अरे प्रभु! तुझमें तो अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द, अनन्त शान्ति, अनन्त वीतरागता, स्वच्छता, प्रभुता ऐसी अनन्त शक्तियों का सागर तू है। अनन्त सिद्धों को पेट में रखकर पड़ा है। आहाहा! क्योंकि सिद्ध, वह पर्याय है। ऐसी अनन्त पर्याय उसके ज्ञानगुण और आनन्दगुण में सब पड़ी है। आहाहा! **आवौ मैरे निकट बताऊं मैं तुम्हारे गुन बताऊँ....** व्यवहार बताऊँ, ऐसा कहा नहीं यहाँ। भाई! ... कितना स्पष्ट किया! देखो न! '**अपदमपदं**' है न! अपद है। पद बताऊँ, ऐसा कहा न।

'**एतैतेत पदमिदमिदं यत्र।**' पद बताऊँ तुझे। पद तो कौन? गुणस्वरूप भगवान आत्मा वह पद—निजपद। अनन्तानन्त अनन्त शान्तिवाला तत्त्व, वह निजपद। पुण्य-

पाप के विकल्प आदि, वह निजपद नहीं। आहाहा! पंच महाव्रत के विकल्प, वे निजपद नहीं, वे तो अपद हैं। आहाहा! यहाँ तो यह पंच महाव्रत के परिणाम, वह चारित्र। नहीं? क्या? वह धर्म? आहाहा! मूल में से भूले हैं। यह बाईयाँ—छोटी उम्र की लड़कियाँ दीक्षा ले न बालब्रह्मचारी, ओहोहो! देखो महिमा। आहा! दीक्षा लेने के लिये इनका हमने मान किया। मुम्बई में मान दिया। किसका? अभी दीक्षा ही किसे कहना, इसका भान नहीं। आहाहा! यह मुँडाकर बाहर वस्त्र बदलना, वह दीक्षा है? अभी सम्यग्दर्शन क्या है, इसकी खबर नहीं और चारित्र कहाँ से आ गया इसे? आहाहा! धन्य अवतार बालब्रह्मचारी, ऐसा करके महिमा करे। अपने से पलता नहीं। परन्तु पलता है उसे तो अपने... दीक्षा महोत्सव अपने घर में करो। आहाहा! मिथ्यात्व के पोषक हैं वे सब। समझ में आया? आहाहा! ऐसी बातें भारी कठिन! छोटाभाई!

आवौ मैरे निकट बताऊं मैं तुम्हारे गुन.... प्रभु! तू तो आनन्द का नाथ है न, आहाहा! तुझमें दुःख नहीं, विकल्प नहीं, राग नहीं, अल्पज्ञता नहीं। आहाहा! ऐसा सर्वज्ञस्वभाव, पूर्णानन्दस्वभाव, पूर्ण स्वच्छतास्वभाव, पूर्ण शान्तस्वभाव, शान्त अर्थात् वीतरागता, पूर्ण अकर्तृत्वस्वभाव, पूर्ण अभोक्तृत्वस्वभाव... राग आदि का करना और भोगना तुझमें है ही नहीं, ऐसा तेरा स्वभाव है। आहाहा! महाव्रत के परिणाम को करना—भोगना, वह तो तेरे स्वरूप में है ही नहीं। ऐसा गुणोंवाला आत्मा, तुझे बताऊँ, कहते हैं। ऐसा कहते हैं। आहाहा! कहो, यह बनारसीदास। यह तो नीचे एक शब्द है न, उसका है यह। '**तद्विबुध्यध्वमन्धाः एतैतेतः**' इस ओर आओ। वह पक्ष छोड़ दो। विकल्प और पर्याय की बुद्धि और निमित्त की बुद्धि छोड़ दे, वह अपद है। कहो, समझ में आया?

आवौ मैरे निकट बताऊं मैं तुम्हारे गुन, परम सुरस-भरे.... आहाहा! कैसे हैं गुण? कि कर्मकलंक रहित। जिसमें भावकर्म और जड़कर्म स्वरूप में है ही नहीं। ऐसे अनन्त आनन्दवाला प्रभु, अनन्त ज्ञानवाला तेज प्रभु का, ऐसे गुण को मैं बताऊँ। **मैं कर्मकलंक रहित परम आनंदमय तुम्हारे आत्मा के गुण तुम्हें बताऊँ,...** लो। '**सुरस भरे**' है न? **सुरस भरे करमसौं रीते....** कर्म से खाली, वह तो अभाव कहा। परन्तु सुरस भरे—अतीन्द्रिय आनन्द के रस से भरपूर भगवान पूर्णानन्द है, वह तू है। आहाहा!

कहो, आत्मा उसे कहते हैं और उस आत्मा का ऐसा सम्यग्दर्शन हो, तब उसे समकिती और धर्म की शुरुआत हुई कही जाती है। आहा! **परम सुरस भरे करमसौं रीते हैं, ऐसे बैन कहै गुरु....** ऐसे वचन कहे, सुने। **तौऊ ते न धरै उर....** अन्दर में हृदय में धारे (नहीं), अद्धर के अद्धर (निकाल डाले)। आहाहा! **ऐसे बैन कहै गुरु तोऊ ते न धरै उर, मित्रकैसे पुत्र....** मिट्टी के पुतले हैं, कहते हैं। आहाहा! (जैसे) मिट्टी के पुतले को कुछ खबर नहीं पड़ती, ऐसा खबर बिना का है, कहते हैं।

मित्रकैसे पुत्र.... '**मित्र**' अर्थात् मिट्टी। मिट्टी के पुतले जैसा। **किधौं चित्रकैसे चीते है...** यह चित्र में बनाया हुआ मनुष्य (जैसा) चित्राम है तू अकेला। आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ ऐसा प्रभु तुझे बताता हूँ, यह वहाँ देख, वहाँ देख। उसके बदले, यह नहीं, हमारे तो ऐसे करना, हमारे तो ऐसा करना, हमारे ज्ञान-दर्शन की पहली आवश्यकता नहीं। हमारे तो पहले व्रत पालना, तप करना। आहाहा! मिट्टी का पुतला है, कहते हैं। चित्राम का कौआ है। आहाहा! जड़ है, ऐसा कहा, लो न! ऐसा हुआ या नहीं? आहाहा! भगवान अतीन्द्रिय आनन्द प्रभु निर्विकल्प सचेतन प्रभु पड़ा है, उसकी दृष्टि कर और उसे देख (और) राग और पुण्य और पर्याय में से दृष्टि छोड़ दे। परन्तु मिट्टी के पुतले को जैसे कुछ असर नहीं होता, उसी प्रकार अज्ञानी को यह बात सुनकर असर नहीं होता, ऐसा कहकर उसे जगाते हैं। जाग रे जाग आत्मा सचेतन प्रभु। लो, यह छठवाँ कलश, हों! इसका १२वाँ पद। इसकी विशेषता पीछे है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ७३, ज्येष्ठ कृष्ण ५, रविवार, दिनांक १३-०६-१९७१
निर्जरा द्वार, काव्य - १३ से १६

समयसार नाटक, १३वाँ पद है। १३... १३ है न?

★ ★ ★

काव्य - १३

जीव की शयन और जागृत दशा कहने की प्रतिज्ञा (दोहा)

एतेपर बहुरौं सुगुरु, बोलैं वचन रसाल।
सैन दसा जागृत दसा, कहै दुहूंकी चाल।।१३।।

शब्दार्थ:-रसाल=मीठे। सैन (शयन)=सोती हुई। दसा=अवस्था।

अर्थ:-इतने पर फिर कृपालु सुगुरु जीव की निद्रित और जागृत दशा का कथन मधुर वचनों में कहते हैं।।१३।।

काव्य-१३ पर प्रवचन

एतेपर बहुरौं सुगुरु, बोलैं वचन रसाल।
सैन दसा जागृत दसा, कहै दुहूंकी चाल॥१३॥

क्या कहते हैं? **इतने पर फिर कृपालु सुगुरु....** ज्ञानी धर्मात्मा **जीव की निद्रित और जागृतदशा का कथन मधुर वचनों में कहते हैं।** अज्ञान में क्या हो रहा है और ज्ञान में—धर्म में क्या होता है? उसका वर्णन करते हैं—करते हैं। जीव की शयन अवस्था—अनादि से अज्ञान में सो रहा है।

मुमुक्षु : चले वहाँ ऐसे सो रहा है?

पूज्य गुरुदेवश्री : सो ही रहा है। आहाहा! आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप है, ऐसा जहाँ अन्तर में भान नहीं, वे सब पुण्य और पाप के राग में अज्ञान में सो रहे हैं।

समझ में आया? सो रहे हैं।

चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा शुद्ध आनन्द और अकेला ज्ञानमूर्ति प्रभु आत्मा है, उसे आत्मा कहते हैं। वह आत्मा... सर्वज्ञ परमेश्वर ने उसे आत्मा कहा है। यह शरीर आदि तो अजीव—जड़ है। पुण्य और पाप के भाव, वे तो अचेतन आस्रव है। हिंसा-झूठ-चोरी-विषय-भोगवासना—वह पाप विकल्प है। पाप, वह अजीव है, वह आत्मा का स्वरूप नहीं, वह आत्मा नहीं तथा दया-दान-व्रत-भक्ति-तप-पूजा आदि का जो विकल्प है, वह भी आस्रव है, राग है, विकार है, विभाव है, वह कहीं आत्मा नहीं। आहाहा! इससे अनादि से अज्ञानी—आत्मा को न जाननेवाला राग और द्वेष, पुण्य और पाप के भाव में सो रहे हैं, उसमें पोढ़े हैं। उसे आत्मा क्या चीज़ है, इसकी खबर नहीं। समझ में आया?

जीव की शयन अवस्था। १४वाँ... १४वाँ पद है।

★ ★ ★

काव्य - १४

जीव की शयन अवस्था (सवैया इकतीसा)

काया चित्रसारीमैं करम परजंक भारी,
मायाकी संवारी सेज चादरिकी कलपना।
सैन करै चेतन अचेतना नींद लियैं,
मोहकी मरोर यहै लोचनकौ ढपना।।
उदै बल जोर यहै स्वासकौ सबद घोर,
विषै-सुख कारजकी दौर यहै सपना।
ऐसी मूढ़ दसामैं मगन रहै तिहूं काल,
धावै भ्रम जालमैं न पावै रूप अपना।।१४।।

शब्दार्थः-काया=शरीर। चित्रसारी=शयनागार, निद्रा लेने की जगह। संवारी=सजी।

---

१. जब राग-द्वेष के बाह्य निमित्त नहीं मिलते तब मन में भाँति भाँति के संकल्प-विकल्प करना।

परजंक (पर्यंक)=पलंग। सेज=विस्तर। चादरि=ओढ़ने का वस्त्र। अचेतना=स्वरूप का भूलना। लोचन=नेत्र। स्वासकौ सबद=घुरकना।

अर्थः-शरीररूपी महल में कर्मरूपी बड़ा पलंग है, माया की सेज सजी हुई है, कल्पनारूपी[1] चादर है, स्वरूप की भूलरूप नींद ले रहा है, मोह के झकोरों से नेत्रों के पलक ढँक रहे हैं, कर्मोदय की जबरदस्ती घुरकने की आवाज है, विषय-सुख के कार्यों के हेतु भटकना यह स्वप्न है; ऐसी अज्ञान-अवस्था में आत्मा सदा मग्न होकर मिथ्यात्व में भटकता फिरता है परन्तु अपने आत्मस्वरूप को नहीं देखता।।१४।।

काव्य-१४ पर प्रवचन

काया चित्रसारीमैं करम परजंक भारी,
मायाकी संवारी सेज चादरिकी कलपना।
सैन करै चेतन अचेतना नींद लियैं,
मोहकी मरोर यहै लोचनकौ ढपना॥
उदै बल जोर यहै स्वासकौ सबद घोर,
विषै-सुख कारजकी दौर यहै सपना।
ऐसी मूढ़ दसामैं मगन रहै तिहूं काल,
धावै भ्रम जालमैं न पावै रूप अपना॥१४॥

कहते हैं कि **काया चित्रसारी...** न्यारी... शरीररूप महल, वह तो भिन्न जड़ है वह तो। उसे अज्ञानी 'मेरे रूप से' मानकर पड़ा है मूढ़।

मुमुक्षु : उसे कहाँ खबर पड़े कर्म की?

पूज्य गुरुदेवश्री : किसकी?

मुमुक्षु : कर्म की।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कर्म की यहाँ बात कहाँ है? **शरीररूपी महल में कर्मरूपी बड़ा पलंग है।** शरीररूप महल में... ऐसा फिर। पहला शरीररूपी महल है और कर्मरूपी मोटा—बड़ा पलंग है। अर्थात् कि भगवान आनन्दस्वरूप आत्मा है, उसकी खबर नहीं,

इसलिए कर्म के भाव के निमित्त से अथवा कर्म के निमित्त से हुए विकार, वह पलंग है, उसमें यह सो रहा है। कहो, समझ में आया? आहाहा! शुभ और अशुभभाव, वह कर्म के निमित्त से उत्पन्न हुआ भारी पलंग है। आहाहा!

अज्ञानी, जैसे वीतरागदेव कहते हैं, वैसा जिसे आत्मा—राग और शरीररहित चीज़, ऐसा जिसे भान नहीं, वे सब पुण्य और पाप के विकल्प—वासनायें, उनमें वह पलंग में सो रहा है, पोढ़ा है उस पलंग में। आहाहा!

मुमुक्षु : पोढ़े का अर्थ करना बापू!

पूज्य गुरुदेवश्री : पोढ़ा है, वह मर गया है। आहाहा! ऐसी सूक्ष्म बात है। शरीररूपी महल—बड़ा महल। महल अर्थात् यह बड़ा बँगला—दो-पाँच-दस लाख का मकान, उसमें कर्मरूपी पर्यंक—कर्मरूपी पलंग। आहाहा! शरीररूपी महल में कर्मरूपी पलंग। आहाहा! आत्मा उससे भिन्न चीज़ है शरीर और कर्म से, ऐसा अज्ञानी को भान नहीं। मिथ्या दृष्टि में, भ्रमणा में वह शरीर के महल में कर्म के निमित्त से होते विकल्प—शुभ-अशुभभाव(रूपी) पलंग में सो रहा है। आहाहा! वह घोर निद्रा अज्ञान में वह लेता है।

माया की सेज.... है। है न? **माया की संवारी.... 'संवारी'** है न अर्थ। संवारी का अर्थ किया है अन्दर 'सजी'। मायाजाल का सज (सजावट) की है उसने। आहाहा! शरीर, वाणी, मन, यह बाहर की लक्ष्मी धूल-धमाल, यह सब मायाजाल, उसमें अज्ञानी अपनापन मानकर और उस शैय्या को सजी है। कर्मरूपी शैय्या में सो रहा है। उसकी माया से उसे सजाया है। आहाहा! कहो समझ में आया इसमें? कहाँ गया मनसुख? समझ में आता है या नहीं यह? कहते हैं कि अज्ञानी इस प्रकार धर्म नहीं समझता, उसे धर्म का भान नहीं कि यह आत्मा सच्चिदानन्द सिद्धस्वरूप है, मेरा आनन्द और ज्ञान का स्वरूप है, वह चैतन्य है। ऐसी चैतन्य की दशा का अथवा शक्ति का—स्वभाव का मिथ्यादृष्टि को भान नहीं। इसलिए वह शरीररूपी महल में कर्मरूपी पलंग में माया को सजाकर निश्चिन्तता से सो रहा है। आहाहा! माया की सेज सजी है। ठीक!

कल्पनारूपी चादर ओढ़ी है। आहाहा! कल्पना करे, इसका ऐसा होगा और

इसका ऐसा होगा और इसका ऐसा होगा। **जब राग-द्वेष के बाह्य निमित्त नहीं मिलते तब मन में भाँति-भाँति के संकल्प-विकल्प करे।** करे संकल्प और विकल्प, पर का तो कुछ कर सकता नहीं। आहाहा! इसका यह कर दूँ और इसकी दया पालन कर दूँ और इसकी हम अहिंसा कर दें और मैं ऐसे कमा लूँ, ऐसे कमाऊँ और... ऐसा अज्ञानी—मूढ़ अनादि का मिथ्यादृष्टि संकल्प-विकल्प की सेज को सजाकर उसमें कल्पनारूपी चादर ओढ़ी है। आहाहा! सुलटा न सोवे तो ओढ़े न कपड़ा।

मुमुक्षु : मक्खी न आवे।

पूज्य गुरुदेवश्री : अभी मक्खियाँ बहुत हो गयी हैं अभी। यह तो अनादि की मक्खी हुई है, कहते हैं। आहाहा! कल्पनारूपी चादर ओढ़कर भगवान चिदानन्द प्रभु आनन्द का धाम, उसके भान बिना, वह कल्पना की चादर ओढ़कर सो रहा है। आहाहा!

सैन करै चेतन अचेतना नींद लियैं। आहाहा! अचेतन—भूलरूप नींद ली है। भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य ज्ञान और दर्शन उसका स्वभाव, उसे भूलकर, अचेतना की नींद है उसे। आहाहा! पुण्य और पाप के राग की निद्रा है उसे। अचेतन में निद्रा (करता है)—सो रहा है। आहाहा! **मोह के झकोरों से नेत्रों के पलक ढँक रहे हैं।** मिथ्यात्व के जोर से उल्टी श्रद्धा के कारण सम्यग्ज्ञान के नेत्र—पलक, सोवे तब आँखें बन्द हो जाये न ऐसे, इस प्रकार उसके नेत्र ढंक गये हैं। आहाहा! मिथ्याश्रद्धा, मिथ्याज्ञान के कारण उसके सम्यग्ज्ञान नेत्र ढंक गये हैं। समझ में आया?

मोह के झकोरों से नेत्रों के पलक ढँक रहे हैं। अन्दर के नेत्र, हों! जिस ज्ञान द्वारा आत्मा को जानना चाहिए, उस ज्ञान के नेत्र मिथ्यात्व के कारण बन्द हो गये हैं उसके। स्वरूप भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यमूर्ति के सम्यक् दर्शन बिना, उसके अनुभव बिना अज्ञानी मोह—मिथ्यात्व के कारण से पुण्य में धर्म है, पाप में सुख है, शरीर में ठीक है, यह सब सामग्रियाँ मिलीं, वह सब मेरी है—ऐसी जो मिथ्यात्व की निद्रा के कारण अन्तर के नेत्र जिसके ढंक (गये हैं)। ऐसे सोवे वहाँ आँखों की पलक बन्द हो जाये न, उसी प्रकार इसके सम्यक् नेत्र ढंक गये हैं। आहाहा! है न?

मोह की मरोर यहै लोचनकौ ढपना, उदै बल जोर यहै स्वासकौ सबद घोर।

आहाहा! कहते हैं, कर्मोदय की जबरदस्ती से घूर के। यह सोवे तब अन्दर आवाज होती है न अन्दर घूरक घूं... घूं... (खर्राटे) यह ....

मुमुक्षु : खर्राटे।

पूज्य गुरुदेवश्री : खर्राटे। इसी प्रकार अज्ञानी कर्म के उदय में खर्राटे लेता है। कर्म के उदय में विकार जो हो, वह उसका घूं... घूं... हो रहा है, उसे अन्दर से। **कर्मोदय की जबरदस्त धुरकने की आवाज है।** आहाहा! उसमें कुछ पुण्य हो और पुण्य के कारण कुछ धूल-बूल—पैसा आदि मिले और स्त्री-पुत्र कुछ ठीक हो और मूढ़ मिथ्यात्व के कारण अन्दर घुरकने की... घुरकने की... घूं... उ। निद्रा की आवाज उसे है। यह बनारसीदास यह उपमा देते हैं। मनसुख! ... भाई यह!

विषय-सुख के कार्यों के हेतु भटकना... आहाहा! अपने में आनन्द है ऐसा जहाँ भान नहीं, वह पाँच इन्द्रिय के विषय के सुख में भटकता है, यह उसे स्वप्न आता है। निद्रा में जैसे स्वप्न आवे न! निद्रा में जैसे स्वप्न आवे, वैसे इसे पाँच इन्द्रिय के विषय में सुख है, ऐसा स्वप्न इसे आया है। आहाहा! यह शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, ऐसा सुने, स्त्री का शरीर सुन्दर देखे कोमल मक्खन जैसा, अज्ञानी मूढ़ जीव उसमें सुख है, ऐसी कल्पना करके अज्ञान की निद्रा में पर में सुख है, ऐसा उसे स्वप्न आता है। आहाहा! कहो, प्रकाशदासजी! यह बात है। देखो, यह बनारसीदास कहते हैं। भगवान ने जो कहा हुआ (तत्त्व), उसे न्याय से उतारकर आत्मा में यह विरुद्ध क्या है, यह ज्ञानी कहते हैं, बताते हैं। आहाहा! **विषय-सुख के कार्यों के हेतु भटकना...** आहाहा! यहाँ कमाने जाना और यहाँ भोग लूँ और यहाँ सुनना और यहाँ शब्द सुनना, रूप देखना, रस चखना, गन्ध सूंघना, स्पर्श (का) स्पर्श करना। यह परचीज़ में झपट्टा मारकर सुख की कल्पना करता है, वह मूढ़ जीव मिथ्यादृष्टि निद्रा में स्वप्न आया है, (ऐसा) कहते हैं।

ऐसी मूढ़ दसामैं मगन रहै तिहूं काल... सवेरे, दोपहर और रात्रि में, वह अज्ञानी मूढ़ तो तल्लीन है। आहाहा! **धावै भ्रम जालमैं न पावै रूप अपना।** आहाहा! **ऐसी अज्ञान अवस्था में आत्मा सदा मग्न होकर मिथ्यात्व में भटकता फिरता है।** यह मिथ्या—झूठी मान्यता है, मिथ्या दृष्टि है। विषय में सुख की कल्पना का स्वप्न, वह

मिथ्यात्व के (कारण) आता है (और) वह मिथ्यादृष्टि को होता है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? कहो, प्रवीणभाई! ऐसी बात है। आहाहा!

अपने आत्मस्वरूप को नहीं देखता। भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य आनन्द का धाम आत्मा है। जैसा भगवान ने प्रगट किया है परमात्मा तीर्थंकर ने, वैसा यह आत्मा है आनन्द का धाम। उसे यह जानता नहीं, पहिचानता नहीं, उसकी इसे खबर नहीं, निज निधान में नजरें नहीं। यह परवस्तु (कि) जो इसमें नहीं, उसकी कल्पना में मूढ़ मिथ्यादृष्टि दौड़ रहा है। यह चार गति में भटकने के इसके लक्षण हैं, कहते हैं। आहाहा! कहो, इसमें समझ में आता है या नहीं?

छोटूभाई! कहाँ गये तुम्हारे (दूसरे)? यह दो छोटाभाई हैं न? ऐई छोटूभाई! यह सेठ हैं इनके। यह समझने का है। वहाँ धूल में कुछ नहीं, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : धूल में कुछ नहीं। पैसे में माल है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अब पैसा क्या होगा? धूल है वह क्या होगी? यह शरीर धूल है मिट्टी, यह तो मिट्टी जड़ है-धूल है। अरे! यह तो धूल है, परन्तु अन्दर शुभ-अशुभभाव हों, वे अचेतन हैं, वे चैतन्यस्वभाव की जाति नहीं। आहाहा! अरे! इसे... कहा न अन्दर, आ गया है वह अचेतन में।

सैन करै चेतन, अचेतना नींद लियैं। आहाहा! यह शुभ और अशुभ विकल्प जो भाव है, वे अचेतन हैं, वे चैतन्य की जाति नहीं। आहाहा! यह शरीर तो मिट्टी-धूल है, वह प्रत्यक्ष है। वह राख होती है, इसकी खबर नहीं पड़ती? श्मशान की राख होकर उड़ जाये एकदम।

मुमुक्षु : वह तो हो तब न?

पूज्य गुरुदेवश्री : अब हुई ही है। यह क्या है यह? यह क्या है यह?

शास्त्र में तो उसे मृतक कलेवर कहा है। मुर्दा है, यह तो मुर्दा है, अचेतन है, मिट्टी—धूल है। भगवान अन्दर चैतन्यमूर्ति देह-देवल में (रहा होने पर भी) देह से भिन्न... आहाहा! और यह पुण्य-पाप के राग से भी भिन्न। आहाहा! ऐसे आत्मा का भान नहीं, अन्तर पहिचान नहीं, अन्तर अनुभव नहीं, अन्तर का आश्रय नहीं। वे सब मूढ़

मिथ्यात्वी जीव अज्ञान में सो रहे हैं और आत्मस्वरूप को कुछ देखते (नहीं)। अन्दर चीज़ कौन हूँ, उसे देखने की फुरसत नहीं लेते। आहाहा! कहाँ गया हसमुख?

मुमुक्षु : उसमें तो उसका उदय का बल है।

पूज्य गुरुदेवश्री : उदय का बल अर्थात् आत्मबल गया, तब उदय का बल है, ऐसा कहा। वहाँ दृष्टि है, उसे जोर में। अज्ञानी को पुण्य और पाप, राग और द्वेष में दृष्टि है, वह उसका बल है। आत्मा का बल कहाँ रहा वहाँ? आहाहा!

अब जागृत दशा। यह अज्ञान की दशा का वर्णन (हुआ)। मिथ्यादृष्टि को मिथ्यात्व में क्या होता है, उसका वर्णन (था)। चाहे तो वह साधु हुआ हो या भोगी हो या योगी हो, परन्तु अन्तर में जो पुण्य और पाप के विकल्पों में सो रहा है और उसमें धर्म माने और वह चीज़ मैं हूँ, (ऐसा) मानता है, वह मिथ्यात्व की नींद में निश्चिन्त सोता है। उसे आत्मा क्या चीज़ है, इसकी उसे खबर हीं। अब जीव की जागृतदशा। अब सुलटी लेते हैं। यह भगवान आत्मा जागता है। अरे! मैं तो आत्मा हूँ, मैं तो आनन्द का धाम, ज्ञानानन्द का सागर, आहाहा! मेरी चीज़ में शरीर, वाणी तो नहीं, लक्ष्मी-फक्ष्मी तो कहीं दूर रह गयी, परन्तु मेरी चीज़ में पुण्य और पाप की वृत्तियाँ हो, दया-दान-भक्ति-पूजा—यह विकल्प भी मेरी चीज़ में नहीं। आहाहा! ऐसा अन्तर में भान सम्यग्दर्शन होने पर—समकित दर्शन होने पर जागृतदशा कैसी होती है, उसका वर्णन है।

★ ★ ★

काव्य - १५

जीव की जागृत दशा (सवैया इकतीसा)

चित्रसारी न्यारी परजंक न्यारौ सेज न्यारी,
चादरि भी न्यारी इहां झूठी मेरी थपना।
अतीत अवस्था सैन निद्रा वाहि कोउ पै,
न विद्यमान पलक न यामैं अब छपना।।

स्वास औ सुपन दोऊ निद्राकी अलंग बूझै,
सूझै सब अंग लखि आतम दरपना।
त्यागी भयौ चेतन अचेतनता भाव त्यागि,
भालै दृष्टि खोलिकैं संभालै रूप अपना।।१५।।

शब्दार्थ:-थपना=स्थापना। अतीत=भूतकाल। न्रिदा वाहि=सोनेवाला। यामैं= इसमें। छपना=लगाना। अलंग=सम्बन्ध। दरपना=दर्पण। भालै=देखे।

अर्थ:-जब सम्यग्ज्ञान प्रगट हुआ तब जीव विचारता है कि शरीररूप महल जुदा है, कर्मरूप पलंग जुदा है, मायारूप सेज जुदी है, कल्पनारूप चादर जुदी है, यह निद्रावस्था मेरी नहीं है-पूर्वकाल में सोनेवाली मेरी दूसरी ही पर्याय थी। अब वर्तमान का एक पल भी निद्रा में नहीं बिताऊँगा। उदय का नि:श्वास और विषय का स्वप्न ये दोनों निद्रा के संयोग से दिखते थे। अब आत्मरूप दर्पण में मेरे समस्त गुण दिखने लगे। इस प्रकार आत्मा अचेतन भावों का त्यागी होकर ज्ञानदृष्टि से देखकर अपने स्वरूप को सम्हालता है।।१५।।

काव्य-१५ पर प्रवचन

चित्रसारी न्यारी परजंक न्यारौ सेज न्यारी,
चादरि भी न्यारी इहां झूठी मेरी थपना।
अतीत अवस्था सैन निद्रा वाहि कोउ पै,
न विद्यमान पलक न यामैं अब छपना॥
स्वास औ सुपन दोऊ निद्राकी अलंग बूझै,
सूझै सब अंग लखि आतम दरपना।
त्यागी भयौ चेतन अचेतनता भाव त्यागि,
भालै दृष्टि खोलिकैं संभालै रूप अपना॥१५॥

यह तो निद्रा के सम्बन्ध में यह सब भासता था, ऐसा कहते हैं।

सम्यग्दृष्टि—प्रथम श्रेणी का धर्मी, जिसे भगवान सम्यग्दृष्टि कहते हैं, जिसे धर्मी

कहते हैं, उसकी जागृत अवस्था कैसी होती है, उसकी यहाँ बात वर्णन करते हैं। आहाहा! **जब सम्यग्ज्ञान प्रकट हुआ....** अर्थात् पुण्य और पाप के राग से भिन्न मेरी चीज़ है। मैं एक सिद्धस्वरूपी प्रभु आत्मा, वह मेरा स्वरूप है। ऐसी अन्तर की अनुभव की दृष्टि होने पर—उसमें आत्मा शुद्ध आनन्द है, ऐसी प्रतीति आने पर—उसे सम्यग्ज्ञान होता है और सम्यग्दर्शन होता है, तब जीव कैसा विचारता है? धर्मी, जीव को कैसा मानता है? आहाहा! **चित्रसारी न्यारी....** यह शरीररूप महल भिन्न। यह तो मिट्टी-धूल है, अजीव है। आहाहा! मुझमें यह नहीं और यह अजीव होकर रहा हुआ है। मेरी कोई भी दशा होकर शरीर रहा हुआ नहीं है। शरीर तो अजीव होकर, मिट्टी होकर रहा हुआ है। वह कहीं मेरी चीज़ होकर रहा हुआ है (नहीं)। पर्याय में, हों! द्रव्य-गुण में तो है ही नहीं। परन्तु उसकी अवस्था में शरीर रहा है, ऐसा नहीं। देखो, इसका नाम सम्यग्दृष्टि जागृत।

कि शरीर महल में—अजीवपने में मेरा कुछ नहीं। आहाहा! अब शरीर में मेरा कुछ नहीं और यह स्त्री-पुत्र और परिवार में कहाँ आया यह? अरे, भारी कठिन! कर्मरूपी पलंग भिन्न है, शरीररूप महल भिन्न और पलंग भिन्न। पुण्य और पाप के भाव में सोता था, वह पलंग भिन्न, वह मेरा स्वरूप (नहीं)। आहाहा! मायारूपी सेज अलग। वह पलंग जो ऐसे शैय्या को सजाई हुई हो न। है न सोना के वे डाले न शैय्या को।

वहाँ है न सर हुकमीचन्द। क्या कहलाता है? अपने नहीं गये थे... ? पलंग था और पलंग में सोने की वह लिखावट, भाई अक्षर। यह प्रकाश के पास, वह काँच के महल के पास थे न ऐसे कुछ।

मुमुक्षु : शीशमहल।

पूज्य गुरुदेवश्री : शीशमहल... शीशमहल, लो। बड़े गृहस्थ थे न वे तो। बीस करोड़ कहलाते थे। धूल का अंक है। उसके पलंग को सजाया हुआ हो ऐसे-ऐसे दिखाव... नीचे चार पलंग के (पाया में) सिंह का मुख। ऊपर ऐसे बाल। उसके पलंग को सेज को मढाया हो। अज्ञानी को सेज वह कर्म के राग और द्वेष, उसे जो मँढ़ाया हो जहाँ सब स्त्री, पुत्र परिवार मेरा, यह सब धूल मेरी, वह सेज को सजाया है। ज्ञानी (उसे

सेज) मानता नहीं। वह मेरी सेज ही नहीं न! आहाहा!

वह धर्मी होने पर—सम्यग्दृष्टि होने पर, भले गृहस्थाश्रम में दिखाई दे, तथापि वह शरीररूपी महल, कर्मरूपी पलंग और मायारूपी सेज सब भिन्न है। मेरी चीज़ में वह नहीं। आहाहा! मेरी (चीज़) में हो, वह भिन्न पड़े नहीं। भिन्न पड़े वह मेरी (चीज़) नहीं। **न्यारी इहां झूठी मेरी थपना....** लो। यह कल्पनारूप चादर अलग, लो। कल्पना करे कि यह मेरा और यह तेरा। वह सब कल्पना की चादर झूठी। मैं तो अखण्डानन्द प्रभु (हूँ)। वह कल्पना झूठी। **निद्रावस्था मेरी नहीं।** आहाहा! यह अज्ञान में राग-द्वेष मेरा मानता था, वह वस्तु ही मेरी नहीं। वह मेरी दशा ही बदल गयी अब, ऐसा कहते हैं। आहाहा! यह आठ वर्ष की बालिका भी आत्मज्ञान पावे—सम्यग्दर्शन (पावे), तब यह दशा होती है। समझ में आया?

अभी सम्यग्दर्शन, हों! आहाहा! चारित्र तो बाद की बात। स्वरूप में स्थिर होना और रमना, वह तो अलौकिक दूसरी बात, परन्तु प्रथम सम्यग्दर्शन का धर्म होने पर, कहते हैं, **निद्रावस्था मेरी नहीं। पूर्व काल में सोनेवाली मेरी दूसरी ही पर्याय थी।** वह अज्ञान में राग-द्वेष मेरे माने, वह दशा ही मेरी नहीं। वह अवस्था ही मैं नहीं। आहाहा! समझ में आया? **मेरी दूसरी ही पर्याय थी।** वह अवस्था ही दूसरी थी। अज्ञान में राग और द्वेष, पुण्य और पाप तथा उनके बाहर के संयोग मेरे—ऐसा जो माना था, वह दशा भी मेरी नहीं। वह अज्ञान की अवस्था थी, मुझमें है नहीं। अब मेरी दशा बदल गयी है। आहाहा! मैं तो आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ, ऐसा सम्यग्दृष्टि को—धर्मी को अन्तर में भास होता है, तब उसे यह दशा झूठी कल्पना थी पहले की, इस प्रकार उसे ऐसा विचार आता है। कहो, समझ में आया?

अब वर्तमान का एक पल भी निद्रा में नहीं बिताऊँगा। आहाहा! क्या कहते हैं जरा? भगवान आत्मा... सम्यग्दर्शन अर्थात् अनुभव आत्मा का होने पर, एक भी पल राग की एकता में अब बिताऊँ नहीं, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? यह व्यवहार दया-दान-व्रत-भक्ति—भगवान की श्रद्धा का राग, उस राग की एकता अब एक पल भी मैं नहीं करूँगा, ऐसा कहते हैं। करूँगा नहीं। आहाहा! **अब वर्तमान का एक पल भी निद्रा में नहीं बिताऊँगा।** इसका अर्थ यह हुआ कि आत्मा ज्ञानानन्द शुद्ध चैतन्य का भान

हुआ, तो विकल्पमात्र जो है, उससे विरक्त हुआ। आहाहा! बाहर में दिखता है कि संयोग में है, परन्तु अन्तर में संयोग और संयोगभाव से अत्यन्त भिन्न धर्मी होता है।

जैसे नारियल में सूखा गोला, काचली से पृथक् पड़ा हुआ जैसे भिन्न है। काचली समझते हैं?

मुमुक्षु : उसके ऊपर....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह काचली होती है न कड़क, कठोर। लाल तो छाल। परन्तु वह काचली होती है न कड़क। यह नाम दूसरा कहते हैं हिन्दी में कुछ काचली को? नाम में अन्तर है कुछ।

मुमुक्षु : वह ऊपर का छिलका।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, वह नहीं। वह काचली कठोर।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह छाला नहीं, बस वह।

मुमुक्षु : होका बनता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, वह होका बनते हैं वह। वह होका बने वह। वह काचली भिन्न, (उसी प्रकार) यह शरीर—छाल भिन्न। यह काचली—कर्म भिन्न और कर्म के संग से हुई लालिमा। काचली की ओर की लालिमा सूक्ष्म लाल... लाल छाल।

मुमुक्षु : गोले से चिपकी रहती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह भी भिन्न। जैसे नारियल सफेद गोला सफेद शुद्ध। इसी प्रकार धर्मी को अपना आत्मा शुद्ध अर्थात् निर्मल, आनन्द अर्थात् सुखरूप, वह मैं। बाकी यह पुण्य-पाप की लाल छाल, आठ कर्म की काचली और यह शरीर का छिलका—यह सब भिन्न चीज़ है। कहो, समझ में आया? गजब कहते हैं।

न विद्यमान पलक न यामैं अब छपना.... एक क्षण भी धर्मी को राग के अंश के साथ एकत्वबुद्धि नहीं होती। आहाहा! भिन्न पड़ा, वह पड़ा, कहते हैं। पर्वत पर बिजली गिरे, भाई ने लिखा है न। दिया है या नहीं पन्ना उस दिन? चेतना... चेतना क्या कहलाता

है ? यह गीत है न उसका। वींछियावाले ने नहीं लिखा ? पर्वत पर जैसे बिजली गिरे... यह मुम्बई में व्याख्यान दिया था, उसमें से यह लिख लिया है। और उस पर्वत के दो टुकड़े हों, उन्हें रेण देने से इकट्ठे नहीं होते। उन्हें रेण देने से इकट्ठे नहीं होते। इसी प्रकार धर्मी जीव को राग और शरीर की एकता टूटी ही अन्दर है। आहाहा! समझ में आया ? उसे धर्म कहते हैं। आहाहा! राग और शरीर और आत्मा का स्वभाव—दो के बीच जिसने भेदज्ञान की छैनी मारी है अन्दर से। वे दो भिन्न पड़े, वे कभी अब एकतार एक होंगे (नहीं)। आहाहा!

न विद्यमान पलक न यामैं अब छपना, स्वास औ सुपन दोऊ निद्रा की अलंग बुझै.... क्या कहते हैं ? यह श्वास का जो वह उदय का कहा था न उदय का नि:श्वास और निद्रा में स्वप्न आया कि इस पर में सुख है यह।—वे दोनों अज्ञान के साथ सम्बन्ध था। मुझे (सम्बन्ध) है नहीं। **उदय का नि:श्वास और विषय का स्वप्न निद्रा के संयोग से दिखते थे।** वह तो अज्ञान के संयोग से, पाँच इन्द्रिय के विषय में सुख और कर्म का उदय मेरा, यह अज्ञान में भासन होता था। वह धर्मी को अब वे मेरे हैं, ऐसा भासन होता नहीं। गजब धर्म की व्याख्या ऐसी भाई! कहो, समझ में आया ?

आतमरूप... फिर आया न, **सुझै सब अंग लखि आतम दरपना....** भगवान आत्मा अन्तर आनन्दस्वरूप, ऐसा ज्ञान आदि उसके दर्पण में **सब अंग सुझै...** जितने अनन्त गुण हैं, वह अपने हैं, ऐसी अन्दर सूझ पड़ती है। राग आदि, पुण्य आदि मैं नहीं। मेरे अनन्त अंग जो गुण हैं, वे मेरे हैं। आहाहा! पहली तो बात पकड़ना कठिन अभी। यह धर्म। अब यहाँ धर्म करके बैठे जल्दी। अपवास करो और यह व्रत करना और यह धर्म। अब सुन न! वह तो सब राग और विकल्प है। यहाँ तो राग की वृत्ति से भिन्न पड़ा हुआ तत्त्व, जिसमें अकेले चेतन के अनन्त गुण ही बसे हुए हैं। **अचेतनता भाव त्यागि....** विकल्प आदि अचेतन है, उसे दृष्टि में से छोड़ दिया है। आहाहा!

भालै दृष्टि खोलिकैं संभालै रूप अपना.... ओहोहो! कितना सरस लिखा है! **आत्मा अचेतनभावों का त्यागी होकर ज्ञानदृष्टि से देखकर अपने स्वरूप को सम्हालता है।** मैं तो ज्ञान और आनन्द का धाम, ऐसी मेरी चीज़ है। उसकी सम्हाल धर्मी करे। राग और पर से त्यागी हुआ, पर की सम्हाल न करके, पर को पररूप से अपने ज्ञान में रहकर

उसे जाने। आहाहा! इसका नाम धर्म और इसका नाम सम्यग्दर्शन है। वीतरागमार्ग में यह धर्म है। समझ में आया?

आत्मा अचेतनभावों का त्यागी.... अर्थात् कि अन्दर में पुण्य और पाप की वृत्तियाँ अचेतनभाव है, उसे छोड़कर, अपने अनन्त गुण को देखकर, **भालै दृष्टि खोलिकैं....** आहाहा! अन्तर सम्यक् नेत्र से अपने अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु आत्मा, उसे देखे, उसे सम्यग्दृष्टि और धर्मी कहा जाता है। है या नहीं सामने पुस्तक? ली है या नहीं नटु? परन्तु वहाँ है या नहीं पालेज? होगी। पढ़ा होगा? क्या कहा?

मुमुक्षु : शुरु किया।

पूज्य गुरुदेवश्री : शुरु किया, ठीक। धन्धा तो कब का शुरु किया है।

मुमुक्षु : वह तो बहुत वर्ष से....

पूज्य गुरुदेवश्री : कहो, समझ में आया? पाप का धन्धा तो कितने वर्ष से शुरु किया है? यह अब शुरु किया है अभी, कहता है। कहो! यहाँ कहते हैं... छोटाभाई! यहाँ तो यह है। आहाहा!

प्रभु! तेरी चीज़ में शान्ति और अतीन्द्रिय आनन्द भरा हुआ है। ऐसे गुण का धारक धर्मी राग आदि का त्यागी है, वह राग आदि का स्वामी नहीं। आहाहा! राग, पुण्य और पुण्य के फल यह धूल आदि, उसका वह स्वामी नहीं। धर्मी उसका स्वामी नहीं और उसका स्वामी हो, वह धर्मी नहीं। समझ में आया? भैंस का स्वामी हो, वह पाड़ा होता है। इसी प्रकार पुण्य और पाप के राग और शरीर आदि पुण्य के फल बाहर, उनका स्वामी हो, वह जड़ होता है मिथ्यादृष्टि। ... गजब बात, भाई! समझ में आया? अन्तर में जिसकी स्वभाव की दृष्टि खुल गयी है, कहते हैं कि उसे अपने स्वभाव के समभाव के ऊपर उसकी सावधानी है। राग आदि के विकल्प का तो अन्दर से त्यागी है, इसलिए उसे सम्हालना या रखना वह है (नहीं)। करना, ऐसा नहीं जहाँ। आहाहा!

भालै दृष्टि खोलिकै संभालै रूप अपना.... अब यह उस राग को सम्हालना, शरीर को सम्हालना, यह स्त्री-पुत्र पकड़े, उन्हें सम्हालना या आत्मा को सम्हालना? धूल भी सम्हालता नहीं पर को। वह तो कल्पना करके मूढ़ मानता है। समझ में आया?

पर को वह क्या सम्हाल सकता है ? वह तो जगत की स्वतन्त्र चीज़ है। उसके कारण से टिकती और बदल रही है। उसे सम्हालना (कहाँ रहा ?) वह तो आत्मा को सम्हाले, ऐसा कहते हैं। धर्मी अपनी सम्हाल ले। आहाहा! मेहमान आवे, तब कहे न कि सम्हाल-बम्हाल ली नहीं हमारी तो। उम्मीद करे न कितने ही ऐसे आये हों, वे।

मुमुक्षु : सम्हाल रखी हो तो....

पूज्य गुरुदेवश्री : अब किसकी सम्हाल ले ? ऐई नटु! यह बहुत ध्यान रखे दुकान का वहाँ। यह कहते हैं कि पर का ध्यान रखे तो पर रहे, ऐसा वस्तु में है नहीं। वह मूढ़ मानता है....।

मुमुक्षु : उसका नाम मूढ़ किसका कहे ?

पूज्य गुरुदेवश्री : मूढ़ अर्थात् स्वरूप भिन्न है, उसकी खबर नहीं और भिन्न (पर)चीज़ भिन्न है मुझसे, उसकी खबर नहीं, इसलिए मूढ़ हुआ। वे मेरे हैं, जो इसके नहीं वे मेरे (मानता) है और जो इसके हैं, उसका तो आदर किया नहीं अन्दर का। आहाहा! अन्तर भगवान आत्मा में अनन्त आनन्द, शान्ति पड़ी है। ऐसा जो स्वगुण का स्व निधान, उसे तो सम्हाला नहीं और यह पर को सम्हालने की कल्पना (करता है, वह) मूढ़ है, कहते हैं।

अब इस जागृतदशा का फल। जो इस प्रकार से सम्यग्दर्शन—जागृतदशा हो कि विषयों में सुख नहीं। माना था, वह अज्ञान अवस्था थी। मुझमें आनन्द है। मुझमें शान्ति आदि अनन्त गुणों का निधान भण्डार है। और राग का विकल्प उठे, दया-दान-व्रत आदि का, वह भी मेरी चीज़ में नहीं। वह भिन्न चीज़ है। ऐसा जिसे सम्यग्दर्शन—जागृतदशा धर्म की हुई, उसका फल क्या है, यह कहते हैं। उसका फल क्या ?

★ ★ ★

काव्य - १६

जागृत दशा का फल (दोहा)

इहि विधि जे जागे पुरुष, ते शिवरूप सदीव।
जे सोवहि संसारमैं, ते जगवासी जीव।।१६।।

शब्दार्थ:-इह विधि=इस प्रकार। जागे=सचेत हुए। सदीव (सदैव)=हमेशा। जगवासी=संसारी।

अर्थ:-जो जीव संसार में इस प्रकार आत्म-अनुभव करके सचेत हुए हैं, वे सदैव मोक्षरूप ही हैं और जो अचेत हुए सो रहे हैं, वे संसारी हैं।।१६।।

काव्य-१६ पर प्रवचन

इहि विधि जे जागे पुरुष, ते शिवरूप सदीव।
जे सोवहि संसारमैं, ते जगवासी जीव॥१६॥

इस विधि जे जागे.... ऊपर कहा ऐसा भगवान आत्मा अपना आनन्द का, ज्ञान का सागर—ऐसा इसने अन्तर में पहिचाना, जाना और धर्मी हुआ, इसका फल वह **शिवरूप सदीव।** वह तो मोक्षरूप ही सदा है, ऐसा कहते हैं, लो। आहाहा! भाई! अब मोक्ष होगा, ऐसा नहीं (कहा)। आहाहा! सम्यग्दृष्टि तो मोक्षस्वरूप ही है। क्योंकि राग आदि सब विकल्प से मुक्त हुआ और आत्मा के—अपने सहज स्वभाव का आदर करके सन्मुख हुआ, वह धर्मी सदैव... भाषा ऐसी है, देखो। ... **सचेत रहे हुए हैं, वे सदैव मोक्षरूप ही हैं।** आहाहा! भगवान आत्मा अपने अस्तिपने अस्ति—सत्ता, शान्त और आनन्द के रस से भरपूर प्रभु आत्मा का जहाँ भान और स्वभाव का स्वामी (ऐसा) अनुभव हुआ, कहते हैं, वह मोक्षस्वरूप ही है। **ते शिवरूप सदीव....** आहाहा! सदा ही मोक्षस्वरूप ही है, क्योंकि राग से मुक्त है। सम्यग्दृष्टि राग से मुक्त है और पूरे संसार से मुक्त है। उसमें संसार है नहीं। आहाहा!

अन्तरस्वरूप महाप्रभु चैतन्य, जैसा सर्वज्ञ परमेश्वर ने अनन्त-अनन्त गुण की

खान निधान—ऐसा आत्मा को राग और पर से भिन्न करके जाना, वह पर से भिन्न है अर्थात् मुक्त है, ऐसा। आहाहा! कठिन बातें, भाई! इसमें कहीं... देखो, यह सब बाहर की बातें है, वे तो कहीं आयी नहीं। बाहर की बातें उसमें हैं ही नहीं न (तो) कहाँ से आवे? आहाहा! शरीर, वाणी, मन की क्रिया, वह मेरी है, वह तो बहिरात्मा माननेवाला है। बहिर् जो चीज़ बाह्य है, वह मुझसे होती है (ऐसा माननेवाला) उसका नाम बहिरात्मा—मिथ्यादृष्टि है। अरे! पुण्य और पाप का राग, वह भी बहिर् है, अन्तर की चीज़ नहीं। उसे भी मेरा माननेवाला बहिरात्मा अर्थात् मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! गजब भाई!

यह तो संसार छोड़कर बैठे, तब हो यह। अमरचन्दभाई! परन्तु संसार था कहाँ यहाँ तो? सुन न! संसार अर्थात् मिथ्यात्व और राग-द्वेष। वे जहाँ स्वरूप में नहीं, आहाहा! ऐसा जो स्वरूप का भान होने पर, मिथ्यात्व और राग-द्वेष से रहित हुआ दृष्टि में, (तो) द्रव्य मुक्त ही है और पर्याय में भी पर से मुक्त हो गया, ऐसा कहते हैं। ऐई चन्दुभाई! गजब बातें, भाई! यह तो ऐसा जैनधर्म होगा?

मुमुक्षु : यह भगवान का धर्म....

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान का धर्म तो अभी तो यह सुने कब? कन्दमूल नहीं खाना, रात्रिभोजन नहीं करना, सामायिक करना, प्रौषध करना, व्रत पालना, ऐसा सुनते हैं अभी। ऐई छोटाभाई!

मुमुक्षु : यह भी सुनाई देता है, वह भी सुनाई देता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : दोनों छोटाभाई बैठे साथ में। दोनों... है न। कहो, समझ में आया इसमें? आहाहा!

कहते हैं, बहुत संक्षिप्त में बात कही। **इहि विधि जे जागे पुरुष, ते शिवरूप सदीव....** जहाँ सम्यग्दर्शन में पूर्णानन्द का भान—अनुभव हुआ। उसमें अपूर्णता भी नहीं तो राग और पर तो नहीं ही। आहाहा! इसलिए उसे—ऐसी जागृतदशावन्त को सदा शिवरूप कहा जाता है। समझ में आया? शिवरूप अर्थात् मोक्षरूप। नमोत्थुणं में नहीं आता? '**सिवमलयमरुयमणंत**' अर्थ भी नहीं आते होंगे। जय भगवान। छोटाभाई!

आता है या नहीं '**नमोत्थुणं**' में? नहीं आता अन्तिम '**सिवमलयमरुयमणंत**'। कौन जाने क्या होगा? शिव अर्थात् वे शंकर होंगे? '**विहुयरयमलापहीणरमरणा**' नहीं आता? अर्थ की भी खबर नहीं होती, उसे भाव का भान तो कहाँ से हो? आहाहा!

कहा था न एक बार। उन दसा-विसा का विवाद रहता था लीमडी में। दशाश्रीमाली और विसाश्रीमाली। लीमड़ी। वह दशाश्रीमाली की महिला सामायिक करके बैठी हुई। यह वह हो न घडुं-घड़ी। वह घड़ी पूरी हो तो हो गयी सामायिक। अभी सामायिक किसे कहना... ? आत्मा का भान नहीं होता, सामायिक कैसी तुझे वहाँ? उसमें वह लोगस्स बोलने लगी, वह बुढ़िया थी। स्वयं दशाश्रीमाली, उन विसाश्रीमाली—दोनों को विवाद। वह लोगस्स में आया 'विहुयरयमला...' इसलिए कहे विसा रोई मर्या। ऐ, यह अपना विवाद यहाँ कहाँ से आया लोगस्स में? कहे।

मुमुक्षु : सच्ची बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अपने यहाँ दशा—विसा की जाति में विवाद है, बात सच्ची। परन्तु यह विसा रोई मर्या, यह कहाँ से आया इसमें? ऐई, देखो तो सही इसमें। वहाँ 'विहुयरयमला' है। परन्तु यह 'विहुयरयमला' अर्थात् क्या परन्तु?

कि, हे भगवान! परमेश्वर सिद्ध भगवान आत्मा! आपने तो '**विहुय...** वि+हुय विशेष धूल टाली है। क्या? '**रयमला...**' रज अर्थात् यह कर्म जड़ बारीक धूल, उसे आपने टाला है और '**मल**'। मल अर्थात् पुण्य और पाप का जो राग भाग—भावकर्म विकारी, उसे भी आपने टाला है। '**विहुयरयमला**' ऐ, अर्थ तो ऐसा है और यह विसा रोई मर्या कहाँ से आया यह? खबर नहीं होती अर्थ की। जय नारायण... सामायिक करके उठकर भागे। ऐई छोटाभाई! और तुम्हारे चितल में तो ऐसा हो कि एक घण्टे इकट्ठे हों सब व्याख्यान के समय। हम वहाँ आते हैं न बहुत बार। आवे और जहाँ पूरा हो, आसन समेटकर (शीघ्र) भागे। ऐई हिम्मतभाई! अब क्या करते हों तो कौन जाने? परन्तु यह तब की बात है, लो।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : चातुर्मास में जाना था न यहाँ अमरेली। तब अन्त में वहाँ आये

थे न। वे सब थे गोपाल सेठ, मोतीचन्द सेठ। सब आये थे न। एक घण्टा हो कि तुरन्त ही वापस (भागे)। यह क्या कहा (उसका) पूछूं... जय नारायण।

यहाँ कहते हैं, भगवान! सुन न, प्रभु! आहाहा! जिसे आत्मा... सर्वज्ञ तीर्थंकरदेव त्रिलोकनाथ परमात्मा ने आत्मा कहा, वह आत्मा पुण्य और पाप के आस्रवतत्त्व से भिन्न कहा है। क्योंकि आस्रवतत्त्व भिन्न तत्त्व है, अजीवतत्त्व भिन्न है नौ में। जीव, अजीव, आस्रव, पुण्य, पाप, बन्ध, संवर, निर्जरा, (मोक्ष)—सब तत्त्व भिन्न है। हाँ, उस भिन्न की खबर नहीं होती अभी अन्दर। अजीव भिन्न है। दया-दान-व्रत के विकल्प उठे, वह पुण्यास्रव है, वह आस्रवतत्त्व है। उससे भगवान ज्ञायकतत्त्व चिदानन्द, वह भिन्न—पृथक् है। ऐसे भिन्न का भान होने पर, वह भिन्न अर्थात् मुक्त, ऐसा। गजब! **इहि विधि जे जागे पुरुष, ते शिवरूप सदीव....** भाषा ऐसी ली है न। **आत्मा-अनुभव करके सचेत हुए....** सचेत हुए—जागृत हुए। आहाहा! **वे सदैव मोक्षरूप ही है।** मुक्त ही है। आहाहा!

व्यवहार से मुक्त हुआ, निमित्त से मुक्त हुआ तो अब किसके साथ सम्बन्ध रहा? ऐई प्रकाशदासजी! क्या कहा? सम्यग्दर्शन में स्वभाव की एकता का जहाँ सम्बन्ध हुआ, वहाँ उसे आस्रव और अजीव का सम्बन्ध टूट गया। है, परन्तु सम्बन्ध टूट गया। यहाँ स्वभाव का सम्बन्ध होने पर—सम्यग्दर्शन में शुद्ध चिदानन्द आत्मा का स्वभाव सम्बन्ध होने पर, दया, दान के आदि का विकल्प राग—आस्रवतत्त्व का सम्बन्ध छूट गया और छूटे बिना आत्मा का दर्शन और आत्मा का समकित होता नहीं। आहाहा!

अब कहते हैं कि जब ऐसी ही जहाँ दृष्टि और पर से भिन्नपने के भान में वर्तनेवाला जीव, वह तो सम्बन्धरहित राग और निमित्त के सम्बन्धरहित रहा। अर्थात् उन्हें सम्बन्ध है, ऐसा बन्ध... सम्बन्ध है, ऐसा बन्ध उसे नहीं। सम्—बन्ध है, ऐसा बन्ध उसे नहीं। आहाहा! भारी कठिन काम! अब सम्यग्दर्शन होने पर, कहते हैं, मुक्त है, ले।

मुमुक्षु : अलौकिक बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बात तो वीतराग की ऐसी होती है। परमेश्वर त्रिलोकनाथ इन्द्रों के समक्ष परमात्मा ऐसा फरमाते थे। गणधरों की उपस्थिति में वीतराग के ऐसे वाणी के

धोध आते थे दिव्यध्वनि में। आहाहा! भगवान महाविदेह में विराजते हैं, लो। सीमन्धर परमात्मा की वाणी में यह आता है।

कहते हैं, **इहि विधि...** जो ऊपर विधि कही, उस प्रकार से **जागे पुरुष...** मैं तो अचेतन का त्यागी और चेतन का भोगी हूँ। राग आदि का त्यागी और स्वभाव का मैं भोगी हूँ। आहाहा! ऐसा जहाँ सम्यग्दर्शन हुआ वहाँ, कहते हैं कि राग का कर्ता नहीं, वहाँ राग का भोग नहीं, वहाँ राग का सम्बन्ध नहीं। आहाहा! और सम्बन्ध... रागसहित आत्मा है, ऐसी मान्यता, वह तो मिथ्यात्व है। समझ में आया?

पुरुषार्थसिद्धि(उपाय) में १४वीं गाथा आयी न! राग, पुण्य के परिणामसहित जीव को मानना और अजीव-कर्म के सहित... क्योंकि अजीवतत्त्व और यह पुण्यतत्त्व भिन्न तत्त्व है और भगवान आत्मतत्त्व भिन्न है। उस भिन्न तत्त्व को भिन्न तत्त्ववाला मानना, वह तो मिथ्यात्व है। और भिन्न तत्त्व से भिन्न पड़ा हुआ उसे बन्ध मानना, वह भी मिथ्यात्व है। अर्थात् बन्ध नहीं, इसलिए अबन्ध है। आहाहा! गजब बात है! वस्तु—पदार्थ—द्रव्य स्वयं अबन्ध है। उसके गुण अबन्ध हैं। पर्याय में—अवस्था में राग की एकता में जो सम्बन्ध और बन्ध था, वह सम्बन्ध ज्ञानी ने तोड़ा। अनादि का तो सम्बन्ध—नाता था। आहाहा!

यह भगवान आत्मा के अनन्त गुणों को देखकर अपनी शुद्धता को सम्हाला, राग और विकल्प तथा जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, उस भाव का सम्बन्ध भी उसने तोड़ा है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! ऐसी जो सम्यग्दर्शन की जागृतदशा, उसके फलरूप से तो शिवरूप सदैव है, कहे, जाओ। कहो, समझ में आया या नहीं कुछ? कुछ समझ में आता है या नहीं, ऐसा कहा है। सब समझ में आ जाये तब तो पार हो जाये। यह क्या कहना चाहते हैं, उसके लक्ष्य में ऐसा आता है या नहीं? भगवान जाने... सिर घूम गया हो उल्टे सिर और ऐसा कहते हैं, यह कुछ ग्रीक—लेटिन (अटपटा) जैसा लगे। आहाहा! भगवान! यह तेरे घर की बात है। तू सच्चिदानन्द=सत् अर्थात् शाश्वत्, चिद् अर्थात् आनन्द का धाम। आहाहा! ऐसी जहाँ जागृतदशा हुई, वह अजागृतदशा राग आदि से तो सम्बन्ध छूट गया। आहाहा! सम्बन्ध छूटे बिना स्वभाव का सम्बन्ध और अनुभव होता नहीं। आहाहा!

जे सोवहि संसारमैं, ते जगवासी जीव,.... लो। कहते हैं कि परन्तु जो कोई राग आदि के भाव में अपनापन मानकर सो रहा है, वह संसारी जीव है, वह भटकता जीव है। यह लोग कहते हैं न भाई! यह स्त्री-पुत्र छोड़े, संसार छोड़ा। धूल भी नहीं छोड़ा, सुन न! स्त्री-पुत्र कहाँ घुस गये थे तुझमें, (कि) उन्हें तूने छोड़ा? वे तो भिन्न चीज़ हैं। यहाँ तो **सोवहि संसारमैं...** राग और पुण्य के विकल्प में जो अपनापन मानकर सो रहा है, वह संसार है। वह संसारी प्राणी है। आहाहा! वह भटकता राम है। चौरासी के अवतार में भटकता राम है वह अज्ञानी, ऐसा कहते हैं। आहाहा! **सो सोवहि संसारमैं** है न? आहाहा! **अचेत हुए सो रहे हैं** अर्थात् कि राग और पुण्य और परवस्तु मेरी करके मानकर बैठे हैं, वे संसारी प्राणी नरक और निगोद में रुलनेवाले संसारी हैं और राग से भिन्न करके स्वरूप के भान में हैं, वे सदा ही मुक्त हैं। दोनों के फल और दोनों का स्वरूप बताया, लो। विशेष कहेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ७४, ज्येष्ठ कृष्ण ६, सोमवार, दिनांक १४-०६-१९७१
निर्जरा द्वार, काव्य - १७ से २०

निर्जरा अधिकार है। निर्जरा किसे होती है और निर्जरा किसे नहीं होती—यह अधिकार है। निर्जरा अर्थात् धर्म। **आत्म अनुभव ग्रहण करने की शिक्षा।** १७वाँ (पद)।

★ ★ ★

काव्य - १७

आत्म-अनुभव ग्रहण करने की शिक्षा (दोहा)

जो पद भौपद भय हरै, सो पद सेऊ अनूप।
जिहि पद परसत और पद, लगै आपदारूप।।१७।।

शब्दार्थ:-भौ (भव)=संसार। सेऊ=स्वीकार करो। अनूप=उपमा रहित। परसत (स्पर्शत)=ग्रहण करते ही। आपदा=कष्ट।

अर्थ:-जो जन्म-मरण का भय हटाता है, उपमा रहित है, जिसे ग्रहण करने से और सब पद[1] विपत्तिरूप भासने लगते हैं, उस आत्म-अनुभवरूप पद को अंगीकार करो।।१७।।

काव्य-१७ पर प्रवचन

जो पद भौपद भय हरै, सो पद सेऊ अनूप।
जिहि पद परसत और पद, लगै आपदारूप॥१७॥

मुमुक्षु : नीचे कलश है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, कलश नीचे। उसका कलश नीचे सातवाँ। यह १७वाँ (पद) है।

१. इन्द्र, धरणेन्द्र, नरेन्द्रादि।

एकमेव हि तत्स्वाद्यं विपदामदं पदम्।
अपदान्येव भासन्ते पदान्यन्यानि यत्पुरः ॥७॥

जो जन्म-मरण का भय हटाता है। अर्थात्? जिसे ग्रहण करने से (भय दूर होता है।) भगवान आत्मा शुद्ध आनन्दपद है। आहाहा! यह आत्मा अन्तर अतीन्द्रिय आनन्द निज पद, उसे ग्रहण करने से अर्थात् अनुभव करने से जन्म-मरण का भय हट जाता है और **उपमारहित है।** जिसे उपमा क्या! निजपद शान्तरस... आत्मा का स्वभाव, वह निजपद, वह शान्तरस और आनन्दरस, उसे ग्रहण करना। है न? **जिसे ग्रहण करने से....** सेवना अर्थात् सेवना—सेवना। सेवना अर्थात् ग्रहण करना। जिसे धर्म करना है, जिसे अशुद्धता टालनी है, उसे शुद्ध चैतन्यपद आनन्दधाम भगवान का अनुभव करना। जो आत्मा का अन्तर अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप, उसका अनुभव करने से जन्म-मरण रहते नहीं। जन्म-मरण का भय सम्यग्दृष्टि को रहता नहीं, उपमारहित जो पद है। उस निजपद को उपमा क्या! शुद्ध चैतन्य धातु...

जिसे ग्रहण करने से.... जिस पद को अनुभव करने से **सब पद विपत्तिरूप भासने लगे।** आहाहा! जो आत्मा वीतरागीस्वरूप है आत्मा अन्तर शान्त अविकारीस्वभाव, उसका अनुभव करने से धरणेन्द्र, इन्द्र और नरेन्द्र—यह सब (पद) विपद लगे। आत्मा का अनुभव करने से यह बड़े इन्द्र आदि के पद भी आपदा जैसे लगते हैं, दु:ख के स्थान लगते हैं। है? **सब पद विपत्तिरूप भासने (लगते हैं)।** विपत्ति है, उपाधि, दु:खरूप है इन्द्रपद, नरेन्द्र पद, चक्रवर्तीपद। आहाहा!

निजानन्द प्रभु आत्मा का स्वभाव सर्वज्ञ परमात्मा तीर्थंकरदेव ने प्रगट किया। वह प्रगट करने का धाम स्वरूप शुद्ध चैतन्य, उसका जो अनुभव करे अर्थात् सम्यग्दर्शन प्रगट करे, उसे अनुभव में जन्म-मरण फिर रहते नहीं। उसे धर्म होता है और उसे अशुद्धता और कर्म टलते हैं। निर्जरा है न? आत्मा आनन्दस्वरूप का अनुभव करने से अशुद्धता—मैल टले, कर्म टले। कोई अपवास-बपवास करने से कर्म टले, ऐसा है नहीं। ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : वह आपदा के स्थान कहे।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह सब आपदा है। स्वसम्पदा के समक्ष वह सब आपदायें हैं।

क्या ? धरणेन्द्र, नरेन्द्र और इन्द्र—तीन लिये न! धरणेन्द्र नीचे, इन्द्र ऊपर, नरेन्द्र बीच में राजा चक्रवर्ती आदि।

मुमुक्षु : तीन लोक...

पूज्य गुरुदेवश्री : तीन लोक। आहाहा!

शुद्ध चैतन्य प्रभु त्रिकाली आनन्दधाम, उसका—स्वभाव का अनुभव करने से कर्म की निर्जरा होती है, कर्म गलते हैं, कर्म टलते हैं और जिसके अनुभव के समक्ष तीन लोक के इन्द्रों की सम्पदा भी आपदा जैसी लगे। कहो, समझ में आया ? यह सब दो-पाँच-पच्चीस लाख रुपये हों और जहाँ वह मकान-बकान व्यवस्थित सुधरावे और ऐसा फलाना हो (तो) सुखी हैं, ऐसा उसे न लगे, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : उसे अर्थात् ?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह आत्मा के आनन्द का अनुभव करे उसे—धर्मी को। धर्मी उसे कहते हैं कि धर्मी ऐसा जो आत्मा आनन्द का निजपद, उसका अनुभव करे वह धर्म। अरे! ग्रहण करना कहा न! **सो पद सेऊ अनूप।** वह उपमारहित पद, उसे सेवन करो, उसकी सेवा करो। निजपद आनन्दस्वरूप ज्ञायक की सेवा करो। पुण्य-पाप और निमित्त की सेवा छोड़ दे। आहाहा!

जो पद भौपद भय हरै.... भव के पद यह बड़े इन्द्र आदि के, उसका तो भय हरे। **सो पद सेऊ अनूप, जिहि पद परसत और पद।** आहाहा! भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द की खान है। उसकी श्रद्धा, ज्ञान और अनुभव करने से **और पद परसत, लगै आपदारूप....** आपदा लगे। भट्टी लगे, ऐसा कहते हैं। कहो, यह अज्ञानी मानता है न (कि) हम सुखी हैं पैसे में और इज्जत में और कुछ व्यवस्थितता में। वह दुःख है, कषाय अग्नि सुलगती है वहाँ। उसे अज्ञानी सुख मानता है।

मिथ्यादृष्टि—जिसकी दृष्टि में निजपद आनन्दस्वरूप आत्मा आया नहीं। वह परपद में सुख माने, वह मूढ़ मिथ्यादृष्टि है और निजपद में आनन्द का अनुभव करे, वह समकिती है। और उसे संसार के बड़े ऊँचे-ऊँचे पद हैं, वे भी आपदा जैसे भासित होते हैं। आहाहा! कहो, समझ में आया ? इसका नाम निर्जरा और धर्म। यह कहे कि अपवास

कर डाले और अट्ठम की और निर्जरा हुई। धूल भी निर्जरा नहीं, तेरा सब काल गया। **उस आत्म-अनुभव पद को अंगीकार करो।** आहाहा! अकेला मक्खन रखा है इसमें तो। पाठ ही यह है न, देखो न!

अब संसार सर्वथा असत्य है, यह बात करते हैं। यह इसमें विशेष समझाते हैं।

★ ★ ★

काव्य - १८

संसार सर्वथा असत्य है (सवैया इकतीसा)

जब जीव सोवै तब समुझै सुपन सत्य,
वहि झूठ लागै तब जागै नींद खोड़कै।
जागै कहै यह मेरौ तन मेरी सौंज,
ताहू झूठ मानत मरन-थिति जोइकै।।
जानै निज मरम मरन तब सूझै झूठ,
बूझै जब और अवतार रूप होइकै।
वाहू अवतारकी दसामैं फिरि यहै पेच,
याही भांति झूठौ जग देख्यौ हम टोइकै।।१८।।

शब्दार्थ:-सौंज=वस्तु। अवतार=जन्म। टोइकै=खोज करके।

अर्थ:-जब जीव सोता है, तब स्वप्न को सत्य मानता है, जब जागता है, तब वह झूठा दिखता है और शरीर वा धन-सामग्री को अपनी गिनता है। पश्चात् मृत्यु का ख्याल करता है, तब उन्हें भी झूठी मानता है, जब अपने स्वरूप का विचार करता है, तब मृत्यु भी असत्य दिखती है और दूसरा अवतार सत्य दिखता है। जब दूसरे अवतार पर विचार करता है, तब फिर इसी चक्कर में पड़ जाता है, इस प्रकार खोजकर देखा तो यह जन्म-मरणरूप सब संसार झूठा ही झूठा दिखता है।।१८।।

काव्य-१८ पर प्रवचन

जब जीव सोवै तब समुझै सुपन सत्य,
वहि झूठ लागै तब जागै नींद खोड़कै।
जागै कहै यह मेरौ तन मेरी सौंज,
ताहू झूठ मानत मरन-थिति जोइकै॥
जानै निज मरम मरन तब सूझै झूठ,
बूझै जब और अवतार रूप होइकै।
वाहू अवतारकी दसामैं फिरि यहै पेच,
याही भांति झूठौ जग देख्यौ हम टोइकै॥१८॥

सौंज अर्थात् वस्तु। पूरा जगत झूठा है, धर्मी कहता है (कि) ऐसा हमने देखा। आहाहा! भगवान आत्मा एक शुद्ध चैतन्यमूर्ति आनन्द के अतिरिक्त यह पूरा जगत झूठा भासित हुआ। धर्मी को पूरा जगत झूठा भासित हुआ। आहाहा! **जब जीव सोवै तब समुझै सुपन सत्य...** निद्रा ले तब स्वप्न आवे, वह उसे सच्चा लगे। निद्रा में स्वप्न आवे, वह सच्चा लगे। मानो उसमें ऐसा हुआ, ऐसा हुआ। भूख लगी है और सुखड़ी (मिठाई) हुई है और सुखड़ी खाता हूँ स्वप्न में। उस समय उसे सच्चा लगे। **वहि झूठ लागै तब जागै नींद खोइकै....** निद्रा उड़ी वहाँ, अरे! यह तो कुछ नहीं है। भूखा रहा और पेट भी भरा नहीं यह तो।

मुमुक्षु : खाट में सो रहा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : नींद में सपने—स्वप्न सच्चा लगे, जागृत में स्वप्न झूठा लगे। आहाहा! अरे! यह तो सब खोटा था, लो। **जब जागता है तो वह झूठा दिखता है और शरीर वा धन-सामग्री को अपनी गिनता है।** आहाहा!

जागै कहै यह मेरौ तन.... (जैसे) स्वप्न में वह सच्चा लगता है, (उसी प्रकार) जागृत हुआ (-उपजा) वहाँ कहे, यह मेरा शरीर, यह मेरी दुकान, यह मेरी स्त्री, यह मेरे पुत्र, यह मेरी इज्जत, यह मेरा परिवार, यह मेरी सर्वस्व सामग्री। आहाहा! **शरीर वा**

धन-सामग्री को अपनी गिनता है। यह मेरे मकान, यह हमारे लड़के, यह हमारी लड़कियाँ, यह हमारे दामाद, यह हमारे मकान, यह हमारी कीर्ति, यह हमारे गोदाम।

मुमुक्षु : अब तो बड़े गोदाम....

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐ हसमुख! तेरह गोदाम हैं एक लाईन में। परन्तु उसके कहाँ थे, वह तो धूल की—जगत की चीज़ है। आहाहा!

ताहू झूठ मानत। देखो, **मेरौ तन मेरी सौंज। सौंज** अर्थात् वस्तु। पैसा, यह पैसा मेरा। यह सामान... वह गाय बेचकर, गाय बेची थी न... वे शिवलाल पटेल थे न, गाय-बाय रखी थी। फिर बेची होगी किसी ग्वाले को। फिर निकले, 'यह देखो, यह हमारी गाय। मैंने यह गाय बेची थी।' शिवलाल पटेल थे न शिवलाल पटेल। गुजर गये, नहीं? वे बहुत ऐसा करते थे। गायें-बायें रखे और फिर किसी को बेचे और फिर लाभ ले लेवे और ऐसा करते न, उसमें भी... ऐसा कहाँ.... चले। यह मेरी गाय, लो मेरी गाय। वह मैंने ग्वाले को दी थी। कहो, यह मेरा मकान। कहाँ मकान था तुझे? ....तेरा कहाँ है? जैसा स्वप्न का संसार सच्चा दिखता है, वैसा जागृत को यह संसार ऐसा दिखता है। है (नहीं)। इसका है नहीं, कुछ तिनका भी इसका है नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : तो यह सब इसका नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : मोहनभाई आये थे न तब, तुम्हारे यहाँ आये थे, नहीं? हाँ। मोहनभाई वहाँ आये थे। हमारे बोटादवाला। जयपुर आया था। आहाहा!

कहते हैं कि जब नींद में से उठा, तब स्वप्न झूठा लगा और जगा (उपजा) तब यह सब ... मेरा लगा। फिर जब मृत्य का ख्याल आवे, आहाहा! अरे, आहाहा! श्वास चलता नहीं अब। श्वास काम नहीं करता। हाय! हाय! यह सब झूठा लगता है। यह स्त्री, पुत्र, पैसा, सब हीरा पड़े, परन्तु कुछ ऐसे मदद करते नहीं इसमें। यह मृत्यु का काल आवे तब सब झूठा (भासित होता है)। आहाहा! **ताहू झूठ मानत मरन-थिति जोइकै....** लगभग जहाँ स्थिति हुई कि बस अब देह छूटने का काल है। पटेल को पूछा कहा, कैसे है? कहे, अन्तक्रिया हो गयी अब अन्तक्रिया। अरे, परन्तु बैठे हो न, क्या है? रोटी खाकर आये यहाँ, दाल-भात अच्छे। होला खाये हुए, क्या कहलाते हैं?

मूँगफली के। शींग-शींग—मूँगफली और उसमें खाया हुआ केला ऊपर। उसमें खाई हुई उसकी तुम्हारी रसोई बच्चूभाई की।

तब बचू था न तब? बचू वहाँ आया था गोदीका के यहाँ। यह हमारी रसोई के लिये गोदीका ने बुलाया था बचू को वहाँ बीस दिन। वह था जयपुर। उसकी रसोई सब वह अलग प्रकार की न! अब खाकर आया वहाँ, यहाँ श्वास बन्द हो गयी। श्वास चलती नहीं, कहे, नीचे... वह अब ऊँची चढ़ गयी। अन्तक्रिया है। परन्तु यह सब उगाही, यह गायें और यह सब कहाँ गया? ओय...! यह तो सब झूठा निकला। शिवा पटेल नहीं थे? छत्तीस घण्टे श्वास रही बस। कुछ नहीं, हों! साजा समरा। कोई रोग नहीं, कुछ नहीं। एकदम एक समय खाया और यह श्वास नीचे से नाभि में से ऊँचा उठा। भाई! उसे विश्वास हो गया। नीचे बैठे थे यों ही। अन्तक्रिया।

ओय...! क्या है परन्तु यह बैठे हैं न! कुछ (दिखता) नहीं न... बस, श्वास उठ गयी। परन्तु किसका? चाहे जिसका हो। यह खाकर आये, वहाँ श्वास नीचे बैठती नहीं। छत्तीस घण्टे श्वास रही। धर्मचन्दभाई ने इंजैक्शन दिया। जहाँ इंजैक्शन दिया तो बैठ गया व्यवस्थित। मैं गया वहाँ अन्तिम श्वास चलती थी। भाई इंजैक्शन... यह तो वह स्थिति होनेवाली थी। उसे तो बेचारे को ऐसा कि बहुत श्वास चलती है और कुछ (करते हैं)। ऐई जतीशभाई! कहो, समझ में आया? आहाहा! मरण स्थिति देखकर यह सब झूठा (लगे) हाय... हाय! यह स्त्री-पुत्र, मकान, पैसा, कीर्ति, यह सब मेरा नहीं। यह तो मेरे साथ चलेंगे नहीं। यह तो सब झूठा है और मैंने तो खुशी मानी थी इसमें सब। आहाहा! मोटरें, कितनी प्रकार की मोटरें, लो। तीन प्रकार की मोटर वे गोदीका रखते हैं, हों! तीन मोटरें रखे। ऐई! बड़ी लम्बी मोटर... एक छोटी और... ऐसी तीन रखते हैं। गृहस्थ व्यक्ति। कहा, ...परन्तु जब इसमें से निकलना पड़ेगा... तब अकेला जायेगा हाय... हाय!

कहते हैं, **जानै निज मरम मरन तब सूझै झूठ**। जब जाने कि अरे! मैं आत्मा तो त्रिकाल हूँ। अकेला हों! वस्तु का स्वरूप (हाथ) आया नहीं। मैं तो आत्मा शाश्वत् रहनेवाला हूँ, ऐसा जब जाने, तब मरण को भी झूठा जाने। मरे कौन? अरे, अरे! मैं तो शाश्वत् रहनेवाला आत्मा हूँ। यह मरण किसका? मरण किसे होता है? मुझे मरण नहीं। मैं कहीं मरता नहीं। आहाहा! **जब अपने स्वरूप का विचार करे....** विचार अर्थात्

त्रिकाल हूँ, इतना। **तब मृत्यु भी असत्य दिखती है।** यह मेरा मरण होता है? मैं तो आत्मा हूँ। आत्मा मरता नहीं और आत्मा जन्मता नहीं।... परन्तु यह खेल भारी कठिन। जगत का खेल अज्ञानी का... आहाहा! **जानै निज मरम मरन तब सूझै झूठ, बूझै जब और अवतार रूप होइकै।** फिर **दूसरा अवतार सत्य दिखता है।** वापस अन्यत्र जन्मे वहाँ वह। वापस लगायी वापस। अन्यत्र जहाँ जन्में, वहाँ उसके पिल्ले और वह वहाल। और यह पिल्ला हो, वहाँ यह मेरी माँ और यह मेरा... यह और यह और यह... यह। आहाहा! कठिन भाई।

कहते हैं, **बूझै जब और अवतार रूप होइकै।** दूसरा अवस्तार ले, वहाँ हो गया। राजा... कहा था न एक बार? किसी ने कहा था राजा को कि 'तू मरकर इस कुत्ती के पेट से पिल्ला होगा और तेरे कपाल में सफेद टीका होगा।' राजा कहे, परन्तु उस समय मार डालना मुझे, पिल्ला होऊँ तो। मैं ऐसा राजा रह सकता हूँ उसमें? वह पिल्ला हुआ और वे मारने गये, (वहाँ) भागा।

मुमुक्षु : भागे ही न!

पूज्य गुरुदेवश्री : कहे, यह अवतार ठीक है मुझे। लो ठीक। आहाहा! राजा मरकर... गलूडिया समझते हैं? कुत्ती का बच्चा। क्या कहते हैं?

मुमुक्षु : पिल्ला।

पूज्य गुरुदेवश्री : पिल्ला। वह उसे एक व्यक्ति ने कहा कि तू बच्चा होगा। तब भाईसाहब उसमें मैं नहीं रह सकूँगा। मार्ग निकाला, मार डालो उसे। जहाँ मारने गये, वहाँ भागा। मुझे यह ठीक है। आहाहा! जहाँ-जहाँ अवतरित हो, वहाँ-वहाँ मेरा अपना... परन्तु स्वयं चीज़ मुसाफिर अनादि-अनन्त भिन्न है, उसका इसे भान (नहीं)। आहाहा! इस निर्जरा अधिकार में किसलिए रखा? कि आत्मा की नित्यता के अनुभव के अतिरिक्त सब झूठ है। ऐसा जब तक भासित न हो, तब तक उसे धर्म और निर्जरा नहीं होती।

वाहू अवतारकी दसामैं फिरि यहै पेच.... यह रीति-कला वापस, वह जहाँ जन्मा। सिंहरूप से जन्मा तो वह सिंहनी और उसके बच्चे को क्या कहा जाता है उसे?

गुफा। बस, यह मेरा। लोटना हो न मानो...वह मानो मैं वन का बाघ, सिंह वह मैं। वहाँ मरकर वापस कुत्ता हो और वहाँ भी वापस यह मांडे। आहा! **याही भांति झूठौ जग देख्यौ हम टोइके....** इस प्रकार पूरा जगत, सत्य को खोजते हुए पूरा जगत झूठा भासित हुआ। आहाहा! खोज करके... आत्मा अखण्ड अनादि-अनन्त—ऐसे आत्मा की जहाँ खोज हुई, पूरी दुनिया संकल्प से लेकर सब झूठा भासित हुआ। आहाहा!

अब सम्यग्ज्ञानी का आचरण। आठवाँ कलश। नीचे कलश... कलश है न!

एकज्ञायकभावनिर्भरमहास्वादं समासादयन्,
स्वादं द्वन्द्वमयं विधातुमसहः स्वां वस्तुवृत्तिं विदन्।
आत्मात्मानुभवानुभावविवशो भ्रश्यद्विशेषोदयं,
सामान्यं कलयन् किलैष सकलं ज्ञानं नयत्येकताम्।।८।।

आहाहा! धर्मी उसे कहते हैं कि धर्मी को ऐसे भाव होते हैं, ऐसा कहते हैं। सम्यग्ज्ञानी भले गृहस्थाश्रम में चौथे गुणस्थान में हो, श्रावक होने से पहले सम्यग्दृष्टि हो, तो भी उस धर्मी को ऐसे भाव और विचार होते हैं।

★ ★ ★

काव्य - १९

सम्यग्ज्ञानी का आचरण (सवैया इकतीसा)

पंडित विवेक लहि एकताकी टेक गहि,
दुंदज अवस्थाकी अनेकता हरतु है।
मति श्रुति अवधि इत्यादि विकलप मेटि,
निरविकलप ग्यान मनमैं धरतु है।।
इन्द्रियजनित सुख दुखसौं विमुख ह्वैकै,
परमके रूप ह्वै करम निर्जरतु है।
सहज समाधि साधि त्यागी परकी उपाधि,
आतम आराधि परमातम करतु है।।१९।।

शब्दार्थ:-टेक=हठ। दुंदज=विकल्परूप, आकुलतारूप। मेटि=हटाकर। समाधि=ध्यान। परकी उपाधि=राग-द्वेष-मोह।

अर्थ:-सम्यग्दृष्टि जीव भेदज्ञान प्राप्त करके एक आत्मा ही को ग्रहण करता है, देहादि से ममत्व के नाना विकल्प छोड़ देता है। मति, श्रुत, अवधि इत्यादि क्षायोपशमिक-भाव छोड़कर निर्विकल्प केवलज्ञान को अपना स्वरूप जानता है, इन्द्रियजनित सुख-दु:ख से रुचि हटाकर शुद्ध आत्म-अनुभव करके कर्मों की निर्जरा करता है और राग-द्वेष-मोह का त्याग करके उज्ज्वल ध्यान में लीन होकर आत्मा की आराधना करके परमात्मा होता है।।१९।।

काव्य-१९ पर प्रवचन

पंडित विवेक लहि एकताकी टेक गहि,
दुंदज अवस्थाकी अनेकता हरतु है।
मति श्रुति अवधि इत्यादि विकलप मेटि,
निरविकलप ग्यान मनमैं धरतु है॥
इन्द्रियजनित सुख दुखसौं विमुख ह्वैकै,
परमके रूप ह्वै करम निर्जरतु है।
सहज समाधि साधि त्यागी परकी उपाधि,
आतम आराधि परमातप करतु है॥१९॥

'लही' और 'गही' कवि है न? आहाहा! देखो! यह निर्जरा उसे होती है अर्थात् अशुद्धता उसे टलती है और कर्म उसे गलते हैं (और) उसे धर्म होता है। किसे? कि '**पंडित**' अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव। है न पण्डित, मुख्य भाषा। उसे पण्डित कहते हैं। पढ़े-गुने हों चाहे जितने परन्तु वह पण्डित नहीं। राग के विकल्प से और मतिज्ञान आदि के भेद से (भिन्न) जिसने आत्मा को अभेदरूप से भिन्न जाना, उसका नाम विवेक और उसका नाम समकित और उसका नाम भेदज्ञान। **पण्डित विवेक लहि,....** लो। **सम्यग्दृष्टि जीव भेदज्ञान प्राप्त करके....** राग का विकल्प है, उससे भी मैं भिन्न और ज्ञान के भेद पड़ते हैं, उतना भी मैं नहीं, मैं तो अभेद चैतन्य हूँ। यह धर्मी की ध्येय की चीज़ है।

एकता की टेक गहि.... मैं तो अखण्ड एक स्वरूपी हूँ। है न? **एक आत्मा ही को ग्रहण करता है।** मैं तो अखण्ड आत्मा शुद्ध ध्रुव हूँ। ऐसा एक आत्मा, उसे ही अनुभव करता है, वह मैं हूँ। शरीर, वाणी, मन तो नहीं; विकल्प तो नहीं, परन्तु ज्ञान की पर्यायों में अनेकता के भेद पड़ें, वह मैं नहीं। आहाहा!

एकता की टेक गही.... एक आत्मा का अनुभव करके... एक ही स्वरूप भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य निर्मल का अनुभव करके **दुंदज अवस्था की अनेकता हरतु है.... देहादि से ममत्व के नाना विकल्प छोड़ देता है।** दुंद... मैं और राग—दोनों (एक), ऐसा द्वंद्व जिसे छूट गया है। इसका नाम धर्म। इसका नाम धर्मी। जिसे मैं भगवान आत्मा एक स्वरूप और राग, वह दूसरी चीज़ मेरी—ऐसा द्वंद्वभाव जिसे छूट गया है। आहाहा! दूसरी चीज़ तो कहीं रह गयी। मकान और बँगले, पैसे और कीर्ति। वह तो जगत की जड़ की चीज़ है। वे जड़रूप होकर रहे हैं। यहाँ तो विकल्प जो उसका था, वह भी मैं नहीं। अनेकता, द्वंद्व अवस्था की अनेकता हरता है। विकल्प और अनेक भेद जिसने तोड़ डाले हैं। अन्तर अखण्ड आनन्द में एकाकार होता है। आहाहा! कठिन....

मति श्रुति अवधि इत्यादि विकलप मेटि.... यह मतिज्ञान और फिर श्रुतज्ञान और फिर अवधि, मनःपर्यय और केवल, ऐसे भेद को मिटाकर। कहो, धर्मी राग का विकल्प तो मिटावे, निमित्त का सम्बन्ध तो छोड़े, परन्तु ज्ञान की अवस्था के भेदों को भी मिटाकर... आहाहा! **निरविकलप ग्यान मनमैं धरतु है।** दृष्टि में, अनुभव में तो अकेला आत्मा विकल्प रहित है, उसे ग्रहण करे अर्थात् कि अनुभव करता है। भारी उल्टी बात कही, लो। इसका नाम धर्म। कोई मन्दिर में जाकर पूजा कर डालना, अपवास कर डालना, व्रत कर डालना—यह धर्म है (नहीं)। वह धर्म मन्दिर में नहीं, उपाश्रय में नहीं, स्वाध्यायमन्दिर में नहीं। आहाहा! चिदानन्द अखण्ड आत्मा वस्तुस्वरूप से एकरूप ग्रहण करके और निर्विकल्प को मन में धारता है। यह मेरा अभेदस्वरूप, वह मैं हूँ। यह सम्यग्दृष्टि का ध्येय और सम्यग्दृष्टि का आश्रय करनेयोग्य चीज़ निर्विकल्प—भेदरहित चीज़। घर-घर नाटक... इसकी महिमा में आता है न अन्त में। यह घर-घर में समयसार नाटक हो गया। उस समय तो बहुत बनारसीदास के समय में... है न अन्दर कहीं पीछे, नहीं?

मुमुक्षु : पृष्ठ ४१७।

पूज्य गुरुदेवश्री : ४१७ है।

मुमुक्षु : प्रगटी जगमांही जिनवानी।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यह।

पाण्डे राजमल्ल जिनधर्मी। इसकी (कलश की) टीका की न, यह कलशटीका। **समैसार नाटक के मर्मी।** ४१७ पृष्ठ। **तिन गिरंथ की टीका कीनी**—यह ग्रन्थ की टीका की, ऐसा। **बालबोध सुगम कर दीनी।** साधारण प्राणी को समझ में आये, ऐसी सुगम टीका है, यह कलशटीका। **इहि विधि बोध—वचनिका फैली....** इस प्रकार से सम्यग्ज्ञान—बोध की वचनिका विस्तार हुआ। **समैं पाय अध्यातम सैली....** अध्यात्म शैली प्रसार—प्रचार को प्राप्त हुई। **प्रगटी जगमांही जिनवानी। घर घर नाटक कथा बखानी....** लो। **प्रगटी जगमांही जिनवानी....** वीतराग परमात्मा की वाणी बाहर आयी अध्यात्म की **घर घर नाटक कथा....** घर-घर नाटक की चर्चा होने लगी। कहो, समझ में आया? उस समय की बात है, लो, यह जब बना तब। आहाहा! समयसार नाटक की चर्चा घर-घर में होने लगी कि यह क्या कहते हैं यह? समकित और उसका विषय ध्रुव और...

अब उन साधारण लोगों को नहीं कहना, (ऐसा) इसमें नहीं रहा। ऐसी अध्यात्म की बात साधारण लोगों को (नहीं कहना)। यह तो कहे, घर-घर में यह हुआ अब तो।

मुमुक्षु : अध्यात्म की बात घर-घर में पहुँची।

पूज्य गुरुदेवश्री : घर-घर में यह चर्चा होने लगी कि आत्मा अभेद चिदानन्द ध्रुव का आश्रय ले तो धर्म होता है। भेद का आश्रय नहीं, राग का आश्रय नहीं। ऐसी चर्चा घर-घर में होने लगी, लो। ३०० वर्ष पहले की बात है। बनारसीदास ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : परन्तु यह तो उत्तर में हुई। इस देश में तो यह अभी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो ऐसा कहे, ऐसी बात उस समय भी घर-घर में हुई, ऐसा। अभी तो काल अच्छा है, उसमें क्या? जयपुर का देखा हो, उसे खबर पड़े। एक ही बात वहाँ सवेरे से शाम बीस दिन झपट। कोई चर्चा करता हो, कोई सुनते हों, कोई विचारते हों, कोई पढ़ते हों, कोई सिखाते हों, बीस दिन की झड़ी... झड़ी थी।

मुमुक्षु : वर्षा की झड़ी।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, वर्षा की झड़ी, आता है न!

यहाँ कहते हैं, **निर्विकल्प ग्यान मनमैं धरतु है।** आहाहा! भेदरहित चीज़। राग बिना की चीज़ तो सही, परन्तु पर्याय के भेद—पर्याय / अवस्था के भेदरहित चीज़, ऐसा अभेद भगवान निर्विकल्प को ज्ञान की पर्याय में जिसने धारण किया है, माना है, जाना है, उसे धर्मी और समकिती कहते हैं और उसे निर्जरा होती है। अपवास कर डाले छह-छह महीने के और दीक्षा लेकर यह महाव्रत पालन करे, वह कहीं धर्म नहीं। वह धर्म का कारण ही नहीं। आहाहा! **इंद्रियजनित सुख दुखसौं विमुख ह्वैके।** आहाहा! इन्द्रिय के निमित्त से, कल्पना से यह ठीक और अठीक, ऐसा सुख-दु:ख संयोग, उससे तो रहित होकर स्व-सन्मुख के सुख में स्वसन्मुख रहता हुआ (और) पर से विमुख होता हुआ। आहाहा! चक्रवर्ती के राज और इन्द्र के इन्द्रासन हों, समकिती पर सुख-दु:ख की कल्पना से विमुख है।

अर्थ में ऐसा है कि **क्षायोपशमिकभाव छोड़कर निर्विकल्प केवलज्ञान को अपना स्वरूप जानता है।** यह केवलज्ञान अर्थात् त्रिकाली (स्वभाव) लेना। पर्याय का नहीं। त्रिकाल—अकेला ज्ञान, ऐसा। अकेला ज्ञान। **इन्द्रियजनित सुख-दु:ख से रुचि हटाकर...** आहाहा! शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श—इनमें कहीं ठीक है भोग में और विषय में और युद्ध में। पैसा ऐसे गिनता हो और आमदनी एक दिन की पाँच हजार, दस हजार, ऐसे-ऐसे मानो आहाहा! कहते हैं कि इन्द्रिय के सुख की कल्पना से तो धर्मी रहित है। पाँच हजार, दस हजार की बिक्री आयी हो और शाम को गिने, आहा... ऐ! और रुपये में एक आना गिने तो भी यह दस हजार में इतनी आमदनी होती है। वह मूढ़ जीव उसमें सुख मानता है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! धर्मी तो अपने आनन्द के—निजानन्द के अनुभव के समक्ष, यह सुख-दु:ख की कल्पना को छोड़ देता है, उसमें सुख है (नहीं)। उसमें दु:ख भी नहीं और सुख भी नहीं, वह तो पररूप ज्ञेय है। आहाहा! कठिन काम!

परमके रूप ह्वै करम निर्जरतु है.... आहाहा! परम अर्थात् आत्मा शुद्ध का अनुभव करके परम... परमरूप अर्थात् भगवान का अपना स्वरूप। निजस्वरूप शुद्ध चैतन्य का

अनुभव करके, **परमके रूप ह्वै....** परम के स्वरूपपने परिणमता है, ऐसा कहते हैं। **कर्मों की निर्जरा करता है,....** लो। उसे कर्म की निर्जरा होती है। परम स्वरूप भगवान आत्मा अपना, उसे अनुभव करके **परमके रूप ह्वै....** ऐसा है न? परम के स्वरूप होता है, अनुभव करता है। स्वयं शुद्ध आनन्द और ज्ञान स्वरूप, उसरूप परिणति में—अनुभव में होता है। वह समकिती जीव इस प्रकार से शुद्ध परिणति द्वारा कर्म को निर्जरित करता है, उसे कर्म गलते और टलते हैं।

सहज समाधि साधि.... यह भाषा ही सब (अलग)। स्वाभाविक आत्मा की शान्तिरूपी समाधि। यह पुण्य और पाप के विकल्प की आधि से रहित अपना आनन्दस्वरूप समाधि अर्थात् शान्ति को साधकर **सहज समाधि साधि....** उसे साधे। व्यवहार को साधे और राग को साधे, वह धर्मी नहीं। **सहज समाधि साधि....** शान्ति आत्मा की... निर्विकल्प रस प्रभु आत्मा का, उसे साधन करके। एकाग्र होकर अपने में लीन रहकर, **त्यागि परकी उपाधि....** यह विकल्प के जाल को छोड़ देता है। शुभ-अशुभ का संकल्प जाल। अपने स्वरूप का साधन आराधकर विकल्पजाल छूट जाता है। उसे 'छोड़ता है' ऐसा कहा जाता है।

आतम आराधि.... भगवान चैतन्यस्वरूप निर्मल, पुण्य-पाप के रागरहित और भेदरहित, ऐसा जो आत्मा शुद्ध ध्रुव, उसे आराधकर, उसे सेवन कर, उसमें लीनता करके, उसमें एकाग्रता करके **परमातम करतु है....** आत्मा को परमात्मा कर देता है। यह आत्मा परमात्मा हो जाता है, परन्तु इस प्रकार से। **आतम आराधि परमातम करत है....** व्यवहार आराधकर, निमित्त आराधकर परमात्मा होता है, ऐसा (नहीं है)। **आतम आराधि....** ....शब्द प्रयोग किये एक-एक में! भगवान आत्मा पवित्र शुद्ध चैतन्यवस्तु का आराधन अर्थात् कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की निर्मल दशा, स्वभाव का आश्रय करके जो प्रगट हुई, उसकी सेवा करते हुए **परमातम...** ऐसा करते हुए परमात्मा हो जाता है। यह निर्जरा अधिकार है न! वह कर्म को गलाकर परमात्मा हो जाता है। आहाहा! भारी बात सुनना भी (कठिन)। ऐई हसमुख! तूने कथा पढ़ी हो, परन्तु यह पढ़े बिना समझ में आये ऐसा नहीं। कथा में क्या था? लड़के कथायें पढ़ते हैं। उससे पूछा था कि क्या (पढ़ता है?) कथा पढ़ता हूँ, कहा। यह बड़ी पुस्तक नहीं पढ़ता, ऐसा।

अधिक उगाही जिस दिन आवे, तब बहियाँ जाँचकर कितना प्रसन्न होता है कि आज तो बहुत लोगों की उगाही आयी, हों! सात लाख में से आज तो लगभग लाख आये हैं। इसके दो हजार और इसके दो हजार और इसके दो हजार...। वे भाई जाते हैं न कानपुर, नहीं? शोभालाल। थोड़े दिन में कितने रुपये पाँच-दस लाख आवे। एक-एक परसाल में ५०-५० हजार, लाख-लाख बड़ी उगाही करे वह बड़ा... बीड़ी का व्यापारी नहीं वह शोभालाल?

मुमुक्षु : भगवानदास।

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवानदास के छोटे भाई। वह कानपुर खाते लेन-देन किया हो। जाये महीना, उसमें कितने ही लाखों उगाही के हों, वे ले आवें। अरे, परन्तु तब ऐसा लगे कैसा अच्छा, हों! आहाहा! आज दस हजार आये, उसके घण्टे बाद पाँच हजार आये और फिर पच्चीस हजार आये, आहाहा! आज तो बहुत बढ़ा। क्या बढ़ा धूल? ऐई! उगाहीवाला बराबर व्यवस्थित हो और आवे एकसाथ कुछ देने। प्रवाह हो जब तो आहाहा! धूल भी नहीं। पाप है, कहते हैं, सुन न अब! आहाहा! पाप में लिपट जाता है वहाँ तो। आहाहा! यह तो धर्मी जीव उसके अपने स्वरूप का ध्यान करके, ध्येय करके, उसमें रहकर कर्म को खिपाता है, आहाहा! और परमात्मा हो जाता है। आहाहा!

सम्यग्ज्ञान को समुद्र की उपमा। अब, भगवान आत्मा ज्ञान का समुद्र है, चैतन्य रत्नाकर है... आहाहा! उसमें इतने रत्न भरे हैं कि यदि अन्तरदृष्टि को एकाग्र करे तो उन सब रत्नों का अनुभव होता है। पुण्य-पाप के विकल्प उसमें भरे नहीं कि उनका अनुभव हो। नीचे नौवाँ (कलश)।

अच्छाच्छाः स्वयमुच्छलन्ति यदिमाः सम्वेदनव्यक्तयो,
निष्पीताखिलभावमण्डलरसप्राग्भारमत्ता इव।
यस्याभिन्नरसः स एष भगवानेकोऽप्यनेकीभवन्,
वल्गत्युत्कलिकाभिरद्भुतनिधिश्चैतन्यरत्नाकरः।।९।।

अन्तिम स्वयंभूरमण समुद्र विशाल है, ऐसा यह भगवान चैतन्य रत्नाकर स्वयंभू भगवान है। आहाहा! उस समुद्र में नीचे रेत नहीं, मात्र रत्न भरे हैं। कोई मनुष्य नहीं

इसलिए काम के नहीं, वरना तो ले आवे वहाँ जाकर। परन्तु वहाँ मनुष्य का जाना होता नहीं। देव को आवश्यकता नहीं, पशु को काम के नहीं। मछलियाँ बहुत हैं अन्दर। आहाहा! इसी प्रकार भगवान आत्मा अन्तर में अनन्त चैतन्यरत्नाकर—अनन्त-अनन्त रत्नों से (भरपूर समुद्र)। ऐसा आत्मा। कैसे बैठे इसे ? आहाहा! अद्भुत चैतन्यरत्नाकर है, ऐसा कहते हैं, देखो न, आया न! अद्भुत निधि चैतन्य रत्नाकर। आहाहा! एक विकल्प के पीछे और एक समय की पर्याय के पीछे अकेला चैतन्यरत्नाकर अनन्त गुण के मणिरत्न से डोल रहा है। गुण मणिरत्न से वह डोल रहा है अन्दर। आहाहा!

यह ऐसी महिमा! यहाँ तो एक बीड़ी में प्रसन्न हो जाये, तम्बाकू की चपटी जरा अच्छी आवे वहाँ, आहाहा... बस प्रसन्न हो जाये। एक लड़का अच्छा हो और बोलता हो, बोलता हो, ओहोहो! लड़का बहुत होशियार हुआ, हों! थोड़ी छोटी उम्र में भी बहुत हुआ। घर में कर्मी पका।

मुमुक्षु : कर्मी न, धर्मी नहीं न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : पाप करनेवाला पकेगा। आहाहा! उसमें प्रसन्न होता है, लो। आहाहा! अरे! भगवान चैतन्य रत्नाकर तू है। यह कितनी उपमा दी, देखो न!

★ ★ ★

काव्य - २०

सम्यग्ज्ञान को समुद्र की उपमा (सवैया इकतीसा)

जाके उर अंतर निरंतर अनंत दर्व,
भाव भासि रहे पै सुभाव न टरतु है।
निर्मलसौं निर्मल सु जीवन प्रगट जाके,
घटमैं अघट-रस कौतुक करतु है।।
जागै मति श्रुति औधि मनपर्यै केवल सु,
पंचधा तरंगनि उमंगि उछरतु है।
सो है ग्यान उदधि उदार महिमा अपार,
निराधार एकमैं अनेकता धरतु है।।२०।।

शब्दार्थ:-अंतर=भीतर। अघट[1]=पूर्ण। औधि (अवधि)=द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की मर्यादा लिये हुए रूपी पदार्थों को एकदेश स्पष्ट जाननेवाला ज्ञान। पंचधा=पाँच प्रकार की। तरंगनि=लहरें। ग्यान उदधि=ज्ञान का समुद्र। निराधार=स्वतन्त्र।

अर्थ:-जिस ज्ञानरूप समुद्र में अनन्त द्रव्य अपने गुण-पर्यायों सहित सदैव प्रतिबिम्बित होते हैं। पर वह उन द्रव्योंरूप नहीं होता और न अपने ज्ञायकस्वभाव को छोड़ता है। वह अत्यन्त निर्मल जलरूप आत्मा प्रत्यक्ष है जो अपने पूर्ण रस में मौज करता है तथा जिसमें मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय और केवलज्ञान ये पाँच प्रकार की लहरें उठती हैं, जो महान है, जिसकी महिमा अपरम्पार है, जो निजाश्रित है, वह ज्ञान एक है तो भी ज्ञेयों को जानने की अनेकता लिए हुए हैं।

भावार्थ:-यहाँ ज्ञान को समुद्र की उपमा दी है। समुद्र में रत्नादि अनन्त द्रव्य रहते हैं, ज्ञान में भी अनन्त द्रव्य प्रतिबिम्बित होते हैं। समुद्र रत्नादिरूप नहीं हो जाता, ज्ञान भी ज्ञेयरूप नहीं होता। समुद्र का जल निर्मल रहता है, ज्ञान भी निर्मल रहता है। समुद्र परिपूर्ण रहता है, ज्ञान भी परिपूर्ण रहता है, समुद्र में लहरें उठती हैं, ज्ञान में भी मति, श्रुत आदि तरंगें हैं। समुद्र महान होता है, ज्ञान भी महान होता है। समुद्र अपार होता है, ज्ञान भी अपार है। समुद्र का जल निजाधार[2] रहता है, ज्ञान भी निजाधार है। समुद्र अपने स्वरूप की अपेक्षा एक और तरंगों की अपेक्षा अनेक होता है, ज्ञान भी ज्ञायक स्वभाव की अपेक्षा एक और ज्ञेयों को जानने की अपेक्षा अनेक होता है।।२०।।

काव्य-२० पर प्रवचन

जाके उर अंतर निरंतर अनंत दर्व,
भाव भासि रहे पै सुभाव न टरतु है।
निर्मलसौं निर्मल सु जीवन प्रगट जाके,
घटमैं अघट-रस कौतुक करतु है॥

---

१. घट=कमती। अघट=कमती नहीं, सम्पूर्ण।

२. समुद्र का पानी रत्नों के ढेर के समान ऊँचा ढीला हुआ रहता है। चरचाश०

यह तो आनन्द के रस से कुतुहलता करता है, अनुभव करता है, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

जागै मति श्रुति औधि मनपर्यै केवल सु, पंचधा तरंगनि उमंगि उछरतु है। सो है ग्यान उदधि.... यह भगवान ज्ञान का समुद्र है समुद्र। आहाहा! **उदार महिमा अपार....** जिसके स्वभाव की शक्ति की उदारता का क्या कहना! और वह महिमा जिसकी अपार। **निराधार एकमैं अनेकता धरतु है**। आहाहा!

इसका अर्थ : **जाकै उर अंतर...** जिसके ज्ञानरूपी समुद्र में अनन्त द्रव्य अपने गुण-पर्यायसहित सदैव भासित होते हैं। आहाहा! जिसकी ज्ञान की एक समय की अवस्था में... गुण और द्रव्य की तो क्या बात करना! ज्ञान की—इस आत्मा की एक समय की दशा में लोकालोक अनन्त द्रव्य प्रतिभासित होते हैं। इतना उसका सामर्थ्य एक समय की ज्ञान की दशा का है। **जाकै उर अंतर निरंतर अनंत दर्व....** निरन्तर अनन्त द्रव्य पड़े हैं। उनका ज्ञान है न, इसलिए उसमें अनन्त द्रव्य पड़े हैं अन्दर, ऐसा कहा जाता है।

भाव भासि रहै.... द्रव्यरूप नहीं होता... तथापि अनन्त द्रव्य भासित हों, परन्तु अनन्त द्रव्यरूप होता (नहीं)। आहाहा! **भाव भासि रहै....** उनका भाव—स्वभाव भासित हो परन्तु **सुभाव न टरतु है....** अपना स्वभाव छोड़ता (नहीं)। ज्ञायकभाव में सब भाव भासित हों, परन्तु वह तो अपना भाव है। अपना स्वभाव वह कभी छोड़ता (नहीं), ऐसा चैतन्यसमुद्र अन्दर है। आहाहा! यह तो पुण्य और पाप की महिमा। इसने ऐसी क्रिया की और इसने ऐसा किया और इसने इतने अपवास किये और जो धूल और धाणी है। भगवान आत्मा चैतन्यसमुद्र, कहते हैं, उसके ज्ञान में लोकालोक भासित होने पर भी अपना स्वभाव छूटता (नहीं)। स्वभाव की अस्ति है, वह नास्ति होती नहीं, ऐसा भगवान आत्मा। आहाहा!

निर्मलसौं निर्मल सु जीवन प्रगट जाके,.... लो। **अत्यन्त निर्मल जलरूप आत्मा प्रत्यक्ष है जो अपने पूर्णरस में मौज करता है। निर्मलसौं निर्मल सु जीवन....** भगवान आत्मा ज्ञान का समुद्र, ऐसी जहाँ अन्तर्दृष्टि हुई तो निर्मल से निर्मल दशाओं की तरंग उसमें से उछलती है। यह पुण्य-पाप का व्यवहार उछलता है, ऐसा वह आत्मा नहीं।

आहाहा! प्रकाशदासजी गये? गये लगते हैं। छह महीने अभी एकान्त रहना है। यह प्रकाशदासजी कलकत्ता के, वे गये। ... पुराने व्यक्ति इनके परिचित, उनके पास। आहाहा! कहते हैं, **निर्मलसौं निर्मल सु जीवन प्रगट जाके....** भगवान चैतन्यरत्नाकर जहाँ जिसकी दृष्टि में—सम्यग्दर्शन में बैठा, उसे समय-समय में निर्मलधारा—शुद्धधारा प्रगट होती है। आहाहा! इससे क्षण-क्षण में उसे कर्म की निर्जरा होती है। वह निर्मलधारा—शुद्धभाव की निर्मल धारा। **जीवन प्रगट जाके....** वह तो प्रगट होती है, ऐसा कहते हैं। प्रत्यक्ष है। **प्रत्यक्ष जाके...** मति, श्रुत आदि की दशायें प्रत्यक्ष प्रगट होती हैं।

घटमैं अघट-रस कौतुक करतु है। आहाहा! घट... घट ऐसा जो शरीर, उसमें अघट—पूर्ण। शरीररूपी घट में भगवान अघट... अघट अर्थात् घटे नहीं, ऐसा पूर्ण स्वरूप है। उस पूर्ण स्वरूप में मौज मनाता आत्मा है। सम्यग्दर्शन होने पर—धर्म की पहली दशा होने पर। आहाहा! **घटमैं अघट-रूप रस,....** ऐसा लिया है न! पूर्ण। **अपने पूर्णरस में मौज करता है....** मौज करता है। धर्मी को दु:ख नहीं, ऐसा कहते हैं। अरेरे! ऐसे परीषह सहन करने पड़े और ऐसे दु:ख आये और इतने उपसर्ग सहन किये। यह कहीं दु:ख है धर्मी को? धर्म—स्वभाव तो आनन्द है, ऐसा भान होने पर उसे सुख की—शान्ति की साहिबी प्रगट होती है। सुखरूप दशा है, उसे दु:खरूप है (नहीं)। आहाहा!

ऐसा माने न कि भाई! धर्मी को कितना सहन करना पड़े, कितना दु:ख सहन करना पड़े, कितने परीषह—उपसर्ग... वह धर्म का स्वरूप ही नहीं। सहन कौन करे? वह तो आत्मा की निर्मलधारा द्वारा आत्मा को अनुभव करता है। **कौतुक करतु है....** मजा करता है, ऐसा कहते हैं। कौतुक का अर्थ मजा किया। **घटमैं अघट-रस....** यह शरीररूपी घट—घड़ा, उसमें अघटरस। यह घट बिना की अघट चीज़ पूर्ण पूर्णानन्द प्रभु का रस जहाँ उछलता है, आहाहा! मौज करता है, कहते हैं। आहाहा! भारी व्याख्या! वे तो कहे कि कितने व्रत पालन किये, कितने अपवास किये, संथारा कितने दिन चला। आहाहा! वह आत्मा में जहाँ अन्दर चैतन्यरत्नाकर उछलता है, मौज करते... करते उसकी दशा केवलज्ञान को प्राप्त करती है, ऐसा कहते हैं। आनन्द का अनुभव करते... करते... आहाहा! कौतुक करते... करते...

जागैं मति श्रुति औधि मनपर्यै केवल सु... 'जामैं' चाहिए है कि **जागैं? 'जागैं'** शब्द है?

मुमुक्षु : जामैं

पूज्य गुरुदेवश्री : जामैं चाहिए। **'जिसमें'** है न अन्दर देखो। **'जामैं'** चाहिए। जरा शब्द में अन्तर है। **जामैं मति श्रुति औधि मनपर्यै केवल सु,....** ऐसा चाहिए। वह तो प्रगट होता है, (ऐसा है) **जागै** का अर्थ। परन्तु उसमें, अर्थ में ऐसा है, देखो! **जिसमें... जागै मति श्रुत....** ऐसा नहीं लिया। अन्तर होगा उसमें। पहले में क्या है?

मुमुक्षु : जामैं लिया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : जामैं होगा। निर्जरा। २०, इसके पहले।

मुमुक्षु : २०वाँ पद।

पूज्य गुरुदेवश्री : २०वाँ पद। उसमें भी ऐसा लिखा है।

जागै मति श्रुत औधि.... अर्थात् दोनों के अर्थ में अर्थ, शब्द में शब्द किया है न उसमें से उन्होंने। अब इसमें देख लें। इन्होंने क्या किया है? निर्जरा है न। निर्जरा अधिकार, नहीं? १९वाँ पद है। **जामैं मति श्रुत अवधि मनपर्यै,...** और उसमें ऐसा है। इसमें और **जामैं मति श्रुत अवधि....** परन्तु वास्तव में तो **'जामैं'** चाहिए। ऐसी भाषा रचना। जिसमें मति, श्रुत, अवधि, केवल प्रगट होता है, तरंगें उठती हैं, ऐसा। समुद्र में तरंग उठे, वैसे धर्मी को मति, श्रुतज्ञान की निर्मल तरंगें उठती हैं।

सो है ग्यान उदधि, उदार महिमा अपार.... यह उदधि—समुद्र महिमा जिसकी उदार... उदार... चाहे जितना उसमें से निकालो तो भी कम न हो, इतना उदार है। **महिमा अपार...** जिसकी महिमा अपार है। निराधार है—उसे किसी का आधार नहीं। अवलम्बन नहीं, ऐसा भगवान तत्त्व है। **एकमैं अनेकता धरतु है....** वस्तु एक होने पर भी अनेक गुण और अनेक पर्यायरूप से परिणमती है। उसे यहाँ आत्मा कहते हैं और उसे निर्जरा होती है, और धर्मी कहा जाता है, लो।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ७५, ज्येष्ठ कृष्ण ७, मंगलवार, दिनांक १५-०६-१९७१
निर्जरा द्वार, काव्य २० से २४

यह निर्जरा अधिकार है। धर्म कैसे हो और धर्म होने पर अशुद्धता और कर्म कैसे गले, उसकी बात चलती है। कहते हैं कि यह भगवान आत्मा, वह तो ज्ञानस्वरूप है। यह पुण्य-पाप की क्रियायें हैं, वे कहीं स्वरूप में नहीं। देहादि तो पर है, परन्तु दया-दान-व्रत-भक्ति के परिणाम होते हैं, वे भी विभाव हैं, वे कहीं स्वभाव में नहीं। इसलिए वे स्वभाव को सहायक नहीं। निर्जरा उसे होती है कि आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप अन्तर में एकाग्र होकर जो शुद्धता प्रगट करे, उसे धर्म होता है और उसे निर्जरा होती है। वह—आत्मा तो ज्ञान का समुद्र है। चैतन्यसमुद्र की उपमा दी है न यहाँ। देखो भावार्थ में है। अर्थ का तो कल वाँचन हो गया है।

यहाँ ज्ञान को समुद्र की उपमा दी है। भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप समुद्र, उसमें तो अकेला ज्ञानजल और आनन्द स्वरूप भरा है, उसे आत्मा कहते हैं। आहाहा! ज्ञानसमुद्र है भगवान चैतन्यसमुद्र अन्दर, आहाहा! कभी नजर की नहीं। यह पुण्य और पाप के राग, उसके पीछे पूरा चैतन्यसमुद्र है, उसे आत्मा कहा जाता है। आहाहा! उस आत्मा का जो ज्ञान करे और आत्मा के आनन्द का वेदन करे, उसे निर्जरा होती है। यह अकेले अपवास-बपवास करने से निर्जरा होती है, ऐसा नहीं—ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह आयेगा तर्क २१ (पद) में आता है। आहाहा! चैतन्यस्वरूप भगवान, पुण्य-पाप के विकल्प से रहित ऐसा जो आत्मा, उसे जिसने अनुभव किया और उसका ज्ञान किया और उसकी प्रतीति की, उसे शुद्धता प्रगट होती है, उसे अशुद्धता टलती है, उसे कर्म गलते हैं।

समुद्र में जैसे रत्न आदि अनन्त द्रव्य रहते हैं। समुद्र में जैसे अनन्त रत्न हैं। उसी प्रकार **ज्ञान में अनन्त द्रव्य प्रतिबिम्बित होते हैं।** क्या कहते हैं? भगवान ज्ञानस्वभाव में जगत की चीजें अनन्त जानने में आती हैं, वह अनन्त रत्न है उसमें? आहाहा! परन्तु **समुद्र रत्नादिरूप नहीं हो जाता।** समुद्र रत्नरूप नहीं होता। उसी प्रकार भगवान आत्मा

ज्ञान में अनन्त ज्ञेयों को जाने—राग, शरीर आदि, तथापि राग और शरीररूप होता नहीं। वह तो चैतन्यसमुद्र है। ऐसा आत्मा, उसे धर्मात्मा कहा जाता है और उसे धर्मी कहा (जाता है)। आहाहा! भारी सूक्ष्म बातें! समुद्र में जैसे रत्न आदि अनन्त द्रव्य... स्वयंभूरमण समुद्र है न अन्तिम। वहाँ रेत नहीं, अकेले रत्न हैं। अन्तिम है न स्वयंभूरमण समुद्र। अपने जम्बूद्वीप, फिर लवण... ऐसा करते हुए अन्त में स्वयंभूरमण समुद्र है। भगवान कहते हैं कि उसमें अनन्त रत्न की राशि पड़ी है रेत के बदले। परन्तु वहाँ कोई मानव-बानव नहीं कि कोई वहाँ लेने जाये।

मुमुक्षु : ....पकड़ में आ जाये तो।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह उसका बाप जाये नहीं, वह तो कहाँ जाये? कौन जाये वहाँ? धूल। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि जैसे समुद्र में अनन्त रत्न हैं, उसी प्रकार भगवान ज्ञान समुद्र प्रभु अनन्त द्रव्यों को जाने, यह जानना, वह उसमें रत्न है। किसी का कर दे और किसी से आत्मा में कुछ हो, ऐसी चीज़ नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : यह.... उसमें गुरु कर दे।

पूज्य गुरुदेवश्री : कोई गुरु करे नहीं और गुरु का देव भी उसे करे नहीं। यहाँ तो कहते हैं, उसी पर्याय भी करे नहीं। यहाँ तो यह कहते हैं, द्रव्य का आश्रय करे तो कल्याण होता है। ऐसी बहुत सूक्ष्म बात है! जैन वीतरागमार्ग धर्म का मार्ग बहुत सूक्ष्म है, सूक्ष्म है। जैसे समुद्र रत्नरूप नहीं होता। उसका पानी कहीं रत्नरूप होता है? इसी प्रकार ज्ञान, ज्ञेयरूप होता नहीं। जानने में आवे कि यह कुछ चीज़ है। यह शरीर है, यह पैसा है, यह वाणी है, यह कर्म है। वह तो ज्ञान का स्वभाव है कि उसमें अनन्त को जाने, तथापि वह अनन्तरूप होता (नहीं)। आहाहा! उसे आत्मा कहते हैं। ऐसी दृष्टि जिसे अन्तर में लागू पड़ी, उसे आत्मा कहते हैं।

समुद्र का जल निर्मल (रहता है),.... ऐसा **ज्ञान भी निर्मल (रहता) है।** ज्ञानस्वरूप भगवान... शरीर, वाणी, मन आदि अनन्त पदार्थ, वे उनके (स्वयं के) होकर रहे हुए हैं। उन्हें जानने पर भी यह उसका ज्ञान तो निर्मल है। चैतन्यस्वरूप निर्मल... निर्मल...

निर्मल पर के कारण मैल है और पर को जाना, इसलिए मैल है, ऐसा है (नहीं)। परिपूर्ण रहता है। ज्ञानस्वभाव परिपूर्ण ही है। भले पर्याय में अपूर्णता हो, परन्तु वस्तुरूप से तो परिपूर्ण ही है। समुद्र परिपूर्ण, इसी प्रकार भगवान आत्मा परिपूर्ण चैतन्यस्वरूप अखण्ड अभेद परिपूर्ण है। आहाहा!

समुद्र में लहरें उठती हैं.... समुद्र में तरंग उठती है। उसी प्रकार इस ज्ञान में मति-श्रुतज्ञान आदि तरंग उठती है। सम्यग्ज्ञान की पर्याय की तरंग उठती है। राग आदि उठे, वह आत्मा में नहीं। **समुद्र अपार होता है।** ज्ञान महान है। समुद्र भी महान है, उसी प्रकार यह ज्ञान महान अनन्त... अनन्त... अनन्त... भले इतने क्षेत्र में हो, परन्तु अनन्त... अनन्त को जाने, ऐसा महान तत्त्व है। समुद्र अपार है, इसी प्रकार ज्ञान अपार है। उस ज्ञान का कोई पार नहीं। अनन्त... अनन्त को जानने पर भी अनन्त... अनन्तगुणा है, तो भी जाने, ऐसी ज्ञान की अन्तरस्वरूप की अपार महिमा है।

समुद्र का जल निजाधार रहता है। यह जरा आधार डाला है इन्होंने। यह लवणसमुद्र है न भाई! वह सोलह हजार योजन ऐसे ऊँचा है ऐसा। समुद्र से ऐसे वह चढ़ी हुई है, शिखा ऊँची हुई है पानी की। समुद्र के—लवण समुद्र के मध्य में दस हजार योजन इतने में शिखा ऊँची हुई है। इसी प्रकार निजाधार—ऐसे का ऐसा रहा है अनादि से। लवण समुद्र है न उसके मध्य में, भगवान कहते हैं, शिखा ऊँची हुई है ऐसी पानी की, हों ऊँची, कोई आधार नहीं होता। जम्बूद्वीप... में है। उसमें भी है शास्त्र में।

समुद्र का जल देगड़ी ऐसे चढ़ी हुई ऊपर सोलह-सोलह हजार ऊँची, सोलह हजार योजन, हों! उसे कोई आधार नहीं। इसी प्रकार चैतन्य भगवान ज्ञान की अन्दर में अनन्त (तरंग) उछले, वह किसी के आधार से नहीं। आहाहा! ज्ञान निजाधार... **समुद्र अपने स्वरूप की अपेक्षा से एक....** समुद्र एक है ऐसे अपनी अपेक्षा से और तरंग की अपेक्षा से अनेक। इसी प्रकार भगवान आत्मा ज्ञायकभाव ध्रुवभाव की अपेक्षा से एक, परन्तु उसकी दशायें सम्यग्ज्ञान—मति, श्रुत, अवधि हो, ऐसे तरंग की अपेक्षा से आत्मा अनेक कहा जाता है। आहाहा! पहले तो समझना ही कठिन। इस ज्ञान के भान बिना जितनी क्रिया—कष्ट सब करे, वह सब रण में शोर मचाने जैसा है। यह कहेंगे अब।

ज्ञानरहित क्रिया से मोक्ष नहीं होता। यह आत्मा ऐसा है अन्दर में, ऐसे अन्तर

अनुभव बिना, उसके ज्ञान के आनन्द के भान बिना चाहे जितनी क्रियायें करे, महाव्रत पालन करे, अपवास करे, मर जाये, सूख जाये परन्तु उसे धर्म नहीं। आहाहा! यह कहते हैं, देखो! १०वाँ कलश। नीचे कलश है।

क्लिश्यन्तां स्वयमेव दुष्करतरैर्मोक्षोन्मुखैः कर्मभिः,
क्लिश्यन्तां च परे महाव्रततपोभारेण भग्नाश्चिरम्।
साक्षान्मोक्ष इदं निरामयपदं संवेद्यमानं स्वयं
ज्ञानं ज्ञानगुणं विना कथमपि प्राप्तुं क्षमन्ते न हि।।१०।।

इसका पद। यह था कलश।

★ ★ ★

काव्य - २१

ज्ञानरहित क्रिया से मोक्ष नहीं होता (सवैया इकतीसा)

केई क्रूर कष्ट सहैं तपसौं सरीर दहैं,
धूम्रपान करैं अधोमुख ह्वैकै झूले हैं।
केई महाव्रत गहैं क्रियामैं मगन रहैं,
वहैं मुनिभार पै पयारकैसे पूले हैं।।
इत्यादिक जीवनकौं सर्वथा मुकति नांहि,
फिरैं जगमांहि ज्यौं वयारिके बघूले हैं।
जिन्हके हियमैं ग्यान तिन्हिहीकौ निरवान,
करमके करतार भरममैं भूले हैं।।२१।।

शब्दार्थः-केई=अनेक। क्रूर=मूर्ख। दहैं=जलावें। अधोमुख ह्वै=नीचे को सिर और ऊपर को पैर करके। वयारि=हवा। निरवान=मोक्ष।

अर्थः-अनेक मूर्ख कायक्लेश करते हैं, पंचाग्नि तप आदि से शरीर को जलाते हैं, गाँजा, चरस आदि पीते हैं, नीचे को सिर और ऊपर को पैर करके लटकते हैं, महाव्रत ग्रहण करके तपाचरण में लीन रहते हैं, परीषह आदि का कष्ट उठाते हैं; परन्तु

ज्ञान के बिना उनकी यह सब क्रिया, कण रहित पयाल के गट्ठे के समान निस्सार है। ऐसे जीवों को कभी मुक्ति नहीं मिल सकती, वे पवन के बघूले के समान संसार में भटकते हैं–कहीं ठिकाना नहीं पाते। जिनके हृदय में सम्यग्ज्ञान है, उन्हीं को मोक्ष है; जो ज्ञानशून्य क्रिया करते हैं, वे भ्रम में भूले हुए हैं।।२१।।

काव्य-२१ पर प्रवचन

कोई क्रूर कष्ट सहैं तपसौं सरीर दहैं.... अपवास आदि से शरीर को जलाये। बहुत कष्ट सहे। **धूम्रपान करैं अधोमुख ह्वै कै झूले हैं। केई महाव्रत गहैं....** महाव्रत धारण करे। **क्रियामें मगन रहै....** यह महाव्रत की क्रिया—अहिंसा, सत्य और उसमें मग्न रहे। परन्तु मूढ़ है, कहते हैं। है या नहीं? देखो। **केई महाव्रत गहैं क्रियामें मगन रहै, वहै मुनिभार....** मुनि का भार वहन करे। ऐसे चलना और ऐसे खाना और ऐसे पीना, वह सब क्रियायें राग की हैं। **वहै मुनिभार। इत्यादिक जीवनकौं सर्वथा मुकति नांहि....** ऐसे जीव को धर्म बिल्कुल होता (नहीं)। आहाहा! **इत्यादिक जीवनकौं....** यहाँ '**सर्वथा**' शब्द भारी प्रयोग किया है। कुछ तो होता है या नहीं, पंच महाव्रत पाले और अपवास करे तो? भगवान! सूक्ष्म चीज़ है, भाई! जरा भी लाभ नहीं होता आत्मा को। क्योंकि सब राग की क्रियायें हैं। आहाहा!

इत्यादिक जीवनकौं सर्वथा मुकति नांहि, फिरैं जगमांहि ज्यौं वयारिके बधूले हैं। बबूलिया का तिनका... बबूलिया का तिनका। बबूलिया होता है न वंटोळियो—पवन, उसका तिकना, उसी प्रकार ऐसे महाव्रत के धारक, क्रियाकाण्ड करनेवाले, परन्तु उससे रहित आत्मा आनन्द और ज्ञान है, उसका जिसे भान नहीं, अनुभव नहीं, आत्मा के ज्ञान का वेदन नहीं, अकेली क्रियाकाण्ड में रचे-पचे हैं। वे सब बबूलिया के तिनके की भाँति जगत में चौरासी में भटकेंगे। है या नहीं उसमें? कठिन काम है, भाई! अन्तर चैतन्यस्वरूप, वह तो ज्ञान का सागर है। उस ज्ञान में ज्ञान की क्रिया अन्दर हो, वह मोक्ष का कारण है। **फिरै जगमांहि ज्यौं....** स्पष्टीकरण करेंगे। **जिन्हके हियमैं ग्यान तिन्हिहीकौं निरवान....** जिसके अन्तर में (ऐसा है कि) ज्ञानस्वरूप मैं हूँ। मैं यह पुण्य-पाप की

क्रिया के राग से अत्यन्त भिन्न हूँ। उसका **निरवान, करमके करतार भरममैं भूले हैं।** स्पष्टीकरण अब।

केई मूरख कष्ट सहै.... कायक्लेश करे, अपवास करे, रस छोड़े, पंचाग्नि तप करे। **तपसौं शरीर दहै....** पंचाग्नि करे न यह बाबा-बाबा। कण्डे-बण्डे रखकर बैठे रहें। गांजा, चरस आदि पीवे, कोई नीचे को सिर रखकर ऊपर को पैर करे, महाव्रत ग्रहण करके तपाचरण में अहिंसा आदि महाव्रत पालन करे और अनशन, ऊनोदरी आदि तप करे, तो भी उसे धर्म नहीं। अरे, गजब बात! यह तो सब पहले से सीखे होते हैं। ...भाई! यह शरीर की क्रिया तो जड़ है। परन्तु अन्दर विकल्प उठे कि यह दया पालन करूँ, व्रत पालन करूँ और अपवास करूँ, वह सब विकल्प भी राग-विकार है। उसके विकल्प बिना का चैतन्यतत्त्व है अन्दर आनन्द प्रभु, उसका भान करके आत्मा के आनन्द का वेदन करे, वह क्रिया धर्म की और मोक्ष का कारण है। उसे निर्जरा होती है। ऐसे अपवास—बपवास करे और महाव्रत धारे, उसे जरा भी निर्जरा होती नहीं। सुना, यह क्या कहते हैं यह ? यह सब मुँडाकर बैठे और वह चला गया उसमें प्रकाशदास। आहाहा!

कहते हैं, **केई महाव्रत गहैं क्रियामैं मगन रहैं....** बस, ऐसा खाना, ऐसा नहीं खाना, ऐसा पीना, ऐसा चलना, ऐसा देखकर ऐसे चलना। परन्तु वह तो सब क्रिया राग की है। **वहै मुनिभार...** परीषह आदि कष्ट उठावे। मुनिभार परीषह सहन करे। अपवास लगा हो, ऐसी तृषा (लगने पर भी) पानी की बूँद ले नहीं और समभाव से सहन करे। परन्तु वह है सब कषायभाव, वह सब रागभाव है। भगवान ने जो आत्मा देखा रागरहित चीज़ अन्दर आनन्द और ज्ञान की मूर्ति, उसका जिसे अन्तर में भान नहीं, सम्यग्दर्शन नहीं, सम्यग्ज्ञान नहीं, उसकी यह सब क्रियायें निरर्थक है। आहाहा! कुछ भी धर्म का कारण और निर्जरा हो, ऐसी वह चीज़ नहीं है। आहाहा!

इत्यादिक जीवनकौं सर्वथा मुकति नांहि.... है ? यह **उनकी यह सब क्रिया, कणरहित पयालके गट्ठे के समान निस्सार है।** यह छिलके... छिलके... कूस का। चावल नहीं होते अकेले (छिलके), अकेले छिलके।

मुमुक्षु : छिलके कूटे।

पूज्य गुरुदेवश्री : छिलके कूटे। यह तो सब क्रियायें राग है, विकार है, विभाव है। आहाहा! छिलके हैं, कहते हैं। अन्दर का रागरहित भगवान ज्ञानसमुद्र प्रभु, उसके अन्तर का अनुभव और दृष्टि तो नहीं। इसलिए यह क्रियावालों को जरा भी धर्म और मुक्ति जरा भी नहीं। आहाहा! भारी कठिन पड़े यह।

जिन्हके हियमैं ग्यान,.... लो। है? **(ऐसे जीवों को) कभी मुक्ति नहीं मिल सकती, वे पवन के बधूले के समान संसार में भटकते हैं—कही ठिकाना नहीं पाते। जिनके हृदय में सम्यक्ज्ञान....** इन पुण्य-पाप की क्रियाओं के राग से भी चैतन्य द्रव्यस्वभाव वस्तु भिन्न है। चावल है न, चावल। चावल। उसे लालिमा होती है, लालीश, ऊपर लालीश। चावल में नहीं लाल रंग?

मुमुक्षु : हाँ, लाल होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : छिलका है, लाल रंग है और चावल—तीनों हैं। छिलका जो ऊपर का यह धान का, वह छिलका कहीं चावल नहीं। इसी प्रकार चावल में वह लाल रंग होता है, वह कहीं चावल नहीं। इसी प्रकार यह शरीर है, वह छिलका है और अन्दर दया-दान-व्रत-भक्ति के परिणाम हों, वे लाल रंग हैं। उस रंग बिना की चीज़ अन्दर जो चावल है निर्मलानन्द प्रभु, उसका भान और अनुभव करना, उसका नाम धर्म और निर्जरा है। आहाहा! कठिन काम, भाई!

मुमुक्षु : तपसा निर्जरा नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह यह तपस्या। आहाहा! अन्तर चैतन्य भगवान पूर्ण ज्ञान से भरपूर, उसकी अन्तर्दृष्टि करने से, पुण्य-पाप के विकल्प से भिन्न पड़ने पर, निर्विकल्प चीज़ की जो दृष्टि और अनुभव हो, उसका नाम निर्जरा और धर्म कहा जाता है। आहाहा! कठिन काम!

है? **जिनके हृदय में सम्यग्ज्ञान है, उन्हीं को मोक्ष है। जो ज्ञानशून्य क्रिया करते हैं, वे भ्रम में भूले हैं।** अन्तर ज्ञानस्वरूप भगवान आनन्द की मूर्ति का अन्तर में अनुभव का भान नहीं और यह अकेले क्रियाकाण्ड में जुड़े हैं, वे भ्रम में भूले हैं, वे अज्ञान से भूले हैं। आहाहा! सज्झाय में भी आता है। 'द्रव्य संयम से ग्रैवेयक पायो, फेर पीछो

पटक्यो।' आत्मा सम्यग्दर्शन... महाव्रत का विकल्प, वह राग की क्रिया राग है, वह बन्धन है, जहर है, दोष है। उससे रहित प्रभु चैतन्यमूर्ति आनन्द का धाम, अतीन्द्रिय आनन्द का सागर आत्मा की अन्तर्दृष्टि करके ज्ञान में ज्ञान की शक्ति में से ज्ञान की व्यक्तता, शान्ति की, आनन्द की (व्यक्तता) प्रगट करना, उसका नाम निर्जरा और धर्म है। आहाहा! कठिन बात है। अभी कान से सुना न हो। कहो देवचन्दजी! ऐसी बात है। भाई! प्रभु का मार्ग यह है। आहाहा! कहा न, देखो न!

ज्ञानशून्य... ज्ञान अर्थात् यह बातें करें, वह ज्ञान नहीं। अन्तर जो आत्मा ज्ञानस्वरूप है, उसे ज्ञान में वेदन करना। ज्ञान को ज्ञान में स्वसंवेदन (अर्थात्) प्रत्यक्ष होकर, राग और मन का सम्बन्ध छूटकर, ज्ञान ज्ञान को वेदे और उसे अनुभव करे, उसका नाम ज्ञान। ऐसे ज्ञान की शून्यक्रिया और चैतन्यमूर्ति का स्वसंवेदन का भान नहीं होता, वह क्रिया भ्रम में भूले हैं। भ्रमणा में भूले हुए चार गति में भटकनेवाले हैं। आहाहा! भारी कठिन काम परन्तु लोगों को। अब, व्यवहार लीनता का परिणाम। अज्ञानी अनादि से व्यवहार में लीन है।

★ ★ ★

काव्य - २२

व्यवहार-लीनता का परिणाम (दोहा)

लीन भयौ विवहारमैं, उकति न उपजै कोइ।
दीन भयौ प्रभुपद जपै, मुकति कहासौं होइ?।।२२।।

शब्दार्थ:-लीन=मग्न। उकति=भेदज्ञान। प्रभुपद जपै=भगवत चरण जपता है।

अर्थ:-जो क्रिया में लीन है, भेदविज्ञान से रहित है और दीन होकर भगवान के चरणों को जपता है, और इसी से मुक्ति की इच्छा करता है सो आत्मानुभव के बिना मोक्ष कैसे मिल सकता है?।।२२।।

काव्य-२२ पर प्रवचन

लीन भयौ विवहारमैं, उकति न उपजै कोइ।
दीन भयौ प्रभुपद जपै, मुकति कहासौं होइ?॥२२॥

आहाहा! **लीन भयौ विवहारमैं....** क्रिया में लीन बस। यह खाना और यह नहीं खाना और यह अपवास किया और तप किया और यह अहिंसा पालन की और सत्य बोलना तथा शरीर से ब्रह्मचर्य पालन किया, ऐसा जो विकल्प, वह तो विकल्प है, राग है। वह क्रिया में लीन अज्ञानी है। **उकति न उपजै कोइ।** उकति अर्थात् भेदज्ञान—विवेक। परन्तु वह विकल्प से भिन्न चीज़ भगवान आत्मा है, उसकी उसे खबर (नहीं)। **उकति न उपजैं...** अर्थात् भेदज्ञान का भान नहीं, ऐसा कहते हैं। भारी कठिन ऐसा। कहे, ऐसा वीतराग मार्ग! गाँव में तो सुना न हो, उसमें से शहर में आये तो शहर में भी... क्यों देवडिया में कहाँ था यह?

मुमुक्षु : कलकत्ता घूमकर आये।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो राजकोट अब वहाँ भी नहीं था। आहाहा! राजकोट में गुजर गयी थी न वृद्धा। आठ दिन रहे थे, नहीं? खबर है न! कान्ति की माँ। आठ दिन रही थी। असाध्य हुआ था। खबर है न? बहुत वर्ष हुए सब बात... असाध्य थी आठ दिन। वह रहती थी इसकी माँ। आहाहा!

अरे! आत्मा क्या चीज़ है? परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव ऐसा फरमाते हैं कि भाई! तेरा स्वभाव तो आनन्द और ज्ञान है। उसे अनुभव किये बिना और जाने बिना जो ऐसी क्रिया—कष्ट करे, वे भ्रम में भूले हैं। आहाहा! **लीन भयौ विवहारमैं...** दो बातें की। एक विकल्प जो होता है, उसमें लीन है और उससे भिन्न है, उसका भान नहीं, ऐसा कहते हैं। यह तो तत्त्व की बात है। अनन्त काल से इसने की नहीं। नौवें ग्रैवेयक अनन्त बार गया दिगम्बर जैन मुनि होकर, तो भी विकल्प की क्रिया 'वह मेरी' (ऐसा) मानकर रहा, इसलिए मिथ्यादृष्टि है। **लीन भयौ** विकल्प में।

देखो, विशिष्टता कैसी है कि सम्यग्दृष्टि है, वह तो व्यवहार से मुक्त है। धर्मी उसे

कहते हैं कि जो आनन्दस्वरूप आत्मा ज्ञानानन्द की मूर्ति, उसका जिसे अन्तर में अनुभव और भान है, वह विकल्प की क्रिया से भिन्न है। उसे समकिती और धर्मी कहते हैं। तब अज्ञानी विकल्प में लीन है। ज्ञानी विकल्प से भिन्न है, अज्ञानी विकल्प में लीन है। न्याय समझ में आया? यह तो सार में सार मक्खन की बात है। आहाहा! इसने कभी सुनी नहीं। ऐसे का ऐसा जीवन बीता अनन्त काल। दुकान के ऊपर भाई वाँचते थे न यह चार पुस्तकें सज्झायमाला। उसमें यह तब ख्याल आता था कि ... यह क्या कहते हैं? यह शब्द आता है उसमें।

'द्रव्य संयम से ग्रैवेयक पायो, फेर पीछो पटक्यो।' चार पुस्तक सज्झायमाला आती है। सज्झायमाला पढ़ी है? पढ़ी नहीं होगी। एक-एक सज्झायमाला में २००-३०० सज्झाय पाठ है। वह अपने बालाभाई छगन अहमदाबादवाले। वह मैं दुकान के ऊपर वहाँ सब मँगाता था और दुकान के ऊपर पढ़ता था। चार पुस्तकें हैं, यहाँ हैं। वच्छराजभाई के... चार सज्झायमाला—पहला भाग, दूसरा भाग, तीसरा भाग, चार भाग। एक-एक में २००-३०० सज्झाय है। दुकान के ऊपर निवृत्ति (थी)। वह सब पढ़ी हुई। उसमें एक यह शब्द आया तब। यह तो ६२-६४ वर्ष पहले की बात है। ५८ तो यह हुए। कि 'द्रव्य संयम से ग्रैवेयक पायो।' सज्झायमाला देखी भी नहीं होगी तुमने, कान्तिभाई! वह है या नहीं यहाँ? ऐई! देखो तो सही, इसे नजर में तो पड़े।

यह वहाँ रखी है। उसमें एक नहीं, हों! अभी आयी नहीं। देवचन्दजी! श्वेताम्बर में चार सज्झायमाला पुस्तक आती हैं। देखो, यह चार। यह चार। एक-एक में... यह सज्झायमाला है चार। बहुत... कितना अंक बहुत। यह सब पढ़ी हुई दुकान के ऊपर। यह चार है। उसमें से तो एक, दो इकट्ठी आ गयी है। एक नहीं आयी।

मुमुक्षु : एक के दो भाग।

पूज्य गुरुदेवश्री : कहा था। उसमें एक जगह ऐसा आया वहाँ। वह पढ़ा वहाँ दुकान के ऊपर, हों! द्रव्य संयम से ग्रैवेयक पायो। कहो, यह क्या होगा? अर्थात् कि आत्मा के सम्यग्दर्शन और अनुभव बिना यह क्रियाकाण्ड करके नौवें ग्रैवेयक गया परन्तु वापस पटका।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : उसमें आता है।

मुमुक्षु : यही द्रव्यसंयम।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह द्रव्यसंयम। यह महाव्रत पाले, वह सब क्रियाकाण्ड द्रव्यसंयम है। पुण्य बँधे मिथ्यात्वसहित। आहाहा! मिथ्यात्व तो साथ में पड़ा है न! रागक्रिया मेरी है, यह महाव्रत के परिणाम मेरे हैं और उनसे मुझे लाभ होता है, यह (मान्यता) मिथ्यात्व है।

मुमुक्षु : स्वर्ग तक तो पहुँच जाये न!

पूज्य गुरुदेवश्री : मक्खियाँ उतर जाये तब। क्या कहा? यहाँ से मक्खी लकड़ी पर चली। हमारे तो कम हो गयी। इसी प्रकार यह स्वर्ग में गया अनन्त बार गया, वह नौवें ग्रैवेयक अनन्त बार गया।

मुमुक्षु : वहाँ की तो बात चलती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसके लिये इसमें है.....

और अपने यहाँ है, छहढाला में आता है। 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो, पै निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो।' छहढाला में आता है। छहढाला है न। भाई को पूरा कण्ठस्थ है। हमारे नवनीतभाई हैं न, नवनीतभाई। नवनीत सेठ है न अपने यहाँ के प्रमुख। उन्हें पूरी छहढाला कण्ठस्थ है और छहढाला में बहुत पैसा खर्च करते हैं। बहुत वर्षों... कितनी पुस्तकें? अपने क्या? व्याख्यान को भाई उसके?

मुमुक्षु : हाँ, व्याख्यान।

पूज्य गुरुदेवश्री : व्याख्यान देते हैं। मुफ्त बहुत बाँटते हैं, यह पत्रवालों को बाँटते हैं। मुफ्त देते हैं बहुत। नवनीतभाई को बहुत रस है। नवनीतभाई है न यह नवनीतभाई, उन्हें यह छहढाला पूरी कण्ठस्थ है।

उसमें यह है कि 'मुनिव्रत धार...' अनन्त बार तूने मुनिपना धारण किया है। और नौवें ग्रैवेयक में गया। यह ग्रीवा की जगह पासडा है नौ ग्रैवेयक देव के। वहाँ अनन्त बार उत्पन्न हुआ, परन्तु आत्मज्ञान—आत्मा राग से रहित, विकल्प से रहित है, उसके भान बिना चौरासी के अवतार में वापस पटका। बाबूभाई कहे कि परन्तु स्वर्ग तो

पहुँचेंगे। ऐसा कहते हैं। वह तो धूल थी। तुम्हारी यह सेठाई की धूल, इसी प्रकार वह सब धूल है वहाँ। आहाहा!

मुमुक्षु : धूल के प्रकार अलग।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल का प्रकार अलग। ऊँची धूल, उसमें क्या है? वहाँ से पटके। वहाँ से हुआ मनुष्य, मनुष्य मरकर ढोर और ढोर मरकर निगोद। आहाहा! बापू! चीज़—आत्मा क्या चीज़ है। वह पुण्य-पाप के विकल्प तो आस्रवतत्त्व है, बन्धतत्त्व का कारण है। आहाहा! उसकी खबर कहाँ है इसे? आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं, देखो! देखो, इसमें बहुत है ऐसी बातें इसमें। द्रव्य संयम से ग्रैवेयक पायो। मैंने कहा, यह क्या कहते हैं? और यही शब्द मैंने मेरे भाई को कहा था। यह ७२ की चर्चा चली न, पुरुषार्थ की, पाळियाद में। भगवान ने देखा, वह होगा, यह बड़ी चर्चा चली थी, (संवत्) १९७२ के वर्ष, ७२ में। हमारे गुरु थे हीराजी महाराज और मूलचन्दजी थे। बड़ी चर्चा मूलचन्दजी के साथ, हों! हीरालालजी तो बेचारे भद्रिक थे। ७२ की बात है। ५५ वर्ष हुए। 'भगवान ने देखा, वैसा होगा, हम कुछ पुरुषार्थ नहीं कर सकते' ऐसा बारम्बार बोला करें मूलचन्दजी। कहा, ...यह वाक्य किसके घर के? भगवान के ऐसे वाक्य होते हैं? बड़ी (चर्चा)। यह क्या कहलाता है, भाई? तुमको तो बताया था न! सरवा... सरवा। सरवा है पाळियाद और वींछिया के बीच। भाई आये हैं।

मुमुक्षु : यह तो मैंने देखा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हं, देखा है। आवास बताया था। उस आवास में यह विवाद हुआ था।

मुमुक्षु : ....सामने था।

पूज्य गुरुदेवश्री : ७२ के फाल्गुन शुक्ल तेरस। यह बड़ी चर्चा उठी। कहा, भगवान की वाणी ऐसी नहीं होती। भगवान की वाणी तो... जिसे केवल(ज्ञान) है, वह आत्मा केवली को जाने और केवली ने देखा वैसा होगा, ऐसा जिसे बैठे, उसे सम्यग्दर्शन होता है, उसे भव-बव होते नहीं।

यह तो ७२ की बात है। ५५ वर्ष पहले की बात है। ऐसा होता नहीं, कहा। फिर

मैं तो सवेरे उठकर गया था न भाई, दूसरे दिन। परन्तु उसमें यह याद आया कि उस समय में हीराजी महाराज इतना बोले थे, हों! 'भाई! उतावल होती है, हों! यह कहीं ऐसी भूल नहीं।' कहा, नहीं। नौवें ग्रैवेयक में गया तो भी मूल भूल रह गयी है, कहा। तब यह कहा था, हों! ७२ की बात है। ७२ के फाल्गुन शुक्ल चौदस के सवेरे। कानियाद है वह कानियाद। पाळियाद के पास है कानियाद। छोटाभाई मुम्बई में नहीं? कानियादवाले गृहस्थ हैं। केशवजी छोटाभाई। अब गुजर गये। कानियादवाले हैं। कानियादवाले को तुम पहिचानते हो न? कानियाद बोटाद के पास है। मुम्बई में उनका बड़ा (नाम), बड़ा पैसेवाला। वह वहाँ फिर एक दिन ऐ... परन्तु हीराजी महाराज ने इतना कहा, 'शान्त होओ।' मैंने कहा, यह सुनना मुझे पोसाता नहीं, यह सम्प्रदाय पोसाता नहीं, यह बात भी पोसाती नहीं। भगवान जिसे ज्ञान में बैठे, उसे भव हो, यह बात नहीं, कहा।'

इसलिए उन्होंने इतना कहा कि नौवें ग्रैवेयक में गया... नहीं, इतना कहा कि यह भूल कहीं बड़ी नहीं है। प्रतिमा नहीं मानता हो वह भूल...

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह एक भूल है। मूर्ति न माने तब तो मैंने कहा, यह नहीं। नौवें ग्रैवेयक में गया तब ऐसी भूल रह गयी है, कहा, शल्य रही गयी है अन्दर में। भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर... वहाँ भी प्रश्न हुआ था जयपुर में। एक व्यक्ति खड़ा हुआ। अनुकूल था। 'महाराज! क्रमबद्ध का स्पष्टीकरण आज तो करो। दिन चले जाते हैं।' लोग तो ३००० लोग। क्रमबद्ध (अर्थात्) समय-समय में जो पर्याय जहाँ होनेवाली है वह होती है, इसका अर्थ क्या? मैंने कहा, सुनो अब तब। क्रमबद्ध अर्थात् कि आत्मा ज्ञायक चिदानन्दस्वरूप है, ऐसा जिसे अन्तर में भान हुआ, वह राग और पर का कर्ता नहीं, ऐसा अकर्तापना उसे प्रगट हुआ। इसलिए उसे जिस समय में जो पर्याय होती है, उसका जाननेवाला रहता है, वह कर्ता नहीं होता, यह क्रमबद्ध का तात्पर्य है।

मुमुक्षु : ज्ञाता हो यह तात्पर्य।

पूज्य गुरुदेवश्री : भाई थे या नहीं? प्रश्न किया था। फिर मैंने कहा, अब यह प्रश्न... यह क्या खबर पड़े। परन्तु फिर तो अनुकूल था लोगों को। महाराज! मैंने तो

जानने के लिये कहा था। क्रमबद्ध अर्थात् क्या? कहा, जिस समय में भगवान ने देखा, उस समय में वहाँ पर्याय होनेवाली जड़—चैतन्य की, फेरफार तीन काल में नहीं होता। परन्तु यह किसे? कि जिसे आत्मा दृष्टि में आया ज्ञायकमूर्ति। वह राग से पार, निमित्त से पार ऐसी मेरी चीज़ है, ऐसा जिसे ज्ञायक का भान हुआ, वह ज्ञाता हो गया। वह राग का कर्ता रहा नहीं। दया-दान के विकल्प आवें, परन्तु उसका कर्ता धर्मी नहीं। उसे क्रमबद्ध का ज्ञान सच्चा हो। बातें करे (कि) होना हो वह होगा और दृष्टि हो राग के ऊपर, वह दृष्टि सच्ची नहीं, कहा। सूक्ष्म विषय है न यह! क्रमबद्ध का सूक्ष्म विषय है। एकदम नया है न! यह था नहीं न!

यहाँ कहते हैं, ओहो! भगवान आत्मा आनन्दस्वरूप प्रभु ज्ञान का सागर, उसकी दृष्टि छोड़कर जो कोई दया-दान-व्रत-भक्ति के परिणाम में लीन है, वह मूर्ख भेदविज्ञान से रहित है, उसे सम्यग्दर्शन नहीं। आहाहा! राग में लीन, उसे राग से भिन्न का भान (नहीं), ऐसा कहते हैं। आहाहा! कठिन बात, भाई!

लीन भयौ विवहारमैं, उकति न उपजै कोई... '**उकति**' अर्थात् राग से भिन्न मेरी चीज़ है, अखण्डानन्द प्रभु शुद्ध चैतन्य हूँ, ऐसा क्रिया में लीनवाले को स्वरूप का भान रहता नहीं। स्वरूप का भान होता नहीं। **दीन भयौ प्रभुपद जपै....** आहाहा! हे भगवान! प्रभु! मुझे तिराना, हों! ऐसी दीनता करे, वह मूढ़ है। प्रभु कहाँ तिरा दे, ऐसा है। प्रभु तो पर है। दीनता... **दीन भयौ प्रभुपद जपै....** दीन होकर... भगवान... भगवान... भगवान... भगवान... भगवान... भगवान... हे भगवान... हे भगवान... परन्तु यह क्या है? भगवान—भगवान का जाप, वह राग है, विकल्प है, पुण्यबन्ध का कारण है; धर्म-बरम नहीं। **दीन भयौ प्रभुपद जपै....** पामर मानकर... मैं प्रभु परिपूर्णानन्द कन्द हूँ, उसका भान नहीं और पर्याय में पामर मानकर भगवान का जप करे, वह मूर्ख चार गति में भटकनेवाले हैं, कहते हैं। **मुकति कहाँसौं होइ?** ऐसे जीव को मुक्ति... उसमें '**उकति**' कहा था न। **उकति न उपजै... मुक्ति कहाँसैं होइ?** कवि है न, इसलिए सब मेल किया है। आहाहा!

चैतन्य भगवान अन्तर अस्ति महाप्रभु ध्रुव चैतन्य आनन्द का धाम, ऐसा जिसे अन्तर्दृष्टि में अनुभव नहीं, अन्तर में सम्यक् प्रतीति और पहिचान नहीं, राग की क्रिया

से भिन्न है, उसका भान नहीं, वे सब क्रिया में लीन जीव—क्रिया से भिन्न के भानरहित जीव—दीन होकर प्रभु का जाप करे। हे नाथ! अब तारना, हों! वह तारे कौन? है कोई तारनेवाला जगत में? भगवान भी तारते नहीं। भगवान तो पर हैं। तू तिरे, तब भगवान ने तिराया, ऐसा निमित्त से कहा जाता है। आहाहा! प्रभु! मुझे तिराना, हों! दीन भिखारी होकर (कहे)। वह तूने आत्मा को रंक माना। पर्याय में रंक माना, परन्तु त्रिकाली ज्ञायक मूर्ति प्रभु है, उसकी जिसे प्रतीति और उसका जिसे भजन नहीं, ऐसा कहते हैं। क्योंकि वह तो पूरी जाति पूरा फेरफार है, हों! सम्प्रदाय से पूरा फेरफार है, इसलिए यह सम्प्रदाय में चले, ऐसा नहीं था वहाँ। आहाहा! मार्ग कैसा गजब, बापू! भाई! आहाहा!

एक तो बेचारी आज आयी थी वह अर्जिका। कोई वहाँ की नहीं? आहाहा! अठारह वर्ष की बाल ब्रह्मचारी। हाँ, बहुत दिखाव रूपवान। १८ वर्ष की आर्जिका हो गयी। सिर ऐसे मुंडा और सब और हों, रूपवान बहुत। यह उन देशभूषण में वह आयी थी। अलग आयी थी। तीन व्याख्यान सुने। सुनकर... वह व्याख्यान पूरा हो और फिर मैं वस्त्र बदलने जाऊँ न पीछे। लोग बहुत हों, वह अन्दर आयी और बोली, 'महाराज! अहो! मेरी चीज़ क्या है, यह आज मुझे खबर पड़ी', कहे।

आर्जिका हुई हों और छोटी उम्र। देखी थी बहिन आर्जिका को? वह छोटी उम्र की। वे दो नहीं सामने की। वे तीन व्याख्यान सुने उन्होंने। फिर तो उसे गाँव में जाना पड़ा। ऐसा वेश फेर, उसे निभना किस प्रकार? इसलिए... छोटी उम्र १८ वर्ष की आर्जिका बाल ब्रह्मचारी। यह सुनकर बोली, आहाहा! यह बात सब वहाँ आती थी। वे सुनने आवे न भाई, देखी थी तुमने भाई चेतनजी? आज मुझे रात्रि में गाँव में जाना है। परन्तु आज मुझे यह बात... मेरी चीज़ ऐसी है, यह आज मुझे खबर पड़ी, कहते हैं। मुँडाकर बैठे, भान न हो कि आत्मा क्या चीज़ है? आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं, उसे **मुकति कहासौं होइ?** ऐसे जीव को भगवान... भगवान... भगवान... हे नाथ! मैं तो दीन हूँ, हों! इस दीन की दया करो, प्रभु! आप दया करो।

मुमुक्षु : भक्त तो ऐसा ही कहे न?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो कथन की शैली है। अपने को दीन माने तो मूढ़ जीव है। तीन लोक का नाथ चिदानन्द प्रभु, आहाहा! एक समय की पर्याय से अधिक—भिन्न—पृथक्, ऐसा महाप्रभु... जिसे अन्तर की दृष्टि नहीं और मैं दीन से दीन हूँ, रंक हूँ, संसारी हूँ, अज्ञानी हूँ—वह तो सब मिथ्यात्वभाव है। समझ में आया? **लीन भयौ सब प्रभुपद जपै, मुकति कहाँसे होइ?**

दूसरा दोहा २३।

मुमुक्षु : उसका अनुसन्धान।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसके साथ मिलान खाये ऐसा।

★ ★ ★

काव्य - २३

पुनः (दोहा)

प्रभु सुमरौ पूजौ पढ़ौ, करौ विविध विवहार।
मोख सरूपी आतमा, ग्यानगम्य निरधार।।२३।।

शब्दार्थ:-सुमरौ=स्मरण करो। विविध विवहार=नाना प्रकार का चारित्र।

अर्थ:-भगवान का स्मरण करने, पूजा-स्तुति पढ़ने वा अनेक प्रकार का चारित्र ग्रहण करने से कुछ नहीं हो सकता, क्योंकि मोक्षस्वरूप आत्मा अनुभव-ज्ञानगोचर है।।२३।।

काव्य-२३ पर प्रवचन

प्रभु सुमरौ पूजौ पढ़ौ, करौ विविध विवहार।
मोख सरूपी आतमा, ग्यानगम्य निरधार॥२३॥

चाहे तो भगवान का स्मरण करो, उससे मुक्ति नहीं। **पूजौ**। यह भगवान की पूजा करो और स्तुति करो, वह पुण्य है, धर्म नहीं। ऐई!

मुमुक्षु : ऐसा कहेंगे न तो....

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन करता है यह ? यह तो आवे, विकल्प आवे। वस्तु से पूर्ण न हो, तब ऐसा विकल्प आवे, परन्तु वह विकल्प मुक्ति का कारण है...(ऐसा नहीं है)।

मुमुक्षु : ऐसा न माने। मान्यता की बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! परन्तु बहुत कठिन बात है भाई! रह गया है तुझे पूरा प्रभु का, प्रभुत्व के महत्त्व की शल्य रह गयी तुझे। कि ऐसा बड़ा मैं ? मैं प्रभु होने के योग्य ? ऐसा प्रभु ? प्रभु के स्मरण बिना, प्रभु की भक्ति बिना ? अरे! भक्ति बिना। तेरा स्मरण करे, उसमें प्रभु प्रगट हो ऐसा है, वह आत्मा। आहाहा! **प्रभु समरौ पूजौ पढ़ौ।** है ? स्तुति पढ़नेवाला। भगवान की स्तुति करो। **करौ विविध विवहार।** और महाव्रत की क्रियायें अनेक प्रकार की शाम-सवेरे यह प्रतिक्रमण यह और यह, यह। कर सब, परन्तु वह सब विकल्प और राग है।

मोख सरूपी आतमा.... यह प्रभु जो राग की क्रिया से भिन्न है, ऐसा मोक्षस्वरूपी प्रभु वह **ग्यानगम्य निरधार....** वह तो अन्तर के ज्ञान और अनुभवगम्य है। वह क्रिया से गम्य हो, ऐसा आत्मा (नहीं है)। आहाहा! यह बात ठीक आ गयी है। यह दोनों सेठिया हैं। यह कलकत्ता के सेठ और यह जमशेद (नगर) के। वाडीभाई! परन्तु वाडीभाई को सोहे रुचता है। आहाहा! बापू! मार्ग तो यह है, भाई! आहाहा! 'अनन्त काल से भटक रहा बिना भान भगवान, सेये नहीं गुरु सन्त को, छोड़ा नहीं अभिमान।' आहाहा! कहते हैं, भगवान आत्मा मोक्षस्वरूप आत्मा... आहाहा! अबद्धस्वरूप है न! चैतन्य प्रभु तो राग और कर्म से भिन्न अबद्धस्वरूप है। ऐसे स्वरूप का भान, वह मोक्षस्वरूपी आत्मा, वह तो ज्ञान से अनुभव से ही प्रगट होता है। बाकी कोई क्रिया से उसे प्रगट हो, ऐसी चीज़ (नहीं)। मोक्षस्वरूपी आत्मा अनुभव ज्ञानगोचर है। आहाहा! उसे अधिक स्पष्ट करने के लिये दृष्टान्त देते हैं।

★ ★ ★

काव्य - २२

ज्ञान के बिना मुक्तिमार्ग नहीं जाना जा सकता

(सवैया तेईसा)

काज बिना न करै जिय उद्यम,
लाज बिना रन मांहि न जूझै।
डील विना न सधै परमारथ,
सील विना सतसौं न अरूझै।।
नेम विना न लहै निहचै पद,
प्रेम विना रस रीति न बूझै।
ध्यान विना न थंभै मनकी गति,
ग्यान विना सिव पंथ न सूझै।।२४।।

शब्दार्थ:-उद्यम=उद्योग। लाज=स्वाभिमान। डील=शरीर। जूझै=लड़े। परमारथ (परमार्थ)=मोक्ष। अरूझै=मिलै। नेम=नियम। बूझै=समझै। सिव पंथ=मोक्षमार्ग। सूझै=दिखै।

अर्थ:-बिना प्रयोजन जीव उद्यम नहीं करता, बिना स्वाभिमान के संग्राम में नहीं लड़ता, शरीर के बिना मोक्ष नहीं सधता, शील धारण किये बिना सत्य का मिलाप नहीं होता, संयम के बिना मोक्षपद नहीं मिलता, प्रेम के बिना रसरीति नहीं जानी जाती, ध्यान के बिना चित्त स्थिर नहीं होता और ज्ञान के बिना मोक्षमार्ग नहीं जाना जाता।।२४।।

पद-२४ पर प्रवचन

ज्ञान के बिना मुक्तिमार्ग नहीं जाना जा सकता। अन्तर में यह पुण्य-पाप के विकल्प की क्रिया से भिन्न उसका अन्तर ज्ञान बिना सच्चा स्वरूप जानने में नहीं आता। **काज विना न करै जिय उद्यम....** बिना प्रयोजन कोई पुरुषार्थ करे? यह कमाने का पुरुषार्थ... परन्तु रागी है प्राणी मोही—यह करूँ और यह करूँ, धूल करूँ, व्यापार करूँ,

परन्तु इसने यह (अपना) कार्य माना है न! आहाहा! **काज विना न करै जिय उद्यम, लाज विना रन मांहि न जूझै।** २५ वर्ष का राजकुमार हो और राज के ऊपर युद्ध चढ़ आवे, स्वयं लड़ने जाये। अरेरे! मैं राजा का कुँवर, यह राज जायेगा। उसे लज्जा आवे।

मुमुक्षु : अब तो कुँवर भी चले गये।

पूज्य गुरुदेवश्री : अब तो कहाँ राजा-बाजा रहे हैं? सब भिखारी हैं। यह सालियाना के लिये सिर पछाड़ते हैं? खबर है न! यहाँ तो कहते हैं, २५ वर्ष का राजकुमार हो, विवाहित हो छह महीने से, परन्तु राज के ऊपर यदि युद्ध आ जाये तो लड़ने जाये। नहीं तो मेरी नाक कटती है। **लाज विना रन मांहि न जूझै....** रण में जूझे नहीं। आहाहा! **बिना स्वाभिमान के संग्राम में नहीं लड़ता।** अभिमान है न! मैं राजा का कुँवर हूँ, हम राजपूत हैं, वापस नहीं फिरेंगे। हमारा राज जाये, पहले प्राण जाये तो राज जाये। ऐसे अभिमानी अभिमान बिना रण में जूझते नहीं।

डील विना न सधै परमारथ। मनुष्यभव बिना मुक्ति कभी होती नहीं। मनुष्यभव हो न।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हां, यह मनुष्यभव हो, उसमें मुक्ति होती है, भव से नहीं। परन्तु तिर्यंचभव में और देवभव में और नरकभव में मुक्ति नहीं हो सकती, इतना सिद्ध करना है। मोक्ष हो तो मनुष्य में हो, इतनी बात है। आत्मा केवलज्ञान पावे और मुक्ति पावे, वह मनुष्यभव में। मनुष्यभव के कारण नहीं, परन्तु मनुष्यभव में हो, इतनी बात यहाँ सिद्ध करनी है। वह ज्ञान बिना... यह बात करके सिद्ध करनी है न! **ज्ञान विना सिव पंथ न सूझै।** उसे सिद्ध करने के लिये यह सब दृष्टान्त है।

मुमुक्षु : मनुष्य के अतिरिक्त किसी को केवलज्ञान होता नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : होता नहीं।

सील विना सतसौं न अरूझै। आहाहा! कहते हैं, **शील धारण किये बिना सत्य का मिलाप नहीं होता।** अन्तर का आत्मा शुद्धस्वरूप का शील ब्रह्मचर्य अन्दर ब्रह्मानन्द—ब्रह्म-आनन्द—ब्रह्मस्वरूप भगवान का आनन्द, उसे आनन्द के शील बिना, आनन्द के

शील के आचरण बिना... क्या कहते हैं? सत्य का मिलाप नहीं। सच्चिदानन्द प्रभु आत्मा का मिलाप नहीं होता। आहाहा! कहो, समझ में आया?

अभी कहा न! २५ वर्ष का लड़का वहाँ भोपाल में। साढ़े छह सौ वेतन। मुझे आजीवन ब्रह्मचर्य लेना है आजीवन का। तीन-चार हजार लोगों में। थे तुम तब?

मुमुक्षु : नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं थे। भोपाल में हेमचन्द। वह यहाँ आया था गत वर्ष (ब्रह्मचर्य) लेने। २५ वर्ष की—२४ वर्ष की उम्र। बहुत करके २५। आजीवन का ब्रह्मचर्य दो। अरे, इस जवान को कैसे दिया जाये? कहा। आज्ञा बिना, इसके माँ—बाप की आज्ञा बिना। फिर वहाँ पूरा परिवार लेकर आया अभी। साढ़े छह सौ वेतन है। २५ वर्ष की उम्र है। छह भाई हैं। चार विवाहित हैं। स्वयं बालब्रह्मचर्य लेने (आया)। वापस जानपने में, हों! यह सब पढ़ा हुआ, जाना। आया परन्तु होशियार है। आहाहा!

मुमुक्षु : बी.ई. इंजीनियर है।

पूज्य गुरुदेवश्री : इंजीनियर है। बड़ा इंजीनियर है। ... व्यक्ति जगे तो।

ओहोहो! मार्ग तो यह करने का है, कहे। धूल भी कर-करके मर गये अनन्त बार। २५ वर्ष की उम्र, साढ़े छह सौ वेतन, छह भाई, चार विवाहित, स्वयं बालब्रह्मचारी और छठवाँ अभी छोटा। सब कुटुम्ब आया था। उसके पिता ने तो बहुत प्रसन्न होकर, ओहोहो! मेरे पिताजी तो बहुत प्रसन्न हैं, कहे। माताजी जरा रोती हैं, ऐसा कहा। सब परिवार आया था वहाँ गोदीका के कमरे पर। यह माताजी जरा रोती हैं। अब क्या है... ? इतनी निवृत्ति ली, उसने प्रवृत्ति छोड़कर। इतना एक शुभभाव है। वह भी एक शुभभाव है, वह कहीं धर्म नहीं अभी। आहाहा! वह भी बहुत होशियार व्यक्ति है, जानपना है, वाँचन बहुत अच्छा है।

सील विना सतसौं न अरूझै.... आत्मा का ब्रह्म अर्थात् आनन्द शील हों, वह शील।

मुमुक्षु : शुद्धता।

पूज्य गुरुदेवश्री : शुद्धभाव। अरे, प्रभु ब्रह्मानन्द प्रभु आत्मा का अतीन्द्रिय आनन्द का शीलस्वभाव, ऐसे आनन्द के स्वभाव बिना सत्य का मिलाप नहीं होता। **नेम**

विना न लहै निहचै पद.... स्वरूप का सम्यग्दर्शन और ज्ञान होने पर भी, स्वरूप की चारित्रदशा बिना मुक्ति कभी नहीं होती। परन्तु चारित्र कैसा? आत्मा के ज्ञान में, आनन्द में रमना, वह (चारित्र है)। समझ में आया? आहाहा! संयम अर्थात् स्वरूप में रमणता। भगवान आनन्दमूर्ति में रमणता बिना मुक्ति कभी नहीं होती। अकेले सम्यग्दर्शन-ज्ञान से नहीं होती, ऐसा सिद्ध करना है। **नेम विना न लहै निहचै पद, प्रेम विना रस रीति न बूझै.... प्रेम के बिना रसरीति नहीं जानी जाती।** इस आत्मा के आनन्द के प्रेम बिना अन्तर एकाग्र हो नहीं सकता। रस है न यहाँ। अन्तर का आनन्दरस... आनन्दरस। पुण्य-पाप का रस—प्रेम छूटकर आनन्द के रस बिना अन्दर में एकाग्र नहीं हो सकता। प्रभु का प्रेम चाहिए। मैं स्वयं परमात्मा हूँ, ऐसा उसका प्रेम हो तो उसे आत्मा के आनन्द का रस आवे। आहाहा!

ध्यान विना न थंभै मनकी गति.... अन्तर में स्थिरता बिना मन की चपलता रुकती नहीं। अन्तरस्वरूप ब्रह्मानन्द प्रभु स्वयं, सर्वज्ञ परमेश्वर ने कहा वह, हों! अज्ञानी कहे, वह नहीं। ऐसा जो भगवान आत्मा, (उसके) ध्यान बिना... उसकी एकाग्रता बिना मन की चंचलता रुकती नहीं। अब यह तो दृष्टान्त कहकर सिद्ध यह करना है। **ज्ञान विना सिव पंथ न सूझै।**

मुमुक्षु : यह तो दृष्टान्त थे।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो सब दृष्टान्त थे। आहाहा! ऐसे राग और पुण्य से भिन्न भगवान के ज्ञान बिना शिव का पंथ सूझ पड़ता (नहीं)। आहाहा! यह जानपना अर्थात् शास्त्र की यह बात नहीं। शास्त्र का जानपना, बहुत जानपना... वह सब शास्त्र का जानपना वह ज्ञान ही नहीं। आत्मा के आनन्द का अन्तर भान होकर आनन्द का ज्ञान—आत्मज्ञान—भेदज्ञान—राग से भिन्न भान—ऐसे ज्ञान बिना सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को पंथ सूझ नहीं पड़ता। कहो, कितना सरस कहा है, हों! आहाहा! अन्तर वस्तु स्वयं ज्ञानस्वरूप ही चैतन्य है। ऐसे ज्ञान का ज्ञान... ऐसे ज्ञान का ज्ञान अन्तर्मुख होकर अनुभवी ज्ञान, उस ज्ञान बिना शिवपंथ की सूझ पड़ती (नहीं)। कि मोक्ष का मार्ग क्या है? यह तो राग की क्रिया, वह मोक्ष का मार्ग, महाव्रत, वह मोक्ष का मार्ग, वह तो मूढ़ है। आहाहा!

ज्ञान विना शिव पंथ न सूझै,.... लो। ज्ञान बिना मोक्षमार्ग... सम्यग्ज्ञान बिना सम्यग्दर्शन की खबर नहीं पड़ती। सम्यग्ज्ञान बिना ज्ञान की खबर नहीं पड़ती। सम्यग्ज्ञान बिना आत्मा की खबर नहीं पड़ती और सम्यग्ज्ञान बिना चारित्र की खबर नहीं पड़ती। आहाहा! यह आत्मा का भान हो, तब उसे ज्ञान हो, तब निर्जरा हो—ऐसा सिद्ध करना है। यह ज्ञान बिना क्रियाकाण्ड लाख करोड़ करे, धर्म नहीं होता, निर्जरा नहीं होती। मिथ्यात्वसहित पुण्य बाँधे (तो) देव-बेव में जाये और यह धूल का सेठिया कदाचित् हो, वापस नीचे पड़े। समझ में आया? आहाहा! भटकता राम रहे, यह आतमराम नहीं हो। आहाहा! बहुत काम की... यह निर्जरा अधिकार है न! निर्जरा अर्थात् कर्म का टलना। परन्तु किसे टले? कि जिसने कर्म और राग से भिन्न आत्मा का भान किया कि जिसमें राग भी नहीं और कर्म भी नहीं और क्रियाकाण्ड का विकल्प जिसके स्वरूप में नहीं। ऐसा जिसने आत्मा का ज्ञान किया और आत्मा की श्रद्धा करके आत्मा में स्थिर हो, उसे कर्म गलते और निर्जरा होती है। अपवास कर-करके मर जाये और उसे निर्जरा हो, ऐसा है नहीं। कहो, मनसुख!

अब ज्ञान की महिमा कहते हैं। आहाहा! भारी सूक्ष्म! बात तो यह वर्णन करनी है कि जितना विकल्प है व्यवहार, वह सब बन्ध का कारण है। और विकल्प से रहित भगवान आत्मा का आश्रय लेकर जितनी शुद्धता आनन्द की, ज्ञान की, शान्ति की प्रगट हो, बस उतना धर्म, उतनी निर्जरा। इसके अतिरिक्त निर्जरा-बिर्जरा बाहर के क्रियाकाण्ड से (होती ही नहीं)। लोग तो आठ अपवास करे और दस अपवास करे तो, आहाहा... बहुत निर्जरा हो गयी है, ऐसा माने। धूल भी नहीं, मिथ्यात्व बाँधा है यों ही। ऐई! क्योंकि यह अ—उपवास है। यह (उपवास) नहीं, यह तो अपवास है। आत्मा अन्दर आनन्दमूर्ति के समीप में जाकर एकाग्र होना, इसका नाम उपवास है। वह तो सब लंघन है। आत्मा के सम्यग्दर्शन और ज्ञान के वेदन बिना वे सब अपवास—बपवास सब लंघन है। मिथ्यात्वसहित पुण्यबन्ध का कारण है। ऐसे को निर्जरा कहते हैं, वह तपस्या होती नहीं। अहिंसा पाले, अनशन करे, पुण्यबन्ध हो मिथ्यात्वसहित। मिथ्यात्व टले बिना और समकित हुए बिना उसकी क्रिया आत्मा के लाभार्थ के लिये नहीं है। विशेष कहेंगे। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ७६, ज्येष्ठ कृष्ण ८, बुधवार, दिनांक १६-०६-१९७१
निर्जरा द्वार, काव्य - २५ से २९

इन्द्रियों के विषयों में, इन्द्राणी के संग में रहे तो भी कहते हैं कि उसे कर्म घटाघटी... उसे कर्म खिरता जाता है। अरे, अरे! हटाहटी। पर परिणति से हटाहटी है। आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द के ज्ञान की जहाँ जागृति हुई, अतीन्द्रिय ज्ञान के आनन्द की, उसके आगे यह सब क्रियायें पररूप से ज्ञात होती है। यह अपने ज्ञान की स्वावलम्बी दशा में पररूप से ज्ञात होती हैं। इसलिए वह बोले तो भी मौन है, चले तो भी स्थिर है, विषय की वासना हो तो भी वह शान्ति समाधि है। वह विकल्प से पृथक् पड़ा है न! आहाहा!

उस समय बहुत विरोध हुआ था। मेघविजय श्वेताम्बर साधु थे।

मुमुक्षु : उपाध्याय।

पूज्य गुरुदेवश्री : उपाध्याय। मेघविजय उपाध्याय... यह बनारसीदास (का) बहुत विरोध किया था। यह तो व्यवहार का तो भुक्का उड़ाते हैं। व्यवहार तो अकेला बन्ध... बन्ध... बन्ध... नहीं, एकान्त मिथ्याभासी है। यह सब पढ़ा है। हमारे भाई हुकमचन्दजी कहते थे हुकमचन्दजी। वे कहे पढ़ा है। सब पुस्तकें इकट्ठी की हैं उन्होंने। हुकमचन्दजी ने पढ़ा है मेघविजय का। कहे, हाँ, पुस्तक पढ़ी है। सब पुस्तकें बहुत इकट्ठी की है। वाँचन बहुत, हों! मेघविजय का... यह भाई क्या कहलाते हैं? हुकमचन्दजी को। (वे कहे), मेघविजय का मैंने पढ़ा हुआ है। है यहाँ पुस्तक। क्या नाम कहा? युक्ति प्रबोध। श्वेताम्बर को तो यह कठिन लगे। २५वाँ पद है। **ज्ञान की महिमा।**

★ ★ ★

काव्य - २५

ज्ञान की महिमा। (सवैया तेईसा)

ग्यान उदै जिन्हके घट अंतर,
जोति जगी मति होत न मैली।
बाहिज दिष्टि मिटी जिन्हके हिय,
आतमध्यानकला विधि फैली।।
जे जड़ चेतन भिन्न लखैं,
सुविवेक लियैं परखैं गुन–थैली।
ते जगमैं परमारथ जानि,
गहैं रुचि मानि अध्यातमसैली।।२५।।

शब्दार्थ:–अंतर=भीतर। मति=बुद्धि। मैली=गन्दी। बाहिज दिष्टि=शरीर आदि में आत्मबुद्धि। भिन्न=जुदे। परखैं=परीक्षा करें। रुचि=श्रद्धान। अध्यातमसैली=आत्म–अनुभव।

अर्थ:–जिनके अंतरंग में सम्यग्ज्ञान का उदय हुआ है, जिनकी आत्मज्योति जागृत हुई है और बुद्धि निर्मल रहती है, जिनकी शरीर आदि से आत्मबुद्धि हट गई है, जो आत्मध्यान में निपुण हैं, जो जड़ और चेतन के गुणों की परीक्षा करके उन्हें जुदा–जुदा जानते हैं; और मोक्षमार्ग को अच्छी तरह समझकर रुचिपूर्वक आत्म–अनुभव करते हैं।।२५।।

काव्य–२५ पर प्रवचन

ग्यान उदै जिन्हके घट अंतर,
जोति जगी मति होत न मैली।
बाहिज दिष्टि मिटी जिन्हके हिय,
आतमध्यानकला विधि फैली।।

जे जड़ चेतन भिन्न लखैं,
सुविवेक लियैं परखैं गुन-थैली।
ते जगमैं परमारथ जानि,
गहैं रुचि मानि अध्यातमसैली ॥२५॥

निर्जरा अधिकार है न! इसलिए **ग्यान उदै जिन्हके घट अंतर....** भगवान ज्ञानस्वरूप आत्मा की जिसे अन्तर ज्ञानकला जागृत हुई है। **जिन्हके घट...** ज्ञान उदय हुआ, सम्यग्ज्ञान। शास्त्र का ज्ञान, वह यहाँ बात नहीं। ज्ञानस्वरूप चैतन्य है, उसमें से ज्ञान की दशा अन्तर में स्वसन्मुख से जो स्व-सत्तावलम्बी ज्ञान प्रगट हुआ, उसे यहाँ ज्ञान कहते हैं। **ग्यान उदै जिन्हके घट अंतर....** अन्तरंग में राग के विकल्प से भिन्न पड़कर, चैतन्यस्वभाव की जागृति अन्तर में से स्वावलम्बी रूप से हुई। **जोति जगी मति होत न मैली....** अन्तर का ज्ञान प्रगट हुआ, वह ज्योति आत्मज्योति जगी। **मति होत न मैली....** वह उसका ज्ञान सम्यक् है, मलिन होता ही नहीं। राग आदि विकल्प के साथ एकत्वबुद्धि ज्ञानी को नहीं होती। विकल्प से लेकर सब परिग्रह से रहित ज्ञानी है। इसलिए उसकी मति में मैल नहीं आता, ऐसा कहते हैं। स्वभाव के अवलम्बन से चैतन्य जागृत हुआ, उस जागृतदशा में अब मैली दशा नहीं होती।

बाहिज दिष्टि मिटी.... विकल्प से लेकर एक समय की अवस्था की दृष्टि भी जिसे छूट गयी है। **बाहिज दिष्टि मिटी जिन्हके हिय....** एकदम मक्खन की बात है यह तो। आहाहा! निर्जरा (अधिकार) है न! **बाहिज दिष्टि मिटी जिन्हके हिय....** ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा... बाह्य विकल्प, निमित्त आदि से जिसकी दृष्टि छूट गयी है। **आतमध्यान कला विधि....** बाह्यदृष्टि छूटकर **आतमध्यान कला विधि फैली।** आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा की एकाग्रता की ध्यानकला जागृत हुई। **आतमध्यान कला विधि फैली।** बाह्यदृष्टि गयी, अन्तर्दृष्टि में आत्मध्यान की एकाग्रता हुई। आहाहा! यह बात पहले समझना कठिन है। उसे निर्जरा—धर्म होता है, जहाँ चैतन्य भगवान ज्ञानानन्दस्वरूप को पकड़कर जो एकाग्रता हो, उसमें से जो ज्ञान जगे, उसे बाह्यदृष्टि टली और अन्तर दृष्टि में ध्यान और एकाग्रता होती है।

जे जड़ चेतन भिन्न लखैं.... भगवान ज्ञायकस्वरूप और विकल्प से लेकर सब जड़ अचेतन—दो को भिन्न जाने, लखे अर्थात् जाने, उसे निर्जरा होती है। आहाहा! **जे जड़ चेतन भिन्न लखैं....** एक ओर ज्ञायकस्वभाव चैतन्यस्वरूप और दूसरी ओर विकल्प से लेकर सब अचेतन—दोनों को अन्तर में भिन्नरूप से जाने, लखे अर्थात् जाने। **सुविवेक लियै परखैं गुन-थैली....** और चैतन्य गुणों की परीक्षा करके भिन्न-भिन्न जाने और **मोक्षमार्ग को अच्छी तरह समझकर.... सुविवेक लियै....** अर्थात् कि अन्तर में स्वसन्मुख में विकल्प का अंश भी जिसमें नहीं, ऐसा सुविवेक अन्दर जगा है। ऐसे जीव **परखैं गुन-थैली....** गुण की थैली यह आत्मा, उसकी परीक्षा करता है। थैली समझते हैं न? यह तो हिन्दी भाषा है। भगवान अनन्त ज्ञान और आनन्द की थैली है, बोरी। उसे परखे—उसकी परीक्षा करके अन्दर एकाग्रता हो।

ते जगमैं परमारथ जानि.... जगत के अन्दर परमार्थ ऐसा भगवान पूर्णानन्द प्रभु को परखकर भिन्न जानकर **गहैं रुचि...** अन्तर स्वरूप की रुचि ग्रहण करके **मानि अध्यात्मसैली....** अनुभव करे। रुचि, अन्तर्दृष्टि करके अध्यात्म अर्थात् आत्मा के आनन्द का अनुभव करे, उसे निर्जरा होती है। अरे, गजब! **मोक्षमार्ग को अच्छी तरह समझकर रुचिपूर्वक आत्म-अनुभव करते हैं।**

अब उस ओर, ११वाँ श्लोक है, श्लोक।

पदमिदं ननु कर्मदुरासदं सहजबोधकलासुलभं किल।
तत इदं निजबोधकलाबलात् कलयितुं यततां सततं जगत्।।११।।

★ ★ ★

काव्य - २६

पुनः (दोहा)

बहुविधि क्रिया कलेससौं, सिवपद लहै न कोइ।
ग्यानकला परकाशसौं, सहज मोखपद होई।।२६।।

शब्दार्थः-बहुविधि=अनेक प्रकार की।

अर्थ:–अनेक प्रकार की बाह्य क्रियाओं के क्लेश से कोई मोक्ष नहीं पा सकता और सम्यग्ज्ञान प्रकाशित होने से बिना क्लेश के ही मोक्षपद प्राप्त होता है।।२६।।

काव्य-२६ पर प्रवचन

बहुविधि क्रिया कलेससौं, सिवपद लहै न कोइ।
ग्यानकला परकाशसौं, सहज मोखपद होई॥२६॥

बहुविधि क्रिया... बाह्य क्रिया दया, दान और व्रत, भक्ति, पूजा, वांचन, श्रवण और मनन—ऐसी सब जो क्रियायें, वह राग की बाह्य क्रिया है। वह क्रिया क्लेश है, कहते हैं। आहाहा! यह व्रत, तप और सभी वृत्तियाँ हैं, वे क्लेश हैं, राग का उत्थान है, विकार की उत्पत्ति है। ऐसे **क्रिया कलेससौं सिवपद लहै न कोइ....** उसे मुक्ति नहीं हो सकती। आहाहा! गजब! यहाँ तो अकेले क्रियाकाण्ड से ही धर्म होता है और मुक्ति होती है, ऐसा तो सम्प्रदाय में तो राजमार्ग चलता है। आहाहा!

बहुविधि क्रिया क्लेश... ऐसा वापस। बहुत प्रकार की बाह्य क्रियाओं के क्लेश से। यह राग क्रिया तो क्लेश है, कहते हैं। आहाहा! महाव्रत के भाव, अपवास के भाव, अनशन, ऊनोदर, त्याग का भाव—यह सब विकल्प राग है। यह तो क्लेश है, ऐसा कहते हैं। **सिवपद लहै न कोइ....** ऐसे क्रियाकाण्ड के क्लेश से आनन्दस्वरूप ऐसा मोक्ष, उसकी इसे प्राप्ति नहीं होती। यह तो निश्चय की बात है, परन्तु प्राप्त कैसे हो? फिर साधन चाहिए न व्यवहार?

मुमुक्षु : व्यवहार साधन होता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : साधन व्यवहार है, ऐसा कहते न भाई! वस्तु है, वह तो शुद्ध निश्चय है, परन्तु अब करना क्या हमारे? करना... इस ज्ञानानन्द में एकाग्र होना, वह करना। करना (अर्थात्) क्रियाकाण्ड राग आदि करना है? पंच महाव्रत का विकल्प भी क्लेश है। अट्ठाईस मूलगुण मुनि को होते हैं, वह भी राग और क्लेश है। देखो न, क्लेश लिया है न! **बहुविधि क्रिया...** यह तो अशुभक्रिया की बात है। शुभक्रिया को भी क्लेश कहा है। उससे आत्मा की मुक्ति और धर्म नहीं होता। आहाहा!

ग्यानकला परकाशसौ.... परन्तु सम्यग्ज्ञान के प्रकाशित होने से अन्तर की चैतन्यकला... आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा अन्तर की कला से जागृत होता है, उससे **सहज मोखपद होइ....** लो। उसे क्लेश बिना, कष्ट बिना सहज मुक्ति होती है। ऐसा कहते हैं, हमारे कितना तो सहन करना पड़े, महाव्रत, नंगे पैर चलना, परीषह, उपसर्ग, तब चारित्र होता है। धूल भी चारित्र नहीं, सुन न! यहाँ तो कहते हैं, **ग्यानकला परकाशसौ....** प्रभु चैतन्य भगवान का प्रकाश जागृत हुआ अन्दर से कला का। स्वाभाविक चैतन्यमूर्ति सहजस्वरूप में एकाग्र होकर जो ज्ञानकला जागृत हुई, उस ज्ञान की एकाग्रता के प्रकाश से ही मोक्षपद होता है, स्वाभाविक मोक्षपद होता है, ऐसा कहते हैं। कुछ सहन करना पड़े और क्लेश हो, हठ करना पड़े, (ऐसा नहीं है)। इसके बिना इसकी मुक्ति होती है। यह पहले श्लोक का अर्थ किया। दूसरा।

★ ★ ★

काव्य - २७

ग्यानकला घटघट बसै, जोग जुगतिके पार।
निज निज कला उदोत करि, मुकत होइ संसार।।२७।।

शब्दार्थः-बसै=रहे। पार (परे)=अगम्य। उदोत=प्रगट। मुकत=मुक्त।

अर्थः-ज्ञानज्योति समस्त जीवों के अन्तरंग में रहती है, वह मन, वचन, काय और युक्ति के अगम्य है, हे भव्यो! अपनी अपनी ज्ञानज्योति प्रगट करके संसार से मुक्त होओ।।२७।।

काव्य-२७ पर प्रवचन

ग्यानकला घटघट बसै, जोग जुगतिके पार।
निज निज कला उदोत करि, मुकत होइ संसार॥२७॥

भगवान आत्मा... **ज्ञानज्योति समस्त जीवों के अन्तरंग में रहती है।** उसका

स्वरूप ही ज्ञान की मूर्ति चैतन्य है। अनेक प्रकार की ज्ञानकला घट घट बसती है। घट वह शरीर। प्रत्येक शरीर में वह भगवान भिन्न बसता है। **जोग जुगतिके पार,....** लो। मन, वचन और काया से भी अगम्य है। यह युक्ति के विकल्प से भी अगम्य है। **जोग जुगतिके पार,....** मन, वचन, काया की क्रिया और युक्ति का विकल्प, उससे पार वह चीज़ आत्मा है। आहाहा! **निज निज कला उदोत करि....** भाषा देखो! अन्तर ज्ञानस्वरूप की अन्दर अपनी-अपनी जागृति की कला प्रगट करो। अन्तर की निजालम्बी। आहाहा! अकेला मक्खन निर्जरा में है न! यह तो निर्जरा अधिकार है।

निज निज कला.... वापस भाषा ऐसी है न। अपनी-अपनी कला—ज्ञानज्योति... अन्तर में चैतन्यसूर्य, निर्विकल्प चैतन्यतेज, उसमें से अपनी ज्ञान की कला प्रगट करके... श्रद्धा, ज्ञान और शान्ति, वह सब ज्ञान की कला है। निर्विकल्प ज्ञान, निर्विकल्प श्रद्धा और निर्विकल्प—रागरहित स्थिरता, वह सब ज्ञानकला है। राग नहीं, ऐसा कहते हैं। ज्ञानकला **निज निज कला उदोत करि मुक्त होइ संसार**। मोक्षपद प्राप्त करता है। **संसार से मुक्त होओ**। उससे—संसार से मुक्ति होती है। कोई क्रियाकाण्ड व्रत, तप और फलाना, ढींकणा, धूल से मुक्ति नहीं होती और धर्म नहीं होता। आहाहा! भारी कठिन काम! धमधोकार चलती है बाहर में तो। व्रत लो, तप लो, मुँडाओ। मार्ग तो बापू! अन्तर निजस्वरूप अखण्ड आनन्द प्रभु का आश्रय लेकर जो दशा हो, वह दशा मुक्ति का कारण है। बाकी बाहर के लक्ष्य से जितने क्रियाकाण्ड के विकल्प (होते हैं, वे) समस्त बन्ध के कारण हैं। वे बन्ध के कारण हैं, उनसे मुक्ति नहीं होती। **मुक्त होई संसार,** लो।

अचिन्त्यशक्तिः स्वयमेव देवश्चिन्मात्रचिन्तामणिरेष यस्मात्।
सर्वार्थसिद्धात्मतया विधत्ते ज्ञानी किमन्यस्य परिग्रहेण।।१२।।

★ ★ ★

काव्य - २८

अनुभव की प्रशंसा (कुंडलिया)

अनुभव चिंतामनि रतन, जाके हिय परगास।
सो पुनीत सिवपद लहै, दहै चतुरगतिवास।।
दहै चतुरगतिवास, आस धरि क्रिया न मंडै।
नूतन बंध निरोधि, पूब्बकृत कर्म बिहंडै।।
ताके न गनु विकार, न गनु बहु भार न गनु भव।
जाके हिरदै मांहि, रतन चिंतामनि अनुभव।।२८।।

शब्दार्थ:-पुनीत=पवित्र। दहै=जलावे। आस=आशा। मंडै (मांडै)=करे। निरोधि= रोककर। विहंडे=झड़ावे। भार=बोझ। भव=जन्म।

अर्थ:-अनुभवरूप चिन्तामणि रत्न का जिसके हृदय में प्रकाश हो जाता है, वह पवित्र आत्मा चतुर्गति भ्रमणरूप संसार को नष्ट करके मोक्षपद पाता है। उसका चारित्र इच्छा रहित होता है, वह कर्मों का संवर और पूर्वकृत कर्मों की निर्जरा करता है। उस अनुभवी जीव के राग-द्वेष, परिग्रह का भार और आगे होनेवाले जन्म किसी गिनती में नहीं हैं अर्थात् स्वल्प काल ही में सिद्धपद पावेगा।।२८।।

काव्य-२८ पर प्रवचन

अनुभव चिंतामनि रतन जाके हिय परगास... अनुभव की प्रशंसा। आत्मा ज्ञानानन्द स्वरूप का जो अनुभव, आनन्द को अनुसरकर दशा का होना, आत्मा निर्विकल्प वीतराग स्वभाव को अनुसरकर दशा का होना, वह अनुभव। वह अनुभव मुक्ति का कारण है। **अनुभव चिन्तामणि रतन....** किसी के हाथ में देव अधिष्ठित चिन्तामणि रत्न आया हो, इच्छे वह वस्तु मिले। इसी प्रकार भगवान आत्मा का अनुभव, चाहे उतना अनुभव करे तत्प्रमाण आनन्द की प्राप्ति होती है। आनन्द का नाथ स्वय है, आहाहा! पूर्ण स्वरूप का अनुभव करे, उसे चिन्तामणि रत्न है वह तो, कहते हैं, अनुभव तो चिन्तामणि रत्न है।

आहाहा! वह धूल का चिन्तामणि रत्न तो सामग्री उपाधि दे। यह तो **अनुभव चिन्तामणि रतन....** वीतरागस्वरूप प्रभु का अनुभव, वह वीतरागीदशारूप भाव, वह चिन्तामणि रत्न है। आहाहा!

जाके हिय परगास.... जिसका हैयुं अर्थात् ज्ञानभाव—अन्तरभाव में जिसे अनुभव का प्रकाश है, **सो पुनीत सिवपद लहै....** वह पवित्र आत्मा अल्प काल में मोक्ष को पाता है। **दहै चतुरगतिवास.... लहै** और **दहै**। मुक्ति को पाता है और चार गति को दहता है—जलाता है। चार गति में बसना टल जाता है। आहाहा! अनुभव से मुक्ति होती है। बाकी क्रियाकाण्ड और व्रत-तप से धर्म-बर्म नहीं होता। आहाहा! कठिन लगे यह, दीपचन्दजी! अभी तो चारों ओर धमाल... स्थानकवासी, मन्दिरमार्गी और दिगम्बर तीनों में अपवास करो, व्रत करो, महाव्रत लो, अणुव्रत लो। बस, जाओ तुम्हारा कल्याण... धूल में भी नहीं, यहाँ कहते हैं। यह संसार अनादि का है, वह का वह प्रकार है। **अनुभव चिंतामनि रतन....** भगवान आत्मा शुद्ध—पवित्र, उसका अनुभव, जिसमें महाव्रत आदि के विकल्प का भी अभाव है और आनन्द की दशा अनुभव की अस्ति है। **सो पुनीत सिवपद लहै... वह पवित्र आत्मा चतुर्गति भ्रमणरूप संसार को नष्ट करके.... लहै... चतुर्गति दहै।**

दहै चतुरगतिवास, आस धरि क्रिया न मंडै। नूतन बंध निरोधि, पुब्बकृत कर्म बिहंडै। धर्मी जीव अपने आनन्दस्वरूप का अनुभव करके **दहै चतुरगतिवास, आस धरि क्रिया न मंडै....** कोई क्रिया का विकल्प (कि) ऐसा पालन करूँ, यह व्रत लूँ, ऐसे (फल की) आशा करके क्रिया न करे। आ जाये विकल्प, वह अलग बात है। **आस धरि क्रिया न मंडै,....** है न? **उसका चारित्र इच्छा रहित होता है।** ऐसा स्पष्टीकरण किया है। इच्छारहित अर्थात् इच्छा नहीं, ऐसा। **आस धरि क्रिया न मंडे....** स्वरूप की स्थिरता है, परन्तु यह राग की क्रिया करनेयोग्य है, ऐसा करके राग को करे नहीं, स्वरूप की स्थिरता को करे। अरे, गजब! **नूतन बंध निरोधि।** शुद्ध आत्मा के अनुभव की दशा से नये कर्म को रोककर.... **निरोधि** अर्थात् नये कर्म आते नहीं, ऐसा। **पुब्बकृत कर्म बिहंडै....** पूर्व के कर्म हैं, वे उदय आकर नाश हो जाते हैं। आत्मा के अन्तर सन्मुख के अनुभव में नये कर्म तो हैं नहीं बाँधने के, पुराने उस समय खिर जाते हैं। आहाहा! लो, यह

धार्मिक क्रिया, यह धर्म की क्रिया। धर्मक्रिया थी? क्या था भाई? ....सब यह धर्मक्रिया। इसमें हिन्दी में प्रकाशित है, यह न? धर्मक्रिया। धर्मक्रिया, यह धर्मक्रिया है।

ताके न गनु विकार.... सहजात्मस्वरूप भगवान पूर्ण आनन्द की जहाँ अन्तर अनुभव दृष्टि हुई, उस जीव को **न गनु विकार....** उसे विकल्प होते हैं, वे भिन्न रह जाते हैं। उसके अनुभव में विकार आता (नहीं)। धर्मी विकार और व्यवहार से तो मुक्त है। आहाहा! विकल्प बीच में होते हैं, (परन्तु) उनसे धर्मी-समकिती तो मुक्त है। ग्रहे विकार को, वह तो (गृहीत) मिथ्यादृष्टि है। महाव्रत आदि के विकल्प को ग्रहे, तब तो मिथ्यादृष्टि है। परन्तु उस विकल्प से मुक्त है। उसे **न गनु विकार, न गनु बहु भार....** आहाहा! उसे कर्म अधिक है, ऐसा उसे है नहीं। बड़ा चक्रवर्ती का राज हो और सब यह है, वह कुछ बोझा ज्ञानी को नहीं, कहते हैं। आहाहा! छह खण्ड के राज में पड़ा हो, तथापि अखण्ड स्वरूप को साधता हुआ उसे भार और बोझा कुछ है (नहीं)। आहाहा! ऐसा राज चलाना पड़े और राग करना पड़े... कोई विकल्प उसका नहीं, वहाँ फिर बाहर (की वस्तु उसकी) कहाँ से आयी? कहते हैं।

उसे **न गनु बहु भार....** लो। **कर्मों का संवर (और) पूर्वकृत कर्मों की निर्जरा करता है। उस अनुभवी जीव को राग-द्वेष, परिग्रह का भार....** राग-द्वेष, विकल्प है ही नहीं न? सम्यग्दृष्टि धर्मी को राग विकल्प है ही नहीं। शुद्ध द्रव्य अबन्ध, गुण अबन्ध और परिणाम अबन्ध—यह तीनों उसे हैं। आहाहा! और कोई ऐसा प्रश्न करे कि अभी ऐसा समकित हो सकता होगा? ले और ...। ऐसा एक प्रश्न आया था। ऐसे के ऐसे। क्योंकि यह सब हो, तब उसमें समकित नहीं, फिर धर्म कहाँ रहा फिर? अभी ऐसा धर्म हो सकता है? ऐसा कहते हैं। ऐसे लोग बेचारे अज्ञान में पड़े हैं। यह तो बड़ी ठेठ ऊँची बात है, ऐसा कहते हैं। अरे भगवान! यह तो अभी पहले एकड़ा की बात है। आहाहा!

सम्यग्दृष्टि व्यवहार के राग से तो मुक्त है। व्यवहार को बोझा उसे (होता ही नहीं)। भाई इतना व्यवहार करना पड़ेगा, क्या करें? यह ज्ञानी को होता ही नहीं। आहाहा! और शाम-सवेरे प्रतिक्रमण करने बैठना पड़े, सामायिक करनी पड़े तीन बार—सवेरे, दोपहर, शाम-संध्या। यह विकल्प का बोझा-बोझा ज्ञानी को है नहीं। आहाहा! **ताके न गनु विकार....** उस अनुभवी जीव को विकार (गिनती में) गिनने में आता नहीं। **न गनु**

बहु भार.... राग–द्वेष का विकल्प। **न गनु भव...** वह भव ही नहीं उसे। आहाहा! भव कैसे कहना? राग और राग के फल से जहाँ भिन्न पड़ा, ऐसे सम्यग्दर्शन में—सम्यग्ज्ञान में भव कैसा? आहाहा! **न गनु भव....** कहते हैं कि एकाध–दो भव हो, वह ज्ञान का ज्ञेय है, उसे भव नहीं। आहाहा! रागसहित ही जहाँ आत्मा नहीं, फिर उसे भवसहित आत्मा कहाँ से हो? आहाहा! लो, यह मनुष्यगति। आया था न, मनुष्य भव बिना मोक्ष नहीं होता। नहीं आया था? इसमें ही आया था। **डील बिना न सधे मोक्ष।**

यहाँ कहते हैं, मनुष्यपने की गति मुझे है, यह दृष्टि मिथ्यात्व है। भव नहीं, ऐसा कहा न! **न गनु भव....** लो। **आगे होनेवाले भव किसी गिनती में नहीं।** एकाध–दो भव हों, परन्तु वह भव हों, वह किसे? वह स्वयं तो ज्ञातादृष्टारूप से उसमें रहा हुआ है। भव में उपजना और भव का भाव उसका, यह तो है नहीं। आहाहा! भारी कठिन! कहो, कान्तिभाई! कब यहाँ आये आज? कुछ निवृत्त न हुए घर में से वहाँ? जयपुर में कोई निवृत्त नहीं हुआ, कहा। शान्तिभाई को पूछा था घर में से कोई... ? कहे, कोई नहीं। ठीक। कहते हैं, **न गनु भव....** आहाहा! सम्यग्दृष्टि एकावतारी है और दो भव है और... परन्तु यहाँ कहते हैं भव है ही नहीं। शकेन्द्र को कहा जाता है एक भवतारी। शकेन्द्र इन्द्र और इन्द्राणी दोनों एक भवतारी (होते हैं)। वह तो ज्ञान का ज्ञेय है। ज्ञान में धर्मी को भव है ही नहीं, क्योंकि भव और भव का भाव दोनों पर हैं, उससे तो पृथक् है। आहाहा! गति और गति का भाव, दोनों से धर्मी पृथक् है।

जाके हिरदै मांही, रतन चिंतामणी अनुभव.... लो। जिसके हृदय में अनुभव रत्न चिन्तामणि, उसे विकार नहीं गिना, भव नहीं गिना, भार नहीं गिना, ऐसा अनुभव रत्न चिन्तामणि है। वह पशु हों पशु शरीर से। अनुभव रत्न चिन्तामणि है उसे, कहते हैं, भव–बव नहीं, जाओ। कठिन काम यह! **स्वल्प काल ही में सिद्धपद पावेगा।** वह तो फिर स्पष्टीकरण किया है अर्थ में। बाकी तो वास्तव में शुद्ध अखण्ड आनन्द और ज्ञानस्वरूप है, ऐसा जहाँ अनुभव हुआ, वहाँ अब फिर कुछ है ही नहीं। विकल्प भी पर रह गया, भव पर रह गये। उसमें यहाँ कहाँ आया अन्दर? अल्प काल में मुक्ति होगी, यह तो फिर समझाया है अन्तिम पद में। मुक्त ही है। राग से मुक्त हुआ, अब फिर किससे उसे मुक्त होना है? अकेला चैतन्यस्वभाव का जहाँ आश्रय और अनुभव हुआ, राग से,

विकल्प से, व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प है, उससे मुक्त है वह तो। फिर राग बाकी है इसलिए भव है, वह तो सब ज्ञान का ज्ञेयरूप से बतलाने की बात है। समझ में आया?

सम्यग्दर्शन की प्रशंसा। लो, अनुभव की प्रशंसा की पहली। दूसरी सम्यग्दर्शन की। यह तो बात एक ही है।

★ ★ ★

काव्य - २९

सम्यग्दर्शन की प्रशंसा (सवैया इकतीसा)

जिन्हके हियेमैं सत्य सूरज उदोत भयौ,
फैली मति किरन मिथ्यात तम नष्ट है।
जिन्हकी सुदिष्टिमैं न परचै विषमतासौं,
समतासौं प्रीति ममतासौं लष्ट पुष्ट है।।
जिन्हके कटाक्षमैं सहज मोक्षपंथ सधै,
मनकौ निरोध जाके तनकौ न कष्ट है।
तिन्हके करमकी कलोलै यह है समाधि,
डोलै यह जोगासन बोलै यह मष्ट है।।२९।।

शब्दार्थ:-परचै (परिचय)=सम्बन्ध, नाता। विषमता=राग-द्वेष। समता= वीतरागता। लष्ट पुष्ट=विरुद्ध। कटाक्ष=निगाह। करमकी कलोलै=कर्म के झकोरे। समाधि=ध्यान। डोलै=फिरै। मष्ट=मौन।

अर्थ:-जिनके हृदय में अनुभव का सत्य सूर्य प्रकाशित हुआ है और सुबुद्धिरूप किरणें फैलकर मिथ्यात्व का अन्धकार नष्ट करती हैं, जिनके सच्चे श्रद्धान में राग-द्वेष से नाता नहीं है, समता से जिनका प्रेम और ममता से द्रोह है; जिनकी चिन्तवन मात्र से मोक्षमार्ग सधता है और जो कायक्लेश आदि के बिना मन आदि योगों का निग्रह करते हैं; उन सम्यग्ज्ञानी जीवों के विषय-भोग भी समाधि हैं, चलना-फिरना योग वा आसन हैं और बोलना-चालना ही मौनव्रत है।

भावार्थः-सम्यग्ज्ञान प्रगट होते ही गुणश्रेणी निर्जरा प्रगट होती है, ज्ञानी जीव चारित्रमोह के प्रबल उदय में यद्यपि संयम नहीं लेते-अव्रत की दशा में रहते हैं-तो भी कर्मनिर्जरा होती ही है अर्थात् विषय आदि भोगते, चलते-फिरते और बोलते-चालते हुए भी उनके कर्म झड़ते हैं। जो परिणाम, समाधि योग आसन मौन का है वही परिणाम ज्ञानी के विषय-भोग, चलन-फिरन और बोल-चाल का है। सम्यक्त्व की ऐसी ही अटपटी महिमा है।।२९।।

काव्य-२९ पर प्रवचन

जिन्हके हियेमैं सत्य सूरज उदोत भयौ,
फैली मति किरन मिथ्यात तम नष्ट है।
जिन्हकी सुदिष्टिमैं न परचै विषमतासौं,
समतासौं प्रीति ममतासौं लष्ट पुष्ट है॥

विरुद्ध है। **लष्ट पुष्ट** (अर्थात्) विरुद्ध है। वीतरागता से समेत है और ममता से रहित है, ऐसा।

जिन्हके कटाक्षमैं सहज मोक्षपंथ सधै,
मनकौ निरोध जाके, तनकौ न कष्ट है।
तिन्हके करमकी कलोलै यह है समाधि,
डालै यह जोगासन बोलै यह मष्ट है॥२९॥

कहते हैं, जिसके हृदय में अनुभव का सत्य सूर्य प्रकाशित हुआ... जिसके ज्ञान में अनुभव में ज्ञानस्वरूप भगवान जागृत हुआ, **सत्य सूरज उदोत भयौ....** सच्चा सूरज, खोटा यह सूर्य वह नहीं। चैतन्यसूर्य—अनन्त प्रकाश का पुंज ऐसा सूर्य—जहाँ प्रगट हुआ अनुभव में **फैली मति किरन....** सम्यग्ज्ञान की मति फैली, **मिथ्यात तम नष्ट है....** मिथ्यात्व अन्धकार का वहाँ व्यय है। **सुबुद्धिरूप किरणें फैलकर....** सम्यग्ज्ञान की कला... सूर्य में से जैसे प्रकाश (आता है), उसी प्रकार अन्तर चैतन्य प्रकाश में से प्रकाश की किरण दशा में जागृत हुई—उत्पन्न हुई, मिथ्यात्व को नष्ट किया है।

जिन्हकी सुदृष्टिमैं न परचै विषमता.... जिसके सच्चे श्रद्धान में राग-द्वेष का नाता नहीं। सम्यग्दृष्टि अनुभवी ज्ञानी को राग के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं, सम्बन्ध नहीं। व्यवहार रत्नत्रय के राग के साथ धर्मी को कुछ सम्बन्ध नहीं, ऐसा कहते हैं। अरे... अरे... ! वे कहें, व्यवहार पहले होता है, व्यवहार हो तो निश्चय होता है। आहाहा! यहाँ तो भगवान आत्मा चैतन्यस्वभाव से भरपूर तत्त्व निर्मल निर्विकल्प अभेद—ऐसा जो अन्तर अनुभव, उसे अनुसरकर दशा हुई, कहते हैं, उसके सच्चे श्रद्धान में राग-द्वेष का नाता ही नहीं। अनुभव में और सम्यग्दर्शन में राग के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं। व्यवहार श्रद्धा—देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का राग, पंच महाव्रत का विकल्प—राग, धर्मी को उसके साथ कुछ सम्बन्ध नहीं।

जिन्हकी सुदिष्टिमैं न परचे विषम... उसे विषमता स्पर्शती ही नहीं अर्थात् कि राग को वह छूता ही नहीं। आहाहा! अपने आनन्द और ज्ञानस्वभाव को वेदता—अनुभवता धर्मी, उसे राग के साथ परिचय है ही नहीं। **समतासौ प्रीति...** वीतरागभाव की दशा की जागृति, वह प्रीति। **ममतासौ** विरुद्ध। राग मेरा, ऐसी ममता से तो विरुद्ध है। आहाहा! **समतासौं प्रीति ममतासौ लष्ट पुष्ट है—**विरुद्ध है। वीतरागता का जहाँ भाव प्रगट हुआ है, वहाँ रागभाव से तो विरुद्ध है, विपरीत उसका भाव है। राग के साथ नाता नहीं—सम्बन्ध नहीं। (शास्त्र में ऐसा आवे कि) दसवें गुणस्थान तक राग (होता है)। ऐई! यहाँ कहते हैं, राग के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं। कठिन बात! राग के साथ सम्बन्ध करे, तब तो बन्ध हुआ, बन्ध हुआ तो मिथ्यादृष्टि हुआ। आत्मा को बन्धवाला माना। राग और कर्मबन्ध, वह अजीव है, उस सहित माने, तब तो मिथ्यात्वभाव हुआ, भव का बीज हुआ। यहाँ तो आत्मा राग और कर्म से रहित है, ऐसा जो आत्मा का अनुभव, उसे ममता से तो विरोध है। राग मेरा है, यह बात उसकी दृष्टि में है (नहीं)। देव-गुरु मेरे—ऐसा ज्ञानी को अन्तर में नहीं, ऐसा कहते हैं।

जिन्हके कटाक्षमैं सहज मोखपंथ सधै.... आहाहा! जिसकी ज्ञान की उग्रता के सहज कटाक्ष में मोक्ष का पंथ सधे। कष्ट नहीं, परन्तु सहजदशा में मोक्ष सधे, ऐसा कहते हैं। जिसे कटाक्ष में... कटाक्ष अर्थात् चिन्तवनमात्र, ऐसा। अन्तर की ज्ञान की धारा की एकाग्रतामात्र से मोक्षमार्ग सधे। उसे ऐसा कष्ट (सहन) करना पड़े और व्रत-तप और

यह करे, तब मोक्षमार्ग सधे, ऐसा है नहीं। यह तो घर-घर में नाटक हुआ था पहले। समयसार नाटक बना तब। उसमें आया है, घर-घर नाटक कथा बखानी। तथापि क्या हुआ यह सब? बाहर की बात अकेली रह गयी। यह मन्दिर बनाओ, व्रत पाला, दान करो, भगवान की भक्ति करो, बड़ी शोभायात्रा निकालो, लो। वरघोड़ा समझे? रथ... रथयात्रा। यह क्रिया तो पर है। उसके विकल्प उठे, वह राग है, पर है। आहाहा!

कहते हैं, धर्मात्मा को तो ज्ञान की एकाग्रता के कटाक्ष में ही मोक्षपंथ सधता है। उसे कुछ कष्ट सहन करना पड़े, दुःख हो—ऐसी चीज़ ज्ञानी को है (नहीं)। आहाहा! ठीक यह पहले खोज निकाला, और ऐसा कहते हैं। अरे भगवान! आनन्दस्वरूप भगवान है। उस आनन्द से, शान्ति से प्राप्ति हो। उसकी (प्राप्ति) दुःख से होती है? सहन करना पड़े, आहाहा, प्यास लगी, पानी सही मिले नहीं, कुछ पीया जाये नहीं, बापू! सहन करने से निर्जरा होती है। यहाँ कहते हैं कि बन्ध होता है, सुन न! मिथ्यात्व का बन्ध होता है। यह मैंने सहन किया, यह मुझे हुआ है, तृषा मुझे लगी है, यह भाव ही मिथ्यात्व है। तृषा किसे लगे? समझ में आया? ऐसा अधिकार गजब!

'मनकौ निरोध जाके तनकौ न कष्ट है' लो। जिसे कायक्लेश बिना मन का रोधन सहज हो जाता है, ऐसा कहते हैं, मन रुक जाता है। स्वरूप में दृष्टि स्थिर होने से, अन्तर निर्विकल्प आनन्द का वेदन होने से, कायक्लेश बिना मन का रुकना सहज हो जाता है। आहाहा! **तिन्हके करमकी कलोलैं यह है समाधि....** आहाहा! कर्म का उदय वर्ते... कहते हैं कि उसे समाधि है, क्योंकि वह तो ज्ञान करता है। धर्मी तो, राग का उदय है, उसका ज्ञान करता है। राग करता है और मुझमें राग है, ऐसा तो है नहीं। राग हो, वहाँ तो ज्ञान होता है। राग है, इसलिए (ज्ञान होता है), ऐसा नहीं। राग है, इसलिए ज्ञान होता है—ऐसा भी नहीं। राग का ज्ञान, राग है, इसलिए होता है—ऐसा नहीं। आत्मा ज्ञानमय है, इसलिए आत्मा का ज्ञान होने पर, राग का ज्ञान (अर्थात् कि) राग सम्बन्धी का अपना ज्ञान अपने से होता है, वह उसे समाधि है, ऐसा कहते हैं।

तिन्हके करमकी कलोलैं,.... देखो। **(सम्यग्ज्ञानी) जीवों के विषय-भोग भी समाधि है।** वे लगा देते हैं। किस प्रकार से है? विषय भोग की वृत्ति जो हुई, उसमें एकत्व नहीं और भिन्न पड़कर उस सम्बन्धी का अपना ज्ञान अपने से करता है, वह

समाधि है। आहाहा! विषयभोग का विकल्प है, वह तो राग है। परन्तु राग को पृथक् रखकर, अपने स्वभाव से स्व और पर को जानने की क्रिया हो, वह समाधि है। स्व-परप्रकाशक ज्ञान खिला है, वह समाधि कहलाती है। जोर कितना दिया बनारसीदास ने! **डोलै यह जोगासन....** चले, वह स्थिर है, कहते हैं। समकिती चले, वह तो सब खिर जाता है, ऐसा कहते हैं। चलने की क्रिया खिर जाती है। ज्ञातारूप से जानता है कि चलने की क्रिया होती है। वह परसन्मुख की अपेक्षा का ज्ञान। आहाहा! **चलना-फिरना योग वा आसन है....** लो। स्थिर होकर बैठा मानो। चलता है, वह स्थिर होकर बैठा है। वह काय का कम्पन, क्रिया सब छूटती जाती है। ज्ञानस्वरूप आनन्द हूँ, ऐसे अन्तर अनुभव में उस क्रिया का जहाँ स्पर्श नहीं, उस क्रिया का जहाँ छूना नहीं अर्थात् कि आसन में मानो बैठा हो, ऐसा कहा गया है। स्व के आसन में बैठा हो, ऐसा। चैतन्य के आसन में बैठा है योग की क्रिया के काल में। आहाहा! गजब!

शुद्ध ध्रुव परमात्मस्वभाव अपना ऐसा जहाँ अन्दर स्पर्श हुआ अर्थात् हो गया। अब राग का स्पर्श और कम्पन का स्पर्श है ही नहीं उसे। मिथ्यात्व गया, सम्यक्त्व हुआ, फिर अव्रत, प्रमाद, कषाय, योग के परिणाम, वे तो उसमें नहीं। उसके नहीं, उसमें नहीं। कठिन काम! यह तो निश्चय की बात है, ऐसा कहे वापस। निश्चय अर्थात् सच्चा, व्यवहार अर्थात् आरोपित कथन खोटा। आहाहा! सम्यग्ज्ञानी जीव (को) चलना-फिरना-योग कम्पन वह आसन है। स्थिर है, कहते हैं। है तो भले, परन्तु छूट जाता है। आहाहा! बोलना-चलना, वह मौनव्रत है, लो। बोले कौन? चले कौन? वह तो ज्ञान में उस प्रकार का अपना स्वावलम्बी स्व-परप्रकाशक का ज्ञान प्रगट होता है, उसमें 'यह जानता है' ऐसा कहना, वह भी व्यवहार है। उसे कहाँ जानता है? वास्तव में तो अपने को जानता है। वह अपने को जानने में रहा है, वही उसे मौनव्रत है। बोले तो भी मौनव्रत, चले तो स्थिर। अरे, अरे! ऐसा कि चैतन्य भगवान पूर्ण अनन्त... अनन्त... स्वच्छता और शान्ति का स्वरूप उसका है, ऐसा जहाँ दृष्टि में स्पर्श हुआ, वेदन हुआ, निर्विकल्प सम्यग्दर्शन और ज्ञान प्रगट हुआ। हो गया, अब जितनी सब क्रियायें हैं, वे पर हैं और पर के कारण उसमें आत्मा को कुछ हो, ऐसा है नहीं।

लो, **डोलै यह जोगासन... डोलै यह जोगासन बोलै यह मष्ट है....** भाषा... बोले,

वह मौन है सब। अटपटी, नहीं आया उसमें? **चिनमूरति दृगधारीकी मोहे रीति लगत है अटापटी... अटापटी** आता है न उसमें (भजन में)। इन्द्रियों के विषय में, इन्द्राणी के संग में रहे तो भी, कहते हैं, उसे कर्म झटाझटी है, वह कर्म खिरता जाता है। अरे, अरे!

मुमुक्षु : रमत अनेक सुरनि संग पै तिस, परणति तैं नित हटाहटी।

पूज्य गुरुदेवश्री : हटाहटी। परपरिणति से तो हटाहटी है। आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द के ज्ञान की जहाँ जागृति हुई, अतीन्द्रिय ज्ञान के आनन्द के समक्ष यह सब क्रियायें.... यह विकल्प से पृथक् पड़ा है न! आहाहा!

लो, बहुत विरोध हुआ था। मेघविजय श्वेताम्बर साधु थे। उपाध्याय, मेघविजय। यह बनारसीदास हुए... उन्होंने (बनारसीदास का) बहुत विरोध किया था। यह तो व्यवहार को तो भुक्का उड़ाते हैं। व्यवहार अकेला बन्ध... बन्ध... बन्ध... नहीं, एकान्त मिथ्याभासी है। यह सब पढ़ा है (उन्होंने) हों। भाई हुकमचन्दजी कहते थे, हुकमचन्द। उन्होंने पढ़ा है। पुस्तकें सब इकट्ठी की हैं। हुकमचन्दजी को (पूछा) कि मेघविजय की (पुस्तक) है? हाँ, है पुस्तक, पढ़ी है। सब इकट्ठी की है। वांचन बहुत, हों! मेघविजय का। यह भाई क्या कहलाते हैं? हुकमचन्दजी। मेघविजय की मैंने बात की तो (कहे) वह मैंने पढ़ा है। है यहाँ पुस्तक। क्या कुछ नाम? युक्ति प्रबोध। श्वेताम्बर को तो यह कठोर लगे। वह तो क्रिया के ऊपर ही उनका पूरा आधार है। व्रत और तप यह सब ही धर्म, उसके ऊपर आधार। उसे कहते हैं कि तेरे व्रत और तप, वे बन्धन के कारण हैं, जहर है। जहर पीता है। आहाहा!

अन्तर के आनन्द के स्वाद के समक्ष, कहते हैं, चलना—चलना—बोलना होता है, वह सब खिर जाता है। कहीं उसका स्वाद उसे है (नहीं)। आहाहा! बोलने का प्रेम नहीं, चलने का प्रेम नहीं, रुचि नहीं। रुचि तो आत्मा के ऊपर है। आहाहा! इसलिए धर्मी बोले तो भी मौन है, चले तो भी स्थिर है, यह भोग ले तो भी समाधि है, कहते हैं। इस अपेक्षा से, हों! भोग का विकल्प है, वह समाधि नहीं। परन्तु उसमें उसका स्वीकार नहीं (और) स्वभाव का स्वीकार वर्तता है। उसकी नास्ति वर्तती है—विकृति की स्वभाव में नास्ति वर्तती है, वैराग्य है। स्वभाव में पूर्ण की प्रतीति का भान वर्तता है।

आहाहा! यह तो जिसे अल्प काल में मुक्ति होनेवाली है, उसकी बातें हैं यह तो। जिसे भटकने का पड़ा है अनन्त, उसे यह बात अन्तर में बैठना कठिन पड़े।

सम्यग्ज्ञान प्रगट होते ही.... भावार्थ में लिखा है, **गुणश्रेणी निर्जरा प्रगट होती है...** उसे कर्म की धारा खिरती जाती है, टलती जाती है, ऐसी दशा होती है। **ज्ञानी जीव चारित्रमोह के प्रबल उदय में यद्यपि संयम नहीं लेते....** देखो! प्रबल उदय का अर्थ पुरुषार्थ की इतनी कमी है। संयम नहीं लेते अव्रती सम्यग्दृष्टि। **अव्रत की दशा में रहते हैं तो भी कर्मनिर्जरा होती है।** वे तो कहे, नहीं। वह दृष्टान्त जहाँ-तहाँ (दे)। समकिती चाहे जैसा करे परन्तु हाथी के स्नान जैसा है, यह दृष्टान्त दे। भाई! आता है न! वह तो चारित्र की अपेक्षा से बात है। यहाँ तो सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा से बात है। अव्रत के परिणाम जो हैं, वे उसके अपने (हैं, ऐसा) स्वीकारता नहीं, फिर प्रश्न कहाँ? अव्रत के परिणाम हैं, वे पर हैं। अपने हैं, वह मानता नहीं (फिर) प्रश्न कहाँ आया? आहाहा! अव्रत को रागभाव है, राग पर है। अपनी अस्ति में द्रव्य-गुण-पर्याय में—तीनों में राग नहीं। आहाहा!

अव्रत की दशा में रहते हैं तो भी कर्मनिर्जरा होती है अर्थात् विषय आदि भोगते, चलते फिरते... और ऐसा ले वहाँ वे कहे, देखो! यहाँ तो अशुभभाव में निर्जरा कही है तो शुभभाव से निर्जरा क्यों नहीं होगी? ले! कहाँ की बात करता है..., सुन तो सही! यह अशुभभाव से निर्जरा कहते हैं? अन्दर राग रहित ऐसा अनुभव वर्तता है, उसके कारण निर्जरा है। अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद के समक्ष जहाँ राग का स्वाद जहर जैसा लगता है। इससे उसे अन्तर के आनन्द के स्वाद में अशुद्धता टलती है, कर्म गलते हैं। **चलते-फिरते और बोलते-चालते हुए भी उनके कर्म झड़ते हैं।** उस-उस काल का उदय आकर, उस-उस काल में ज्ञान भी उसी प्रकार के स्व-पर प्रकाश का ज्ञान करता हुआ, वह चीज़ खिर जाती है। अपने अस्तित्व में वह राग आया, ऐसा ज्ञानी मानता (नहीं)। उसका उस सम्बन्धी का अपना स्व-परप्रकाशक ज्ञान अपने में आया है, ऐसा मानता है। आहाहा! गजब!

जो परिणाम, समाधि योग आसन मौनका है.... यह फल, ऐसा कहते हैं,

परिणाम समाधि का, योग का और आसन का, मौन का। **वही परिणाम ज्ञानी के विषय-भोग, चलन-फिरन और बोलचाल का है। सम्यक्त्व की ऐसी ही अटपटी महिमा है।** लो आया। अटपटा है। आस्रव आवे परन्तु आस्रव की झटाझटी है, आस्रव खिरता जाता है। आता है न! आहाहा! हटाहटी। बन्ध वस्तु को स्वयं मानता नहीं। राग ही जहाँ मानता नहीं फिर यह तो क्या? अबद्ध परिणामी द्रव्य, गुण और पर्याय मेरी चीज़ है। द्रव्य से अबद्ध हूँ, गुण से अबद्ध और परिणाम से अबद्ध—मुक्तस्वरूप हूँ, तुम अबद्ध कहो या मुक्त कहो। अब यह मुक्तस्वरूप है, उसमें राग के साथ आया जुड़ान, वह कहाँ आया उसमें? कैसी सूक्ष्म बातें हैं!

अबद्धस्पृष्ट जहाँ कहा, अबद्धस्पृष्ट तो नास्ति से कहा। अस्ति से कहो तो मुक्तस्वरूप है। सम्यग्दृष्टि की दृष्टि में द्रव्य मुक्त, गुण मुक्त और पर्याय भी मुक्त। राग और व्यवहार से मुक्त है, इसलिए मुक्त ही है। आहाहा! कहो, कान्तिभाई! ऐसा काम है भारी कठिन! दुनिया के साथ तुलना नहीं होती, उसने लिखा है न! गायन आया है मुम्बई का। है न उसमें। वह उसमें है? वह गुजराती है। वह मुम्बई में व्याख्यान हुआ था न, तो एक अपना वींछियावाला है, प्रेमचन्दभाई के लड़के का लड़का है, उसने बनाया है। कवि है कवि। अभी लगाया था वहाँ पोरबन्दर। यहाँ कहते हैं, आहा! समकित की ऐसी अटपटी महिमा है। आहाहा! विकल्प का अंश है, उसके साथ भी जहाँ सम्बन्ध नहीं और सम्बन्ध होवे, तब तो मिथ्यादृष्टि बन्ध है वह तो। इसलिए कहते हैं, सम्यग्दृष्टि की अनुभवी की दशा अटपटी है। दुनिया को ख्याल में आना महा अलौकिक बात है। उसे निर्जरा होती है, ऐसे जीव को। क्षण-क्षण में सब खिरता जाता है और शुद्धता बढ़ती जाती है, उसे निर्जरा कहा जाता है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ७७, ज्येष्ठ कृष्ण ९, गुरुवार, दिनांक १७-०६-१९७१
निर्जरा द्वार, काव्य - ३० से ३३

निर्जरा अधिकार। समयसार नाटक। ३०वाँ पद है। **परिग्रह के विशेष भेद कथन करने की प्रतिज्ञा।**

इत्थं परिग्रहमपास्य समस्तमेव,
सामान्यतः स्वपरयोरविवेकहेतुम्।
अज्ञानमुज्झितुमना अधुना विशेषाद्,
भूयस्तमेव परिहर्तुमयं प्रवृत्तः ।।१३।।

★ ★ ★

काव्य - ३०

परिग्रह के विशेष भेद कथन करने की प्रतिज्ञा (सवैया इकतीसा)

आतम सुभाउ परभाउकी न सुधि ताकौं,
जाकौ मन मगन परिग्रहमैं रह्यौ है।
ऐसौ अविवेककौ निधान परिग्रह राग,
ताकौ त्याग इहांलौं समुच्चैरूप कह्यौ है।।
अब निज पर भ्रम दूरि करिवैकै काज,
बहुरौं सुगुरु उपदेसको उमह्यौ है।
परिग्रह त्याग परिग्रहकौ विशेष अंग,
कहिवेकौ उद्दिम उदार लहलह्यौ है।।३०।।

शब्दार्थः-सुधि=खबर। अविवेक=अज्ञान। राग=प्रेम। समुच्च=इकट्ठा। उमह्यौ है=तत्पर हुआ है। कहिवेकौ=कहने को।

अर्थः-जिसका चित्त परिग्रह में रमता है, उसे स्वभाव-परभाव की खबर नहीं रहती, इसलिए परिग्रह का प्रेम अज्ञान का कोष ही है। उसका यहाँ तक सामान्य रीति से समुच्चयरूप त्याग कहा है; अब श्रीगुरु निज-पर का भ्रम दूर करने के लिये परिग्रह त्याग और परिग्रह के विशेष भेद कहने को उत्साहपूर्वक सावधान हुये हैं।।३०।।

काव्य-३० पर प्रवचन

आतम सुभाउ परभाउकी न सुधि ताकौं,
जाकौ मन मगन परिग्रहमैं रह्यौ है।
ऐसौ अविवेककौ निधान परिग्रह राग,
ताकौ त्याग इहांलौं समुच्चैरूप कह्यौ है॥
अब निज पर भ्रम दूरि करिवैकै काज,
बहुरौं सुगुरु उपदेसको उमह्यौ है।
परिग्रह त्याग परिग्रहकौ विशेष अंग,
कहिवेकौ उद्दिम उदार लहलह्यौ है॥३०॥

अपने सुभाउ परभावकी न सुधि.... आत्मा शुद्ध आनन्दस्वरूप और परभाव—विकल्प से लेकर परवस्तु सब परिग्रह। शुभ विकल्प है, उससे लेकर सब चीज़ें, वह सब परिग्रह में गिनने में आती हैं। आत्मा उनसे अत्यन्त भिन्न है। ऐसा जहाँ भान नहीं, वहाँ स्वभाव और परभाव की सुधि नहीं। विकल्प राग और स्वभाव भिन्न शुद्ध—दोनों का जहाँ अन्दर विवेक नहीं, वह परिग्रहवन्त है। **जाकौ मन मगन परिग्रहमें रह्यो है...** जिसे चिदानन्द आत्मा ज्ञानस्वभाव आनन्दस्वरूप, उसका विकल्प से लेकर (सर्व) पर(वस्तु) से भिन्न है, ऐसा जिसे भान नहीं, वह विकल्प में मग्न है। वह परिग्रह में मग्न रहा है। निर्जरा अधिकार है न! राग का—विकल्प की पकड़ है, वह परिग्रहवन्त है (और) उसे बन्धन है। और विकल्प से लेकर पर चीज़, उससे चैतन्य भिन्न है, ऐसा भान है, वहाँ निर्जरा है, ऐसा कहना है। समझ में आया? '**आतम सुभाउ**' और **परभाव...** विकल्प से लेकर शुभ दया, दान, व्रत से लेकर सब चीज़ें—वह सब परभाव—परवस्तु है, उसकी जिसे सुधि नहीं, राग और (पर) वस्तु से (मेरी) चीज़ भिन्न है, ऐसी जिसे सूझ पड़ती नहीं, उसका मन तो राग में लीन है। वह परिग्रह में लीन है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? जो वस्तु में नहीं, उसमें जिसकी लीनता है, वह परिग्रह में लीन है। आहाहा!

ऐसौ अविवेककौ निधान परिग्रह राग.... कहते हैं कि शुभराग का विकल्पमात्र

परिग्रह है और आत्मा उससे भिन्न चीज़ है, ऐसा जिसे भान नहीं, वह **अविवेककौ निधान...** स्वयं राग की एकता, वह स्वयं अज्ञान का निधान है, अविवेक का निधान है। आहाहा! राग की रुचि छूटकर स्वभाव की दृष्टि हुई, उसे आत्मा वह वस्तु है। उसे राग से लेकर सब चीज़ का राग और रस उड़ गया है समकिती को। इसलिए समकिती को निर्जरा है, ऐसा सिद्ध करना है। समझ में आया? **अविवेककौ निधान...** राग, कर्म, शरीर आदि सब चीज़ें, वह सब अविवेक का निमित्त है। उससे भिन्न पड़ता नहीं और उसमें एकत्व है, वह अज्ञान का कारण है। **अविवेककौ निधान... परिग्रह का प्रेम अज्ञान का कोष है।** अज्ञान का भण्डार है, कहते हैं। ऐसा कहा न अर्थ में। कोष अर्थात् भण्डार, निधान। चैतन्य ज्ञान-आनन्दस्वरूप, इसके अतिरिक्त रागादि शुभ हो या अशुभ, उसका जिसे प्रेम है, वह अविवेक का भण्डार है। उसमें से अज्ञान ही बढ़ता है। देखो, यह बाह्य पैसा और यह तो कहीं रह गये।

ताकौ त्याग इहांलौं समुच्चैरूप कह्यौ है... राग का विकल्प और स्वभाव—दोनों में धर्मी को... राग का त्याग, उसमें परिग्रह का त्याग सामान्यरूप से कहा। राग, ज्ञानी को राग है ही नहीं। ज्ञानी को राग का राग नहीं, इसलिए ज्ञानी को परिग्रह का त्याग है। रागादि, लक्ष्मी आदि सब त्याग ही है दृष्टि में, ऐसा कहते हैं। **ताकौ त्याग इहांलौ समुच्चैरूप कह्यौ, अब निज पर भ्रम दूरि करिवैकै काज...** अब अनेक प्रकार के विशेष राग के भाग—शुभ-अशुभ के और कर्म का उदय आदि चीज़ और बाह्य सामग्री—इस प्रत्येक चीज़ में जहाँ-जहाँ एक-एक में पकड़ है, वह अविवेक और अज्ञान है। वह **निज पर भ्रम दूर करिवैके....** राग से लेकर परचीज़ और स्वयं स्व-चीज़—इन दो की एकता वह भ्रम है। राग मैं हूँ, पुण्य मैं हूँ, पुण्य मुझे बँधता है, पुण्य की सामग्री मुझे मिली है—यह सब अज्ञान है। समझ में आता है? आहाहा!

निज पर भ्रम दूरि करिवैकै काज, बहुरौं सुगुरु... धर्मात्मा उपदेश के लिये सावधान हुए हैं। **परिग्रह त्याग परिग्रहकौ विशेष अंग...** परिग्रह अर्थात् पर की पकड़। उसका त्याग, उसके विशेष प्रकार। **कहिवेकौ उद्दिम उदार लहलह्यौ है....** कहने के लिये उत्साहपूर्वक सावधान हुए हैं। आहाहा! कितना कहा! वस्तु... वस्तु जो है चैतन्य, वह तो अकेला आनन्द और ज्ञान का भण्डार है, उसकी पकड़, वह निज परिग्रह है।

इसके अतिरिक्त चाहे तो शुभराग हो या अशुभ हो या बन्धन हो या बाह्य संयोग हो—उनमें कहीं भी मेरेपने की बुद्धि है, वह अविवेक और अज्ञान है। इसलिए भिन्न-भिन्न भाव और भिन्न-भिन्न चीज़ें, उनकी एकत्वबुद्धि छुड़ाने के लिये भिन्न-भिन्न परिग्रह की व्याख्या करते हैं।

★ ★ ★

काव्य - ३१

सामान्य-विशेष परिग्रह का निर्णय (दोहा)

त्याग जोग परवस्तु सब, यह सामान्य विचार।
विविध वस्तु नाना विरति, यह विशेष विस्तार।।३१।।

शब्दार्थ:-परवस्तु=अपने आत्मा के सिवाय अन्य सब चेतन-अचेतन पदार्थ। सामान्य=साधारण। विरति=त्याग।

अर्थ:-अपने आत्मा के सिवाय अन्य सब चेतन-अचेतन पर पदार्थ त्यागने योग्य हैं, यह सामान्य उपदेश है और उनका अनेक प्रकार से त्याग करना यह परिग्रह का विशेष त्याग है।

भावार्थ:-मिथ्यात्व, राग, द्वेष आदि चौदह अंतरंग परिग्रह और धन-धान्यादि दस बाह्य परिग्रह-इन सबका त्याग सामान्य त्याग है, और मिथ्यात्व का त्याग, अव्रत का त्याग, कषाय का त्याग, कुकथा का त्याग, प्रमाद का त्याग, अभक्ष्य का त्याग, अन्याय का त्याग आदि विशेष त्याग हैं।।३१।।

काव्य-३१ पर प्रवचन

त्याग जोग परवस्तु सब, यह सामान्य विचार।
विविध वस्तु नाना विरति, यह विशेष विस्तार॥३१॥

ओहो! गजब संक्षिप्त में! **त्याग जोग परवस्तु.... अपने आत्मा के सिवाय...**

भगवान ज्ञायक चिदानन्द ध्रुव, इसके अतिरिक्त, **अन्य सब चेतन-अचेतन पर पदार्थ त्यागने योग्य हैं। यह सामान्य उपदेश है।** अकेला प्रभु शुद्ध चैतन्य द्रव्य, वह अंगीकार करनेयोग्य है और इसके अतिरिक्त का कोई भी शुभ विकल्प से लेकर सब चीज़ें हेय है, छोड़नेयोग्य है, वस्तु में वह नहीं। यह सामान्य उपदेश हुआ। परिग्रह के त्याग का सामान्य उपदेश कहा। समझ में आया इसमें? **और उनका अनेक प्रकार से त्याग करना, यह परिग्रह का विशेष त्याग है।** अन्दर में शुभराग के असंख्य प्रकार, अशुभ के असंख्य प्रकार, उसके बन्ध के अनेक प्रकार, उसके फल के अनेक प्रकार—इन सबका त्याग कहना कि यह नहीं... यह नहीं... यह नहीं, यह विशेष परिग्रह का त्याग है।

मिथ्यात्व, राग, द्वेष आदि चौदह अंतरंग परिग्रह,... लो। मिथ्यात्व—विपरीत मान्यता। अंश जितना मैं, राग वह मैं, पुण्य के परिणाम वह मैं, उसे बन्धन हुआ वह मेरे, मुझे, उसे फल आया वह मुझे—ऐसा जो मिथ्यात्वभाव, वह अन्तरंग परिग्रह है, उसका त्याग। ऐसे राग-द्वेष। शुभ और अशुभ राग, वह भी अन्तरंग परिग्रह है। वस्तु में नहीं और (इसलिए) उसे पकड़ना, वह परिग्रह है। यह मिथ्यात्व परिग्रह है। समझ में आया? पैसा-बैसा तो कहीं रह गये। पैसे मेरे, (ऐसा माने वह) मूढ़ है, कहते हैं, मिथ्यादृष्टि है। शरीर मेरा, कर्म मुझे, कर्म मेरे, यह स्त्री मेरी, पुत्र मेरे—इनके प्रति उत्पन्न हुआ राग, वह राग वह मेरा, वह मिथ्यात्वभाव है। वह अन्तरंग परिग्रह का त्याग कहा।

और धन-धान्यादि दस बाह्य परिग्रह... इन सबका त्याग, वह सामान्य त्याग। सब नहीं। राग भी नहीं और धन-धान्य भी नहीं। **और मिथ्यात्व का त्याग....** अब भेद करते हैं। विपरीत मान्यता का त्याग, अव्रत का त्याग, कषाय का त्याग। उसके भेद पड़े वह तो सब। मिथ्यात्व, वह परिग्रह है, उसका त्याग; अव्रत परिग्रह है, उसका त्याग; कषाय परिग्रह है, उसका त्याग; कुकथा का त्याग, विपरीत कथा की पकड़ का त्याग, प्रमाद का त्याग... प्रमाद भी परिग्रह है, उसका त्याग। प्रमादभाव, वह स्वरूप में है नहीं। उस प्रमाद की पकड़ मेरी, मुझे प्रमाद, यह मिथ्यात्व का परिग्रह है। गजब, भाई!

स्त्री-पुत्र छोड़कर बैठे न कि हम परिग्रह के त्यागी हुए। स्त्री-पुत्र मैंने छोड़े, इसका अर्थ ही कि वे मेरे थे, (ऐसा माना था)। यह मान्यता ही मिथ्यात्व है। राग मैंने छोड़ा। तो राग मेरा था, ऐसा माना था न? तूने छोड़ा (यह मान्यता) मिथ्यात्व है,

मिथ्यात्व का परिग्रह है। अभक्ष्य का त्याग। इसका अर्थ कि जो आत्मा के आनन्द और ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव के अतिरिक्त कोई भी चीज़, वह सब परिग्रह है, उसका त्याग। अन्याय का त्याग। यह विशेष प्रकार हुए, सामान्य यह कि विकल्प से लेकर पर का त्याग। अब भेद करके शुभविकल्प का त्याग, अशुभ का त्याग, कषाय का त्याग, प्रमाद—यह विशेष त्याग है।

सामान्य और विशेष किसी भी प्रकार का जो परिग्रह है, वह मुझे है, मेरा है—यह मान्यता अविवेक और अज्ञान है, यह यहाँ बात करते हैं। समझ में आया? भाषा भारी मीठी, स्पष्ट, मैं सुन्दर बोलनेवाला। (यह मान्यता) मिथ्यात्व का परिग्रह है। पद्धतिसर बोलनेवाला। बोले कौन? वाणी किसकी? वह वाणी का परिग्रह है, उसे मिथ्यात्व का, ऐसा कहते हैं। मेरा उपदेश दुनिया को अच्छा लगता है, (यह मान्यता) मिथ्यात्व का कारण है। उपदेश। यह विशेष परिग्रह की बात चलती है। मैंने उपदेश किया, यह उपदेश की पकड़, वह परिग्रह हुआ, वह मिथ्यात्व है। आहाहा! समझ में आया?

यह शास्त्र के पठन की पकड़, वह भी मिथ्यात्व की पकड़ है। और एक समय की पर्याय जितना—पर्यायबुद्धि, वह भी मिथ्यात्व का परिग्रह है। आहाहा! यह निर्जरा अधिकार है। अर्थात् कि स्वभाव के अतिरिक्त कोई भी अंश(मात्र) किसी भी चीज़ को अपनी मानना, उसे मिथ्यात्व का परिग्रह और मिथ्यात्व लगता है। और आत्मा के अतिरिक्त कोई भी विकल्प आदि मेरा नहीं, मुझमें नहीं, मेरा परिणमन अत्यन्त शुद्ध है। द्रव्य शुद्ध है, गुण शुद्ध है और पर्याय शुद्ध है, यह उसकी चीज़ है। इसके अतिरिक्त दूसरी चीज़ का अन्दर दृष्टि में त्याग है, उसे निर्जरा होती है, ऐसा कहना है। समझ में आया? उसे कर्म गलते हैं और उसे शुद्धि बढ़ती है। और ऐसे बाह्य स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, धन्धा-पानी मैंने छोड़ा, ऐसा जो भाव, मिथ्यात्वभाव है। वह कोई अन्दर थे नहीं, तूने किये नहीं थे। वह तो जड़ की क्रिया पर की थी, उसका नाम भी परिग्रह। मैंने यह छोड़ा, इसका नाम भी परिग्रह मिथ्यात्व है। बहुत सूक्ष्म! कहाँ तक कातना है सूक्ष्म?

यहाँ तो एक समय की पर्याय के ऊपर अहंभाव, वह भी मिथ्यात्वभाव का परिग्रह है। उसे क्षण-क्षण में बन्धन ही है, भले त्यागी हो, पंच महाव्रत पालता हो तो भी क्षण-क्षण में उसे मिथ्यात्व की ही पकड़ है, मिथ्यात्व का ही बन्धन है और गृहस्थाश्रम में

रहा होने पर भी, चक्रवर्ती के राज की सम्पदा में रहा हुआ दिखाई दे तो भी जहाँ विकल्प से लेकर पर का मेरे स्वभाव में अभाव है, ऐसी पर की पकड़ छूट गयी है, उसे ऐसी चीज़ में रहा होने पर भी निर्जरा होती है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

धर्मी को अपने आनन्द के अतिरिक्त कोई भी चीज़ अपनी भासित नहीं होती अर्थात् दूसरी चीज़ों के घेराव में पड़ा हुआ दिखाई देने पर भी... घेरावो समझते हो? स्त्री, पुत्र और परिवार, धन्धा ऐसा बड़ा चौड़ा। अन्दर में स्वभाव के आश्रय का उपादेयभाव, इसके (अतिरिक्त) दूसरे कोई भी रागादि मेरा भाव नहीं, ऐसा जहाँ परिग्रह के रागरहित अन्तर परिणमन... पर की अपेक्षा से लें तो अपरिग्रही ऐसा भगवान, बाकी स्वपरिग्रही चैतन्यमूर्ति के परिणमन में, चाहे जिस क्षेत्र, काल, भाव में वह दिखाई दे, तथापि वह पर का त्यागी है, इसलिए उसे क्षण-क्षण में निर्जरा होती है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? अरे, ऐसा धर्म किस प्रकार का है यह?

परिग्रह में रहते हुए भी ज्ञानी जीव निष्परिग्रह हैं। देखो, नीचे १४ कलश। **पूर्वबद्धनिजकर्मविपाकात् ज्ञानीनो यदि भवत्युपभोगः**। है उपभोग, ऐसा सिद्ध करते हैं। ले, उपभोग है? उपभोग का तो इनकार किया है यहाँ। **पूर्वबद्धनिजकर्मविपाकात् ज्ञानीनो यदि भवत्युपभोगः**। और ज्ञानी को हो उपभोग। ऐई! मिलान कहाँ खाया इसमें? परन्तु समझाना (किस प्रकार)? वह दुनिया देखती है न कि देखो, यह स्त्री में पड़ा है, पुत्र में पड़ा है, धन्धा करता है, जहाज करता है, ढींकणा करता है और फलाना करता है। **तद्भवत्वथ च रागवियोगात्**। सिद्धान्त यहाँ है। **रागवियोगात् नूनमेति न परिग्रहभावम्**॥ आहाहा!

★ ★ ★

काव्य - ३२

परिग्रह में रहते हुए भी ज्ञानी जीव निष्परिग्रह है (चौपाई)

पूरव करम उदै रस भुंजै,
ग्यान मगन ममता न प्रयुंजै।

उरमैं उदासीनता लहिये,
यौं बुध परिग्रहवंत न कहिये।।३२।।

शब्दार्थ:-पूरव (पूर्व)=पहले का। भुंजै=भोगे। प्रयुंजै=लीन होवे। उदासीनता= वैराग्य। बुध=सम्यग्दृष्टि।

अर्थ:-ज्ञानी जीव पूर्वबद्ध कर्म के उदय से सुख-दुःख दोनों भोगते हैं पर वे उनमें ममता और राग-द्वेष नहीं करते-ज्ञान ही में मस्त रहते हैं, इससे उन्हें निष्परिग्रह ही कहा है।।३२।।

काव्य-३२ पर प्रवचन

पूरव करम उदै रस भंजै,
ग्यान मगन ममता न प्रयुंजै।
उरमैं उदासीनता लहिये,
यौं बुध परिग्रहवंत न कहिये।।३२।।

धर्मी को पूर्व में अज्ञानभाव से बन्धे हुए कर्म, उन कर्म का उदय आवे, (उसके कारण से) सुख-दुःख दोनों आवे, सामग्री भी अनुकूल-प्रतिकूल हो और उसके झुकाव में जरा रागादि की वृत्ति हो, उसे भोगता है, यह तो दुनिया कहती है, इस अपेक्षा से कहा है। बाकी ज्ञानी नहीं राग को भोगता, नहीं सामग्री को भोगता। समझ में आया? **उदय से सुख-दुःख दोनों भोगते हैं पर वे उनमें ममता और राग-द्वेष नहीं करते**। अर्थात् कि सामग्री अनुकूल-प्रतिकूल तथा कर्म के उदय की ओर का विकल्प कुछ हो, उस ओर 'यह मेरा है' ऐसा जो राग की प्रीति करता नहीं। चैतन्य की आनन्द की जहाँ प्रीति वर्तती है, वहाँ धर्मी को राग की प्रीति नहीं होती। धर्मी को सर्वत्र से सुखबुद्धि उड़ गयी है।

पुण्य के भाव में, पाप के भाव में, सामग्री में, स्त्री-परिवार की अनुकूलता में, पैसा, बँगला—मकान और दाल-भात-लड्डू ऐसे अरबी के पत्ते और सब अनुकूलता के ऐसे ढ़ेर दिखाई दे, उसमें अपनेपने की बुद्धि ही गयी है न! उसमें सुख है, यह बुद्धि

ही टल गयी है। वह तो ज्ञाता का ज्ञेय रह गया है। आहाहा! अज्ञानी को उसमें रस पड़ता है। राग का रस चढ़ा है। अज्ञानी को राग का रस चढ़ा है। ज्ञानी को ज्ञान का रस चढ़ा है, वह राग का रस चढ़ता नहीं। ऐसी बात है। यह वे कहे, 'यह सब बाहर से छोड़कर बैठे तो भी परिग्रह ?' कहते हैं, सुन, सुन न अब! तुझे खबर नहीं।

भगवान आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु की जहाँ भेंट अन्तर में हुई, उसे सब परिग्रह मेरा है, यह बात अन्दर से छूट गयी है। आहाहा! चैतन्य का परिग्रह है उसे। राग और व्यवहाररत्नत्रय के विकल्प का भी परिग्रह नहीं। आहाहा! ज्ञानी वापस विवाह करता है। कौन विवाह करता है ? तू देखता है कि विवाह करता है। यह कहते हैं, देखो! पूर्वबद्ध कर्म का उदय आया, संयोग दिखाई दे। परन्तु उसमें उसे रस और रुचि ही उड़ गयी है। राग का रस गया और स्त्री में सुखबुद्धि टल गयी है अन्दर से। आहाहा! परन्तु टल गयी है तो किसलिए करता है यह ? करता नहीं, तुझे भासित होता है कि यह करता है, ऐसा। वह होता है, उसे आनन्द में रहकर, पर में सुखबुद्धि टलकर, अपने में सुखबुद्धि रहकर जानता है। आहाहा! गजब! शान्तिभाई! क्या होगा यह ? ऐसा धर्म ? ऐसी वस्तु होगी ? पोपटभाई!

कोई कहे, निश्चय से... निश्चय से ऐसा कहते हैं, वह निश्चय से ऐसी वस्तु होगी या निश्चय कहनेमात्र है ? ऐसा। अरे भाई! वस्तु ऐसी है। आनन्दस्वरूप भगवान निर्विकल्प शुद्ध चैतन्यद्रव्य, वह अभेद अखण्ड आनन्द है, उसका जहाँ अन्तर झुकाव और भान हुआ, वह वस्तु (पर्याय) ही शुद्ध ज्ञाता-दृष्टा (हो गयी), हो गया पूरा। उसे चाहे कोई विकल्प अशुभ का दिखाई दे, शरीर का संयोग हो, ऐसा दिखाई दे तथापि, उससे विरक्त है। धर्मी राग से विरक्त है। ले! रक्त नहीं, राग में रक्त नहीं, राग में रक्त हो तो अज्ञानी है वह तो। आहाहा! कहीं भी राग के भाव में अशुभ में प्रेम हुआ, यह ठीक है ऐसा हुआ, मिथ्यादृष्टि है, अज्ञानी है।

यहाँ कहते हैं, **ग्यान मगन ममता न प्रयुंजै**। वह धर्मी तो ज्ञानानन्दस्वभाव में एकाग्र—लीन है। दृष्टि वहाँ स्थिर हो गयी है। उस दृष्टि में अब दूसरी चीज़ आती नहीं। **ममता न प्रयुंजै**। राग का रस और राग मेरा, यह प्रयुंजै ही नहीं, एकपना उसे होता ही नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! मार्ग, वह मार्ग है न! अभी तो सुना भी न हो, समझा भी

न हो और ऐसा का ऐसा माने कि अपने त्याग किया, लो, हम त्यागी हो गये, यह ब्रह्मचर्य पालते हैं, लो, स्त्री के म्यागी। धूल भी नहीं, सुन न! अन्दर विकल्प उठे उसका रस है, वह परिग्रह का रस है तुझे, आत्मा का रस है नहीं। आहाहा! कहो, ऐसा मार्ग है।

उरमैं उदासीनता लहिये... धर्मी को ज्ञान में राग से उदासीनता वर्तती है। मेरेपने की बुद्धि छूट गयी है। इसलिए उससे उदासीन वर्तता है। ज्ञानी का आसन राग से भिन्न में वर्तता है, ऐसा कहते हैं। उदासीन कहा न, उच्च आसन। धर्मी का आसन और पड़ाव राग से भिन्न में पड़ा है। आहाहा! भारी सूक्ष्म मार्ग! ९६ हजार स्त्रियों में पड़ा दिखाई दे। कहते हैं, नहीं, वह तो राग और स्त्री से विरक्त है। अज्ञानी नग्न होकर घूमे अकेला, वस्त्ररहित बाबा-साधु दिगम्बर जैन का, (परन्तु) अन्तर में जिसे राग का रस और प्रेम है, वे सब परिग्रहवन्त हैं। सब परिग्रह उसे लगा है। कहो, समझ में आया?

यौं बुध परिग्रहवंत न कहिये.... लो। इस कारण से। कारण दिया न! भगवान आत्मा आनन्द का धाम, ज्ञान का पूर प्रभु, उस आत्मा का ध्यान कर। (आत्मा की) पकड़—परिग्रह हुआ, इसलिए राग आदि से उदासीन है। ऐसा बुध अर्थात् धर्मी जीव को सम्यग्दृष्टि को परिग्रहवन्त नहीं कहते हैं। धर्मी को परिग्रहवाला नहीं कहते। वह करोड़पति है और अरबपति है और रागपति है और नरपति है, पत्नी का पति है, ऐसा नहीं कहते, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? करवट बदल गयी है, पहलू बदल गया है। राग के विकल्प के प्रति ममता का भाव था, वह पर का पहलू था। वह पहलू धर्मी को छूट गया है। आहाहा! महाप्रभु के पक्ष में आ गया है। इसलिए सम्यग्दृष्टि को, बुध अर्थात् सम्यग्दृष्टि अथवा ज्ञानी (को) परिग्रहवन्त नहीं कहते। उसे परिग्रहवाला नहीं कहते, दृष्टि और सम्यग्ज्ञान की अपेक्षा से। अस्थिरता होने पर भी उसे अस्थिरतावाला नहीं कहते, ऐसा कहते हैं, भाई! आहाहा! अस्थिरता का स्वामी कहाँ है? अस्थिरता को अपनी पर्याय में मिलाता है कहाँ? आहाहा! द्रव्य शुद्ध है, उसका परिणमन शुद्ध हो गया है। उसमें अशुद्धता का परिणमन ही उसे नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

उरमांहि उदासीनता लहिये... ज्ञानानन्दस्वभाव में वह पर से तो उदास है। पर में उसे उत्साह नहीं। धर्मी को पर में उत्साह नहीं, वह उदास है। अज्ञानी स्व में उदास है और पर में उत्साह है। उसे बाहर की अनुकूलता अथवा शुभभाव आदि में उत्साह वर्तता

है अज्ञानी को। आहाहा! स्वभाव के प्रति असावधान है अज्ञानी। ज्ञानी को स्वभाव के प्रति उत्साह है, राग के प्रति उदास है। आहाहा! यह भेदज्ञान की बात! इसका क्या माहात्म्य है, इसकी खबर बिना बाहर से माप आंके... ओहोहो! गजब बात की है। आचार्यों ने संक्षिप्त शब्दों में निर्जरा अधिकार (वर्णन किया है)। वास्तव में तो धर्मी जीव उसे कहते हैं कि (जिसकी दृष्टि में) वस्तु शुद्ध है, गुण शुद्ध है। इसलिए उसका परिणमन भी अत्यन्त शुद्ध है। इसलिए उसे अशुद्धता का परिणमन ही नहीं, फिर अशुद्धता की पकड़ मेरी है, वह तो है नहीं। आहाहा! समझ में आया?

सम्यग्दृष्टि को अशुद्ध परिणमन, वह तो विकार है। विकार का तो वह स्वयं त्यागी है। विकार से तो विरक्त है। ले। आहाहा! वह विरति कहाँ है, कहते हैं। वह तो और स्वरूप की स्थिरता की अपेक्षा की बात है। राग से, अस्थिरता से टलकर स्थिरता में आना, वह तो राग की विरक्ति अस्थिरता की रीति से। यहाँ तो वस्तु (-राग) से हट गया है तो उससे विरक्त ही है। आहाहा! समझ में आया? अकेला नग्न दिगम्बर साधु होकर घूमे, उसे अन्दर विकल्प की पकड़ है कि यह शुभभाव, वह मेरा हित है, उससे मुझे कल्याण होता है, तो महा परिग्रहवन्त है, मिथ्यात्व का परिग्रहवन्त है। वह बात यह है। यह तो तुम निश्चय की बात करते हो, कहते हैं। अर्थात् सच्ची बात करते हो, ऐसा। कहीं खोटी थोड़ी लाओ न इसमें। भगवान! तेरा सत्य ही ऐसा है, प्रभु! तू सत् का साहेबा, वह विकार का साहेबा कैसे हो? आहाहा!

चैतन्यप्रभु... एक समय की पर्याय की भी जहाँ पकड़ नहीं, पर्यायबुद्धि नहीं, उसे कहते हैं कि परिग्रहवन्त न कहिये। वह परिग्रह के घेराव में पड़ा दिखाई दे तो भी वह निष्परिग्रही है। बाह्य का परिग्रह छोड़कर, परिवार छोड़कर, बाबा होकर साधु जैन का हो। गहरे अन्दर में राग का शुभभाव, महाव्रत का राग, दया-दान का राग, वह मेरा है, उससे मुझे लाभ है, उसमें मैं हूँ तब लाभ होगा न! आहाहा! तो कहते हैं कि वह महापरिग्रहवन्त मिथ्यादृष्टि है। ऐई! क्या बराबर? यह सब बाहर का तो मिटता है इसमें।

अरे, भगवान! तेरे हित की बात है, हों! बाहर से छोड़कर नग्नपना (लिया), कुछ पंच महाव्रत के परिणाम (लिये), कुछ कोई थोड़े बहुत साधारण। व्यवस्थित तो

कहाँ है ? है ही कहाँ परन्तु ? यह तो ऐसा कि जरा... वहाँ तो उसे हो जाये कि हम चारित्र (पालते हैं)। अरे प्रभु! ठगा जाता है भाई! वहाँ कहीं पोपाबाई का राज नहीं। दुनिया माने, इसलिए फल आ जाये, ऐसा (नहीं है)। दुनिया—लाखों लोग माने, आहाहा! भारी चारित्र। इससे चारित्र का फल आवे और चारित्र आ जाये अन्दर, ऐसा है (नहीं)। ऐसा नहीं ? लाखों-करोड़ों लोग स्वीकार करे न! समकिती हीरा की थाली में खाता हो, हीरा के सिंहासन पर बैठा हो, इन्द्र जिसके मित्र हों, कहते हैं कि प्रभु! उसे देखना तुझे आता नहीं, हों! यह सवेरे आया था। आहाहा! विषय की वासना के विकल्प का स्वामी नहीं, रस नहीं, रस सब उड़ गया है। आहाहा! जिसे सव-विषय का रस है। स्व-विषय अर्थात् ध्रुव ऐसा विषय, उसका उसे रस है। आहाहा! जयचन्दजी! ऐसी बात है भाई! मार्ग (ऐसा है)। आहाहा!

दिव्यशक्ति का देव, आ गया न पहले। देव है, आ गया न इसमें, नहीं ? कलश में आ गया। देव है। बारहवाँ कलश। '**अचिन्त्यशक्तिः स्वयमेवदेव।**' अकेला वीतरागभाव, स्वभावभाव, ध्रुवभाव का जहाँ अनुभव हुआ, सब ... गया। व्यवहाररत्नत्रय की पकड़ उसे नहीं है। यह व्यवहार मेरा है, ऐसा (उसे) नहीं है। आहाहा! मुझे व्यवहार तो होता है न! करना पड़े, वह अलग बात है, हों! परन्तु व्यवहार मुझे होता है न! अरे भाई! व्यवहार तुझे हो, इसकी व्याख्या क्या ? व्यवहार, वह राग की क्रिया है, वह तुझे हो ? तब तो राग और स्वभाव—दोनों एक हो गये। ऐसा मार्ग आत्मा का है, ऐसा मार्ग जिनवर का है। जिनवर का मार्ग कहो या आत्मा का कहो। आहाहा! अरे! कान में न पड़े दुनिया को सत्य और ऐसे के ऐसे जाये, भगवान! तेरी जिन्दगी चली जाती है, भाई, हों! आहाहा! दुनिया मानेगी और स्वीकार करेगी कि तुझे फल आ जाये धर्म का, ऐसा है ? आहाहा! धर्म नहीं और धर्म मानकर बैठा और दुनिया कहे कि वाह..वाह.. धर्मी वाह। इससे कहीं उसका—धर्म का फल तुझे आये ? अधर्म में पड़ा है, अधर्म का फल आता है। दुनिया मानती है कि धर्मी है, इससे कुछ धर्म का फल आवे ? (नहीं आता)।

यौं बुध परिग्रहवंत न कहिये... ज्ञान ही में मस्त रहते हैं। अर्थ किया थोड़ा। **इससे उन्हें निष्परिग्रह ही कहा है**। धर्मी समकिती को तो दृष्टि है अपने स्वरूप के ऊपर, उसमें वह मस्त है। यह राग आदि व्यवहार में धर्मी मस्त नहीं। इसलिए उसे निर्जरा होती है।

चौदहवाँ हुआ न। पन्द्रह '**वेद्यवेदकविभावचलत्वाद्।**' कारण देते हैं अब, हों! है न, **परिग्रह में रहने पर भी ज्ञानी जीवों को परिग्रह रहित कहने का कारण,...** ऐसा। परिग्रह में रहने पर भी... रहने पर भी (यह तो) लोगों को समझावे तो भाषा ऐसी ही हो न! परिग्रह में रहने पर भी अर्थात् परिग्रह के संयोग में दिखने पर भी, धर्मी जीवों को परिग्रहरहित कहने का कारण। उसे क्यों परिग्रहरहित कहा, उसका हेतु बताते हैं।

वेद्यवेदकविभावचलत्वाद् वेद्यते न खलु कांक्षितमेव।
तेन कांक्षति न किञ्चन विद्वान् सर्वतोऽप्यतिविरक्तिमुपैति ।।१५।।

आहाहा!

★ ★ ★

काव्य - ३३

परिग्रह में रहने पर भी ज्ञानी जीवों को परिग्रह रहित कहने का कारण।

(सवैया इकतीसा)

जे जे मनवंछित विलास भोग जगतमैं,
ते ते विनासीक सब राखे न रहत हैं।
और जे जे भोग अभिलाष चित्त परिनाम,
तेऊ विनासीक धारारूप ह्वै बहत हैं।।
एकता न दुहूं मांहि तातैं वांछा फुरै नांहि,
ऐसे भ्रम कारजकौं मूरख चहत हैं।
सतत रहैं सचेत परसौं न करैं हेत,
यातैं ग्यानवंतकौ अवंछक कहत हैं।।३३।।

शब्दार्थ:-विनासीक=नाशवान। फुरै=उपजे। कारज (कार्य)=काम। सतत=हमेशा। सचेत=सावधान। अवंछक=इच्छारहित।

अर्थ:-संसार की मनवांछित भोग-विलास की सामग्री अथिर हैं, वे अनेक चेष्टाएँ करने पर भी स्थिर नहीं रहतीं, इसी प्रकार विषय-अभिलाषाओं के भाव भी

अनित्य हैं। भोग और भोग की इच्छाएँ इन दोनों में एकता नहीं है और नाशवान हैं, इससे ज्ञानियों को भोगों की अभिलाषा ही नहीं उपजती, ऐसे भ्रमपूर्ण कार्यों को तो मूर्ख ही चाहते हैं, ज्ञानी लोग तो सदा सावधान रहते हैं–पर पदार्थों से अनुराग नहीं करते, इससे ज्ञानियों को निर्वांछक ही कहा है।।३३।।

पद-३३ पर प्रवचन

जे जे मनवंछित विलास भोग जगतमैं,
ते ते विनासीक सब राखे न रहत हैं।
और जे जे भोग अभिलाष चित्त परिनाम,
तेऊ विनासीक धारारूप ह्वै बहत हैं॥
एकता न दुहूं मांहि तातैं वांछा फुरै नांहि,
ऐसे भ्रम कारजकौं मूरख चहत हैं।
सतत रहैं सचेत परसौं न करैं हेत,
यातैं ग्यानवंतकौ अवंछक कहत हैं॥३३॥

आहाहा! **जे जे मनवंछित विलास भोग जगतमैं....** इच्छा करे कि ऐसी सामग्री हो, ऐसी मनवांछित सामग्री हो, वह वह सब विनाशीक है। नाशवान पदार्थ है। **सब राखे न रहत हैं....** वह सामग्री रखना चाहे तो रहे? वह तो परचीज़ है। मन से इच्छा की कि यह सामग्री ऐसी हो, स्त्री ऐसी हो, पुत्र ऐसे हों, मकान ऐसे हों, पैसे ऐसे हों, नौकर काम करनेवाले ऐसे हों, हमारे सब... ऐसे लड़के हों, ऐसे पके तो ऐसे हों। ऐसी जो मनवांछित सामग्रियाँ, वे तो नाशवान हैं। वह कहीं इच्छा है, इसलिए सामग्री आती है, ऐसा है नहीं। इच्छा के समय, सामग्री की इच्छा करे तो सामग्री नहीं। सामग्री नाशवान है। **और जो जो भोग अभिलाष,....** अब, **चित्त परिनाम....** कहते हैं। वह सामग्री की बात की। ऐसी सामग्री हो, पैसे-टके से ठीक हो, शरीर निरोगी हो तो फिर हमें निश्चिन्तता से धर्मध्यान हो। कहते हैं, परन्तु वे चीज़ें पर हैं, सामग्री नाशवान है। रहती है ही कहाँ उसके पास? वह उसमें रही है। आहाहा!

यहाँ तो यह सिद्ध करना है कि ज्ञानी को सामग्री की इच्छा नहीं तथा इच्छा की इच्छा जो होती है, वह इच्छा भी ज्ञानी को नहीं। क्योंकि इच्छा नाशवान, सामग्री नाशवान। नाशवान की दृष्टिवाला नाशवान को चाहे। अविनाश की दृष्टिवाला नाशवान को कैसे चाहे ? आहाहा! वेद्य-वेदक कहते हैं न। वेदनयोग्य ऐसी सामग्री आवे, तब इच्छा नहीं होती, इच्छा थी तब सामग्री नहीं थी। आहाहा! ऐसा हो तो ठीक, यह इच्छा। फिर सामग्री आयी तब वह इच्छा नहीं थी। तब दूसरी इच्छा हुई। फिर दूसरी इच्छा हुई। इसलिए इच्छा को और सामग्री को कोई मिलान नहीं खाता। इसलिए ऐसी इच्छा ज्ञानी करता नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया ?

इतनी व्यवस्थितता हो न थोड़ी, लड़के-बड़के (काम) करते हो जाये और कुछ आजीविका का साधन भी हमको दें, न कमाकर दें तो भी। ऐसा ठीक हो तो फिर अपने को... यह तेरी इच्छा के समय सामग्री नहीं और सामग्री हो, तब फिर इच्छा नहीं। कुछ मिलान खाता (नहीं)। आहाहा! ऐसी अमेल इच्छा को और अमेल सामग्री को धर्मी कैसे इच्छे ? आहाहा! देखो न, कहाँ डाला है ?

क्यों उसे परिग्रहवन्त कहें ? कि सामग्री की इच्छा हो, वह इच्छा ही करता नहीं और सामग्री को वह आवे तो ठीक, उस सामग्री की भी उसे इच्छा नहीं। उसे तो आत्मा अन्तर शुद्ध चिदानन्द प्रभु, अन्तर में पूर्णता को प्राप्त करे, वह भावना होती है। धर्मी को तो भगवान आत्मा आनन्द और ज्ञान की मूर्ति का भान है (और) वह आनन्द और ज्ञान में पूर्णपने हो, ऐसी एकाग्रता होती है, इच्छा भी नहीं। संसार की मनवांछित भोगविलास की सामग्री अस्थिर है। **वे अनेक चेष्टाएँ करने पर भी स्थिर नहीं रहती...** बहुत प्रयत्न करे, परन्तु वह शरीर बिखर जाता है, शरीर जीर्ण हो जाता है, बाहर की सामग्री बिखर जाती है, अकेला रहे, बाहर के साधन कुछ न रहे। बहुत प्रयत्न करके इतना तो रखूँ, जीऊँ तब तक इतने साधन रहे तो बस है। धूल भी नहीं रहे, सुन न! और वह सामग्री नाशवान और तेरी इच्छा (नाशवान)। इच्छा जिसकी की, उस समय तो सामग्री नहीं थी, निरर्थक तेरी इच्छा गयी। धर्मी को तो वेद्य-वेदक भाव अपना है। आहाहा!

पर की इच्छा और इच्छा की सामग्री का मिलान नहीं खाता, इसलिए धर्मी को सामग्री और सामग्री की इच्छा होती नहीं। क्योंकि परिग्रह परवस्तु है। परिग्रह नहीं ज्ञानी

को, क्यों ?–कि पर सामग्री की उसे रुचि नहीं और इच्छा की भी रुचि नहीं। इच्छा का भी त्याग हुआ है और परिग्रह का अन्दर त्याग है। इसलिए यह हो तो ठीक, ऐसी इच्छा और सामग्री दोनों का त्याग दृष्टि में है। इसलिए उसे अपरिग्रहवन्त कहते हैं, ऐसा कहते हैं। क्या कहा, समझ में आया ? **विषय अभिलाषाओं के भाव भी अनित्य हैं...** दोनों— सामग्री अनित्य और राग अनित्य। अनित्य पर दृष्टि छूट गयी है ज्ञानी की तो। आहाहा ! अनित्य को भाखता नहीं, अनित्य की पकड़ नहीं। आहाहा !

अरे भाई ! यह कथन शैली कहाँ इन लोगों को... अन्तर चीज़ महाप्रभु चैतन्य आनन्दस्वरूप की जहाँ अन्दर एकाग्रता और भावना हुई, अब उसे इच्छा की इच्छा नहीं। इच्छा हो तो भी इच्छा से पर है। इच्छा से तो विरक्त है और सामग्री से तो विरक्त है ही। आहाहा ! 'इतना मैं करूँ न, तो मुझे दुनिया अच्छा कहेगी' ऐसी इच्छा थी। अब जब अच्छा कहने लगे, तब वह इच्छा रही नहीं, तब दूसरी इच्छा हुई भोगने की या अमुक... अब अच्छा कहने लगे हमको। यह सब मिथ्यादृष्टि को ऐसी इच्छा होती है। आहाहा !

देखो न, **जे जे मनवांछित विलास भोग जगतमैं, ते ते विनासीक सब राखे न रहत हैं....** सब सामग्री। **जे जे भोग अभिलाष चित्त परिनाम...** परन्तु चित्त के परिणाम में ऐसा आया कि इतना काम ऐसा हो न, तो हम बाहर में प्रसिद्ध हों, अपने को अभिनन्दन दे। उसको बड़ा अभिनन्दन दे तो अपने को अभिनन्दन दे। ऐई ! मूढ़ है, कहते हैं। बाहर की सामग्री के समय और इच्छा रहती नहीं तथा इच्छा के समय अभिनन्दन आता नहीं। आहाहा ! सभा कुछ भराये, व्याख्यान की झपट लगती हो, दुनिया ऐसा कहे कि वाह... वाह ! यह ऐसा योग आवे न जब, तब सही कहलाये। ... मूढ़ है। ऐसा योग आवे तब यह तेरी इच्छा नहीं रहती; इच्छा है, तब वह योग नहीं। अज्ञान की इच्छा है। आहाहा ! भावना तो तुझे बाहर की है या भावना तुझे अन्दर की है ? देखो, **विनासीक धारारूप व्है बहत हैं....** लो, ऐसा कहा। नाशवान है। आहाहा ? भोग और भोग की इच्छा, ऐसा। सामग्री और उसकी इच्छा। दोनों में एकता नहीं है, नाशवान है।

एकता न दुहूँ माँहि तातैं वाँछा फुरै नांहि.... दोनों में एकतापना होता नहीं। इच्छा के समय सामग्री नहीं और सामग्री के समय इच्छा नहीं। इसलिए दोनों का कुछ मेल

खाता नहीं। इसलिए ज्ञानी को वांछा स्फुरित नहीं होती। इच्छा ही उत्पन्न नहीं होती, ऐसा यहाँ तो कहते हैं। आहाहा! आनन्दस्वरूप भगवान की जहाँ एकाग्रता वर्ते, उसे यह इच्छा उपजे कैसे? ऐसा कहते हैं। इसलिए इच्छा और परवस्तु का अभ्यन्तर में त्यागी है, इसलिए उसे अपरिग्रहवन्त कहा जाता है। आहाहा! **ऐसे भ्रम कारजकौं मूरख चहत हैं,...** लो। भ्रम कार्य को मूर्ख चहे, कहते हैं। गजब रचना की है! **ऐसे भ्रम कारजकौं मूरख चहत हैं, सतत रहैं सचेत परसौं न करैं हेत।** धर्मी तो स्वयं ज्ञाता-दृष्टा में सचेत रहता है। **परसौं**—राग आदि में भी प्रेम करता (नहीं)। **यातै ग्यानवंतकौ अवंछक कहत हैं...** लो। इस अपेक्षा से धर्मी को परिग्रहरहित अथवा वांछारहित कहा जाता है। लो, यह बात हुई। विशेष कहा जायेगा।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ७८, ज्येष्ठ कृष्ण १०, शुक्रवार, दिनांक १८-०६-१९७१
निर्जरा द्वार, काव्य - ३४ से ३८

१६वाँ कलश नीचे। समयसार नाटक, निर्जरा अधिकार। नीचे १६ (कलश) उसका है, ३४वाँ पद।

ज्ञानिनो न हि परिग्रहभावं कर्म रागरसरिक्ततयैति।
रङ्गयुक्तिरकषायितवस्त्रे स्वीकृतैव हि बहिर्लुठतीह।।१६।।

परिग्रह में रहने पर भी धर्मी जीव निष्परिग्रही हैं, इस पर दृष्टान्त। निर्जरा अधिकार है न यह। निर्जरा अर्थात् धर्मी को आत्मा का आनन्द का स्वाद जहाँ आया है, इससे राग में और अन्यत्र कहीं रस जाता नहीं। अज्ञानी को राग का रस है। पूरी बात में यह स्थिति है। राग में भले मन्दराग हो, परन्तु उसका रस और प्रीति है, इससे त्यागबुद्धिवाले को भले बाह्य से त्याग (दिखता) हो, वह मिथ्यादृष्टि राग के रसवाला परिग्रह की भीड़ से, दुकान आदि से या धन्धा आदि से छूटा हो, तो भी राग के रसवाला बन्धन ही करता है, ऐसा कहते हैं। उसे अन्तर का शुद्ध आनन्दस्वभाव की दृष्टि हुई नहीं, '**आनन्दस्वरूप ही मैं हूँ**'—ऐसा भाव अन्दर में जगा नहीं, उसे राग में रस है। वह बाहर का त्यागी होने पर भी, अन्तर में तो राग का और मिथ्यात्व का भोगी है। ज्ञानी को बाहर का त्याग न हो तो भी राग का (त्याग है)। है न उसमें? '**कर्मरागरसरिक्त...**' कोई भी रागादि का कार्य, उसके रस से छूटा है, इसलिए उसे जो जिस स्थिति में जहाँ खड़ा हो, वहाँ वहाँ उसे कर्म की निर्जरा ही होती है। यह बात यहाँ दृष्टान्त कहकर सिद्ध करते हैं।

★ ★ ★

काव्य - ३४

परिग्रह में रहने पर भी ज्ञानी जीव निष्परिग्रह हैं इस पर दृष्टान्त (सवैया इकतीसा)

जैसैं फिटकड़ी लोद हरड़ेकी पुट बिना,
स्वेत वस्त्र डारिये मजीठ रंग नीरमैं।

भीग्यौ रहै चिरकाल सर्वथा न होइ लाल,
भेदै नहि अंतर सुफेदी रहै चीरमैं।।
तैसैं समकितवंत राग द्वेष मोह बिनु,
रहै निशि वासर परिग्रहकी भीरमैं।
पूरव करम हरै नूतन न बंध करै,
जाचै न जगत-सुख राचै न सरीरमैं।।३४।।

शब्दार्थ:-मजीठ=आल। चिरकाल=सदैव। सर्वथा=बिलकुल। चीर=वस्त्र। निशि वासर=रात-दिन। भीर=समुदाय। जाचै=चाहे। राचै=लीन होवे।

अर्थ:-जिस प्रकार फिटकरी, लोद और हरड़े की पुट दिये बिना मजीठ के रंग में सफेद कपड़ा डुबाने से तथा बहुत समय तक डूबा रखने से भी उस पर रंग नहीं चढ़ता-वह बिलकुल लाल नहीं होता, अन्तरंग में सफेदी ही रहती है; उसी प्रकार राग-द्वेष-मोहरहित ज्ञानी मनुष्य परिग्रह-समूह में रात-दिन रहता है तो भी पूर्व-संचित कर्मों की निर्जरा करता है, नवीन बन्ध नहीं करता। वह विषय-सुख की वांछा नहीं करता और न शरीर से मोह रखता है।

भावार्थ:-राग-द्वेष-मोहरहित होने के कारण सम्यग्दृष्टि जीव परिग्रह आदि का संग्रह रखते हुए भी निष्परिग्रह है।।३४।।

काव्य-३४ पर प्रवचन

जैसैं फिटकड़ी लोद हरड़ेकी पुट बिना,
स्वेत वस्त्र डारिये मजीठ रंग नीरमैं।
भीग्यौ रहै चिरकाल सर्वथा न होइ लाल,
भेदै नहि अंतर सुफेदी रहै चीरमैं॥
तैसैं समकितवंत राग द्वेष मोह बिनु,
रहै निशि वासर परिग्रहकी भीरमैं।
पूरव करम हरै नूतन न बंध करै,
जाचै न जगत-सुख राचै न सरीरमैं॥३४॥

परिग्रह और अपरिग्रह की बात है इसमें। **जैसे फिटकडी लौद हरडेकी....** वस्त्र को उसका रंग नहीं लगता। **मजीठ के रंग में सफेद कपड़ा डुबाने से....** हरड़, फिटकड़ी और लोद का (पुट) नहीं तो मजीठ के रंग में सफेद कपड़ा। **बहुत समय तक डूबा रखने से भी उस पर रंग नहीं चढ़ता....** रंग नहीं चढ़ता। यह दृष्टान्त कहा। फिटकड़ी, लोद और हरड़े का पुट बिना **स्वेत वस्त्र डारिये मजीठ रंग नीरमैं....** सफेद वस्त्र मजीठ में (डालो), परन्तु उसकी सफेदाई छूटकर लाल रंग नहीं होता। क्योंकि उसे पुट नहीं (दिया) हरड़े आदि का। **भीग्यौ रहे चिरकाल....** मजीठ में बहुत काल रहे तो भी **सर्वथा न होइ लाल...** ऊपर लाल हो परन्तु वस्त्र के अन्दर ताना-बाना लाल नहीं होता। ताना-बाना समझते हैं? **भेदै नहि अंतर सुफेदी रहै चीरमैं....** वस्त्र का ताना-बाना सफेद है, उसे हरड़े और लोद की पुट बिना मजीठ का रंग अन्दर लगता नहीं।

तैसें समकितवंत.... यह तो दृष्टान्त हुआ। आत्मा शुद्ध चैतन्य आनन्द है, ऐसा जहाँ अन्तर अनुभव हुआ, उसकी पुण्य-पाप में से सुखबुद्धि हट गयी है। कहीं चौरासी के अवतार में, अवतार कोई स्वर्गादि का हो, परन्तु वहाँ सुखबुद्धि धर्मी की सुखबुद्धि हट गयी है। इसलिए **राग द्वेष मोह बिनु....** उसे यह ठीक है और यह अठीक है—यह रागभाव उसे आता नहीं। मोह नहीं, पर में सावधानी नहीं। आनन्दस्वरूप के अनुभव में जहाँ अतीन्द्रिय आनन्द का धर्मी को स्वाद आया है, आहाहा! उस स्वाद के समक्ष किसी भी वस्तु के प्रति उसे राग-द्वेष स्वाद नहीं आता। ऐसी बात है।

रहै निशि वासर परिग्रहकी भीरमैं.... छह खण्ड का राज हो, छियानवें हजार स्त्रियाँ हों, सोलह हजार तो देव जिसकी सेवा करते हों—इतना जिसे परिग्रह बाह्य में दिखाई दे। रात-दिन उसमें दिखाई दे, (ऐसा कहते हैं)। तो भी **पूरव करम हरै। 'हरै'** का अर्थ-स्वरूप के आनन्द के स्वाद की अधिकता में उसे रागादि किसी चीज़ की अधिकता दिखाई नहीं देती। समझ में आया? अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा सुखसागर, ऐसा जो अनुभव होकर प्रतीति हुई है, इसलिए उसे कहीं, जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र (बँधे), उस भाव में भी उसे रस लगता (नहीं)। ऐसा है। चाहे तो वह पंच महाव्रत के परिणाम में रहता हो अज्ञानी। परन्तु उसे राग है, उसमें उसका रस है; इसलिए मिथ्यादृष्टि को मिथ्यात्व से नये आठों कर्म बँधते हैं।

कहो, पंच महाव्रत के परिणाम हों, तथापि वह विकल्प है, वह राग है। उस राग की जिसे दृष्टि और रस है, उसे आत्मा के रस का तो अभाव है। इसलिए अज्ञानी महाव्रत के राग में रसवाला मिथ्यादृष्टि आठों कर्म बाँधे। आहाहा! ज्ञानी ऐसे भीड़ में रहा होने पर भी अन्तर में राग और द्वेष का रस और रुचि उड़ गयी है, जगत की स्पृहामात्र उड़ गयी है, ऐसा कहते हैं। है न, **जाचै न जगत सुख....** पूरी दुनिया के सर्वार्थसिद्धि, चक्रवर्ती के—आदि के सुख, (उसमें उसे) सुख है ही नहीं, दुःख है, हलाहल जहर है। ऐसा धर्मी को जगत के सुख के विषय में सुख की अभिलाषा, रुचि टल गयी है। आहाहा! गजब! **जाचै न जगत—सुख राचै न सरीरमैं...** स्वरूप में रचा है, वह शरीर में रचता नहीं, ऐसा कहते हैं। देखो, यह सम्यग्दृष्टि का आचरण और सम्यग्दृष्टि की दशा।

भावार्थ। **राग-द्वेष-मोह रहित होने के कारण सम्यग्दृष्टि....** तीनों से रहित है। मिथ्यात्व से रहित है, राग-द्वेष के परिणाम से रहित ही है, ले। हो गया केवली, वीतराग? आहाहा! राग है, तथापि राग से विरक्त है। पूरी दुनिया है। पूरी दुनिया—छह द्रव्य हैं। वह स्वद्रव्य के अनुभव में छह द्रव्य से तो विरक्त है। आहाहा! **राग-द्वेष-मोह रहित होने के कारण सम्यग्दृष्टि जीव....** ऐसा सम्यग्दर्शन का स्वरूप है, ऐसा सिद्ध करते हैं। कोई ऐसा मान ले कि मैंने देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा की, नौ तत्त्व की (श्रद्धा) इसलिए समकित, वह समकित नहीं। पंच महाव्रत पालन किये, इसलिए चारित्र, वह नहीं। आत्मा अन्तर आनन्दस्वरूप प्रभु अतीन्द्रिय आनन्द का जहाँ अनुभव होकर श्रद्धा में बैठा है कि यह आत्मा, वही सुखस्वरूप है। ऐसे आनन्द के सुख की प्रतीति के समक्ष पूरे जगत के सुख की स्पृहा निवृत्त हो गयी है। आहाहा! यह त्याग! इस त्याग को जगत नहीं देखता। पूरे जगत में से ही स्पृहा उड़ गयी है जिसकी। एक भगवान आत्मा आनन्द की ही जिसकी भावना वर्तती है। दीपचन्दजी! ....यह है।

जीव परिग्रह आदि का संग्रह रखते हुए भी.... यह तो समझाते हैं, संग्रह रखते हैं कहाँ? होता है। (कोई) कहता है न, बहुत संग्रह करे, वह अधिक परिग्रहवाला है। संग्रह घटाओ तो दूसरे प्राणी को (लाभ हो)। ऐसी बात है। ऐसा कहे, एक व्यक्ति जो बहुत इकट्ठा करता है, वह घटावे तो दूसरे को मिले न? क्या मिले? अरर... धूल मिले। अभी तो बहुत चला है यह। एक व्यक्ति बहुत परिग्रह रखे तो बहुतों को मिलना घटे।

कम रखे तो दूसरों को मिले। दूसरे को क्या मिले, धूल मिले? कम रखना, नहीं रखना, वह उसकी बुद्धि में कल्पना भले हो, परन्तु वह वस्तु कहाँ संग्रह कर सकता है। यहाँ तो समझाते हैं। **सम्यग्दृष्टि जीव परिग्रह आदि का संग्रह रखते हुए भी....** लक्ष्मी, स्त्रियाँ... वे भाई—लालन कहते थे। हमारे एडवर्ड को, एडवर्ड न... क्या कहलाता है?

मुमुक्षु : जॉर्ज।

पूज्य गुरुदेवश्री : जॉर्ज, उसके एक रानी और तुम्हारा धर्मी समकिती को छियानवें हजार रानियाँ। समझ में आया? नहीं आया?

एक लालन पण्डित था, श्वेताम्बर का लालन पण्डित। वाँचन बहुत था। शून्यवाला सब झूठा। यहाँ रहते थे ९०-९५ वर्ष की बड़ी उम्र। सोलह वर्ष की उम्र से नब्बे वर्ष तक अभ्यास ही किया सारे शास्त्र का। फिर कहते थे। 'हमारा जॉर्ज है न जॉर्ज राजा, उसके एक रानी और तुम्हारा समकिती धर्मी बड़ा कहलाये धर्मी चक्रवर्ती, उसके छियानवें हजार रानियाँ। व्यभिचारी है' कहे। धीर हो, (हमने) कहा, जरा धीर हो। एक रानी के लिये राज छोड़ा नहीं किसी ने?

मुमुक्षु : उसका बाप....

पूज्य गुरुदेवश्री : खपे, वह देश की नहीं थी और दूसरे में विवाह किया, इसलिए राज छोड़ना पड़ा एक रानी के लिये। तो कहे, हमारा इतना बड़ा बादशाह, उसे एक रानी और तुम्हारे साधारण वासुदेव को इतनी रानियाँ, बलदेव को इतनी रानियाँ, चक्रवर्ती को इतनी रानियाँ, ऐसा कहे।

फिर कहा, ऐसा हो कि समकिती का शरीर बड़ा हो पाँच सौ धनुष का मोटा स्थूल, तो रजकण बहुत हो तो उसे अधिक परिग्रह है? संग्रह किया है उसने? यह रजकण ज्यादा—अधिक हो, अधिक हो, लो। संग्रह किया है उसने? अज्ञानी ने भी संग्रह किया है? और उसके शरीर के रजकण घटाओ तो संग्रहबुद्धि घटी कहलाये? इस बात में कुछ दम नहीं है। राग की एकताबुद्धि है, वह संग्रहबुद्धि है। आहाहा! फिर चाहे तो छह खण्ड का राज न हो और गरीबी हो, परन्तु राग की एकता है, वहाँ पूरे संसार की संग्रहबुद्धि है और जहाँ राग की एकता टली है... किसी राग को रखने की

रक्षणबुद्धि नहीं न! राग को रखने की रक्षणबुद्धि नहीं, वहाँ फिर पर को रखूँ, ऐसा है (नहीं)। आहाहा! ऐसी गजब बात है!

सम्यग्दृष्टि जीव परिग्रह आदि का संग्रह रखते हुए भी.... शरीर में बहुत रजकण हों, भाषावर्गणा बहुत हो, लो। लक्ष्मी भी बहुत अधिक, पुण्य के कारण बहुत हो, स्त्रियाँ भी जिसे बहुत हों, लड़के भी जिसके बहुत हों, लो न, चक्रवर्ती को कितने लड़के? चौंसठ हजार लड़के और बत्तीस हजार लड़कियाँ, बत्तीस हजार दामाद। ले! कहते हैं, कुछ नहीं, परन्तु समकिती को एक भी चीज़ ही नहीं न। आहाहा! जहाँ राग और पर सन्मुख की मोहबुद्धि नाश हो गयी है और अखण्डानन्द प्रभु चैतन्य ध्रुव नित्य का जहाँ अनुभव—उसे अनुसरकर दशा हुई है, परिग्रह का संग्रह-बंग्रह उसे है ही नहीं। आहाहा! अन्तर में तो वैरागी है। राग से भी जिसे वैराग्य है। राग से वैराग्य है तो फिर दूसरी चीज़ की तो क्या बात करना? आहाहा!

अरे, वह चीज़... लोगों को अभी सम्यग्दर्शन की कीमत नहीं और सम्यग्दर्शन की दशा में कैसा होता है, उसकी खबर नहीं और बाहर से आँके कि यह स्त्री-पुत्र छोड़े और इसने आजीवन ब्रह्मचर्य लिया, इसलिए त्यागी हो गया और उसे धर्म हुआ। ऐसे धर्म नहीं। यहाँ तो सम्यग्दृष्टि परिग्रह आदि... 'परिग्रह आदि' शब्द है न? स्त्रियाँ, वस्त्र, लो! कितने प्रकार के वस्त्र हों उसे! हार चौंसठ डोरा हार हो चक्रवर्ती को। गरीब के घर हो नहीं। हार पहने चौंसठ डोरे का, बादशाह लगे इन्द्र। कहे कि जहाँ राग की एकत्वबुद्धि टूटी है, राग का रस नहीं, उसे यह चीज़ है, ऐसा कौन कहे? वह तो जगत की चीज़ है। आहाहा!

अन्तर के माप ऐसे कठिन हैं। दृष्टि के अन्तर से संसार और दृष्टि के अन्तर से मुक्ति। राग के छोटे में छोटा कण ऐसा मैं और उसके सहित हूँ, समाप्त हो गया। संसारी मिथ्यादृष्टि संसारतत्त्व है। ठीक। वापस कहेंगे, हों! कि ऐसा हम कहते हैं, इसलिए राग को रस से भोग और कहे कि हम समकिती हैं और हमारे बन्धन नहीं, तो मर जायेगा। राग का प्रेम है और राग की इच्छा—सुखबुद्धि से तो भोगता है, और कहे कि हमारे बन्धन नहीं। मर जायेगा। मर गया है मिथ्यात्वभाव में। आहाहा! पर में जिसे अभिलाषा—सुखबुद्धि है, पुण्यभाव में, पापभाव में, सामग्री में सुखबुद्धि है और सुखबुद्धि से भोगता

है और कहे कि हमारे भोग है नहीं। ऐसा यहाँ नहीं कहा कि सुखबुद्धि से भोगे उसे परिग्रह नहीं। ऐसा नहीं कहा। सुखबुद्धि से भोगे, वह तो पूरे संसार का परिग्रहवन्त है। समझ में आया? आहाहा! निष्परिग्रही है, लो। और दूसरा दृष्टान्त।

★ ★ ★

काव्य - ३५

पुनः

जैसैं काहू देसकौ बसैया बलवंत नर,
जंगलमैं जाइ मधु-छत्ताकौं गहतु है।
वाकौं लपटांहि चहुओर मधु-मच्छिका पै-
कंबलकी ओटसौं अडंकित रहतु है।।
तैसैं समकिती सिवसत्ताकौ स्वरूप साधै,
उदैकी उपाधिकौं समाधिसी कहतु है।
पहिरै सहजकौ सनाह मनमैं उछाह,
ठानै सुख-राह उदवेग न लहतु है।।३५।।

शब्दार्थः-समाधि=ध्यान। सनाह=बख्तर। उछाह=उत्साह। उद्वेग=आकुलता।

अर्थः-जैसे कोई बलवान पुरुष जंगल में जाकर मधु का छत्ता निकालता है तो उसको बहुतसी मधु-मक्खियाँ लिपट जाती हैं, परन्तु कम्बल ओढ़े हुए होने से उसे उनके डंक नहीं लग सकते। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव उदय की उपाधि रहते हुए भी मोक्षमार्ग को साधते हैं, उन्हें ज्ञान का स्वाभाविक बख्तर प्राप्त है, इससे आनन्द में रहते हैं-उपाधिजनित आकुलता नहीं व्यापती, समाधि का काम देती है।

भावार्थः-उदय की उपाधि सम्यग्ज्ञानी जीवों को निर्जरा ही के लिये है, इससे वह उन्हें चारित्र और तप का काम देती है, अतः उनकी उपाधि भी समाधि है।।३५।।

काव्य-३५ पर प्रवचन

जैसैं काहू देसकौ बसैया बलवंत नर,
जंगलमैं जाइ मधु-छत्ताकौं गहतु है।
वाकौं लपटांहि चहुओर मधु-मच्छिका पै-
कंबलकी ओटसौं अडंकित रहतु है॥
तैसैं समकिती सिवसत्ताकौ स्वरूप साधै,
उदैकी उपाधिकौं समाधिसी कहतु है।
पहिरै सहजकौ सनाह मनमैं उछाह,
ठानै सुख-राह उदवेग न लहतु है॥३५॥

पहिरै सहजकौ सनाह.... कवि भी जोरदार है न! **पहिरै सनाह मनमैं उछाह....** सनाह और उछाह भी मेल है न, **ठानै सुख-राह उदवेग न लहतु है**। आहाहा! क्या कहते हैं?

जैसे काहू देशकौ बसैया बलवंत नर.... कोई देश का रहनेवाला बलवन्त मनुष्य हो। जंगल में जाये **मधु छताको गहतु है**। मधुमक्खी। मधुमक्खी होती है न? मधुछत्ता को तोड़े, (मधु) ले। **मधु का छत्ता निकालता है,....** लो। लाखों मक्खियाँ हों, बड़ा मधुछत्ता होता है, जंगल में तो बड़ा होता है। **जंगलमैं जाइ मधु-छताकौं गहतु है, वाकौं लपटाहिं चहु ओर मधु-मच्छिका पै**। चारों ओर लाखों मधुमक्खियाँ लिपटें परन्तु **कंबल की ओट...** परन्तु कम्बल ओढ़ा है, कम्बल ओढ़ा है उसे कुछ डंक-बंक है (नहीं)। आहाह बनारसीदास ने दृष्टान्त कैसा दिया है! **कंबल की ओटसौं अडंकित रहतु है...** एक भी मधुमक्खी उसे डसती नहीं। कम्बल ओढ़ा हो और ऐसे जरा आँख में भी जरा कालावाला रखा हो थोड़ा जरा, मक्खी घुस सके नहीं। देखे सब। ऐसे पूरी कम्बल।

तैसैं समकिती सिवसत्ताकौं स्वरूप साधै.... उसी प्रकार मोक्षमार्ग को साधता है, लो। धर्मी तो आनन्दस्वरूप का साधन करता है। आहाहा! आत्मा की शुद्ध सत्ता जो अतीन्द्रिय आनन्द है, वह आनन्द को अन्दर एकाग्रता का अनुभव और आनन्द की वृद्धि

करता है। वह शिव अर्थात् मोक्ष के मार्ग को साधता है। आहाहा! अन्तर में रागरहित स्वभाव का साधन करता है धर्मी। मुक्तस्वरूप ऐसा भगवान आत्मा, उसका अनुभव है, इसलिए मुक्तस्वरूप का साधन करने से मुक्ति के उपाय को साधता है। **सिवसत्ताकौं स्वरूप साधै....** वह तो मोक्ष के मार्ग को साधता है, कहते हैं। **उदैकी उपाधिकौं समाधिसी कहतु है,....** लो। यह उदय की उपाधि को समाधि मानता है। वहाँ आत्मा के आनन्द के प्रति के रस में सराबोर है। धर्मी अतीन्द्रिय आनन्द के रस में सराबोर है। सराबोर समझते हैं? डूबा हुआ।

वह रोटी होती है न, क्या कहलाती है? पूरणपोली। पूरणपोली नहीं होती? रोटी। पूरण-पूरण। गर्म करके फिर घी में डाले। गर्म-गर्म रोटी पोची हो, पूरण हो न अन्दर। पूरण समझे न? तुअर की दाल की? तुअर की दाल का क्या कहते हैं तुम्हारे? पूरणपोली कहते हैं। रोटी में तुअर की दाल का मीठा पूरण भरके उसमें डाले।

मुमुक्षु : मालपुआ कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, मालपुआ नहीं। दूसरी बात है। यहाँ तो पूरणपोली कहते हैं। पूरणपोली ऐसी पोची होती है कि ऊपर भी रोटी का आटा हो चढ़कर पोचा रहे और अन्दर पोला हो। वह जहाँ गर्म-गर्म डाले घी में और चमचा से उठावे, सराबोर होकर उठी हो। ऐसी रोटी भी होती है।

एक बार देखी है वहाँ वावडी। वावडी नहीं गये थे? ९९ में।... ब्रह्मण ने नहीं रोटी बनाई...?

मुमुक्षु : ....बनाया जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, वह।

मुमुक्षु : घी में बहुत अच्छी तरह डाल दी जाती है, तर हो जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : तुअर की दाल। वह तो रोटी को मोंण डालकर ऐसी पोची करे कि आटा ऐसे व्यवस्थित सिंक जाये, परन्तु ऐसे पोचा रहे। उसमें घी में सराबोर। इसी प्रकार धर्मी तो अतीन्द्रिय आनन्द के रस में सराबोर है। आहाहा! वह छियानवें हजार स्त्री और इतने पुत्र / लड़के, उनमें कहीं रस ही उड़ गया है न! रोग देखता है न!

आहाहा! क्षय रोग देखता है उन्हें। **उदैकी उपाधिकौ समाधिसी कहतु है...** देखो! **उदय की उपाधि रहते हुए भी मोक्षमार्ग को साधते हैं... पहिरै सहजकौ सनाह,....** देखो! अहो! शुद्ध चैतन्यद्रव्य आनन्दस्वरूप ऐसा जो ज्ञान अन्तर में अनुभव किया, ऐसा ज्ञान का कवच जिसने पहना है, सम्यग्ज्ञान का कवच पहना है कि जिसमें राग व्यवहार को छूता नहीं।

पहिरै सहजकौ सनाह,.... स्वाभाविक ज्ञान, अतीन्द्रिय शुद्ध द्रव्य का ज्ञान, स्वसन्मुख से प्रगट हुआ ज्ञान—उस ज्ञान का जिसने कवच पहना है, उसे उदय का डंक लगता नहीं। आहाहा! **ठानै सुख-राह...** कहते हैं कि वह तो आनन्द का पंथ साधता है। आहाहा! ठानै। अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा, वह अतीन्द्रिय आनन्द का पंथ साधता है। है न? **ठानै सुख-राह... आनन्द में रहते हैं—उपाधिजनित आकुलता नहीं व्यापती।** उसे उस उपाधि की आकुलता लगती नहीं। कम्बल की ओढ़ ओढ़ी है, उसे मक्खियों का डंक लगता नहीं, उसी प्रकार सम्यग्ज्ञान—चैतन्य वस्तु का अन्तर से आया हुआ ज्ञान—पूरे आत्मप्रदेश में व्याप गया है। ऐसे अनुभव का ज्ञान उसने ओढ़ा हुआ है, इसलिए उसे राग का और कर्म के उदय का डंक नहीं लगता। आहाहा! **समाधि का काम देती है।**

भावार्थ। **उदय की उपाधि सम्यग्ज्ञानी जीवों को निर्जरा ही के लिये है।** वह तो समय-समय में स्वभाव-सन्मुख अनुभव में बढ़ता है, आनन्द के साधन में धर्मी तो बढ़ता है, इसलिए उदय की उपाधि के समय सम्यग्ज्ञानी, **निर्जरा ही के लिये है,...** निर्जरा ही करता है। **इससे वह उन्हें चारित्र और तप का काम देती है।** भाषा देखो। उदय से विरक्त है और स्वभाव से रक्त है। आनन्द में लीन है और विकार से विरक्त है। आहाहा! ऐसा सम्यग्दृष्टि का स्वरूप है। इसलिए उसे चारित्र और तप का काम देते हैं। चारित्र से जैसे निर्जरा होती है और तप से निर्जरा होती है, वैसे धर्मी को सम्यग्ज्ञान और दर्शन का ओढ़ना ओढ़ा है पूरा। आहाहा! (इसलिए) उसे संसार का उदय छूता नहीं, कहते हैं। उदयभाव जिसे छूता नहीं, ऐसा कहते हैं। उसे आनन्दभाव क्षयोपशम आदि आनन्द का कार्यभाव वृद्धि पाता है। कठिन काम!

उनकी उपाधि भी समाधि है.... लो। कहते हैं, ठीक खोज निकाला यह। अरे

भगवान! बापू! ऐसा जिसे चारित्र है, वह तो अलौकिक बात है। चारित्र जो है सम्यग्दर्शन-ज्ञान सहित, स्वरूप की अतीन्द्रिय आनन्द का जो उछाला—ज्वार आता है, उसकी बातें क्या करना! भाई! वह तो साक्षात् परमेष्ठी प्रभु में सम्मिलित हुआ। ओहोहो! धन्य अवतार! धन्य दशा! जहाँ चारित्र की रमणता प्रगटी है, वह चारित्र अर्थात् क्रिया और व्रत, वह कुछ नहीं। आत्मा के आनन्द का अनुभव हुआ है, उस आनन्द में लवलीन में लीन हो गया है। चरता है, उसमें रमता है। अतीन्द्रिय आनन्द में रमण जिसका स्थिर स्वभाव हो गया है, उसे चारित्र कहते हैं। ओहो! वह तो परमेष्ठी है। परम इष्ट में सम्मिलित है। उसकी क्या बात करना! आहाहा!

यहाँ तो सम्यग्दृष्टि की बात चलती है। जिसे राग की अस्थिरता टली और जिसे तीन कषाय (चौकड़ी) के अभाव की वीतरागता प्रगट हुई, ओहो! वह तो मोक्षस्वरूप ही है। जरा विकल्प हो, उसे कैसे गिनना? नहीं आया? नियमसार (कलश २५३) में आता है न भाई! हम जड़ हैं, वह उनमें अन्तर गिनते हैं, कहते हैं। वह जरा अस्थिरता का अंश जरा-जरा संज्वलन का, उसको भी वे अपना जानते, अपने में अपने से प्रगट हुई स्व-पर जानने की ज्ञानपर्याय, उसमें रहा हुआ है, वह राग में रहा नहीं। आहाहा! समकिती भी राग में रहा नहीं।

वह तो स्वरूप की स्थिरता इतनी जम गयी है अन्दर में कि जो संज्वलन का मन्द राग, उसमें वह रहा नहीं और मन्द राग सहित हूँ—ऐसा वह जानता-मानता नहीं। आहाहा! 'मैं तो आनन्द के रमणता के शीलवाला हूँ।' जिसमें से निकलना सुहाता नहीं, ऐसा अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद चारित्र में है उत्कृष्ट बहुत, उसे चारित्र कहते हैं। उसकी तो क्या बात करना! परन्तु कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि को भी राग की रुचि—जहर की रुचि छूट गयी है। आहाहा! उसे कहते हैं कि रागादि उदय आया, उसे स्वभाव सन्मुख की एकाग्रता के कारण से, उसके सन्मुख की दृष्टि छूट गयी है, स्व-सन्मुख का अनुभव हुआ है, इसलिए उसे उदय भी चारित्र और तप का काम करता है। आहाहा! ऐसी बात है। कहो, समझ में आया?

उनकी उपाधि भी समाधि है। अर्थात् उपाधि स्वयं समाधि है, ऐसा नहीं, परन्तु उपाधि के काल में उसकी ओर का आदर नहीं और स्वभाव के आदर में रमता है, वह

समाधि है, ऐसा। और उपाधि हट जाती है। आहाहा! सम्यग्दर्शन का माहात्म्य और सम्यग्दर्शन का ध्येय क्या है? आहाहा! उसका ध्येय पूरा भगवान है। सम्यक् दृष्टि ने पूरे आत्मा को कब्जे में कर लिया है। आहाहा! अनन्त-अनन्त आनन्द की खान, ऐसा जो भगवान आत्मा, उसे सम्यक् दृष्टि ने कब्जे में कर लिया है। मेरा कब्जा उसमें है। राग और निमित्त में कब्जा उठा लिया है। वह कुछ बात नहीं, वह कुछ कहनेमात्र की वस्तु नहीं। वस्तु की स्थिति का वस्तु है यहाँ। धर्मी का खजाना खुल गया है।

भाई ने लिखा है न! राग की एकता टूटने पर सारे संसार की एकता गई अन्दर से। आहाहा! अकेला मुक्तस्वभाव का जहाँ आदर और अनुभव रहा। उसका खजाना खुल गया है अब। जितनी एकाग्रता करे, उतना खजाना प्रगट होता है। अज्ञानी पंच महाव्रत पालता हो, क्रियाकाण्ड में लवलीन हो, समिति गुप्ति में तत्पर हो, आहाहा! उसका खजाना बन्द है। खजाने को ताला लगाया है। समझ में आया? बहुत अन्तर, फेरफार बहुत। लोगों को बाह्य आचरण से बहुत महिमा हो गयी है। ऐसा लगता है कि यह तो मूल बात, मूल बात को उड़ा दिया है। (कहते हैं कि) वह साधन है। (परन्तु) वह साधन नहीं। यहाँ तो यह स्पष्टीकरण किया न अर्थकार ने। धर्मी का उदयभाव उपाधि निर्जरा का कारण है। अर्थात् कि स्वभाव की एकता है, इसलिए उसकी (उदयभाव की) एकता नहीं होती, इसलिए छूट जाती है।

एक व्यक्ति आया बात करने, परन्तु उसके सामने न देखे और अपने बैठा (पड़ा) हो, तो वह खड़ा होकर चला जायेगा। इसे मेरे साथ बात करने का समय नहीं।

मुमुक्षु : व्यवहार तो उपकारी.... आदरणीय .... ?

पूज्य गुरुदेवश्री : जहाँ अन्तर आनन्द प्रभु पूर्णानन्द का नाथ जहाँ श्रद्धा-ज्ञान के आदर में पड़ा है, उसे आदर, पामर भिखारी जहर जैसे राग का आदर कैसे हो? ओहोहो! पूरे स्वर्ग के सुख की बुद्धि, जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, उस भाव की बुद्धि टल गयी है। आहाहा! यहाँ तो शुभभाव उदयभाव है। शुभभाव उदयभाव है। उदयभाव समकिती को स्पर्शता नहीं, ऐसा कहते हैं यहाँ तो। आहाहा! ज्ञानी जीव सदा अबन्ध है, लो। १७ कलश नीचे है न!

ज्ञानवान् स्वरसतोऽपि यतः स्यात् सर्वरागरसवर्जनशीलः।
लिप्यते सकलकर्मभिरेषः कर्ममध्यपतितोऽपि ततो न।।१७।।

देखो, **रागरसवर्जनशील**। ज्ञानी जीव सदा अबन्ध है।

★ ★ ★

काव्य - ३६

ज्ञानी जीव सदा अबन्ध है (दोहा)

ग्यानी ग्यानमगन रहै, रागादिक मल खोइ।
चित उदास करनी करै, करम बंध नहिं होइ।।३६।।

शब्दार्थः-मल=दोष। खोइ=हटाकर। करनी=क्रिया।

अर्थः-ज्ञानी मनुष्य राग-द्वेष-मोह आदि दोषों को हटाकर ज्ञान में मस्त रहता है और शुभाशुभ क्रिया वैराग्यसहित करता है, इससे उसे कर्मबन्ध नहीं होता।।३६।।

काव्य-३६ पर प्रवचन

ज्ञानी जीव सदा अबन्ध है।

ग्यानी ग्यानमगन रहै, रागादिक मल खोइ।
चित उदास करनी करै, करम बंध नहिं होइ॥३६॥

उसमें बहुत लिखा है एक व्यक्ति ने दो-चार पृष्ठ में। परन्तु एक बार वहाँ सुनने तो जाओ, विरोध करते हो तो तुमको खबर पड़ेगी कि क्या है वहाँ? लो, उसमें आया है न विशेष अंक। यहाँ का है वह। फोटो यहाँ का है। एक बार मैं गया तो वहाँ विरोध करने, वहाँ स्थिर हो गया। वे कुछ ऐसी बात करते हैं। ऐसी बात करते हैं। इसलिए विरोध करनेवाले को आमन्त्रण देता हूँ कि एक बार सोनगढ़ जा आओ। बापू! सुने तो उसे खबर पड़े कि यह क्या है? हाँ, ऐसा मार्ग है, भाई! यह उस मार्ग की वस्तु की स्थिति यह है। **ज्ञानी मनुष्य ग्यानमग्न रहै...** स्वभाव की एकता में ही लीनता धर्मी की

तो है। उदयभाव में लीनता (नहीं)। आहाहा!

रागादिक मल खोई.... राग-द्वेष आदि को मल... रागादि है न! राग-द्वेष-मोह, उस मल का तो नाश होता है वहाँ। **चित्त उदास करनी करै... शुभाशुभ क्रिया वैराग्यसहित करता है।** अर्थात् शुभाशुभ परिणाम आवे, उसमें वैराग्य होता है, ऐसा। कर्म है ही कहाँ? भाषा तो समझाने में क्या आवे? शुभाशुभ परिणाम वैराग्यसहित होते हैं— दिखते हैं। शुभ-अशुभ परिणाम का ही उसे वैराग्य है। पुण्य-पाप (अधिकार) में आता है नहीं? पुण्य-पाप के भाव से ही उसे वैराग्य है। स्वरूप की सत्ता का अनुभव है और पुण्य-पाप से वैराग्य है। यह ज्ञान और वैराग्यशक्ति धर्मी को निरन्तर... यह निर्जरा अधिकार में ही है (श्लोक १३६)। ज्ञान-वैराग्यशक्ति। यह वैराग्य अर्थात् बाहर का वैराग्य, वह नहीं। ओहो! भगवान पूर्णानन्द प्रभु का जहाँ अन्तर में अनुभव का ज्ञान और राग से विरक्त वैराग्य, उसका नाम वैराग्य है। पुण्यभाव से भी वैराग्य है जहाँ। आहाहा!

चित्त उदास करनी करै... अर्थात् कि पुण्य-पाप के विकल्प होते हैं, परन्तु तो भी वैराग्य है, इसलिए उसे कर्मबन्धन होता नहीं। आहाहा! यहाँ तो बन्धन हो और बन्धन न हो, उसकी व्याख्या निर्जरा अधिकार में है। अज्ञानी पंच महाव्रत पालता हो, स्त्री-पुत्र छोड़े हों या बालब्रह्मचारी हो, परन्तु अन्दर में स्वभाव के पक्ष में गया नहीं, तो वह राग के पक्ष में खड़ा है। आहाहा! राग के पक्ष में खड़ा हुआ अज्ञानी क्षण-क्षण में दर्शनमोह और चारित्रमोहसहित बन्ध करता है। पंच महाव्रत पालता हो तो भी दर्शनमोह का बन्ध होगा, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : राग है, उसका रस है और एकताबुद्धि है, हो गया। अबन्धस्वरूप जीव आत्मा भिन्न, वह तो रह गया और बन्ध का रस रहा। उसे क्षण-क्षण में दर्शनमोह और चारित्रमोहसहित साता कर्म बँधता है। ज्ञानी को कर्मबन्धन नहीं होता, लो। विशेष।

★ ★ ★

काव्य - ३७

पुनः

मोह महातम मल हरै, धरै सुमति परकास।
मुकति पंथ परगह करै, दीपक ग्यान विलास।।३७।।

शब्दार्थः-सुमति=अच्छी बुद्धि। मुकति पंथ=मोक्षमार्ग।

अर्थः-ज्ञानरूपी दीपक मोहरूपी महा अन्धकार का मल नष्ट करके सुबुद्धि का प्रकाश करता है और मोक्षमार्ग को दरसाता है।।३७।।

काव्य-३७ पर प्रवचन

मोह महातम मल हरै, धरै सुमति परकास।
मुकति पंथ परगह करै, दीपक ग्यान विलास॥३७॥

ज्ञानरूपी दीपक... ज्ञान अर्थात् चैतन्य का आत्मज्ञान। स्वरूप का ज्ञान ऐसा जो आत्मा का ज्ञान। शास्त्रज्ञान, वह ज्ञान नहीं। आत्मज्ञानरूपी दीपक। वस्तु का जहाँ ज्ञान हुआ, यह आत्मा ऐसा है, ऐसा भान-अनुभव हुआ। देखो, **ज्ञानरूपी दीपक मोहरूपी महाअंधकार का मल नष्ट करके....** स्वरूप की ओर की सन्मुखता से जो सम्यग्ज्ञानज्योति प्रगट हुई, वह ज्योति मोहरूपी महा अन्धकार का नाश कर डालती है। **मुक्ति पंथ परगट करै....** कौन? ज्ञानरूपी दीपक। जिसे आत्मज्ञान... आत्मज्ञान कहा न? आत्मज्ञान। आत्मा का ज्ञान, आत्मज्ञान। राग का ज्ञान, छह द्रव्य का ज्ञान, वह नहीं। आत्मज्ञान—स्वसन्मुख के आनन्द के अनुभवसहित का जो ज्ञान, उस ज्ञानरूपी दीपक ने मोहरूपी अंधिकार को तो नष्ट कर डाला है। सुबुद्धि का प्रकाश करता है। विवेक में सुबुद्धि प्रगटी है। राग और स्वभाव की भिन्नता का जहाँ भान वर्तता है। **मुक्ति पंथ परगट करै....** वह तो मोक्ष का पंथ प्रगट करता है। स्वभाव-सन्मुख हुआ ज्ञान स्वभाव की ही शुद्धता बढ़ाता है। **दीपक ग्यान विलास....** ऐसे ज्ञानरूपी दीपक का विलास है। उस आत्मज्ञान के दीपक का यह विलास है। आहाहा!

ज्ञानरूपी दीपक की प्रशंसा... अब प्रशंसा करते हैं। चैतन्य भगवान का ज्ञान। उसका ज्ञान कब कहलाये? राग से और निमित्त से हटकर स्वभाव-सन्मुख का ज्ञान करे, तब उसे आत्मज्ञान कहा जाता है। आत्मज्ञान न? या व्यवहार का ज्ञान। निमित्त का ज्ञान? पर का ज्ञान? आत्मज्ञान। आत्मा शुद्ध ध्रुव का ज्ञान। उसके सन्मुख हुआ सम्यग्ज्ञान, आनन्द के वेदनवाला ज्ञान, ऐसा जो आत्मज्ञान, मोह का नाश करता है, सुबुद्धि को प्रकाशित करता है, मोक्षमार्ग दिखलाता है। उसकी विशेष प्रशंसा।

★ ★ ★

काव्य - ३८

ज्ञानरूपी दीपक की प्रशंसा (सवैया इकतीसा)

जामैं धूमकौ न लेस वातकौ न परवेस,
करम पतंगनिकौं नास करै पलमैं।
दसाकौ न भोग न सनेहकौ संजोग जामैं,
मोह अधंकारकौ वियोग जाके थलमैं।।
जामैं न तताई नहि राग रकताई रंच,
लहलहै समता समाधि जोग जलमैं।
ऐसी ग्यान दीपकी सिखा जगी अभंगरूप,
निराधार फुरी पै दुरी है पुदगलमैं।।३८।।

शब्दार्थः-धूम=धुवाँ। वात=हवा। परवेस (प्रवेश)=पहुँच। दसा=बत्ती। सनेह (स्नेह)=चिकनाई (तेल आदि)। तताई=गर्मी। रकताई=ललाई। अभंग=अखण्ड। फुरी=स्फुरायमान हुई। दुरी=छुपी।

अर्थः-जिसमें किंचित् भी धुवाँ नहीं है, जो हवा के झकोरों से बुझ नहीं सकता, जो एक क्षण भर में कर्म-पतंगों को जला देता है, जिसमें बत्ती का भोग नहीं है, और न जिसमें घृत, तेल आदि आवश्यक हैं, जो मोहरूपी अन्धकार को मिटाता है, जिसमें किंचित् भी आँच नहीं है और न राग की लालिमा है, जिसमें समता समाधि और योग

प्रकाशित रहते हैं, वह ज्ञान की अखण्ड ज्योति स्वयंसिद्ध आत्मा में स्फुरित हुई है–शरीर में नहीं है।।३८।।

काव्य-३८ पर प्रवचन

जामैं धूमकौ न लेस वातकौ न परवेस,
करम पतंगनिकौं नास करै पलमैं।
दसाकौ न भोग न सनेहकौ संजोग जामैं,
मोह अंधकारकौ वियोग जाके थलमैं।।
जामैं न तताई नहि राग रकताई रंच,
लहलहै समता समाधि जोग जलमैं।
ऐसी ग्यान दीपकी सिखा जगी अभंगरूप,
निराधार फुरी पै दुरी है पुदगलमैं।।३८।।

ऐसी समाधि तो कोई सातवें-आठवें (गुणस्थान में) हो। (सम्यग्दृष्टि को) समाधि हो, सुन न! आधि, व्याधि, उपाधि से भिन्न पड़ा, वह अकेली समाधि हुई।

निराधार फूरी। किसी के आधार बिना स्फुरित, ऐसा कहते हैं।

कैसा है ज्ञानरूपी दीपक? जिसमें किंचित् धुँआ नहीं, लो। रागरूपी धुँआ नहीं उसमें। ऐसा आत्मज्ञान। वात का प्रवेश नहीं—वायु का प्रवेश नहीं। वायु का झकोरा आवे और दीपक बुझ जाये। भगवान आत्मज्ञान, उसे उदय (रूपी) वायु का झकोरा लगे और बुझ जाये, ऐसी चीज़ है नहीं। कहते हैं न कि वायु आयी वहाँ दीपक बुझ गया। यह ऐसा है नहीं। चैतन्यदीपक शाश्वत् भगवान सम्यग्ज्ञान में जहाँ जानने में आया। ऐसा जो ज्ञानरूपी दीपक, उसमें वायु उसे बुझा सके अर्थात् कि उदय की वायु उसे बुझा सके, ऐसा है नहीं। **करम पतंगनिकौ नास करै पलमैं....** चैतन्य भगवान अपने स्वभाव –सन्मुख के अनुभवी ज्ञान में कर्म के पतंग तो नष्ट हो जाते हैं। कर्मों के पतंगिया इस दीपक में नाश हो जाते हैं। जलता दीपक हो न तो मानो अग्नि (–प्रकाश) है, ऐसा करके जाये, मरे वहाँ तो। उसी प्रकार कर्मरूपी उदय आवे, धर्मी अपने आनन्दस्वरूप

में एकाग्रता के कारण से ज्ञानरूपी दीपक उसे (कर्मरूपी उदय को) जला डालता है।

यह माने कि ऐसी सब बातें तो कुछ चारित्र हो और आठवें में हो (उसे होती है)। ऐसा माने। यहाँ तो अभी सम्यग्दृष्टि की बात चलती है, सुन न! क्षणभर में उसे नाश कर डालता है। **दसाकौ न भोग....** अर्थात् बत्ती का भोग नहीं, ऐसा। **सनेहकौ संजोग....** तेल नहीं जिसमें, ऐसा। दीपक की बत्ती होती है न, बत्ती—वाट। यहाँ वाट-बाट नहीं। उसमें घी, तेल आदि की आवश्यकता नहीं। कहते हैं, (तेल आदि हो) तो दीपक जले, नहीं तो न जले। आहाहा! **मोह अंधकारकौ वियोग जाकै थलमैं। मोहरूपी अंधकार को मिटाता है।** उसके स्थल में—आनन्दरूपी ज्ञानस्वभाव के स्थल में—भाव में और उसके क्षेत्र में—मोहरूपी अन्धकार का वियोग है। उस प्रकाशित स्थल में अन्धकार कहाँ से हो ? ऐसा कहते हैं। जहाँ सूर्य का प्रकाश आवे, वहाँ अन्धकार (नहीं होता)। इसी प्रकार भगवान आत्मा चैतन्यप्रकाश का ज्ञान—अनुभव हुआ, उसे अन्धकार का वियोग है, मोहरूपी अन्धकार का अभाव है।

जामैं न तताई नहि राग रकताई रंच... जिसमें किंचित् भी आंच नहीं है। लो, **तताई** (अर्थात्) आँच नहीं लगती उसे। दीपक हो न ऐसे लथडी जाये न ऐसे। बुझे नहीं, परन्तु ऐसे-ऐसे हो न, हिले ऐसे। ऐसी आँच नहीं जिसे, ऐसा। शाश्वत् चैतन्य दीपक जहाँ जगा, उसके ज्ञान के दीपक को आँच नहीं। आहाहा! **और न राग की लालिमा है।** लो, **राग रकताई....** राग के रक्त का अंश उसमें नहीं। **लहलहै समता समाधि जोग जलमैं...** आहाहा! **जिसमें समता समाधि और योग प्रकाशित रहते हैं।** अकषायस्वभाव समाधि, सुख और स्वरूप में एकाग्रता, वह योग प्रकाशित रहता है, ऐसा वह ज्ञान है।

ऐसी ग्यान दीपकी सिखा जगी अभंगरूप.... अभंगरूप शिखा है उसकी। **निराधार फुरी.... स्वयंसिद्ध आत्मा में स्फुरित हुई है।** किसी के आधार से नहीं। अन्तर के आनन्द के अनुभवसहित की ज्ञानज्योति स्फुरित हुई... **निराधार फुरी पै दुरी है पुद्गलमैं....** पुद्गल से दूर है, ऐसा। शरीर से और राग से दूर—पृथक् अन्दर जिसकी शिखा है। उसे सम्यग्ज्ञान का दीपक कहा जाता है और (ऐसा) धर्म करनेवाले को निर्जरा होती है, ऐसा कहते हैं। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ७९, ज्येष्ठ कृष्ण ११, शनिवार, दिनांक १९-०६-१९७१
निर्जरा द्वार, काव्य - ३९ से ४२

.....अशुद्धता और कर्म टले कैसे? धर्मी की दृष्टि आनन्द और शुद्ध चैतन्य पर होती है। धर्मी की दृष्टि और उसका ज्ञान शुद्ध चैतन्यद्रव्य ज्ञायक आनन्द, उसके ऊपर दृष्टि होने से आनन्द का सुख का अनुभव चैतन्य से है। ऐसे अनुभव के कारण से बाहर के संयोगों में उपभोग करता दिखाई दे, तथापि वह उपभोग करता (नहीं)। पर में उसे राग में रस उड़ गया है। भोग की वासना का राग, राग में रस—सुखबुद्धि टल गयी है। विषय में, कीर्ति में विकल्प जो आवे, उस विकल्प का रस ही उड़ गया है अन्दर से। सुख भासित नहीं होता, कहीं सुख भासित नहीं होता ज्ञानी को आत्मा के अतिरिक्त। अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव होने से, उसे कोई भोग की कल्पना हो और संयोग (हावे), तथापि वह सब खिर जाते हैं, टल जाते हैं, उसे निर्जरा कहा जाता है। समझ में आया? यह कहते हैं, लो।

यादृक् तादृगिहास्ति तस्य वशतो यस्य स्वभावो हि यः
कर्तुं नैष कथञ्चनापि हि परैरन्यादृशः शक्यते।
अज्ञानं न कदाचनापि हि भवेज्ज्ञानं भवत्सन्ततं
ज्ञानिन् भुङ्क्ष्व परापराधजनितो नास्तीह बन्धस्तव।।१८।।

सम्यग्दृष्टि का हृदय बदल गया है, दशा बदल गयी है, ऐसा कहते हैं। **ज्ञान की निर्मलता पर दृष्टान्त।**

★ ★ ★

काव्य - ३९

ज्ञान की निर्मलता पर दृष्टान्त (सवैया इकतीसा)

जैसो जो दरव तामैं तैसोई सुभाउ सधै,
कोऊ दर्व काहूकौ सुभाउ न गहतु है।

जैसैं संख उज्जल विविध वर्न माटी भखै,
माटीसौ न दीसै नित उज्जल रहतु है।।
तैसैं ग्यानवंत नाना भोग परिगह-जोग,
करत विलास न अग्यानता लहतु है।
ग्यानकला दूनी होइ दुंददसा सूनी होइ,
ऊनी होइ भौ-थिति बनारसी कहतु है।।३९।।

शब्दार्थ:-दर्व (द्रव्य)=पदार्थ। भखै=खाता है। दुंददसा=भ्रान्ति। सूनी (शून्य)=अभाव। ऊनी=कमती। भौ-थिति=भवस्थिति।

अर्थ:-पण्डित बनारसीदासजी कहते हैं कि जो पदार्थ जैसा होता है, उसका वैसा ही स्वभाव होता है, कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थ के स्वभाव को ग्रहण नहीं कर सकता, जैसे कि शंख सफेद होता है और मिट्टी खाता है, पर वह मिट्टी सरीखा नहीं हो जाता-हमेशा उजला ही रहता है; उसी प्रकार ज्ञानी लोग परिग्रह के संयोग से अनेक भोग भोगते हैं, पर वे अज्ञानी नहीं हो जाते। उनके ज्ञान की किरण दिन दूनी बढ़ती है, भ्रामक दशा मिट जाती है और भव-स्थिति घट जाती है।।३९।।

काव्य-३९ पर प्रवचन

जैसो जो दरव तामैं तैसोई सुभाउ सधै,
कोऊ दर्व काहूकौ सुभाउ न गहतु है।
जैसैं संख उज्जल विविध वर्न माटी भखै,
माटीसौ न दीसै नित उज्जल रहतु है॥
तैसैं ग्यानवंत नाना भोग परिगह-जोग,
करत विलास न अग्यानता लहतु है।
ग्यानकला दूनी होइ दुंददसा सूनी होइ,
ऊनी होइ भौ-थिति बनारसी कहतु है॥३९॥

जैसो जो दरव तामैं तैसोई सुभाउ सधै.... समकिती का द्रव्य तो शुद्ध चैतन्यपने

परिणमित है। वस्तु का स्वभाव आनन्द और शुद्ध है, उस पर धर्मी की (दृष्टि होने पर) प्रथम धर्मी को अनुभवदशा में उसे आनन्द का स्वाद आया होता है। उस अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद के समक्ष, कहते हैं कि **जो दरव तामैं तैसोई सुभाउ....** वह तो शुद्ध आनन्द को साधता है। अरे, सूक्ष्म गजब! धर्मी उसे कहते हैं कि शुद्ध अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप सुख के स्वभाव का साधन साधता है। उसे **कोऊ दरव काहूकौ सुभाउ न गहतु है....** कोई संयोगी चीज़ स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, लक्ष्मी आदि का संयोग और उसके लक्ष्य से हुआ जरा राग—वह आत्मा के स्वभाव को अज्ञान (रूप) कर नहीं सकता। चैतन्यस्वभाव द्रव्य के अतीन्द्रिय आनन्द के रस के स्वादी जीव को पर की चीज़ें आनन्द के स्वाद को अज्ञान (रूप) कर सके या पर में सुखबुद्धि उपजा सके, ऐसी परचीज़ में सामर्थ्य नहीं है। समझ में आया?

कोऊ दरव काहूकौ सुभाउ न गहतु है.... भगवान आत्मा शुद्ध निर्मल आनन्दस्वरूप का जहाँ अनुभव हुआ कि यह आनन्द तो आत्मा में है। वह आनन्द नहीं पुण्य-पाप के विकल्प में, नहीं शरीर आदि के संयोग की क्रिया में। ऐसा जो धर्म का भान उसे कोई राग आदि क्रिया या बाहर की क्रिया अज्ञान कर सके, ऐसा स्वभाव है (नहीं)। कहो, समझ में आता है या नहीं? चिमनभाई! यह क्या कहा जाता है यह? यह क्या कहा जाता है? ऐसा कि निर्जरा किसे होती है, ऐसा। पूरी चैतन्य चीज़ जहाँ अन्दर अनुभव में आयी और करने का था, वह तो किया उसने। शुद्ध चैतन्य भगवान पूर्ण आनन्दस्वरूप है (और) परमेश्वर सर्वज्ञ तीर्थंकरदेव ने भी ऐसा देखा है, ऐसा भगवान ने अनुभव किया और पूर्ण दशा प्रगट की। धर्मी भी उसे कहते हैं, जिसे इन्द्र के इन्द्रासन और इन्द्राणी के भोग दुःखरूप और काले नाग जैसे, रोग जैसे लगें। ऐसे क्रिया में दिखाई दे, परन्तु अन्दर में उसे दुःख दिखता है। आहाहा! सुख तो आत्मा में है, ऐसा अनुभव होता है। आहाहा! कहो, समझ में आया? देखो, धर्म की स्थिति की यह रीति और पद्धति का यह स्वरूप है। वस्तु का स्वरूप ऐसा है।

कोऊ दरव काहूकौ सुभाउ न गहतु है.... जहाँ वस्तुदृष्टि अनुभवदृष्टि हुई, उसे संयोगी चीज़ें या संयोगी रागादि का भाग सुखबुद्धि उपजावे, ऐसी सामर्थ्य (नहीं है)। आहाहा! **जैसे संख उज्जल विविध वर्न माटी भखै....** जैसे शंख उज्ज्वल है श्वेत—

सफेद, वह विविध वर्ण की मिट्टी अर्थात् काली मिट्टी भी खाता है। तो भी **माटीसौं न दीसै....** शंख मिट्टी के रंगवाला नहीं होता। शंख मिट्टी के रंगवाला नहीं होता। समुद्र में काली मिट्टी भी होती है। शंख स्वयं सफेद है और काली मिट्टी अन्दर खाये, मुँह में आवे, इससे शंख काला हो जाता है? शंख तो श्वेत / सफेद रहता है। **माटीसौं न दीसै....** वह मिट्टी (मय) नहीं दिखता, मिट्टीवाला नहीं दिखता, वह श्वेत-सफेद दिखता है। **उज्जल रहतु है।**

तैसैं ग्यानवंत—ऐसे धर्मी जीव **नानाभोग परिग्रह-जोग.... ज्ञानी लोग परिग्रह के संयोग से अनेक भोग भोगते हैं....** भाषा तो क्या करना। दुनिया की भाषा में उसे समझाते हैं। यह साथ में खाता हो, कहो, कोमल वस्त्र पहनता हो, ...शरीर में, खाने-पीने की चीज़ में सब बैठे हों इकट्ठे, वह (भी) बैठा हो, जो चीज़ (सब) खावें, वैसा यह भी खाता हो। आहाहा! परन्तु कहते हैं, अनेक प्रकार के भोग और परिग्रह का सम्बन्ध हो उसे, (तो भी) **करत विलास न अग्यानता लहतु है।** अनेक भोग भोगने पर भी अर्थात् दुनिया ऐसा जाने न कि भोगता है। वास्तव में तो आनन्द के अनुभव के समक्ष राग का और पर का अनुभव है ही नहीं। समझ में आया?

समकितदृष्टि का इतना माहात्म्य है कि उसकी दशा में आनन्द के सुख के अतिरिक्त कहीं सुख भासित नहीं होता। फिर भले आठ वर्ष की बालिका हो या तिर्यंच पशु मेंढक हो। आत्मा में आनन्द और अतीन्द्रिय रस सुख है, ऐसा जो उसे अनुभव स्वाद में आया, उसे धर्मी कहते हैं। आहाहा! उसे समकिती कहते हैं, उसे ज्ञानी कहते हैं। उसे अनेक प्रकार के भोग के योग में दिखाई दे, अनेक प्रकार के परिग्रह के सम्बन्ध में खड़ा दिखाई दे। यहाँ तो '**करत विलास**' ऐसा शब्द प्रयोग किया है। वह विलास करता दिखाई दे, ऐसा लेना। विलास करता नहीं। आहाहा!

रोग की दवा ले, उसे उत्साह हो? रोग हो न रोग, ऐसी दवा एक आवे... यह क्या कहलाये वह पानी हो जाये? पाण्डुरोग नहीं, परन्तु पीलिया... पीलिया। पीलिया का रोग होता है न, पीलिया नहीं होता है? पीलिया, उसकी एक दवा आती है। एकबार वहाँ हुआ था (संवत्) ८७ के वर्ष में। उसकी दवा विष्टा से भी (खराब) ऐसी गन्ध मारे। सूखी हो कुछ। थी तो लकड़ी... औषध। परन्तु उसकी इतनी गन्ध कि कुत्ते की

विष्टा से भी महागन्ध। वह पीलिये का रोगवाला पीवे तो उत्साह होगा उसे ? तो भी वह दवा और। वह तो दवा खोपरा और उसमें काले तिल डालकर फलाना करना। तब तो और औषध जैसा करे। औषध जैसा करे अर्थात् औषध लेने का प्रमाण हो, उससे अधिक खाये, क्योंकि उसमें नारियल का गोला, उसमें शक्कर डालकर फलाना करके ऐसा करे। लाओ न भाई, रोटी खायें, इसकी अपेक्षा औषध अच्छी।

परमात्मप्रकाश में आया है कि उपकरण मुनि को चाहिए, इसके अतिरिक्त अधिक रखे उसे, जैसे औषध का अजीर्ण हो, ऐसा अजीर्ण हुआ है उसे। परमात्मप्रकाश में है यह। यहाँ तो मुनि की उत्कृष्ट (दशा) की बात है, परन्तु समकिती में भी ऐसा है। कहीं भी उसे पर में रस होता नहीं। बहुत सामग्री इकट्ठी की, इसलिए मजा करता है, ऐसा है ही नहीं। वह तो दवारूप से जैसे गन्धयुक्त चीज़... ऐसी आयी थी तब पीलिया हुआ था न ८७ में। कोई देशी वैद्य था। परन्तु पूछे तो... कुत्ते की विष्टा से (खराब) गन्ध मारती थी। एकदम (मुख में) डाल देनी (पड़े)। इसी प्रकार धर्मी जीव को, वह गन्धयुक्त चीज़ जैसे महा कड़वी और विष्टा जैसी है, (उसी प्रकार) बाहर का संयोग और राग सब विष्टा जैसा दिखता है उसे। आहाहा! इसलिए वह बाहर के योग और भोग के संयोग में विलास करता दिखाई दे, तो भी अज्ञानता लहतुं नहीं। वह अज्ञानपने को प्राप्त नहीं करता। वह तो ज्ञानपने और आनन्दपने की ही प्राप्ति करता है। आहाहा! समझ में आया ?

ग्यानकला दूनी होइ.... आहाहा! शुद्ध आनन्द का स्वरूप भगवान आत्मा, उसके आनन्द की और ज्ञान की निर्मलता, ऐसे योग और भोग के सम्बन्ध में भी शुद्धि बढ़ती जाती है, ऐसा कहते हैं। '**दूनी**' तो एक शब्द प्रयोग किया है। असंख्यगुणी निर्जरा होती है। है न अन्दर। **दूनी बढती हैं, भ्रामकदशा मिट जाती है।** '**दूनी**' का अर्थ यह, बहुत। आहाहा! **दुंददसा सूनी होइ....** शुद्ध चैतन्य द्रव्यस्वभाव, आनन्दस्वभाव, अकेला ज्ञानस्वभाव, ऐसी अन्तर अनुभव की दृष्टि और अनुभव होने से धर्मी को—ज्ञानी को ऐसे योग और भोग के सम्बन्ध में भी अपनी शुद्धि बढ़ती जाती है। **दुंददसा सूनी होइ....** द्वन्द्व अर्थात् रागादि भाग है, वह शून्य होता जाता है। वह द्वन्द्वदशा ली है न राग। रागदशा शून्य होती जाती है और अरागदशा बढ़ती जाती है, ऐसा कहते हैं। अरे, अरे! **ऊनी होइ**

भौ-थिति... भवस्थिति घटती जाती है, लो। धर्मी को भवस्थिति जो हो एकाध—दो भव, वह भी क्षण-क्षण में घटती जाती है। **बनारसी कहतु है....** वस्तु का स्वरूप ऐसा है, ऐसा मैं कहता हूँ, ऐसा कहते हैं। यह ३९वाँ पद १८वें कलश का कहा।

अब, **विषयवासनाओं से विरक्त रहने का उपदेश**। ऐसा सुनकर कोई ऐसा माने कि ज्ञानी को बन्ध नहीं, इसलिए मैं विषयसुख की रुचि से, अभिलाषा से विषय करूँ तो भी मुझे कुछ बन्ध नहीं। तो कहते हैं, मूढ़ है, मर जायेगा...।

मुमुक्षु : दोनों का—ज्ञानी और अज्ञानी का भेद क्या रहा?

पूज्य गुरुदेवश्री : कहा न, अज्ञानी का ऐसा भाग है। उसे राग में रस और प्रेम है, विषय की अभिलाषा है, उसमें सुखबुद्धि है और मानता है कि मुझे बन्ध है नहीं। भगवान ने कहा है, ज्ञानी को समकिती को बन्ध नहीं। परन्तु समकिती को बन्ध नहीं, इसका कारण क्या? राग का रस टूटकर आन्द का रस आया है, ऐसे रस के समक्ष पूरी दुनिया के रस से वह उदास हो गया है। इसलिए उसे निर्जरा और धर्म है, ऐसा कहते हैं। भोग की वासना विकल्प है, वह तो दुःखरूप है। अज्ञानी को है दुःखरूप, परन्तु वह मानता है सुखरूप। हमारे तो कर्म की निर्जरा होती है। पूर्व के कर्म (का उदय) आया (और) भोग करें तो भी हमारे निर्जरा है। मर जायेगा... कहते हैं। उसमें सुखबुद्धि है, प्रेमबुद्धि है और तू कहे कि हमारे ज्ञानी का भोग निर्जरा का हेतु है, इस बात का मिलान खाता नहीं, ऐसा कहते हैं।

१९वाँ कलश नीचे।

ज्ञानिन् कर्म न जातु कर्तुमुचितं किञ्चित्तथाप्युच्यते
भुङ्क्षे हन्त न जातु मे यदि परं दुर्भुक्त एवासि भोः।
बन्धः स्यादुपभोगतो यदि न तत्किं कामचारोऽस्ति ते
ज्ञानं सन्वस बन्धमेष्यपरथा स्वस्यापराधाद्ध्रुवम्।।१९।।

★ ★ ★

काव्य - ४०

विषयवासनाओं से विरक्त रहने का उपदेश (सवैया इकतीसा)

जौलौं ग्यानकौ उदोत तौलौं नहि बंध होत,
बरतै मिथ्यात तब नाना बंध होहि है।
ऐसौ भेद सुनिकै लग्यौ तू विषै भौगनिसौं,
जोगनिसौं उद्दमकी रीति तैं बिछोहि है।।
सुनु भैया संत तू कहै मैं समकितवंत,
यहु तौ एकंत भगवंतकौ दिरोहि है।
विषैसौं विमुख होहि अनुभौ दसा अरोहि,
मोख सुख टोहि तोहि ऐसी मति सोहि है।।४०।।

शब्दार्थ:-उदोत (उद्योत)=उजेला। जोग=संयम। बिछोहि है=छोड़ दी है। उद्दम=प्रयत्न। दिरोहि (द्रोही)=बैरी (अहित करनेवाला)। अरोहि=ग्रहण करके। टोहि=देखकर। सोहि है=शोभा देती है।

अर्थ:-हे भाई भव्य सुनो! जब तक ज्ञान का उजेला रहता है, तब तक बन्ध नहीं होता और मिथ्यात्व के उदय में अनेक बन्ध होते हैं, ऐसी चर्चा सुनकर तुम विषय-भोगों में लग जाओ तथा संयम ध्यान चारित्र को छोड़ दो और अपने को सम्यक्त्वी कहो तो तुम्हारा यह कहना एकान्त मिथ्यात्व है और आत्मा का अहित करता है। विषयसुख से विरक्त होकर आत्म-अनुभव ग्रहण करके मोक्षसुख की ओर देखो ऐसी बुद्धिमानी तुम्हें शोभा देगी।

भावार्थ:-ज्ञानी को बन्ध नहीं होता ऐसा एकान्त पक्ष ग्रहण करके विषयसुख में निरंकुश नहीं हो जाना चाहिए, मोक्षसुख की ओर देखना चाहिए।।४०।।

काव्य-४० पर प्रवचन

जौलौं ग्यानकौ उदोत तौलौं नहि बंध होत,
बरतै मिथ्यात तब नाना बंध होहि है।

ऐसौ भेद सुनिकै लग्यौ तू विषै भौगनिसौं,
जोगनिसौं उद्दमकी रीति तैं बिछोहि है॥
सुनु भैया संत तू कहै मैं समकितवंत,
यहु तौ एकंत भगवंतकौ दिरोहि है।
विषैसौं विमुख होहि अनुभौ दसा अरोहि,
मोख सुख टोहि तोहि ऐसी मति सोहि है॥४०॥

धर्म और अधर्म के बीच अन्तर कितना है, यह समझाते हैं। **जौलौं ग्यानकौ उदोत...** शुद्ध आनन्दस्वभाव का भान और अन्तर कला खिली है। राग और संयोग से भिन्न स्वरूप का अनुभव वर्तता है, तब तक तो बन्ध नहीं होता। भगवान आत्मा के आनन्द के सन्मुख में दृष्टि पड़ी है और उस आनन्द का वेदन है। उसे जब तक ज्ञान का प्रकार आनन्द का भाग वर्तता है, तब तक उसे बन्ध नहीं, उसे बन्ध नहीं। **बरते मिथ्यात...** परन्तु राग में सुखबुद्धि हुई। विषय में ठीकबुद्धि, होंशबुद्धि, उत्साहबुद्धि हुई। **बरते मिथ्यात...** वह तो मिथ्यात्व में वर्तता है। समझ में आया? छोटी से छोटी चीज़ हो मौसम्बी जैसी, परन्तु उसे उसके प्रति प्रेम हुआ। राग का प्रेम हुआ, तो मिथ्यात्व है। कहो, समझ में आया? राग में उत्साह आया। 'होंशिडा मत होंश न कीजे।' सज्झायमाला में सज्झाय है। उत्साह करे उत्साह। इज्जत सुने, कीर्ति सुने, महिमा सुने, वहाँ उत्साह वर्ते तो मूढ़ है, कहते हैं, मिथ्यादृष्टि है। **बरतै मिथ्यात तब नाना बंध होहि है....** राग के भाव में सुखबुद्धि, होंशबुद्धि, उल्लासबुद्धि, एकताबुद्धि, आदरबुद्धि, उपादेयबुद्धि वर्ते, वह तो मिथ्यात्वभाव है। उसमें सुख लगता है, बहुत अच्छा लगता है, मजा आता है, मिथ्यात्व है। आहाहा!

बरतै मिथ्यात तब नाना बंध होहि है.... अनेक प्रकार का मिथ्यात्वसहित बन्धन आठों कर्मों का होता है। आहाहा! **बरतै मिथ्यात तब नाना बंध होहि है,... ग्यानकौ उदोत तौलौं नहि बंध होत,...** अन्तर की दृष्टि में आनन्द वर्तता है, शुद्ध चैतन्य वर्तता है, उसके समक्ष उसे राग का विकल्प, चाहे तो तीर्थंकरगोत्र का हो, परन्तु हेयबुद्धि है, दु:खबुद्धि है। आहाहा! वह रतनचन्दजी ने चर्चित किया है न? मोक्षमार्ग बन्ध का भी कारण होता है, मोक्ष का भी कारण होता है। दो (कारण) हैं। एकान्त नहीं, अनेकान्त

है। बड़ा चर्चित किया है। उसके सामने जवाब दिया उसमें—सन्मति सन्देश में। कोई कहता था। नहीं, जो स्वभाव की दृष्टि और अनुभव है, वह मोक्ष का मार्ग तो संवर-निर्जरारूप ही है और जितना रागभाग है, वह तो अपराध है, बन्ध का कारण है। वह रत्नत्रय(रूप) मोक्ष(मार्ग) नहीं है। रत्नत्रय बन्ध का कारण नहीं हो सकता। सम्यक् निश्चय, हों! निश्चय ही रत्नत्रय है। वह (राग) रत्नत्रय है कहाँ? आत्मा... कहा है न वहाँ, नहीं? पुरुषार्थसिद्धि (उपाय)। (पृष्ठ १७०)

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बंधनं नास्ति,
येनांशेन तु रागस्ते नांशेनास्य बंधनं भवति॥२१२॥

धर्मी को भी (ऐसा है)। वहाँ तो आया है। यहाँ तो एकदम सम्यग्दर्शन की शुद्धता के माहात्म्य के समक्ष रागादि इसका अपना गिना नहीं, इसलिए अपने को बन्ध नहीं, ऐसा। समझ में आया? किस प्रकार का धर्म ऐसा? एक मिश्री की डली मुँह में पड़ी और जिसे अच्छा लगा अन्दर ठीक लगा। कहते हैं, वह तो मिथ्यात्वभाव है। वह मीठा और मीठा लगे उसमें मिथ्यापना कहाँ आया? मीठे का मीठा(पने) ज्ञान, वह तो ज्ञान सम्यक् हुआ।

मुमुक्षु : मीठे का ज्ञान अलग बात है और मीठे में मजा अलग बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु मीठा है, उसमें मजा आया वह (मिथ्या) दृष्टि हुई। आहाहा! मधुर मीठा। अरे! भगवान का स्वाद मीठा है, उसकी तो तुझे खबर नहीं। अतीन्द्रिय आनन्द भगवान आत्मा के स्वाद के समक्ष यह (मीठा स्वाद) तो कड़वे जहर जैसा स्वाद है। अज्ञानी उसके स्वाद में मिठास वेदता है, वह मिथ्यात्वभाव है। वह कदाचित् बाह्य भोग का विषय का त्यागी हो, तो भी वह मिथ्यात्वभाव से भोगी ही है। और ज्ञानी, उसे राग का भाग आया और संयोग के प्रसंग में, सम्बन्ध में दिखाई दे, तो भी वह छूटता जाता है। आहाहा! उसकी दृष्टि में राग और संयोग उसकी दृष्टि का विषय नहीं। आहाहा!

ऐसा अन्तर। नग्न मुनि साधु हुआ हो पंच महाव्रत, परन्तु जिसे अन्दर राग में हितबुद्धि है अर्थात् कि राग से मुझे लाभ होगा, उसने राग अपना माना। बस, मिथ्यादृष्टि

को भोग और संयोग का त्याग होने पर भी भोगी ही है वह। आहाहा! **बरतै मिथ्यात तब नाना बंध होहि है....** नाना अर्थात् अनेक प्रकार के। **ऐसौ भेद सुनिकै लग्यौ तू विषै भोगनिसौं...** देखो, भाषा ऐसी है न! यह बात सुनकर तुझे विषय का रस आया। **लग्यौ तू विषै भोगनिसौं...** भोग के काल में उसमें तुझे लगन लगी, वह तो रस आया।

जोगनिसौं उद्दमकी रीति तैं बिछोहि है.... राग का संयम करना चाहिए, उसका अभाव करना चाहिए और स्वभाव की शान्ति में आना चाहिए। ऐसी संयम अथवा स्वरूप की एकाग्रता अथवा स्वरूप की स्थिरता छोड़ दी तूने और विकल्प का आदर किया। ओहोहो! **जोगनिसौं उद्दमकी रीति तैं बिछोहि है....** स्वरूप सन्मुख की सावधानी को तूने छोड़ दिया और राग की सावधानी में जुड़ गया। और कहे कि हमारे भोग की निर्जरा होती है, उतना कर्म खिर जाता है। मूढ़ है। अनेक प्रकार के दर्शनमोह सहित सात-आठ कर्म बँधते हैं। अकेला बन्ध में ही पड़ा है।

सुनु भैया संत तू कहै मैं समकितवंत,.... राग के रस और प्रेम में पड़ा और तू कहता है, मैं समकितवन्त? **तुम्हारा यह कहना एकान्त मिथ्यात्व है और आत्मा का अहित करता है। विषयसुख से विरक्त होकर आत्म अनुभव ग्रहण करके... सुनु भैया संत तू कहै मैं समकितवंत,....** विषय का रस अन्दर प्रेम है, उल्लसित वीर्य से उस राग को सेवन करता है और कहता है, मैं समकितवन्त हूँ। **यहु तौ एकंत भगवंतकौ दिरोहि है....** आहाहा! सर्वज्ञ परमात्मा का द्वेष है अथवा सर्वज्ञ स्वभाव आत्मा का द्वेषी है। आहाहा! **विषैसौं विमुख होहि... एकंत भगवंतकौ दिरोहि....** भगवान आनन्दस्वरूप का द्रोही—विरोधी हुआ। राग का प्रेम और रस आया, सुखपना भासित हुआ राग में—संयोग में, तो भगवान आत्मा का वैरी हुआ। वीतराग की आज्ञा का भी वैरी हुआ। ओहोहो! यह दृष्टि का तोल किस माप से करना बाहर से? कहो, शान्तिभाई!

यहु तौ एकंत भगवंतकौ दिरोहि है.... लो। भगवान आत्मा का अहित करनेवाला है, ऐसा लिखा है। **भगवंतकौ दिरोहि...** का इतना अर्थ है। आत्मा का अहित करनेवाला है। ज्ञानी का नाम धराकर विषय का रस सेवन करे और उसमें सुखबुद्धि रखे और कहे कि हमारे भोग की निर्जरा होती है। अहित करनेवाला है, आहाहा! वह आत्मा का अहित करनेवाला है। **विषैसों विमुख होहि...** इसका अर्थ तो वापस लोग ऐसा कर डाले

कि बिल्कुल संयोग के विषय छोड़ दे। ऐसा नहीं। यहाँ तो रागादि विषय पर है, उनसे विमुख हो जाता है और स्वभाव सन्मुख होता है, ऐसी बात है।

(समयसार) ७२ गाथा का ऐसा अर्थ करते हैं न? ७२ गाथा है न कर्ताकर्म की। ऐसा कहे, जो कोई ज्ञानी विषय से निवृत्त न हो तो वह ज्ञानी ही नहीं। परन्तु उसका अर्थ दूसरा है वहाँ। अभिप्राय में राग से निवृत्त नहीं हो तो वह ज्ञानी ही नहीं, ऐसा कहते हैं। अभिप्राय में राग का रस पड़ा है, और कहता है, हमारे आस्रव नहीं, बन्ध नहीं। तो अहित करनेवाला झूठा है। राग का अभिप्राय जिसे छूट गया है, आस्रव के परिणाम का आश्रय, हितबुद्धि, अभिप्राय छूट गया है, उसे हितबुद्धि और आश्रय आत्मा के ऊपर आया है। वह विषय से छूट गया है, ऐसा कहना है। संयोग में भले विषय आदि हो। समझ में आया? ७२ गाथा का ऐसा अर्थ किया है। ७२ गाथा है न समयसार की। यदि वह विषय से विरक्त न हो तो ज्ञानी नहीं। इसका अर्थ—रागादि विकल्प है, वह अभिप्राय में मेरे हैं, ऐसा माने तो वह विषय से विरक्त है ही नहीं, ऐसा। अरे, कठिन बातें!

विषैसौं विमुख.... विषयसुख से विरक्त। विषयसुख से विरक्त। चाहे तो इन्द्राणी के सुख हों या अरबोंपति के और भूख लगी हो और ऐसे अकेले मेवा हों, मावा के जामुन और... कहते हैं, जिसकी दृष्टि उसके ऊपर से हट गयी है। आहाहा! उसका जो विकल्प आया है, उसके ऊपर से दृष्टि हट गयी है, वह विषय से विमुख है। समझ में आया? शरीर से ब्रह्मचर्य पालन किया, इसलिए विषय से विमुख हुआ—ऐसा नहीं। राग का रस पड़ा है, तब तक विषय से सन्मुख ही है। आहाहा! वहाँ तक मिथ्यादृष्टि है। राग—अशुभ राग है या शुभ, उसका जिसे रस और प्रेम है, वह मिथ्यादृष्टि है, मूढ़ है। वह बाहर के विषय न भोगे तो भी राग का भोग करता है, वही बड़ा भोगी है। आहाहा! समझ में आया? ऐसा धर्म भारी सूक्ष्म हो गया। भगवान! तू भी सूक्ष्म है न, कहा न! आत्मा तो अतीन्द्रिय आनन्द का धाम है। ऐसे अतीन्द्रिय आनन्द के सन्मुख की दृष्टि छोड़कर, पर रागादि में विषयसुख में बुद्धि हुई, बस वही मिथ्यात्व है।

इसलिए **विषैसौं विमुख होहि अनुभौ दसा अरोहि**। देखो, भाषा। राग में सुखबुद्धि छोड़कर और आत्मा के आनन्द के अनुभव में रहे तो वह विषय से विरक्त है, ऐसा कहा गया है। यह पुस्तक आयी है या नहीं वहाँ, छोटाभाई? आयी है? कहाँ से आयी?

मुमुक्षु : इनके लड़के ने....

पूज्य गुरुदेवश्री : ठीक। तुम्हारे नहीं आयी होगी चन्दुभाई ? उसे तो बहुत आगे रहा न आगे। अस्ति-नास्ति की। धर्मी जीव जिसे व्यवहार के राग का रस भी उड़ गया है, वह विषय से विमुख है। राग के सन्मुख नहीं, ज्ञानी राग-सन्मुख नहीं। ज्ञानी की दृष्टि स्वभाव-सन्मुख है और राग से विमुख है। अज्ञानी स्वभाव से विमुख है और राग से सन्मुख है। बस, इतना अन्तर से सब अन्तर है। समझ में आया ? आहाहा! कोमल शरीर और शरीर के अवयवों को देखकर जिसे ऐसा उमेद आता है, अन्दर उमेद आता है, विषय के सन्मुख ही है। समझ में आया ? वह स्वभाव-सन्मुख से छूट गया है।

विषैसौं विमुख होहि अनुभौ दसा अरोहि... लो, ठीक! ग्रहण करे, शुद्धस्वरूप को ग्रहण करे। प्रभु अतीन्द्रिय आनन्द रसवाला तत्त्व, उसे अनुभव करे और ग्रहण करे। **मोख सुख टोहि...** आत्मा के सुख को वह अन्दर से खोजता है। धर्मी आत्मा के आनन्द को देखता है। राग में आनन्द उसे दिखाई नहीं देता। आहाहा! दिगम्बर जैन साधु होकर नौवें ग्रैवेयक गया अनन्त बार, लो। हजारों रानियाँ छोड़कर बाहर का त्यागी हुआ, परन्तु अन्दर में शुभराग का भी रस और प्रेम एकताबुद्धि है, वह पूरा विषय के सन्मुख ही पड़ा हुआ है। समझ में आया ? **विषैसौं विमुख होहि अनुभौ दसा अरोहि...** मोक्षसुख... अनुभव, आत्मा आनन्दस्वरूप का अनुभव, वह **मोक्षसुख की ओर देखो**। वहाँ देख, वहाँ सुख है। राग में कहीं सुख नहीं।

ऐसी बुद्धिमानी तुम्हें शोभा देगी... ऐसा कहते हैं। **मोख सुख टोहि तोहि ऐसी मति सोहि है**। उसे अन्तर में शोधे तो ऐसी मति तुझे शोभे। वह मति शोभायमान हो। राग में सुखबुद्धि करे और भोग ले और माने कि हम ज्ञानी हैं। कलंक है, कहते हैं, मिथ्यात्व का कलंक है। आहाहा! **ज्ञानी को बन्ध नहीं होता, ऐसा एकान्तपक्ष ग्रहण करके विषय सुख में निरंकुश नहीं हो जाना चाहिए**। विषयसुख भोग तो भोगा, आनन्द लिया तो लिया, उसका अर्थ क्या ? विषयसुख में कहीं आनन्द की गन्ध भी नहीं। नहीं, उसमें मानता है, वह मूढ़ मिथ्यादृष्टि है। समझ में आया ? **मोक्षसुख की ओर देखना चाहिए।** धर्मी को तो आत्मा के आनन्द के सुख पर दृष्टि होनी चाहिए। उसका अनुभव हो। लो, यह चालीसवाँ कहा। १९वाँ (कलश) हुआ और ४०वाँ (पद)।

२०वाँ कलश।

कर्तारं स्वफलेन यत्किल बलात्कर्मैव नो योजयेत्
कुर्वाणः फललिप्सुरेव हि फलं प्राप्नोति यत्कर्मणः।
ज्ञानं सन्स्तदपास्तरागरचनो नो बध्यते कर्मणा
कुर्वाणोऽपि हि कर्म तत्फलपरित्यागैकशीलो मुनिः।।२०।।

एक स्वभाव। आनन्द का जिसका एक स्वभाव और पर का त्याग का एक स्वभाव, ऐसा। राग के त्याग का जिसका एक स्वभाव समकिती को है। मुनि कहा है। कलशटीका में अर्थ में मुनि अर्थात् समकिती लिया है। **ज्ञानी जीव विषयों में निरंकुश नहीं**। धर्मी विषय में अंकुशरहित चाहे जो भोग लूँ तो दिक्कत नहीं, ऐसा उसे होता नहीं।

★ ★ ★

काव्य - ४१

ज्ञानी जीव विषयों में निरंकुश नहीं रहते (चौपाई)

ग्यानकला जिनके घट जागी।
ते जगमांहि सहज वैरागी।
ग्यानी मगन विषैसुखमांही।
यह विपरीति संभवै नांहि।।४१।।

अर्थः-जिनके चित्त में सम्यग्ज्ञान की किरण प्रकाशित हुई है, वे संसार में स्वभाव से ही वीतरागी रहते हैं, ज्ञानी होकर विषयसुख में आसक्त हों, यह उलटी रीति असम्भव है।।४१।।

काव्य-४१ पर प्रवचन

ग्यानकला जिनके घट जागी।
ते जगमांहि सहज वैरागी।

ग्यानी मगन विषैसुखमांही।
यह विपरीति संभवै नांहि॥४१॥

कहते हैं, **ग्यानकला जिनके घट जागी**। जिसे आत्मा के आनन्दसहित ज्ञानदशा जागृत हुई है, वह जग में सहज वैरागी है। राग से उसे वैराग्य है, उदास है। धर्मी तो राग के भाव से उदास है। स्वभाव के आदर की दृष्टि में धर्मी को अन्दर राग का त्याग है। आहाहा! इससे उस राग का उसे वैराग्य वर्तता है। धर्मी को राग का राग नहीं। राग का अपने स्वभाव सन्मुख होकर ज्ञान करे, वह ज्ञान तो अपना है। आहाहा! सम्यग्दर्शन अर्थात् उसका विषय और सम्यग्दर्शन की दृष्टि की दशा, वह अलौकिक बात है। साधारण बात नहीं। धर्म की पहली दशा सम्यग्दर्शन, उसका विषय भले ध्रुव ज्ञायक, इसका अर्थ यह हुआ कि जिसे ज्ञायकभाव की दृष्टि अन्तर्मुख निकलकर उछली है, **ग्यानकला जिनके घट जागी**। उसे आत्मा में आनन्द भासित होता है। वह जग में वैरागी है।

भरत का नहीं आता? भरत घर में वैरागी है। आता है या नहीं? छह खण्ड का राज, छियानवें हजार स्त्रियाँ, वे सब श्मशान के मुर्दे हैं। आहाहा! शरीर भी मुर्दा—मृतक कलेवर है। ऐसी बुद्धि में पर से धर्मी को वैराग्य ही है। पर का राग और प्रेम अन्तर में रुचि में नहीं है, ऐसा कहते हैं। **ग्यानकला जिनके घट जागी**। जिसके ज्ञानहृदय में प्रकाशित, जिसके चित्त में अर्थात् ज्ञान में अन्दर, वह जग में सहज वैरागी। विकल्प से लेकर पूरी दुनिया, उस ओर का उसे वैराग्य है। वस्तु के अस्तिभाव का अनुभव का भान है और रागादि से (लगाकर) सब चीज़ों का उसे वैराग्य है, उसे ज्ञानी कहते हैं। आहाहा!

ग्यानी मगन विषैसुखमांही। धर्मी (हो) और विषयसुख में बुद्धि (हो, ऐसा) दोनों (साथ में) नहीं हो सकते। इन्द्राणी जैसी जिसे करोड़ इन्द्राणियाँ शकेन्द्र को, लो। विषयसुख में सुखबुद्धि है, यह है ही नहीं। आहाहा! वेश्या के प्रेम जैसा वहाँ प्रेम दिखाई दे। अज्ञानी को राग की क्रिया में बाहर में प्रेम है, ऐसा दिखाई दे, ज्ञानी को राग में और क्रिया में कहीं प्रेम (है नहीं)। आहाहा! एक म्यान में दो तलवारें नहीं रहतीं, उसी प्रकार जिसे विषयसुख की बुद्धि है और उसे सम्यग्दर्शन रहे, (ऐसा नहीं होता)।

और सम्यग्दर्शन न हो और विषयसुख में बुद्धिवाला (अपने को) 'समकिती हूँ'—ऐसा माने, (वह) मिथ्यादृष्टि है। आहाहा!

ग्यानी मगन विषैसुखमांही, यह विपरीत संभवै नांही... धर्मी छियानवें हजार स्त्रियों में पड़ा दिखाई दे, परन्तु विषयसुख की बुद्धि नहीं। आहाहा! अरे, अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद में वह विषय के सुख का विकल्प जहर जैसा... जहर जैसा लगे। वह उसे निकाल देना चाहता है। लड्डू खाते हुए उसमें कंकर आवे कंकर, एकदम सळवळ करके निकाल डालता है। इसी प्रकार बीच में यह कंकर जहर का आया, आहाहा! धर्मी छोड़ना चाहता है, छूटना चाहता है। दृष्टि से छूटा है और स्थिरता से छोड़ना चाहता है। समझ में आया? ऐसी सम्यग्दर्शन की कीमत है। ऐसा सम्यग्दृष्टि का ध्येय ध्रुव के ऊपर होता है। इसलिए आनन्द के धाम में जिसकी दृष्टि पड़ी, उसे विषयसुख में दृष्टि हो नहीं सकती, ऐसा कहते हैं। छोटे में छोटा रस भी उसके चैतन्यरस को लूट जाये, ऐसा रस उसे होता नहीं। आहाहा! **विषय सुख में आसक्त हो, यह उलटी रीति असम्भव है।** आसक्त अर्थात् आदरबुद्धि, वह आसक्ति।

ग्यान और वैराग्य एक साथ ही होते हैं।

★ ★ ★

काव्य - ४२

ज्ञान और वैराग्य एकसाथ ही होते हैं (दोहा)

ग्यान सकति वैराग्य बल, सिव साधैं समकाल।
ज्यौं लोचन न्यारे रहैं, निरखैं दोऊ नाल।।४२।।

शब्दार्थः-निरखैं=देखें। नाल=एकसाथ।

अर्थः-ज्ञान-वैराग्य एकसाथ उपजने से सम्यग्दृष्टि जीव मोक्षमार्ग को साधते हैं, जैसे कि नेत्र पृथक्-पृथक् रहते हैं पर देखने का काम एकसाथ करते हैं।

भावार्थः-जिस प्रकार नेत्र पृथक्-पृथक् होते हुए भी देखने की क्रिया एकसाथ

करते हैं, उसी प्रकार ज्ञान–वैराग्य एक ही साथ कर्म–निर्जरा करते हैं। बिना ज्ञान का वैराग्य और बिना वैराग्य का ज्ञान मोक्षमार्ग साधने में असमर्थ है।।४२।।

काव्य-४२ पर प्रवचन

ग्यान सकति वैराग्य बल, सिव साधैं समकाल।
ज्यौं लोचन न्यारे रहैं, निरखैं दोऊ नाल॥४२॥

ग्यान सकति वैराग्य बल... एकसाथ उपजने से.... स्वरूप के आनन्द का ज्ञान और भान और उसी क्षण में राग के अभाववाला वैराग्य। आहाहा! एक साथ उपजता है। वस्तु की दृष्टि का भान और राग के अभाववाला वैराग्य एक साथ होता है। शुद्ध ध्रुव का आदर और राग के कण से लेकर सब चीज़ों का जिसमें अभाव, ऐसा वैराग्य होता है। आहाहा! ध्रुव पर दृष्टि पड़ी, इसलिए रागादि अध्रुव चीज़ से तो उसे वैराग्य होता है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? गजब ऐसा धर्म भाई! समकिती हो, उसे ऐसा होता है—राग हो, भोग हो, फलाना। होता ही नहीं, सुन न! वह तो बाहर का संयोग होता है। ऐसे तो संयोग तो संयोग के काल में, क्षेत्र में होता है, उसमें उसके काल में, उसके क्षेत्र में कहाँ घुस गया? वह तो समाप्त... राग की एकता टूटी है तो उसके क्षेत्र और काल में वह चीज़ है ही नहीं। आहाहा!

यह वस्तु का स्वरूप ऐसा है, हों! कोई कहे, भाई! निश्चय से ऐसा है और फलाना से ऐसा है। चीज़ ही ऐसी है कि जहाँ अतीन्द्रिय आनन्द का धाम, ऐसा पद का जहाँ भान हुआ, वहाँ उस पद से विरुद्ध रागादि का वैराग्य होता है, एक साथ होता है। अस्ति पूर्णानन्द का ज्ञा और रागादि का अभाव, यह वैराग्य—दोनों एक साथ होते हैं। अस्ति–नास्ति। कहो, समझ में आया? ऐसा कि सम्यग्दर्शन में आत्मस्वभाव है, उसका आदर हुआ, परन्तु अभी राग का वैराग्य नहीं, राग के प्रति अभी कुछ आसक्ति है, ऐसा नहीं हो सकता। **ग्यान सकति वैराग्य बल, सिव साधै समकाल**। लो। **सम्यग्दृष्टि जीव मोक्षमार्ग को साधते हैं**। एकसाथ पूर्ण स्वरूप का भान और राग से जिसमें वैरागय, इस प्रकार मोक्ष को समकिती साधता है। राग से साधता है, ऐसा नहीं। राग के वैराग्य से और स्वरूप के भान से (साधता है)।

सिव साधैं समकाल। लो। मोक्षमार्ग साधते हैं एक साथ। **ज्यौं लोचन न्यारे रहै...** दोनों आँखें भिन्न। **निरखैं दोऊ नाल।** देखे एक वस्तु को। एक वस्तु को एकसाथ। देखने का काम एक साथ करते हैं। इसी प्रकार ज्ञान और वैराग्य एक साथ होते हैं, ऐसा। ज्ञान हो और वैरागय न हो, ऐसा होता नहीं।

मुमुक्षु : वह ज्ञान ही नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : और वैराग्य हो और सम्यक् अनुभव न हो, वह वैराग्य ही नहीं। आत्मा वस्तु... भगवान परमेश्वर तीर्थंकरदेव ने जो आत्मा कहा पूर्णानन्दस्वरूप, उसका जहाँ सन्मुख का भान है, वहाँ साथ में राग से विमुख ही हुआ है। व्यवहाररत्नत्रय आदि या अशुभ राग से वैराग्य—विमुख तब से ही हुआ है। आहाहा! **जिस प्रकार दोनों नेत्र पृथक्-पृथक् होते हुए भी देखने की क्रिया एकसाथ करते हैं; ऐसे ज्ञान-वैराग्य एक ही साथ कर्म निर्जरा करते हैं....** लो। आत्मा का अनुभव और राग से वैराग्यभाव, दोनों कर्म की निर्जरा करते हैं, ऐसा कहते हैं।

बिना ज्ञान का वैराग्य... बाहर के वैराग्य से स्त्री छोड़े और सम्यग्दर्शन नहीं, सम्यग्ज्ञान नहीं, तो वह वैराग्य ही नहीं। **बिना वैराग्य ज्ञान....** राग के अभाव का वैराग्य नहीं और ज्ञान सम्यक् है, ऐसा नहीं हो सकता। **ज्ञान-वैराग्य एक ही साथ कर्म निर्जरा करते हैं। बिना ज्ञान का वैराग्य और बिना वैराग्य का ज्ञान मोक्षमार्ग साधने में असमर्थ है।** स्वरूप पूर्णानन्द प्रभु के अनुभव का ज्ञान और प्रतीति तथा राग का अभाव वैराग्य—दोनों होकर मोक्षमार्ग को साधते हैं। और दोनों साथ ही होते हैं, ऐसा। आत्मानुभव हुआ और राग से वैराग्य नहीं, ऐसा नहीं होता। राग से वैराग्य है और आत्मानुभव नहीं, ऐसा नहीं होता। दोनों एकसाथ उपजते हैं। उसे यहाँ धर्मात्मा को कर्म की निर्जरा होती है—ऐसा कहने में आया है। जड़।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ८०, ज्येष्ठ कृष्ण १२, रविवार, दिनांक २०-०६-१९७१
निर्जरा द्वार, काव्य - ४३, ४४, ४५

समयसार नाटक, निर्जरा अधिकार। धर्मी किसे कहना और धर्म होता है उसे कर्म की निर्जरा होती है, धर्म न हो उसे कर्मबन्धन होता है—यह अधिकार चलता है। ४३वाँ पद है। **अज्ञानी जीवों की क्रिया बन्ध के लिये और ज्ञानी जीवों की क्रिया निर्जरा के लिये है।**

★ ★ ★

काव्य - ४३

अज्ञानी जीवों की क्रिया बन्ध के लिये और ज्ञानी जीवों की क्रिया निर्जरा के लिये है
(चौपाई)

मूढ़ करमकौ करता होवै।
फल अभिलाष धरै फल जोवै।।
ग्यानी क्रिया करै फल-सूनी।
लगै न लेप निर्जरा दूनी।।४३।।

शब्दार्थ:-जोवै=देखे। सूनी (शून्य)=रहित। लेप=बंध।

अर्थ:-मिथ्यादृष्टि जीव क्रिया के फल की (भोगों की) अभिलाषा करता है और उसका फल चाहता है, इससे वह कर्मबन्ध का कर्ता है। सम्यग्ज्ञानी जीवों की भोग आदि शुभाशुभ क्रिया उदासीनता पूर्वक होती है, इससे उन्हें कर्म का बन्ध नहीं होता और दिन दूनी निर्जरा ही होती है।

विशेष:-यहाँ 'निर्जरा दूनी' यह पद कविता का प्राप्त मिलाने की दृष्टि से दिया है, सम्यग्दर्शन उपजे उपरान्त समय समय पर असंख्यातगुनी निर्जरा होती है।।४३।।

पद-४३ पर प्रवचन

मूढ़ करमकौ करता होवै।
फल अभिलाष धरै फल जोवै॥
ग्यानी क्रिया करै फल-सूनी।
लगै न लेप निर्जरा दूनी॥४३॥

कहते हैं कि अज्ञानी राग-विकल्प को करता है। क्योंकि जिसे अपना माने, उसे करे। राग है न शुभ और अशुभराग... **मूढ़ करमकौ करता होवै।** आत्मा रागरहित शुद्ध चैतन्य वस्तु है, ऐसा जिसे अन्तर में भान नहीं, वह तो राग की क्रिया जो दया, दान, व्रतादि के परिणाम, वे मेरे हैं और मैं उनका कर्ता हूँ (—ऐसा मानता है)। जिसका कर्ता हो, उसे अपना माने तो कर्ता हो। समझ में आया? चिदानन्दस्वरूप ज्ञाता-दृष्टा शुद्ध स्वभाव की जिसे दृष्टि नहीं, वह अज्ञानी अनादि से पुण्य-पाप के विकल्प जो राग, वह मैं हूँ—ऐसा अपने मानकर उनका कर्ता अज्ञानी होता है। क्या कहा, यह वापस कहो। यह वस्तु—चैतन्यद्रव्य शुद्ध आनन्द है, ऐसा आनन्द का जहाँ भान नहीं, उसे—अज्ञानी को जो राग हो—दया, दान, व्रत, भक्ति आदि का, वह राग मेरा है, ऐसा मानता है, इसलिए उसका कर्ता होता है। समझ में आया? सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा!

मूढ़ करमकौ करता होवै। यह बात है। वस्तु जो है ज्ञानस्वरूप आनन्दमूर्ति, उसका जिसे स्वाद आया और धर्म का भान हुआ, वह तो राग मेरा है, ऐसा (मानता) नहीं, इसलिए राग का कार्य मेरा है, ऐसा (उसे) है नहीं। परन्तु अनादि से अज्ञानी... अपनी चीज़ सच्चिदानन्द प्रभु अतीन्द्रिय आनन्द की गाँठ... वह तो अतीन्द्रिय आनन्द का पिण्ड है। आहाहा! उसका अनादर करके और उससे विरुद्ध जो राग होता है, फिर भले शुभ हो, परन्तु उस शुभ के ऊपर जिसकी दृष्टि है, इससे शुभ मेरा है, इससे शुभ का परिणमन मैं करनेवाला हूँ, ऐसा (मानकर) कर्ता होता है। उसे मिथ्यात्वसहित आठों कर्म का बन्धन है, ऐसा कहते हैं। निर्जरा तो नहीं, परन्तु उसे अधर्म है। अरे! क्योंकि राग जो विकल्प है, वह स्वयं अधर्म है। वह धर्मस्वरूप ही नहीं। प्रभु सर्वज्ञ ने कहा हुआ, जाना हुआ, अनुभव किया हुआ पूर्ण रूप से, ऐसा जो यह आत्मा, उसकी

जहाँ दृष्टि नहीं, उसका अवलम्बन नहीं, उसे अपनेरूप से पर्याय में माना नहीं, उसने राग अपनेरूप है, ऐसा माना है, इसलिए वह राग का कर्ता होता है, वह मूढ़ है। समझ में आया? छोटाभाई! ऐसी सूक्ष्म बात है। बहुत सूक्ष्म! .... इतना निकला थोड़ा इसमें से... कहो, समझ में आया इसमें?

भगवान आत्मा जो है अन्दर, वह तो अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्द की मूर्ति है, उसे आत्मा कहते हैं। ऐसा आत्मा जिसने दृष्टि में लिया नहीं, प्रतीति में आया नहीं, उसे अनुसरकर अनुभव किया नहीं, इसलिए उसे धर्म नहीं होता। यह थोड़ा पहले कहना, ऐसा कहते थे न तुम? कहा, इसलिए थोड़ा लिया।

मुमुक्षु : इसलिए बहुत समय से अपनी बात छोड़ देने से पहले, अन्त में सवा-सवा घण्टे सम्प्रदाय में वाँचते...

पूज्य गुरुदेवश्री : वह वाँचते, तुमको याद किया इसलिए फिर... किसे धर्म हो, किसे धर्म न हो, यह सीधे लगे यह करते, उसका उपोद्घात... वहाँ कहा था, वह याद आया, इसमें ... में आया। कनुभाई! आहाहा! कहते हैं कि धर्म होता नहीं, इसलिए उसे अधर्म होता है। ऐसा है न?

मूढ़ करमकौ करता होवै, फल अभिलाष धरै फल जोवै। जो राग का भाव करता है, उसमें उसकी—अज्ञानी की सुखबुद्धि है। रागभाव जो है, उसमें सुखबुद्धि की अभिलाषा है। उसमें मुझे ठीक पड़ता है, मजा आता है—ऐसी जो दृष्टि है, वह मिथ्या दृष्टि है। क्योंकि राग में मजा है ही नहीं। चाहे तो दया, दान, व्रत, भक्ति का राग हो, परन्तु वह तो कषाय अग्नि है, दुःख है। इसलिए जिसे सुखबुद्धि नहीं, आत्मा में आनन्द है, ऐसी सुखबुद्धि नहीं। उसे राग में सुख है, ऐसी दुःखबुद्धि है, वह मिथ्यादृष्टि है।

मुमुक्षु : आत्मा में सुख....

पूज्य गुरुदेवश्री : राग दुःख है, उसे वह सुख मानता है अथवा वह राग करते-करते मेरा कुछ कल्याण होगा, वह तो वह का वह हुआ। राग मेरा माना, इसलिए करते-करते कुछ होगा, ऐसा माने बिना रहता नहीं। आहाहा! बहुत सूक्ष्म! वीतराग तत्त्व सर्वज्ञ परमेश्वर का यह तत्त्व अन्तर का है।

भगवान आत्मा पूर्ण आनन्द और पूर्ण अतीन्द्रिय ज्ञान की मूर्ति है, ऐसा जिसे भान (नहीं)। मूढ़ कहा न पहले... अर्थातृ जिसे ऐसा भान नहीं। कर्म अर्थात् राग... जहाँ ऐसी चीज़ है, उसकी खबर नहीं, इसलिए रागमयभाव को अपना मानता है और अपना मानता है, उसका कर्ता हुए बिना रहता (नहीं) अथवा कर्ता हो, वह अपना माने बिना कर्ता होता नहीं। अपना माने वह कर्ता होता है और कर्ता हो, वह अपना माने तो ही कर्ता होता है। चिमनभाई! ऐसा सूक्ष्म है यह। आहाहा! मूढ़ अर्थात् (जिसे) अतीन्द्रिय आनन्द और अतीन्द्रिय ज्ञान का पिण्ड प्रभु का उसे अज्ञान है, उसका जिसे ज्ञान नहीं। कर्म अर्थात् राग की क्रिया—दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के परिणाम की जो क्रिया। वह क्रिया मेरी है और वह मेरा कर्तव्य है, ऐसे कर्म का कर्ता होता है। अज्ञानी राग की क्रिया का कर्ता—रचनेवाला—बननेवाला—रागरूप होनेवाला होता है। समझ में आया?

चाहे तो साधु हुआ हो जैन का दिगम्बर द्रव्यलिंगी मुनि... वस्त्र-पात्रवाले तो द्रव्यलिंगी भी नहीं हैं। भावलिंगी तो नहीं, परन्तु द्रव्यलिंगी भी उन्हें नहीं कहा जाता। आहाहा! यह तो जिसे अट्ठाईस मूलगुण है, नग्नदशा है, ऐसा बराबर द्रव्यलिंग उसका अच्छा हो। तथापि वह राग की क्रिया महाव्रत के परिणाम की है, वह मेरी क्रिया है, वह मेरा कर्तव्य है, वह मैं हूँ... क्योंकि 'त्रिकाली ज्ञायक आनन्द है, वह मैं हूँ'—ऐसा स्वभाव का भान तो नहीं, इसलिए कहीं मैंपना तो इसे मानना पड़ेगा। 'है', वस्तु अतीन्द्रिय ज्ञान और आनन्द का धाम है। अस्तिरूप से इस प्रकार से है और इस प्रकार से अस्तिरूप से भासित नहीं हुआ, तब मैं कहीं हूँ, (ऐसा) इसे मानना तो पड़ेगा। इसलिए इसे जो राग हो दया, दान, व्रत, भक्ति का, वह मैं और वह मेरा, इसलिए मेरा कर्तव्य, उसका करनेवाला मैं हूँ। उस मूढ़ जीव को क्षण-क्षण में मिथ्यात्व से संसार बढ़ता है, ऐसा कहते हैं। ऐसा गजब मार्ग, भाई!

मूढ़ करमकौ करता होवै, फल अभिलाष... उसे उस राग में सुखबुद्धि है और उससे मुझे कुछ अनुकूलता मिलेगी। अनुकूलता कुछ मिलेगी आत्मा के लिये, वह मूढ़दृष्टि है। वह **फल अभिलाष...** वह राग के फल को इच्छता है। राग को अपना मानकर करता है, इसलिए राग के फल को इच्छता है। जयन्तीभाई! ऐसा मार्ग का स्वरूप है। आहाहा! अरेरे! अनन्त काल का भटका हुआ... यह नजदीक आओ नजदीक जरा। बहुत जगह

सामने रहती है। पीछे बहुत छोटा रास्ता है। आओ, आओ, नजदीक आओ। बहुत जगह सामने आगे है। पहले आवे उसे चौड़ाई में बैठना पड़े न....

कहते हैं, **मूढ़ करमकौ करता होवै।** यह तो महासिद्धान्त है। आहाहा! सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव ऐसा फरमाते हैं, उनका सिद्धान्त कहते हैं कि जो यह आत्मा ज्ञान और आनन्द की खान अकेली, अतीन्द्रिय आनन्द और सुख का रूप है। ऐसा आत्मा जिसे श्रद्धा-ज्ञान में सन्मुख होकर बैठा नहीं, उसे उससे विमुख के पुण्य के परिणाम दया-दान-व्रत-भक्ति के परिणाम वे विमुख राग परिणाम हैं। उस राग परिणाम(रूप) परिणमनेवाला मैं हूँ, ऐसा अज्ञानी मानता है। चेतनजी! गजब बात भाई यह!

प्रभु चैतन्य आत्मा सुख का सागर आत्मा है, अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द आत्मा है। उसकी जिसे वृत्ति नहीं, उसकी जिसे अभिलाषा नहीं, उसका जिसे भान और भावना नहीं, ऐसे अज्ञानी अनादि से आनन्द के विरुद्ध का जितना राग उत्पन्न होता है, चाहे तो दया का, दान का, व्रत का, भक्ति का, पूजा का, नामस्मरण का—वह सब विकार राग है, वह राग मेरा अर्थात् कि मैं और उसरूप—रागरूप परिणमनेवाला हूँ। अर्थात् मैं विकारी आत्मा और विकारपने परिणमूं—ऐसी जिसकी दृष्टि है, वह विकार और राग को अपना माने और राग के फल की भी अभिलाषा करता है। आहाहा! गजब!

मूढ़ करमकौ करता होवै, फल अभिलाष धरै फल जोवै... मैंने यह पुण्य किया, धर्म किया, उस शुभभाव को धर्म माने न अज्ञानी। उसका फल मुझे आयेगा, कुछ स्वर्ग मिलेगा, कुछ सेठाई मिलेगी, ऐसा मूढ़ जीव (मानता है)। भगवान के पास जाऊँगा। भगवान तो यहाँ बैठा, वहाँ कहाँ भगवान है? वह भगवान तो पर है। समझ में आया? भगवान के पास तो अनन्त बार गया था। भगवान की वाणी अनन्त बार सुनी है। परन्तु वह सब रागभाव से सुनी है और सुनने में राग ही होता है। रागरहित मेरी चीज़ अन्दर शुद्ध चिदानन्द आत्मा, सर्वज्ञ परमेश्वर ऐसा कहते हैं, उस आत्मा पर इसकी दृष्टि होती नहीं। इसलिए वह विकल्प में राग का कर्ता होकर उसके फल की वांछा किया करता है।

ग्यानी क्रिया करै फल-सूनी... अब सुलटा। धर्मी जीव उसे कहते हैं कि उसे

रागादिभाव आवे, परन्तु उन्हें अपना न माने और इससे—मेरे स्वरूप से विपरीत—उल्टी दशा है, इसलिए उसे हेय माने और उसके फल की अभिलाषा ज्ञानी को होती (नहीं)। आहाहा! धर्मी उसे कहते हैं कि **ग्यानी क्रिया करै फल-सूनी...** उसमें फल की अभिलाषा कही थी न! अर्थात् कि 'क्रिया करे' शब्द प्रयोग किया है। परन्तु धर्मी सम्यग्दृष्टि तो अपने ज्ञान और आनन्द को ही करता है। आहाहा! राग की क्रिया का विकल्प उठे, परन्तु उसे एकपने मानता नहीं, इसलिए वह राग की क्रिया करता नहीं।

निर्विकल्प चैतन्य भगवान का जिसे भान है, अनुभव है, 'यह मैं हूँ'—ऐसा जिसे अज्ञान टलकर ज्ञान हुआ है—ऐसा समकिती धर्मी, उसे निर्जरा होती है, ऐसा सिद्ध करना है। क्योंकि यह तो शुद्ध आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा अपना, उसका उसमें स्वीकार है। राग की क्रिया का स्वीकार अन्तर में है (नहीं)। आहाहा! कान्तिभाई! ऐसा स्वरूप है। गजब! कनुभाई! सुना है न उनका? यह नौकरी छोड़कर बैठे हैं। किसमें थे कान्तिभाई? प्लेन में थे। पन्द्रह सौ वेतन मासिक। छोड़ दी, नौकरी करना नहीं। धन्धा करना नहीं।

मुमुक्षु : यह धन्धा है न!

पूज्य गुरुदेवश्री : कहते हैं कि तो भी धर्म नहीं। यहाँ तो ऐसा कहते हैं।

यह राग का भाग है अर्थात् कि यह हमारे करना है। परन्तु राग से भिन्न चैतन्य भगवान का जहाँ अन्तर में भेदज्ञान वर्तता है, उसे ऐसा राग होने पर भी राग का स्वामी नहीं, राग को अपनेरूप मानता नहीं, राग को स्वभाव में एकपने करता नहीं, राग को भिन्न रखकर उसका कर्ता होता नहीं। आहाहा! गजब भाई ऐसा! भारी कठिन शर्त! कहो, समझ में आया? **ग्यानी क्रिया करै फल-सूनी...** आहाहा! जहाँ जहर है, धर्मी तो राग जहर देखता है। आहाहा! धर्मी जीव उसे कहते हैं... यह तो वीतराग धर्म है, वीतराग मार्ग है। वीतराग मार्ग तो... रागरहित स्वरूप आनन्दमूर्ति प्रभु की जिसे वीतरागी श्रद्धा और वीतरागी ज्ञान प्रगट हुआ है, उसे धर्मी कहते हैं। उस धर्मी को राग होता है... होता है, ऐसा कहना, वह भी व्यवहार है। उसे होता ही नहीं। यह तो समझावे क्या? ज्ञानी क्रिया करे। यह तो होता है, उसे 'करे' ऐसा कहने में आता है। भाषा ही व्यवहार की ऐसी है न! आहाहा!

ज्ञानी जीवों की भोग आदि शुभाशुभक्रिया उदासीनता (पूर्वक).... अहो! धर्मी को राग का, भोग का विकल्प हो, परन्तु उसे जहर देखता है। मेरा आनन्द तो मुझमें है। उस आनन्द का जिसने अनुभव स्वाद लिया है, उसे वह राग, भोग तो जहर दिखते हैं। उसे राग में हितबुद्धि अर्थात् सुखबुद्धि होती नहीं। आहाहा! वह ज्ञानी शुभाशुभ परिणाम से उदासीन है। आहाहा! जैसे परद्रव्य का अभाव (रूप) स्वभाव आत्मा का है। परद्रव्य का आत्मा में अभाव है। ऐसे धर्मी के आत्मा में पुण्य-पाप के विकल्प का भी अभाव है। समझ में आया? आहाहा! वीतराग का धर्म महा अलौकिक है, परन्तु कभी सुना नहीं, विचार किया नहीं। अरेरे! ऐसा का ऐसा जीवन चला जाता है। बाहर से ऐसा माने कि हम कुछ करते हैं, व्रत पालते हैं, अपवास करते हैं और पूजा करते हैं और भक्ति करते हैं। अरे भगवान! सुन तो सही प्रभु! देह की क्रियायें तो पर की हैं। उसमें राग की मन्दता होती हो तो वह विभाव विकार है। और उसके ऊपर दृष्टि रखकर उसका परिणमन मेरा है, (ऐसा मानता है तो) मिथ्यात्व है, अज्ञान है। ज्ञानी राग से मुक्त है। अज्ञानी राग सहित है। समझ में आया?

अज्ञानी आत्मा के स्वभाव को राग सहित माननेवाला (है, इसलिए) राग का कर्तृत्व स्वीकार करता है। ज्ञानी राग से रहित आत्मा का स्वीकार करनेवाला (है, इसलिए मानता है कि) राग सहित मैं हूँ ही नहीं। मैं तो आनन्द और ज्ञान सहित हूँ। आहाहा! ऐसे भान में क्रिया होती है। करे क्या? उपदेश की भाषा में तो ऐसा ही आवे न! **क्रिया उदासीनतापूर्वक होती है,....** लिखा है न वापस। 'करे' का अर्थ 'होती है।' ऐसा लिखा है। स्पष्टीकरण ऐसा किया है। **लगै न लेप निर्जरा दूनी।** धर्मी को आत्मा शुद्ध आनन्द का स्वाद आया है, अतीन्द्रिय आनन्द की मूर्ति प्रभु आत्मा... आहाहा! वह तो अतीन्द्रिय आनन्द का समुद्र आत्मा, उसकी जिसे खबर पड़ी (कि) यह मेरी खान में तो अतीन्द्रिय आनन्द पूरा है। आहाहा! सम्यग्दर्शन में अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आया, ऐसा ही पूरा आत्मा अतीन्द्रियमय है, ऐसा जहाँ अनुभव वर्तता है, वह रागादि भाव अपना स्वीकार नहीं करता, इसलिए उसे लेप नहीं लगता। आहाहा! गजब बातें!

लगै न लेप निर्जरा दूनी। बहुत निर्जरा होती है। दूनी तो एक शब्द है मिलाने के लिये है। अर्थ में कहा है ऐसा। **यहाँ 'निर्जरा दूनी' यह पद कविता का प्रास मिलाने की**

दृष्टि से दिया है। सम्यग्दर्शन उपजे... ओहो! धर्मदशा हो। 'धर्मी ऐसा मैं आत्मा पूर्णानन्द का नाथ अनन्त सिद्धपर्याय को पेट में रखनेवाला मैं सिद्ध। आहाहा! ऐसा मैं आत्मा, ऐसा जहाँ अनुभव में, प्रतीति में अनुभवसहित में आया, कहते हैं कि उसे तो सम्यग्दर्शन उपजे, उपरान्त समय-समय में असंख्यगुणी निर्जरा हो। कर्म खिरता जाता है। स्वभाव की सन्मुखता जितनी वर्तती है, उतना कर्म का (क्षरण) उसके होता, उसे निर्जरा होती है।

यह अपवास करके बैठे और अपवास किये, यह क्या कहलाता है? तुम्हारे वर्षीतप किये और निर्जरा हो। धूल भी नहीं। वह तप कहाँ था? अज्ञान था। बालतप और मूर्खाई से भरपूर तप और मूर्खाई से भरपूर व्रत। 'जिसे मैं आनन्दमूर्ति ज्ञानानन्द हूँ, मैं राग का भी कर्ता नहीं। देह की क्रिया का कर्ता नहीं, आहार का छोड़नेवाला नहीं, आहार का लेनेवाला नहीं, ऐसी मेरी चीज़ है।'—ऐसा जहाँ अनुभव नहीं। उसे तो सब ऐसे व्रत और तप सब अज्ञान से भरे हुए, मूर्खाई से भरे हुए बन्ध के कारण हैं। समझ में आया? **लगै न लेप निर्जरा दूनी**। लो।

अब ४४ पद। **ज्ञानी के अबन्ध और अज्ञानी के बन्ध पर कीटक का दृष्टान्त।** कीड़ा... कीड़ा... जीवड़ा। कीड़ा का दृष्टान्त। दोनों कीड़े। दोनों को कीड़े का दृष्टान्त। एक गोरखधन्धे का कीड़ा और एक रेशम का कीड़ा—दो।

★ ★ ★

काव्य - ४४

ज्ञानी के अबन्ध और अज्ञानी के बन्ध पर कीटक का दृष्टान्त (दोहा)

बंधै करमसौं मूढ़ ज्यौं, पाट-कीट तन पेम।
खुलै करमसौं समकिती, गोरख धंधा जेम।।४४।।

शब्दार्थ:-पाट=रेशम। कीट=कीड़ा। जेम=जैसे।

अर्थ:-जिस प्रकार रेशम का कीड़ा अपने शरीर पर आप ही जाल पूरता है, उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव कर्म बन्धन को प्राप्त होते हैं, जिस प्रकार गोरखधन्धा नाम का

कीड़ा जाल से निकलता है, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव कर्म बन्धन से मुक्त होते हैं।।४४।।

काव्य-४४ पर प्रवचन

बंधै करमसौं मूढ़ ज्यौं, पाट-कीट तन पेम।
खुलै करमसौं समकिती, गोरख धंधा जेम॥४४॥

बंधै करमसौं मूढ़ ज्यौं, पाट... अर्थात् रेशम। उसका कीड़ा... रेशम का कीड़ा मुख में से लार निकालकर लार में ही लिपट जाता है। देखो, जाल बाहर नहीं आती, कहते हैं। रेशम का कीड़ा लार मुँह में से निकाले और उसमें लिपट जाये। इसी प्रकार अज्ञानी आनन्द और ज्ञानस्वरूप के भान रहित, राग और विकल्प की लार निकाले और उसमें लिपट जाये। वह राग मेरा आचरण है, ऐसा उसमें लिपट जाये। आहाहा! उसे मिथ्यादर्शनसहित आठों ही कर्म का, सातों कर्म का बन्ध पड़ता है, ऐसा कहते हैं। **जिस प्रकार रेशम का कीड़ा....** पाट अर्थात् रेशम, कीट अर्थात् कीड़ा। **तन पेम... शरीर पर आप ही जाल पूरता है।** देखो! '**तन पेम**' अर्थात् शरीर पर लार स्वयं ही लपेटता है। इसी प्रकार अज्ञानी शुभ-अशुभराग की लार प्रगट करके, पुण्य के विकल्प उत्पन्न करके उसमें स्वयं उलझ जाता है, उसे अपना मानकर वहाँ चिपक जाता है। आहाहा! समझ में आया?

खुलै करमसौं समकिती, गोरखधंधा जेम। दोनों में कीड़े का दृष्टान्त है। गोरखधन्धा नाम का कीड़ा होता है, वह जाल से निकल जाता है। जाल में लिपटता (नहीं), इसी प्रकार धर्मी जीव उसे कहते हैं कि जो राग की लार में लिपटता नहीं। आहाहा! वह तो ज्ञानानन्दस्वभाव में आनन्द की लहर करता हुआ, राग को हेय मानकर छोड़ता हुआ समकिती कर्मबन्धन से मुक्त होता है। उसे क्षण-क्षण में कर्म की निर्जरा होती है। आहाहा! आ गया है पहले। सम्यक्दृष्टि को विषयभोग का विकल्प जहर जैसा दिखता है। उससे रहित अपने स्वभाव का स्वाद है, इसलिए उसे वह समाधि ही है, कहते हैं। आ गया है न पहले सब? विषयभोग चारित्र का काम करता है और हिलना-चलना

धर्मी का, वह तो योग की क्रिया है, कहते हैं। उस योग की क्रिया से योग का निरोध करता है, ऐसा कहते हैं। क्योंकि वह क्रिया का स्वामी नहीं। जड़ की क्रिया—शरीर का हिलना-चलना, बोलना... वह तो जड़-मिट्टी है। इसलिए उसे योग की क्रिया होने पर भी उससे भिन्न है। है न, आ गया है न?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बाद में। हिले-चले तो भी, ऐसा। क्या है यह? कहाँ आया? (**मुमुक्षु :** १४८ पृष्ठ पर। (पद-२९, भावार्थ)

देखो, समाधि, योग आसन। आसन है, ऐसा कहते हैं। वह क्रिया हिलने-चलने की होती है, वह तो उसने स्वरूप में आसन लगाया है, कहते हैं। आहाहा! है देखो १४८ पृष्ठ। परिणाम समाधि... **जो परिणाम, समाधि योग आसन मौन का है, वही परिणाम ज्ञानी के विषय-भोग, चलन-फिरन और बोलचाल का है।** आहाहा! धर्मी जीव को अन्तर आत्मा के आनन्द के प्रेम के समक्ष सर्वज्ञ परमेश्वर के प्रति भी प्रेम दिखता नहीं, जाता नहीं, कहते हैं। आहाहा! ऐसा अपना निजात्मा, उसका आनन्द का प्रेम और अनुभव है, इसलिए विषय का विकल्प आया, उस समय भी उसे दुःखरूप लगता है और उसमें से ज्ञान... उसका ज्ञान और शान्ति करता है। अन्दर स्थिरता बढ़ती है। वह विकल्प के कारण नहीं, परन्तु उसके काल में स्वभाव-सन्मुख है, इसलिए समाधि बढ़ती है, कहते हैं। और हिले-चले, वह उसका आसन है स्थिरता का, ऐसा कहते हैं।

हिलने-चलने की क्रिया जड़ की जानता है। 'मेरी नहीं, मुझमें नहीं, मैंने की नहीं। मैं तो उस क्रिया का जाननेवाला-देखनेवाला मुझमें रहकर जाननेवाला-देखनेवाला हूँ।' इसलिए वह हिलने-चलने की क्रिया भी स्थिरता का काम करती है, ऐसा कहते हैं। बोले, वह मौन है, वह तो, कहते हैं। धर्मी बोले, वह मौन है। अज्ञानी मौन है मौन, परन्तु राग के साथ एकता है, वह बोलता मिथ्यादृष्टि है। यहाँ कहते हैं, **खुलै करमसौं समकिती...** यहाँ तो समकितदृष्टि की ही बात की है। **गोरखधंधा जेम...** गोरख का कीड़ा होता है, वह कीड़ा जाल के टुकड़े करके छूटकर निकल ही जाता है, रहता नहीं।

यह रेशम के कीड़े की बात होती है, वहाँ क्या? यह क्या कहते हैं? भागलपुर। भागलपुर है न, भागलपुर। वह कीड़े कितने ही अपने आप टुकड़े करके निकल जायें। टुकड़े का वापस होता है। क्या कहलाता है वह? ऐरंडी।

ऐरंडी के दो प्रकार। ऐरंडी होती है न भागलपुर। एक ऐरंडी ऐसे के ऐसे जीव हों, उन्हें जीवित गर्म पानी में डाले। मर जाने के पश्चात् उनके पूरे डोरा निकले। अन्दर मर गया हो, उसका बनावे रेशम, वह तो महापाप है। एक कीड़े अपने आप टुकड़े करके बाहर निकल जाये, उन टुकड़ों को इकट्ठा करके बनावे वहाँ। समझ में आया? क्या कहा? ऐरंडी। ऐरंडी बनावे। वह निर्दोष है और कीड़ा मारकर बनावे, वह सदोष है। भागलपुर गये थे न! भागलपुर गये थे। व्याख्यान दिया था। वहाँ से चम्पापुरी गये। वासुपूज्य भगवान मोक्ष पधारे हैं न, वहाँ गये थे। यहाँ कहते हैं, कीड़े टुकड़े करके निकल जाये, उनका स्वभाव ही ऐसा है। इसी प्रकार धर्मी अपने शुद्ध चैतन्यस्वभाव के आनन्द के स्वाद के समक्ष रागादि की सब क्रिया हेय मानकर छूट जाता है। उसे निर्जरा हो जाती है। राग में एकत्व (करता नहीं), राग में बँधता नहीं, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : राग किसलिए करता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : करता नहीं। करे कहाँ? होता है। होता है, निर्बलता है, तो वह होता है। निर्बलता का और उसका दोनों का स्वीकार नहीं। 'मैं तो पूर्णानन्द ध्रुव चैतन्यमूर्ति हूँ' उसका धर्मी को स्वीकार है। पर्याय की निर्बलता का स्वीकार नहीं। शशीभाई! ऐसा.... वीतरागमार्ग ऐसा कठोर है। जगत को सुनने को मिला नहीं। बाहर से यह पूजा, भक्ति, व्रत, अपवास और वर्षीतप, बस यह धर्म। धूल भी धर्म नहीं, अब सुन न! वह तो अज्ञानी अनन्त बार ऐसा करता है। अन्दर मिथ्यादृष्टि राग की मन्दता के परिणाम को धर्म मानकर मिथ्यात्व से लिपट जाता है। धर्मी ऐसी क्रिया में अपनापन न मानकर उससे छूटता जाता है। जिसने अपनापन माना है, उसमें एकाग्र है और राग में अपनापन माना नहीं, (इसलिए) राग से पृथक् पड़ता जाता है। आहाहा! यह धर्म की चीज़ है। अब कहते हैं, देखो! **ज्ञानी जीव कर्म के कर्ता नहीं है।** कौन जाने वह राग करता है या नहीं? तुझे क्या खबर पड़ती है? ऐसा कहते हैं। यह राग करता है या नहीं करता, तुझे क्या खबर पड़े?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : खबर जिसे है, उसे खबर पड़े। खबर नहीं, उसे क्या खबर पड़े? ऐसा कहते हैं। नीचे देखो!

त्यक्तं येन फलं स कर्म कुरुते नेति प्रतीमो वयं,
किन्त्वस्यापि कुतोऽपि किञ्चिदपि तत्कर्मावशेनापतेत्।
तस्मिन्नापतिते त्वकम्पपरमज्ञानस्वभावे स्थितो,
ज्ञानी किं कुरुतेऽथ किं न कुरुते कर्मेति जानाति कः।।१५३।।

बाह्य दृष्टि से देखनेवाले ज्ञानी के हृदय को परख नहीं सकते, ऐसा कहते हैं। **जे निज पूरब कर्म उदै...** 'भगवान आनन्दमूर्ति प्रभु अतीन्द्रिय ज्ञान और शान्ति का सागर प्रभु स्वयं मैं हूँ'—ऐसा जहाँ भान ज्ञान में आया और प्रतीति हुई, उसके साथ आनन्द की स्थिरता भी हुई। आहाहा! उसे समकिती कहते हैं। समकिती अर्थात् ऐसे धर्म को माना और देव-गुरु को माना और समकिती। धूल भी नहीं समकिती, सुन न! समझ में आया?

★ ★ ★

काव्य - ४५

ज्ञानी जीव कर्म के कर्ता नहीं हैं (सवैया तेईसा)

जे निज पूरब कर्म उदै,
सुख भुंजत भोग उदास रहैंगे।
जे दुखमैं न विलाप करैं,
निरबैर हियैं तन ताप सहैंगे।।
है जिन्हकै दिढ़ आतम ग्यान,
क्रिया करिकैं फलकौं न चहैंगे।
ते सु विचच्छन ग्यायक हैं,
तिन्हकौं करता हम तौ न कहैंगे।।४५।।

शब्दार्थः-भुंजत=भोगते हुए। उदास=विरक्त। विलाप=हाय हाय करना। निरबैर=द्वेष रहित। ताप=कष्ट।

अर्थः-जो पूर्व में बाँधे हुए पुण्यकर्म के उदय-जनित सुख भोगने में आसक्त नहीं होते और पापकर्म के उदय-जनित दुःख भोगते हुए सन्तापित नहीं होते-न दुःख देनेवाले से द्वेषभाव करते हैं बल्कि साहसपूर्वक शारीरिक कष्ट सहते हैं, जिनका भेद-विज्ञान अत्यन्त दृढ़ है, जो शुभ क्रिया करते उसका फल स्वर्ग आदि नहीं चाहते, वे विद्वान सम्यग्ज्ञानी हैं। वे यद्यपि सांसारिक सुख भोगते हैं तो भी उन्हें कर्म का कर्ता हम तो नहीं कहते।।४५।।

काव्य-४५ पर प्रवचन

जे निज पूरब कर्म उदै,
सुख भुंजत भोग उदास रहैंगे।
जे दुखमैं न विलाप करैं,
निरबैर हियैं तन ताप सहैंगे॥
है जिन्हकै दिढ़ आतम ग्यान,
क्रिया करिकैं फलकौं न चहैंगे।
ते सु विचच्छन ग्यायक हैं,
तिन्हकौं करता हम तौ न कहैंगे॥४५॥

यह पाठ है, हों! श्लोक का अर्थ है। श्लोक है न, उसका अर्थ है। **जे निज पूरब कर्म उदै...** पूर्व अज्ञानपने बाँधा हुआ कर्म जहाँ उदय में आता है दो प्रकार से—एक तो अन्दर रागरूप से, एक तो संयोगरूप से। घातिकर्म का निमित्त है, उसके कारण से उसे अन्दर में रागादि होते हैं। अघाति का निमित्त है, उसके कारण से संयोग स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, लक्ष्मी का संयोग (होता है)। दोनों कर्म की सामग्री है। वह आत्मा की धर्म की, धर्मी की सामग्री नहीं। कहो, समझ में आया?

दो प्रकार से कर्म है न, घाति और अघाति। घाति के निमित्त के सम्बन्ध में जो

हुआ विकार, वह कर्म की सामग्री है, आत्मा की नहीं। अघातिकर्म के निमित्त से प्राप्त चक्रवर्ती का राज, दो-पाँच करोड़ पैसा, शरीर सुन्दर, स्त्री, कुटुम्ब, यह सब संयोग है। वह अघाति के निमित्त का फल, वह राग घाति का फल—दोनों कर्म की सामग्री है। भगवान आत्मा की सामग्री नहीं। आहाहा! वह शत्रु की सामग्री है। वह शत्रु का लश्कर है सब। पुण्य-पाप के भाव और संयोगी चीज़—वह सब शत्रु के साधन हैं, शत्रु की सेना है। आहाहा!

जे निज पूरब कर्म उदै, सुख भुंजत.... भाषा तो क्या करे? एक दूधपाक, पूड़ी खाता दिखाई दे ज्ञानी और अज्ञानी साथ में दूधपाक, पूड़ी खाता हो। दोनों इकट्ठे समान दिखाई दें। है या नहीं?

मुमुक्षु : अज्ञानी तो महँगा देखकर न भी खाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : न भी खाये। परन्तु यह तो खाये, उसकी बात हमने ली है न! वर खाये न वर। वर के साथ अणवर (आदि) होय न, पंचोला में सब दे। परन्तु कन्या वर को दे या उस अणवर को दे? पकवान तो सबको समान दे, पंचोला (पंगत) में बैठे इसलिए। छोटाभाई! इसी प्रकार धर्मी को पूर्व के कर्म के कारण पुण्य के परिणाम आये। जानता है कि 'यह मेरी चीज़ नहीं, मैं इसका स्वामी नहीं, मुझमें नहीं, मुझसे हुई नहीं, मेरे घर में वह पुण्य है ही नहीं। मैं तो आनन्द का नाथ, आनन्द का स्वामी हूँ।' यह **सुख भुंजत...** दिखता है कि सुख भोगता है ऐसा।

भोग उदास रहैंगे। उदास... यह कड़वी औषधि पीनी पड़े रोगी को तो प्रेम होगा वहाँ? वह सुख अर्थात् वह लोग मानते हैं न! पीता है ऐसे गटक... गटक। **सुख भुंजत...** भाषा क्या करना? भोगे क्या? परन्तु ऐसा दिखाई दे दूधपाक, पूड़ी, अरबी के भुजिया। व्यवस्थित न हो, कच्चा हो तो ऐसा भी कहे, पक्का हुआ नहीं, कौन पकानेवाला है यह? क्या कर डाला यह? ऐसा दूधपाक बनानेवाला कौन है? भाषा के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं और विकल्प के साथ कुछ सम्बन्ध (है ही नहीं)। समझ में आया? वह अज्ञानी मौन करके कुछ नहीं, जो आया वह खा ले। समझ में आया या नहीं?

एक दिन आहार लेने गये थे दामजीभाई के यहाँ। वर्षगाँठ थी तुम्हारी। सब्जी

ऐसे दो व्यवस्थित थे। जीवराजभाई को खबर है न। एक उड़द की कुछ सब्जी थी और वह बराबर व्यवस्थित नहीं थी। और क्या दूसरा ? टिंडोळा की सब्जी। दोनों सब्जी थी। परन्तु कच्ची (थी)। यह तो कुछ बोले नहीं। यह तो पड़ा खाने। मैंने कहा, परन्तु यह क्या है ? देखने में तो आवे या नहीं ? दोनों सब्जियाँ कच्ची थीं, व्यवस्थित नहीं थी। ....यह कुछ बोले नहीं। परन्तु ख्याल तो आवे या नहीं ? इसी प्रकार ज्ञानी को रागादि आवे, उसका ख्याल तो आवे। क्रिया हो उसका ख्याल आवे, परन्तु उसमें उसे सुखबुद्धि नहीं होती। आहाहा !

सुख भुंजत भोग उदास रहैंगे... जहर का प्याला पीना हो ऐसा उसे—ज्ञानी को विषय का सुख लगता है। जहर का प्याला पीता हो, ऐसा लगे। आहाहा ! अरे ! धर्मी किसे कहते हैं ? जिसे आत्मा में आनन्द भासित हुआ है और आनन्द वह आत्मा का स्वरूप है, ऐसा जिसे भास हुआ है, भान हुआ है। भास अकेला नहीं, भान और अनुभव हुआ है। आहाहा ! उसे यह विषयसुख काला नाग जैसा लगता है, जहर जैसा लगता है। आहाहा ! उदास... उदास... कोई उपाय नहीं, इसलिए वह क्रिया अन्दर दिखती है। पूर्व के कर्म का फल है। वह मेरे आत्मा का फल नहीं है।

जे दुःखमैं न विलाप करैं। देखो, यह सातवें नरक के नारकी की संयोगीदशा हो, तो भी समकिती वहाँ विलाप नहीं करता उसके कारण से। आहाहा ! नारक दुःख भोगे परन्तु अन्तर सुख की गटागटी।

मुमुक्षु : बाहर नारककृत दुःख भोगे, अन्तर सुखरस गटागटी।

पूज्य गुरुदेवश्री : सुख की गटागटी। सातवें नरक का नारकी रवरव नरक में पड़ा हो ३३ सागर में, परन्तु जहाँ आत्मा का सम्यक् भान है। 'अरे, हम तो आनन्दमूर्ति हैं। यह राग और संयोग हमारी चीज़ के अस्तित्व में ही नहीं। उसके अस्तित्व में हो तो वह तो दुनिया की चीज़ है।' आहाहा ! समझ में आया ? यह रवरव नरक में भी दुःख को वेदता नहीं, ऐसा कहते हैं।

जे दुःखमैं न विलाप करैं,... पापकर्म के उदयजनित दुःख भोगते हुए संतापित नहीं होते। आहाहा ! यह संयोग और संयोग (के कारण) जरा कुछ द्वेष का अंश आवे,

वह सब ज्ञान में परज्ञेयरूप से जानता है, परज्ञेयरूप से। मेरे अस्तित्व में वह राग भी नहीं और प्रतिकूलता भी नहीं। मेरी सत्ता के अस्तित्व में दोनों नहीं। आहाहा! इससे धर्मी को... भाई ने लिखा है न निहालभाई ने। समकिती इतना तैयार होता है... एक जगह लिखा है। कि रोम-रोम में गर्म सुईयाँ... सोयुं समझे न? कि चुभती हो तो भी उसे डर और भय नहीं। क्योंकि मेरे अस्तित्व में वह है ही नहीं। आता है न! सुई... सुई... गर्म-गर्म रोम-रोम में। परन्तु वह तो उसका अस्तित्व वहाँ है, यहाँ आत्मा में वह कहाँ है? आहाहा! मेरे अस्तित्व में वह संयोगों की दशा नहीं और संयोग के लक्ष्य से कुछ हुआ राग-द्वेष आदि, वह मेरे स्वरूप में नहीं, मेरी अस्ति में नहीं। मेरी अस्ति में तो ज्ञान और आनन्द, वह मेरी अस्ति में है। समझ में आया? आहाहा!

यह दोनों बातें ली वापस। और **निरबैर हियैं तन ताप सहैंगे। पुण्यकर्म के उदयजनित सुख भोगने में...** दोनों लिया। पूर्व के बन्ध का... पहले आया न, 'सुख भुजंत।' यह आया न! पूर्व के उदय के कारण सुख की सामग्री और विकल्प—यह दो पहले में आये। दूसरे में दुःख की सामग्री और विकल्प—यह दुःख में आया। आहाहा! सम्यग्दृष्टि जहाँ देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा के विकल्प से भी मुक्त है, वह इन दुःख के संयोगों से तो मुक्त ही है। शरीर और शरीर के कारणों से (होनेवाले) संयोग का अस्तित्व अपनी पर्याय में जाये तो संयोग हो, (परन्तु वह) मेरी अस्ति में नहीं, मेरी सत्ता में नहीं। मेरी मौजूदगी में उसकी मौजूदगी है ही नहीं। आहाहा! धर्मी जीव राग को और द्वेष को—दोनों को स्पर्शता नहीं। क्योंकि राग और द्वेष की अस्ति अपने चैतन्य में सत्ता में स्वीकारता नहीं। समझ में आया?

निरबैर हियै तन ताप सहैंगे.... प्रतिकूलता देनेवाला शरीर सिर काटनेवाला हो, परन्तु वह तो क्रिया जड़ के अस्तित्व में होती है, मुझे नहीं होती। मारनेवाले और काटनेवाले के प्रति वैर का अंश नहीं, वैरबुद्धि नहीं। और चन्दन से चोपड़कर और क्षुधाकाल में ऐसे मावा के जामुन परोसे, ऐसे दे, (परन्तु) प्रेम का अंश नहीं। अंश है, वह मेरी अस्ति में नहीं। कहो, समझ में आया? कठिन मार्ग, बापू! आहाहा! ऐसे धर्मी! यह तो मेरे ऊपर अपकार करे और यह कहे धर्मी... हमको मजा आता है और यह प्रतिकूलता करनेवाला दुःख देता है। कहते हैं, वह तो सब मिथ्यात्वभाव है। वह धर्म

ही नहीं उसे। समझ में आया? अपवास किया और जरा बहुत क्षुधा-तृषा लगी। पानी न ले, परन्तु दु:ख लगता है, वह मिथ्यात्वभाव है। दु:ख मुझे होता है और दु:ख मुझमें है, ऐसा जो दु:ख का अनुभव तो मिथ्यादृष्टि को है, ऐसा कहते हैं। चिमनभाई! यह ऐसी बात है धर्म की।

है जिन्हकै दिढ़ आतम ग्यान, क्रिया करिकैं फलकौं न चहैंगे.... साहसपूर्वक शारीरिक कष्ट सहते हैं। सहन करना अर्थात् जानना-देखना। **जिनकी भेदविज्ञान अत्यन्त दृढ़ है।** धर्मी जिसका विकल्प, भगवान तीर्थंकर होने का विकल्प है, उससे भी भिन्न है, अपना स्वरूप। आहाहा! ऐसा जिसने जाना है, उसका दृढ़ आत्मज्ञान है। **है जिनके दिढ़ आतम ग्यान... आतम ग्यान...** ऐसा कहा है न? राग और पर का ज्ञान नहीं, आत्मज्ञान। आहाहा! निजानन्द प्रभु आत्मा का ज्ञान, ऐसा जिसे—सम्यग्दृष्टि को दृढ़ हो गया है। **क्रिया करिकैं...** उसमें रागादि आवे या द्वेष हो, उसका स्वामी नहीं। उसके फलरूप से मुझे अनुकूलता—प्रतिकूलता मिलेगी, उसका भी स्वामी नहीं। आहाहा!

क्रिया करिकैं फलकौं न चहैंगे... करिकै... यह तो भाषा समझाने की है। **उसका फल स्वर्ग आदि नहीं चाहते... ते सु विचच्छन ग्यायक हैं...** धर्मी तो उसे कहते हैं, जो राग का भी ज्ञाता-दृष्टा है। राग का स्वामी (नहीं) और अपने भाव में जिसे उस भाव का मिलान खाता नहीं, इसलिए उसे मिलाता नहीं। आहाहा! **तिन्हकौं करता हम तौ न कहैंगे।** आचार्य कहते हैं, 'ऐसे जीव को, राग का कर्ता है और उसमें सुखबुद्धि है, ऐसा हम तो नहीं मानते।' आहाहा! बाहुबली और भरत दोनों समकिती। उठाया चक्र। (चक्र) बाहुबली के हाथ में आया। ओहोहो! अरे! वहाँ सगा भाई। (एक) पिता का पुत्र हुआ न। माँ अलग है। और वह चरमशरीरी, उसी भव में मोक्ष में जानेवाला। वह चक्र और चक्र से अपने अन्दर में उत्पन्न हुआ जरा कमजोरी का राग-द्वेष का अंश, (तो भी) उसे उस काल में भेदज्ञान वर्तता है। जगत को तो... भेदज्ञान अर्थात् उसकी भिन्नता का ज्ञान वर्तता है, ऐसा कहते हैं। यह राग और क्रिया का एकपने का ज्ञान उसे है नहीं। आहाहा!

ते सु विचच्छन ग्यायक हैं.... धर्मी तो विचक्षण ज्ञानी ज्ञायक है। आहाहा! शुभराग विकल्प से लेकर पूरी दुनिया का वह जाननेवाला है। जानने का अस्तित्व मुझमें

है। वह रागादि का अस्तित्व मुझमें (नहीं)। ऐसे आत्मा को माने और अनुभव करे, उसे समकिती कहते हैं। उसे क्षण-क्षण में कर्म की निर्जरा होती है। ऐसा जिसे भान नहीं और यह अपवास करे और व्रत पाले तो धर्म हो, (ऐसा माने उसे) क्षण-क्षण में मिथ्यात्व का बन्धन होता है, ऐसा कहते हैं। ऐई! आहाहा! आचार्य कहते हैं, आहाहा! 'जिसके अस्तित्व में जिसने अतीन्द्रिय आनन्द और अनन्त ज्ञान और शान्ति भी देखी है। ऐसे आत्मा का अन्तर में जिसे दृढ़ भान हुआ है, उसे यह राग और राग की क्रिया और बाहर के संयोग को वह करता है, ऐसा हम मानते नहीं। वह तो जाननेवाला है।' आहाहा!

वे यद्यपि सांसारिक सुख भोगते हैं तो भी उन्हें कर्म का कर्ता हम तो नहीं कहते। भोगता है, ऐसा दिखता है। आहाहा! वह तो राग को और जहर को ओकता (उगलता) है, धर्मी राग को जहर जानता हुआ ओकता है, संग्रह नहीं करता। आहाहा! हाथ में काला नाग पकड़ा हो तो वह कोई रखने के लिये पकड़ा होगा? मन में तो (ऐसा है कि) राग शीघ्र छोड़ूँ... शीघ्र छोड़ूँ। धर्मी को राग आदि का अंश है, वह काले नाग के जहर जैसा दिखता है। आहाहा! उसे समकिती और धर्मी कहते हैं। उस धर्मी को क्षण-क्षण में कर्म के भाग का उदय है, वह खिर जाता है, (इसलिए) उसे बन्धन नहीं होता।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ८१, ज्येष्ठ कृष्ण १४, सोमवार, दिनांक २१-०६-१९७१
निर्जरा द्वार, काव्य - ४६ से ४९

सम्यग्ज्ञानी का विचार। निर्जरा (अधिकार) चलता है न? धर्मी की कैसी ज्ञान—विचारधारा और श्रद्धा कैसी हो, और समता कैसी हो—उसका वर्णन है।

★ ★ ★

काव्य - ४६

सम्यग्ज्ञानी का विचार (सवैया इकतीसा)

जिन्हकी सुदृष्टिमैं अनिष्ट इष्ट दोऊ सम,
जिन्हकौ अचार सु विचार सुभ ध्यान है।
स्वारथकौं त्यागि जे लगे हैं परमारथकौं,
जिन्हकै बनिजमैं न नफा है न ज्यान है।।
जिन्हकी समुझिमैं सरीर ऐसौ मानियत,
धानकौसौ छीलक कृपानकौसौ म्यान है।
पारखी पदारथके साखी भ्रम भारथके,
तेई साधु तिनहीकौ जथारथ ग्यान है।।४६।।

शब्दार्थ:-बनिज=व्योपार। ज्यान=जाना-टोटा या नुकसान। छीलक=छिलका। कृपान=तलवार। पारखी=परीक्षक। भारथ (भारत)=लड़ाई।

अर्थ:-जिनकी ज्ञानदृष्टि में इष्ट-अनिष्ट दोनों समान हैं, जिनकी प्रवृत्ति और विचार शुभ ध्यान के लिये होती है, जो लौकिक प्रयोजन छोड़कर सत्यमार्ग में चलते हैं, जिनके वचन का व्यवहार किसी को हानिकारक वा किसी को लाभकारक नहीं है, जिनकी सुबुद्धि में शरीर धान के छिलके व तलवार के म्यान के समान आत्मा से जुदा गिना जाता है, जो जीव-अजीव पदार्थों के परीक्षक हैं, संशय आदि मिथ्यात्व की खींचतान के जो मात्र ज्ञाता-दृष्टा हैं; वे ही साधु हैं और उन्हीं को वास्तविक ज्ञान है।।४६।।

काव्य-४६ पर प्रवचन

जिन्हकी सुदृष्टिमैं अनिष्ट इष्ट दोऊ सम,
जिन्हकौ अचार सु विचार सुभ ध्यान है।
स्वारथकौं त्यागि जे लगे हैं परमारथकौं,
जिन्हके बनिजमैं न नफा है न ज्यान है॥
जिन्हकी समुझिमैं सरीर ऐसौ मानियत,
धानकौसौ छीलक कृपानकौसौ म्यान है।
पारखी पदारथके साखी भ्रम भारथके,
तेई साधु तिनहीकौ जथारथ ग्यान है॥४६॥

कहते हैं कि **जिन्हकी सुदृष्टिमैं अनिष्ट इष्ट दोऊ सम...** कोई चीज़ इष्ट-अनिष्ट ही नहीं, वह तो ज्ञान का ज्ञेय है। बिच्छू का काटना अनिष्ट और चन्दन का लेप इष्ट—ऐसी कोई चीज़ नहीं है। अज्ञानी उसे इष्ट-अनिष्ट मानता है कि यह अनुकूलता इष्ट है और प्रतिकूलता अनिष्ट है। वह तो मिथ्यात्वभाव में इसकी कल्पना है। वस्तुस्वरूप में (ऐसा नहीं है)। धर्मी जीव प्रतिकूल और अनुकूल संयोग में कहीं इष्ट-अनिष्टपना मानता नहीं। इष्ट हो तो अपना आनन्द और ध्रुवस्वभाव, अनिष्ट हो तो राग। इतना प्रवचनसार में आता है। परवस्तु कोई इष्ट-अनिष्ट है, ऐसा है नहीं। कहो, समझ में आया? यह आयेगा इसमें फिर कहेंगे। असाता के उदय का गंज हो तो भी उसमें उसे समता है। यह ठीक नहीं, ऐसा नहीं। जिसकी सुदृष्टि में चैतन्य ज्ञायकमूर्ति आत्मा, ऐसा जहाँ अन्तर में सम्यग्दर्शन में भान वर्तता है, उसे जगत का कोई पदार्थ इष्ट-अनिष्ट दृष्टि में दिखाई नहीं देता।

जिन्हकौ अचार सु विचार सुभ ध्यान है... उसका आचार और विचार तो स्वरूप में ध्यान करना, वह है, ऐसा कहते हैं। वह शुभ अर्थात् अच्छा। उसका आचरण और विचार—दोनों, स्वरूप-सन्मुख की एकाग्रता का ध्यान, वह उसका आचार और विचार है। लोग कहे न, ऐसा आचार पालन करो और ऐसे विचार... आचार-विचार की बातें चलती हैं न, इस अपेक्षा से डाला है। आचार और विचार यह। व्यवहार विकल्प आचार

और ज्ञान का विचार, ऐसा नहीं। आचार-विचार दोनों स्वरूप-सन्मुख की एकाग्रता के ध्यान के ही उसे होते हैं। कहो, समझ में आया? लोग कहते हैं न कि भाई! आचार-विचार कुछ है? आचार क्या पालता है और विचार क्या है, उसका ज्ञान है, ऐसा। आचार क्या पालता है और विचार क्या, उसका ज्ञान है। धर्मी जीव को आचार और विचार स्वरूप सन्मुख की एकाग्रता का ध्यान, यह उसका आचार और विचार है। राग का वर्तन है, वह कहीं धर्मी का वर्तन नहीं, वह आचरण तो भिन्न है। समझ में आया? आहाहा!

स्वारथकौ त्यागी.... अर्थात् कि लौकिक आचरण का त्याग करके **जे लगे है परमारथकौ....** है न अर्थ में भी है। **लौकिक प्रयोजन छोड़कर....** स्वार्थ अर्थात् लौकिक प्रयोजन है, उसे छोड़ देता है। वह प्रयोजन ही नहीं। बात तो ऐसी कहनी है कि धर्मी जीव है, इसलिए उसे वे लड़के और लड़कियाँ और व्यापार का व्यवस्थित चले और व्यवस्थित जगह पड़े—ऐसा जिसका भाव नहीं।

मुमुक्षु : ऐसा विकल्प आवे न?

पूज्य गुरुदेवश्री : विकल्प आवे, वह उसका आचरण नहीं। कहो, समझ में आया? ऐसा तो आवे न कि भाई! लड़का व्यवस्थित जगह लगे तो ठीक और लड़की व्यवस्थित जगह लगे और धन्धा-बन्धा व्यवस्थित लग जाये। इस बात का विकल्प ही नहीं, ऐसा कहते हैं। आवे तो भी उसका नहीं। वह आवे तो भी उसका नहीं, वह भले हो, वह—धर्मी तो स्वार्थ के त्यागी हैं, परमार्थ में लगे हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : मुनि की बात की है इसमें?

पूज्य गुरुदेवश्री : मुनि की नहीं, समकिती की बात है यह सब। मुनि तो नाम दिया है। कहो, समझ में आया?

सम्यग्दर्शन अर्थात् क्या चीज़! आहाहा! पूरा भगवान जहाँ प्रसिद्ध में, प्रतीति में, प्रसिद्धि में, श्रद्धा में आ गया, अनुभव में पूरा पदार्थ आया, उसकी फिर क्या बात कहना? उसे लौकिक का विकल्प उठे तो भी उसका उसे नहीं। उसका त्याग है उसे, ऐसा कहते हैं यहाँ तो। लौकिक प्रयोजन का त्याग है और परमार्थ प्रयोजन को साधता है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! यह व्यवहार है, वही लौकिकभाव है, उसे तो यह धर्मी

छोड़ता है। व्यवहाररत्नत्रय का भाव है न, वह लौकिक है। लौकिक कहो या व्यवहार कहो, ऐसा कहते हैं।

स्वारथकौं त्यागि जे लगे हैं परमारथकौं.... अन्तरस्वरूप शुद्ध चैतन्य के सन्मुख का जिसका झुकाव है, उसे व्यवहार का झुकाव छूट गया है, ऐसा कहते हैं। धर्म का व्यवहार यह, हों! व्यवहार जिसे पुण्य कहते हैं, व्यवहार कहते हैं, उसका वह त्यागी है, व्यवहार का वह त्यागी है। लौकिक का त्यागी है। लौकिक प्रयोजन का त्याग है, ऐसा कहते हैं। गजब! लगे है परमार्थ को।

जिन्हकै बनिजमैं न नफा है न ज्यान है... नफा-नुकसान नहीं। **जिनके वचन का व्यवहार किसी को हानिकारक वा किसी को लाभकारक नहीं है।** अर्थात् वाणी... वाणी आवे, उसमें वाणी के कारण से वाणी आती है। उसमें उसे कुछ वाणी से लाभ भी नहीं और वाणी से नुकसान भी नहीं।

मुमुक्षु : उसे स्वयं को या दूसरे को?

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वयं को। यह तो बाद में डाला है इन्होंने। यह तो किसी की बात में... यहाँ तो अपनी बात है। वाणी आवे, उसमें नहीं जीव को नफा और नहीं जीव को लाभ। भाई उपदेश करे इसलिए उसे लाभ होता है, ऐसा नहीं। आहाहा! कहो, समझ में आया? शिक्षा दे न दूसरे को? लाभ हो न अपने को कुछ?

वणिज—जिसका व्यापार में नफा-नुकसान नहीं। अर्थात् बनिया का व्यापार हो न वाणिज्य... उसमें कुछ है नहीं, उसका स्वामी नहीं, उसका जाननेवाला-देखनेवाला है। धर्मी को वाणी से लाभ हो उपदेश से और उपदेश न हो तो नुकसान हो, ऐसा है नहीं, ऐसा कहते हैं मूल तो। जिसे अज्ञानी की वाणी हो और उसे अधिक लाभ हो। हजारों लोग धर्म प्राप्त करे, लाखों लोग, लो। कहते हैं कि नहीं, नहीं। धर्मी के उपदेश से कोई धर्म पाता ही नहीं, वह तो उसके कारण से पाता है और उपदेश से स्वयं को लाभ होता है, ऐसा है नहीं, ऐसा कहते हैं मूल तो। आहाहा!

जिन्हकै बनिजमैं न नफा है न ज्यान है... टोटा नहीं—नुकसान नहीं। **जिन्हकी समुझिमैं सरीर ऐसौ मानियत, धानकौसौ छीलक....** धान का जो छिलका हो ऊपर,

अनाज का छिलका-छिलका। छिलका। **छीलक** शब्द है न? उसी प्रकार भगवान आत्मा ऊपर तो शरीर छिलक—छिलका है, ऐसा जिसकी मान्यता में है। शरीर मेरा है, ऐसा नहीं। शरीर छिलके जैसा एक भिन्न है। आहाहा! चैतन्य शुद्ध स्फटिक ऐसे रतन के पास, यह जो शरीर दिखता है, वह छिलका है। आहाहा!

धानकौसौ छीलक कृपानकौसौ म्यान है। लो! तलवार की म्यान के समान है। तलवार, जैसे म्यान में भिन्न है; उसी प्रकार शरीर में भगवान भिन्न और आत्मा से शरीर अत्यन्त भिन्न, अत्यन्त भिन्न। उसके साथ आत्मा को कुछ सम्बन्ध है (नहीं)। भाई! शरीर का सदुपयोग करना, वाणी का सदुपयोग करना, ऐसा है (नहीं)। जड़ का सदुपयोग क्या हो? आहाहा! शरीर अच्छा हो, भाषायोग हो, जरा उसका सदुपयोग करे तो लाभ हो। क्या हो? जड़ का उपयोग करता है, (ऐसा मानता है परन्तु) वह जड़ की क्रिया स्वतन्त्र है, ऐसा कहते हैं। कितने ही कहते हैं न, अपने दूसरों को उपदेश दें तो अपने को धर्म होगा, निर्जरा होगी। यह यहाँ कहते हैं, उपदेश से निर्जरा-फिर्जरा होती (नहीं)। समझ में आया?

पारखी पदारथके.... धर्मी तो जड़ और चेतन को, आस्रव और स्वभाव दोनों को परखता है बराबर। दोनों का पारखी है, ऐसा कहते हैं। जीव-अजीव पदार्थ का परीक्षक है। रागादि, शरीरादि अजीव है, भगवान ज्ञानमूर्ति, वह जीव है। इस प्रकार धर्मी दोनों का परीक्षक—पारखी है। आहाहा! समझ में आया? **पारखी पदारथके साखी भ्रम भारथके...** मिथ्यामत के प्रकार जितने हों, संशय आदि मिथ्यात्व की खेंचतान, परन्तु उसमें वह है ही नहीं। जगत के षट् दर्शन के अनेक प्रकार की खेंचतान, उसमें ज्ञानी पड़ता नहीं। **मिथ्यात्व की खींचतान के जो मात्र ज्ञाता-दृष्टा है।** ऐसे विकल्प—अभिप्राय जगत में है, ऐसा जानता है। कहो, समझ में आया?

तेई साधु तिनहीकौ जथारथ ग्यान है। उस धर्मात्मा को सच्चा ज्ञान है। इसलिए उपदेश से लाभ-नुकसान मानता नहीं। जड़-चैतन्य की और विकारी तथा अविकारी स्वभाव की जिसे अन्तर परीक्षा वर्तती है और लौकिक व्यवहार छोड़कर स्वरूप का साधन है जहाँ और आचार और विचार भी स्वरूप की ओर का ही जहाँ है, ऐसे साधु

को यथार्थ ज्ञान है, उसे सच्चा ज्ञान है। परन्तु जो कोई ऐसा माने कि हम तो दूसरे को उपदेश दें (तो) बहुत लाभ हो, अपने को भी लाभ हो और दूसरे को भी लाभ हो। वह उसका सच्चा ज्ञान नहीं, ऐसा कहते हैं। मिथ्याज्ञान है, ऐसा कहते हैं। गजब काम! कनुभाई! परन्तु उपदेश देना, उसमें लाभ नहीं? परन्तु वाणी कहाँ इसकी है, उस वाणी से लाभ और नुकसान? यह बात ही खोटी है। आहाहा!

भाई! वाणी तो जगत में बहुत पड़ी है, ऐसा नहीं आता भगवती आराधना में?

मुमुक्षु : अच्छे शब्द प्रयोग करो न....

पूज्य गुरुदेवश्री : अच्छे शब्द प्रयोग करो न, (ऐसा) भगवती आराधना में आता है। ऐई! कौन प्रयोग करे? वह तो उसके भाव में खराबी न आने दे, यह बात है। ऐसा कहे, जगत में भाषा तो बहुत अच्छी है (तो) अच्छी न बोले?

मुमुक्षु : कौन बोले?

पूज्य गुरुदेवश्री : बोले कौन परन्तु? वह तो सब व्यवहार के कथन हैं। आहाहा! भाषा के रजकण भी कौन बोले, कौन निकाले, कौन ले, कौन छोड़े? आहाहा! ऐसा जिसे अन्तर में भान है, उसे यहाँ यथार्थ ज्ञान कहा जाता है। वरना उलटा ज्ञान है विपरीत।

ज्ञान की निर्भयता। २२वाँ कलश है न नीचे। वह तो ऊपर से सब कहा। इस कलश का अर्थ है। **ज्ञान की निर्भयता**। ओहो! चैतन्यवस्तु पर से निराली जहाँ अनुभव—भान में आयी, वह पुरुष निर्भय है। उसे मरण का या इस लोक का, परलोक का कुछ भय है ही नहीं। किसका भय होगा? शाश्वत् वस्तु ध्रुव चैतन्यवस्तु अन्तर में अनुभव में, प्रतीति में, ज्ञान में ज्ञेय होकर भान हुआ, ऐसे धर्मी जीव नि:शंक हैं, इसलिए निर्भय हैं, ऐसा कहते हैं।

★ ★ ★

काव्य - ४७

ज्ञान की निर्भयता (सवैया इकतीसा)

जमकौसौ भ्राता दुखदाता है असाता कर्म,
ताकै उदै मूरख न साहस गहतु है।
सुरगनिवासी भूमिवासी औ पतालवासी,
सबहीकौ तन मन कंपितु रहतु है।।
उरकौ उजारौ न्यारौ देखिये सपत भैसौं,
डोलत निसंक भयौ आनंद लहतु है।
सहज सुवीर जाकौ सासतौ सरीर ऐसौ,
ग्यानी जीव आरज आचारज कहतु है।।४७।।

शब्दार्थः-भ्राता=भाई। साहस=हिम्मत। सुरगनिवासी=देव। भूमिवासी=मनुष्य, पशु आदि। पतालवासी=व्यन्तर, भवनवासी, नारकी आदि। सपत (सप्त)=सात। भै (भय)=डर। सास्वत=कभी नाश नहीं होनेवाला। आरज=पवित्र।

अर्थः-आचार्य कहते हैं कि जो अत्यन्त दुःखदायी है मानों जम का भाई ही है, जिससे स्वर्ग, मध्य और पाताल त्रैलोक्य के जीवों का तन-मन काँपता रहता है, ऐसे असाता कर्म के उदय में अज्ञानी जीव हतसाहस हो जाता है। परन्तु ज्ञानी जीव के हृदय में ज्ञान का प्रकाश है, वह आत्मबल से बलवान है, उसका ज्ञानरूपी शरीर अविनाशी है, वह परम पवित्र है और सप्त भय से रहित निःशंकित डोलता है।।४७।।

काव्य-४७ पर प्रवचन

जमकौसौ भ्राता दुखदाता है असाता कर्म,
ताकै उदै मूरख न साहस गहतु है।
सुरगनिवासी भूमिवासी औ पतालवासी,
सबहीकौ तन मन कंपितु रहतु है॥

उरकौ उजारौ न्यारौ देखिये सपत भैसौं,
डोलत निसंक भयौ आनंद लहतु है।
सहज सुवीर जाकौ सासतौ सरीर ऐसौ,
ग्यानी जीव आरज आचारज कहतु है॥४७॥

आचार्य कहते हैं, वह धर्मात्मा पवित्र है। **जमकौसौ भ्राता...** मानो असाता यम का भाई हो। शरीर में कठोर रोग आवे, कंपकंपी हो जाये अन्दर से। ऐसा शूल (दर्द) चढ़े और इसने एकबार ऐसा देखा हो, आहाहा! फिर से आयेगा तो? मगनभाई! यह रोग की बात चलती है यह। शरीर में रोग आवे न रोग कठोर, काँप उठे ऐसे। एकबार आ गया हो और फिर से आवे वहाँ, आहाहा! नाम सुने वहाँ। **जमकौसौ भ्राता...** असातावेदनीय कर्म **अत्यन्त दुःखदायी है मानो जमका भाई ही है।** आहाहा! तलवार पड़े, छुरा पड़े सिर पर। असाता का उदय है न सब दुःखदायी—अत्यन्त दुःख के निमित्त, उसे देखकर अज्ञानी को ऐसे भय हो जाये। आहाहा!

अरे! ऐसा रोग न हो न... रोग से ऐसा काँप उठे। धर्मी कहते हैं कि ऐसा कठोर यम का भाई जैसा रोग मुझे है (नहीं, इसलिए) निर्भय है। आहाहा! रोग तो जड़ की दशा है और संयोग हों बाहर के, वे भी पर हैं। धर्मी को, संयोगों में मैं नहीं और शरीर की दशा में मैं नहीं। मैं हूँ, वहाँ वह दशा नहीं और उस दशा का संयोग भी उसमें (नहीं)। आहाहा! देखो, यह निर्जरा उसे होती है, ऐसा कहते हैं। कहते हैं, **सुरगनिवासी...** देव भी काँप उठे ऐसे। इन्द्र आदि साधारण देव को वज्र मारे वज्र। ऐसा .... ऊपर वैमानिक देव में रहनेवाले देव।

भूमिवासी... नीचे भूमिवासी। भूमि अर्थात् यह मनुष्यलोक और **पातालवासी** देव नीचे। ऊर्ध्व, मध्य और नीचे **सबहीकौ तन मन कंपितु रहतु है।** रोग ऐसा कठोर सुने वहाँ आहाहा! उल्टी... उल्टी... उल्टी... ऐसा पूरा शरीर ऐसे सब खिंचे और पसीना... पसीना शरीर में आवे ऐसा कठोर रोग। कहते हैं कि ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और नीचे अधोलोक, उसके जीव रोग का ऐसा नाम सुने वहाँ काम उठे। **सबहीकौ तन मन कंपितु रहतु है।** शरीर काँप जाये, मन काँपे अन्दर। आहाहा!

उरकौ उजारौ.... परन्तु जहाँ ज्ञान का प्रकाश प्रगट हुआ है अन्दर, हृदय का

उजाला ज्ञाता-दृष्टा का स्वभाव जहाँ प्रगट हुआ है, **न्यारौ देखिये सपत भैंसौं...** वह तो सात भय को भिन्न देखता है। **सपत** अर्थात् सात। **भैं** अर्थात् भय। आहाहा! तब यह कहे, श्रेणिक राजा जैसे क्षायिक समकिती थे, तीर्थंकरगोत्र बाँधा था। प्रत्येक समय में भी बाँधते ही हैं। उन्होंने क्यों यह जहर खाया? सिर पछाड़ा अथवा हीरा चूसा, ऐसा कोई कहते हैं। अन्तर में निर्भय है। अटापटी है न। अन्तर में निर्भय है। वह विकल्प आया है, उसके वे त्यागी हैं। आहाहा! अपने में विकल्परहित परिणमन निरन्तर सतत शुद्ध वर्तता है। कहो, समझ में आया? हीरा चूसा या सिर फोड़ा, उस काल में भी उन्हें देह की क्रिया से भय नहीं, मरण का जिन्हें डर नहीं।

लो, उसका पुत्र आया था कुणिक। कुणिक आया था। पहले उसने डाला था कैद में। क्षायिक समकिती तीर्थंकरगोत्र बाँधे क्षण-क्षण में। उसे उस पुत्र ने डाला कैद में। आहाहा! राज चाहिए था। शरीर में हो गयी बड़ी अवस्था (उम्र)। सुन्दर बहुत रूपवान था कुणिक। जवान अवस्था हुई, कितना काल गया और यह मरते नहीं। अब करना क्या? लो। बाप बैठे वहाँ तक राज हो नहीं। बड़ा राज, हाथी, घोड़े, सैनिक ऐसा सब, ओहोहो! डाल कैद में बाप को, राज तो हो। कैद में डाला। आहाहा! तो भी, कहते हैं, उन्हें अन्तर भय नहीं।

मुमुक्षु : अन्दर भय नहीं तो बाहर भय है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह विकल्प आया है, इससे कहीं... ऐसा नहीं। अन्तर असंख्य प्रदेशी चैतन्य ध्रुव में कुछ भी खण्ड हो, ऐसा भय उन्हें है (नहीं)।

वह (कुणिक) वापस गया उसकी माँ के पास। 'माँ मैं गद्दी पर बैठा हूँ। मेरे पिताजी को इस प्रमाण जेल में डाला।' अरे पुत्र! यह तूने क्या किया? जब तेरा जन्म हुआ, तू गर्भ में था तब यह कलेजा खाने का मन हुआ। उन्होंने भी मेरा क्या कहलाता है? दोह्यला। मेरा दोह्यला पूरा किया था ढोंग करके। उसको बतावे। अभयकुमार ने सब किया हुआ। माँस लाये हुए, काट-काटकर दे। वह मानो कि कलेजा काटते हैं। ऐसा दोह्यला, भाई! तू मेरे गर्भ में था तब से ऐसा (था)। अरे, जन्म के बाद मैंने तुझे तुरन्त कचरे में डाल दिया था।

तुरन्त का जन्मा और वह क्या कहलाते हैं ? मुर्गे। मुर्गे... मुर्गे। मुर्गे ने चोंच मारी अंगुल में और पीव हो गया था। पीड़ा... पीड़ा... और रोता था। उसमें (श्रेणिक) मेरे पास आये। कहा गया अपना (पुत्र) जिसका जन्म हुआ। मैंने तो डाल दिया। अरे! ऐसा किया ? वे तेरे पास आये, तुझे उठाया। चूसते थे, तेरे पिताजी पीव चूसते थे, तुझे दुःख न हो इसलिए। ऐसा (किया) तेरे पिताजी ने। हें! हाय... हाय! मैंने गजब किया। फिर हाथ में खंजर लेकर वह ताला तोड़ने (जाता है)। उनको (श्रेणिक को) ऐसा लगा कि यह मुझे मारने आ रहा है। एक तो बन्द किया और अब यह मारने आता है। वह तो ज्ञान के उघाड़ में उस प्रकार का भाव भासित हो जाता है। आहाहा!

है समकिती, क्षायिक समकिती और आगामी चौबीसी में पहले तीर्थंकर होनेवाले हैं।

मुमुक्षु : तीर्थंकर होनेवाले हैं और मरते-मरते....

पूज्य गुरुदेवश्री : तो भी ऐसा है, ऐसा कहा। यह राग के खेल स्वतन्त्र हैं। आहाहा! जहाँ जाता है काटने, वहाँ अपने आप मर जाते हैं। ऐसे जहाँ अन्दर देखे वहाँ, हाय... हाय! अरे! मैंने मेरे पिता को ऐसे किया। फिर बहुत रोता है, परन्तु फिर क्या हो ? ऐसे भी जाना था नरक में न! आयुष्य बाँधा हुआ। आहाहा! क्रीड़ा तो देखो! यह ... पहले नरक में ८४ हजार वर्ष की स्थिति में जाना, आहाहा!

जिन्हें सौ इन्द्र पूजेंगे वहाँ से निकलने पर। माता के गर्भ में आने से पहले छह-छह महीने पहले इन्द्र आकर माता की सेवा करेंगे। आहाहा! उसे अभी नरक में जाना, लो। तथापि वहाँ भय नहीं, कहते हैं, ऐसा कहना है यहाँ तो। नरक का भय नहीं, मरण का भय नहीं। खंजर मारे तो मुझे यह दुःख होता है, उसका भय है (नहीं)। आहाहा! यह वह कहीं (बात है)। भिन्न पड़ा हुआ भगवान, उसे अब एकता कैसे हो ? ऐसा कहते हैं। राग से भी भिन्न, तो शरीर के रजकण के छिलके से तो भिन्न। भिन्न को भिन्न के कारण से भय हो, ऐसा है नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! यहाँ कुछ बात है। वस्तु का स्वरूप ऐसा है।

सबहीकौ तन मन कंपितु रहतु है, उरकौ उजारौ न्यारौ देखिये सपत भैसौं....

परन्तु धर्मात्मा सात भय से भिन्न है। आहाहा! अखण्डानन्द वज्र चैतन्यमूर्ति ध्रुव में कुछ विकृति आवे, ऐसी वह चीज़ है (नहीं)। ऐसा अनुभव वर्तता है। आहाहा! **डोलत निसंक भयौ आनंद लहतु है।** ऐसे प्रसंग में भी, कहते हैं कि नि:शंकरूप से परिणमता है, डोलता है। देखो, अभय कहो या नि:शंक कहो। नि:शंक और अभय दोनों को इकट्ठा गिना है न। निर्भय। नि:शंकता से निर्भयता। किसी ने प्रश्न किया था वहाँ। चन्दुभाई डॉक्टर ने किया था। नि:शंक और निर्भय में अन्तर क्या? राजकोट। नि:शंकता अर्थात् निसन्देह... ऐसा पूछा था। और निर्भय—पर से भय नहीं। नि:शंक वस्तु यह है, ऐसा अस्ति से और पर से निर्भय है, यह नास्ति से। नि:शंक, वह निर्भय है और निर्भय, वह नि:शंक है।

कठोर रोग आवे, गाँव में प्लेग आवे। घर में दस व्यक्ति और नौ व्यक्ति को प्लेग हुआ हो और हटाहटी गाँव में चलती हो। हटो, हटो यहाँ से। वह भी पहले हटे, समकिती हो तो भी।

मुमुक्षु : और निर्भय कहे ?

पूज्य गुरुदेवश्री : तथापि निर्भय है। ऐसा व्यवहार लग गया, ऐसा विकल्प आया और उस प्रकार की... पूरे परिवार में एक साथ नौ को... नौ को प्लेग। गाँव में दूसरे सगे-सम्बन्धी भी (कहे), अब निकलो चलो। तुम एक हो, अब क्या होगा? निकलो भागो, चलो भाई बाहर। अन्दर भय नहीं। आहाहा! यह बात, अन्तर के अभिप्राय को जाने नहीं, उसे यह बैठे नहीं।

डोलत निसंक भयौ आनंद लहतु है। उस क्षण भी उसे अतीन्द्रिय आनन्द का मजा आता है, भय नहीं। आहाहा! मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी की आकुलता तो नाश हो गयी है। इतनी तो निराकुल आनन्ददशा समकिती को प्रगट हुई प्रसिद्ध प्रगट है। आहाहा! यह कहते हैं, वह तो नि:शंक होता हुआ आनन्द लहता है। उसे पूर्व के कर्म खिर जाते हैं। चारित्रमोह के उदय में जरा भय आया, परन्तु वह खिर जाता है। आहाहा! देखो, यह धर्मी की अन्तरदृष्टि और उसकी निर्भयता।

सहज सुवीर जाकौ सासतौ सरीर ऐसौ... आत्मबल से बलवान है.... ऐसा कहते हैं। **सहज सुवीर,** ऐसा कहते हैं। शरीर के बल में उसे भले निर्बलता आ गयी (हो), चाहे जो स्थिति खड़ी हुई हो, परन्तु स्वाभाविक अन्तर बल है आत्मा का, अनन्त

वीर्यवान को पकड़ा है आत्मा ने स्वयं। ऐसा अनन्त वीर्यवान मैं हूँ, अनन्त बलवन्त हूँ। उसके बल को कोई भुलावे, ऐसी चीज़ है (नहीं)। आहाहा! **सहज सुवीर...** स्वाभाविक बल प्रगट हुआ है, ऐसा कहते हैं। शरीर की बात नहीं यहाँ। आत्मा का स्वाभाविक वीर्य। **सासतो शरीर**। मेरा शरीर तो शाश्वत् है। ज्ञानरूपी मेरा शरीर, वह तो शाश्वत है। **वह आत्मबल से बलवान है, उसका ज्ञानरूप शरीर अविनाशी है**। लो! लिखा है अन्दर। **ग्यानी जीव आरज...** ऐसे धर्मात्मा को **आचारज** (—आचार्य) आर्य कहते हैं। आर्य अर्थात् पवित्र कहते हैं। आहाहा! २२ कलश का अर्थ हुआ। अर्थ किया न ऊपर से।

आचार्य कहते हैं कि जो अत्यन्त दुःखदाई है मानो जम का भाई ही है, जिससे स्वर्ग, मध्य और पाताल त्रैलोक्य के जीवों का तन-मन कांपता रहता है, ऐसे असाताकर्म के उदय में अज्ञानी जीव हतसाहस हो जाता है। हाय! हाय! क्या होगा? कौन रहेगा? कौन मरे? वस्तु मरती नहीं, परमाणु मरते नहीं। **परन्तु ज्ञानी जीव के हृदय में ज्ञान का प्रकाश है**। 'मैं तो चैतन्य के नूर के तेजवाला आत्मा हूँ, वह मैं हूँ। राग और बाहर की कोई चीज़ मुझे हिला सके, (ऐसी) सामर्थ्य है नहीं।' **वह आत्मबल से बलवान है, उसका ज्ञानरूपी शरीर अविनाशी है**। यह परम पवित्र, (ऐसा) आर्य का अर्थ किया है। **और सप्तभय से रहित निःशंकित डोलता है**। आनन्द डाला नहीं अर्थ में। उसमें आनन्द डाला है पाठ में और अर्थ में नहीं। आनन्द लहतु है, ऐसा अर्थ जरा नहीं डाला।

सप्त भय के नाम, लो। कलश २२ आ गया, नहीं? कलश आ गया? कलश बोले नहीं?

सम्यग्दृष्टय एव साहसमिदं कर्तुं क्षमन्ते परं,
यद्वज्रेऽपि पतत्यमी भयचलत्त्रैलोक्यमुक्ताध्वनि।
सर्वामेव निसर्गनिर्भयतया शङ्कां विहाय स्वयं,
जानन्तः स्वमवध्यबोधवपुषं बोधाच्च्यवन्ते न हि।।१५४।।

सात भय के नाम। इन भय से धर्मात्मा रहित है। अज्ञानी इन भय से सहित है।

★ ★ ★

काव्य - ४८

सप्त भय के नाम (दोहा)

इहभव-भय परलोक-भय, मरन-वेदना जात।
अनरच्छा अनगुप्त-भय, अकस्मात-भय सात।।४८।।

अर्थः-इहभव-भय, परलोक-भय, मरण-भय, वेदना-भय, अनरक्षा-भय, अनगुप्ति-भय और अकस्मात-भय ये सात भय हैं।।४८।।

काव्य-४८ पर प्रवचन

इहभव-भय परलोक-भय, मरन-वेदना जात।
अनरच्छा अनगुप्त-भय, अकस्मात-भय सात।।४८।।

लो, सात नाम। इस लोक का भय। इसका अर्थ आयेगा। परलोक का भय। इस लोक में, कहे, अरेरे! क्या होगा? अभी कुछ साधन नहीं और लड़के मर गये, स्त्री मर गयी, पैसे गये, शरीर में रोग, क्या होगा? यह भय ज्ञानी को होता (नहीं)। परलोक का भय। कहाँ जाऊँगा मरकर? यह देह छूटकर जाऊँगा कहाँ? उसका भय धर्मी को होता नहीं। नरक में जाये तो भी उसे भय नहीं होता, ऐसा कहते हैं। परलोक का भय ही नहीं। समझ में आया? भगवान को पूछा श्रेणिक ने—'महाराज! मैं कहाँ जाऊँगा?' नरक में जायेगा, ऐसा कहा। तो भी अन्तर में निर्भय है। स्थिति तो जिस प्रमाण बाहर के ज्ञेय की होनेवाली हो, वह होगी। अन्तर में निर्भय है। भगवान ने कहा है कि तू तीर्थंकर होनेवाला है, उसकी खबर भी है। नरक में जाना है, यह भी उन्हें खबर है, तो भी निर्भय है।

अन्तर अनुभव में आत्मा आनन्दमूर्ति जहाँ शाश्वत्... शाश्वत्... ध्रुव आत्मा अनुभव में आया, अब उसे भय किसका? चाहे तो नरक में जाये तो भी कर्म खिरायेगा। नहीं आया? योगीन्द्रदेव, योगसार। वह भले नरक में जाये, कर्म खिरते हैं। निर्जरा हुई है न! योगीन्द्रदेव में आता है। योगसार में आता है या नहीं? भले नरक में जाये

समकिती, कहते हैं, तो भी उसके कर्म खिर जाते हैं वहाँ। क्योंकि उससे रहित अनुभवदृष्टि वर्तती है, वह सब खिरते-खिरते झड़ जाता है। है न श्लोक है उसमें। (श्लोक ८८)। पूर्व कर्म क्षय होय, जाये तो किसका? बाधा नहीं ऐसा। है न किसी को कण्ठस्थ?

मुमुक्षु : सम्यग्दृष्टि जीव को, दुर्गति गमन न होय, कभी जाय तो दोष नहीं, पूर्व कर्म क्षय होय।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा। कभी जाये तो दोष नहीं, पूर्व कर्म क्षय होय। और अज्ञानी स्वर्ग में अहमिन्द्र हो, तो भी वह भयवाला और दु:खी है। आहाहा! और ज्ञानी नरक में जाये। जाये कहना, यह भी समझाने की बात है। वह राग में आता नहीं, फिर नरक की गति में आवे, यह तो है (नहीं)।

वस्तुस्वभाव चैतन्य आनन्द और ज्ञान का उसमें उसे वास है। उसका उसे इसमें वास है। जहाँ राग में भी वास नहीं तो फिर शरीर की क्रिया में और शरीर का संयोग मिले, उसमें (वास) है, ऐसा कहना, वह निमित्तवस्तु क्या थी, उसका ज्ञान कराने के सब कथन हैं। आहाहा! गजब! व्यवहार की कथन की शैली... क्षायिक समकिती नरक में गये, लो ऐसा कहलाये या नहीं? एक ओर कहे कि धर्मी व्यवहार से मुक्त है, व्यवहार को स्पर्श नहीं करता और व्यवहार में वह है ही नहीं। व्यवहार अर्थात् विकल्प। दया, दान, व्रत आदि के विकल्प में वह है ही नहीं। आहाहा! मूल रखकर बात होती है न! बात होती है, व्यवहार से ऐसा समझावे कि अभी नरकगति का संयोग है। बस, संयोग है। वह ज्ञेय है, ज्ञान का ज्ञेय है। उसे वहाँ (गति में) हूँ, ऐसा कहाँ है? मैं तो आनन्द और ज्ञान में हूँ। आहाहा! यह कुछ बात है? वस्तु के स्वरूप का भान है। समझ में आया?

मरणभय। धर्मी को मरण... सब स्पष्टीकरण आयेगा। वेदना भय होता नहीं। अरक्षा। (कोई) रक्षा करे तो रहूँ (-टिकूं), वरना नहीं, ऐसा नहीं है। अगुप्ति का भय। ऐसा नहीं। चोर का भय नहीं। अकस्मात भय। अकस्मात कुछ हो जायेगा तो, एकदम वज्र गिरेगा, एकदम दीवार गिरेगी... ऐसे सात भय ज्ञानी को नहीं होते। **सप्त भय का पृथक्-पृथक् स्वरूप**। लो।

★ ★ ★

काव्य - ४९

सप्त भय का पृथक्-पृथक् स्वरूप (सवैया इकतीसा)

दसधा परिग्रह-वियोग-चिंता इह भव,
दुर्गति-गमन भय परलोक मानिये।
प्राननिकौ हरन मरन-भै कहावै सोइ,
रोगादिक कष्ट यह वेदना बखानिये।
रच्छक हमारौ कोऊ नांही अनरच्छा-भय,
चोर-भै विचार अनगुप्त मन आनिये।
अनचिंत्यौ अबही अचानक कहाधौं होइ,
ऐसौ भय अकस्मात जगतमैं जानिये।।४९।।

शब्दार्थः-दसधा=दस प्रकार का। वियोग=छूटना। चिंता=फिकर। दुर्गति=खोटी गति। अनगुप्त[1]=चोर।

अर्थः-क्षेत्र, वास्तु आदि दस[2] प्रकार के परिग्रह का वियोग होने की चिंता करना इस भव का भय है, कुगति में जन्म होने का डर मानना परलोकभय है, दस प्रकार के प्राणों का वियोग हो जाने का डर मानना मरणभय है, रोग आदि दुःख होने का डर मानना वेदनाभय है, कोई हमारा रक्षक नहीं ऐसी चिन्ता करना अनरक्षाभय है, चोर व दुश्मन आवे तो कैसे बचेंगे ऐसी चिन्ता करना अगुप्तिभय है, अचानक ही कुछ विपत्ति न आ खड़ी हो ऐसी चिन्ता करना अकस्मातभय है। संसार में ऐसे ये सात भय हैं।।४९।।

काव्य-४९ पर प्रवचन

दसधा परिग्रह-वियोग-चिंता इह भव,
दुर्गति-गमन भय परलोक मानिये।

---

१. गुप्त=साहूकार, अनगुप्त=चोर।
२. क्षेत्र, वास्तु, चाँदी, सुवर्ण, धन, धान्य, दासी, दास, कुप्य और भांड।

प्राननिकौ हरन मरन-भै कहावै सोइ,
रोगादिक कष्ट यह वेदना बखानिये।
रच्छक हमारौ कोऊ नांही अनरच्छा-भय,
चोर-भै विचार अनगुप्त मन आनिये।
अनचिंत्यौ अबही अचानक कहाधौं होइ,
ऐसौ भय अकस्मात जगतमैं जानिये॥४९॥

यह भय का स्वरूप वर्णन करते हैं। **दसधा परिग्रह....** क्षेत्र, वास्तु, चाँदी, सोना, धन, धान्य, दासी, दास, फर्नीचर और बर्तन आदि वासण—वह कोई चले जायेंगे, अकस्मात् चले जायेंगे, इस लोक में से यह सब साधन चले जायेंगे, ऐसा भय ज्ञानी को नहीं होता। वास्तु अर्थात् मकान, क्षेत्र, चाँदी, स्वर्ण, धन, धान्य। आहाहा!

मुमुक्षु : मोटर नहीं आयी?

पूज्य गुरुदेवश्री : मोटर! मोटर आ गयी इसमें वास्तु—साधन में। सब वाहन आ गये एक में। दासी, धन, धान्य... धन है न। साधन, वह धन है न? स्वर्ण के ढ़ेर पड़े हों, हाय, हाय! कोई ले जायेगा, नाश हो जायेंगे, किसी को खबर पड़ेगी कि इस जगह यह है—ऐसा इस लोक का भय धर्मी को नहीं होता। निर्जरा (अधिकार) में आता है न? 'छेदाय या भेदाय वा अथवा कोई ले जाये।' जानेवाला हो वह जाता है। मेरे पास कुछ है नहीं, मेरा नहीं। आहाहा! छेदाय और भेदाय—दोनों। ले जाये, कोई (ले) जाता हो तो उठा ले जाये, हमारी कोई चीज़ है (नहीं)। हमको कोई उठा ले जाये, ऐसा है नहीं। आहाहा!

आत्मा शाश्वत् चीज़ का जहाँ आदर होकर अनुभव हुआ, उपादेयपने अनुभव किया, कहते हैं, उसे इस लोक की चीजों का भय नहीं होता। दासी, दास, भाण्ड अर्थात् बर्तन। **दसधा परिग्रह वियोग...** उनके वियोग की चिन्ता, इसका नाम यह भव, ऐसा कहते हैं, इसका नाम यह भव। उनका वियोग होगा, कोई ले जायेगा, नाश हो जायेगा, जीऊँगा तब तक यह रहेंगे या नहीं? रहने के मकान, साधन, यह सब फर्नीचर बनाये हो न, मरे वहाँ तक के साधन सब तैयार हो ऐसे देखो तो। बिच्छू काटा हो तो टुकड़ा रखते हैं न, क्या कहलाता है? काली। वह रखे। रिकॉर्ड का टुकड़ा है न। रखा है सब खपत एक-एक चीज़ की, ओहोहो! क्या है परन्तु अब?

ऐसा बिच्छू काटा हो ठाकरिया बड़ा लम्बा काला। एक बार जंगल में देखा था। ऐ... बड़ा बिच्छू इतना मोटा, मानो बड़ा डिब्बा हो... ऐसा। वह तो काटे तो मर ही जाये मनुष्य। गढडा में एक लड़के को काटा था। मर गया छह घण्टे में। लाठीवाले का। ऐसा कठोर बिच्छू एक बार काटा हो न या दूसरे का देखा हो न, चिल्लाहट आ जाये। आहाहा! धर्मी को डंक नहीं और उसे भय भी (नहीं)। आहाहा! जहाँ मेरापना माना है, उसमें से तो कुछ जाता नहीं और जिसमें मेरापना नहीं माना, वह जाता है तो भले जाओ। वह कहीं मेरा है (नहीं)। आहाहा! देखो, ऐसे समकिती को निर्भय कहते हैं और उसे निर्जरा होती है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? यह दसधा परिग्रह के वियोग की चिन्ता वह इस भव (का भय है)।

दुर्गति-गमन भय परलोक मानिये.... लो! **कुगति में जन्म होने का डर मानना परलोक-भय है।** कहाँ जाऊँगा? पशु में जाऊँगा, नरक में जाऊँगा, कहाँ जाऊँगा? डरे ऐसा। यह तो भय की व्याख्या है। धर्मी को वह भय होता नहीं। **प्राननिकौ हरन मरन भै कहावै सोई...** यह प्राण छूट जाते हैं दस प्राण—पाँच इन्द्रियाँ, मन, वचन और काया, श्वास और आयुष्य। दस प्राण का हरण, वह मरणभय है। उसे मरणभय कहते हैं। ज्ञानी को वे दस प्राण ही नहीं न जड़ के। वह दस प्राण जाये तो कुछ उसका गया नहीं, वह तो जड़ का जाता है, जड़ का जाता है।

सन्तोष का दृष्टान्त नहीं दिया था एक बार? करोड़पति हो और दस लाख खोये उसके पुत्र ने। दृष्टान्त दिया था। खबर है? बहुत बार दिया है। करोड़पति हो न, लड़के ने दस लाख गँवाये। इनकार किया हो, ऐ, कुछ धन्धा करना नहीं। अब यह बहुत है। वह कहे, परन्तु बाप का वासी खाऊँ, उसकी अपेक्षा मैं कुछ कमाऊँ या नहीं? धन्धा किया और दस लाख गँवाये। अब करना क्या? स्वयं जाये नहीं। बाप बहुत कड़क-कठोर। खोये, वे दे नहीं। पैसा कुछ स्वयं के पास है नहीं। मित्र को कहा, जा बापू के पास, दस लाख गिन दे नहीं तो सवेरे मुँह नहीं देखेंगे। क्योंकि मैं गृहस्थ का पुत्र हूँ। जिस मुँह में नागरवेल के पान चबाये हों, उस मुँह से कोयला? ना नहीं की जा सकती कि मेरे पास नहीं हैं। करोड़ पैसा है।

उसके पिता के पास जाकर (मित्र ने) सुनाया, देखो भाई! इस भाई ने दस लाख

खोये हैं। यह सुनकर सटाक देकर दो-चार चोपड़ दी ठीक सी। किसने कहा था? इनकार किया था तो... बापूजी! दो नहीं, तो मर जायेगा। भले मर जाये। रेल आवे कषाय की वापस कुछ.... बापूजी! एक बात सुनोगे? कह। क्या (कहना है)? कि तुम्हारे कौन सी पछेड़ी फाड़नी है अब। एक-दो वर्ष है और एक करोड़ उसे देने थे न तुम्हें? नब्बे लाख देना। उसके गये या तुम्हारे? छोटाभाई! किसके गये? मुफ्त में किसकी लगायी है? दस लाख उसके गये। उसे अब नब्बे लाख मिलेंगे। तुम्हें तो ले जाने नहीं साथ में। हाँ, बेटा! तूने गजब बात की। लो, बदल गयी दृष्टि। वह कहे कि मेरे गये, यह कहे कि उसके गये। चिमनभाई! ....दृष्टि में बदल डाला। मेरे नहीं, उसके गये। ले जा बेटा जा। इस प्रकार दृष्टि में मेरापना माने तो उसे दुःख था। मेरी ही जहाँ नहीं चीज़, धर्मी को कोई... रजकण ही उसका नहीं। आहाहा! पुत्र और स्त्री और सब कहाँ था उसका? वह तो दूसरी जड़ की—पर की चीज़ है।

प्राण का हरण। श्वास बन्द हो जाये, आयुष्य पूरा हो जाये, इन्द्रियाँ टूट जाये, वह मरणभय। धर्मी को होता नहीं। धर्मी को मरण ही नहीं और प्राण भी उसके नहीं। **रोगादिक कष्ट यह वेदना।** रोगादि कठोर दर्द चढ़े। आहाहा! पानी डाले तो रहे नहीं मुँह में, पेट में। पानी की उल्टी हो, या हो जाये पानी की दस्त। मौसम्बी डाले, उसकी दस्त। अरे! अब यह तो कठिन। ऐसे रोग के कष्ट से वेदना—वह धर्मी को उसका भय होता नहीं। आहाहा! **रच्छक हमारौ कोऊ नांही अनच्छा-भय...** हमारा रक्षक नहीं, ऐसा कहते हैं। **कोई हमारा रक्षक नहीं, ऐसी चिन्ता करना अनरक्षाभय है।** हमारा रक्षक कोई है नहीं। परन्तु हम स्वयं ही वह रक्षक हैं हमारे। कोई परचीज़ हमारी रक्षक नहीं, ऐसा धर्मी को भय होता नहीं। आहाहा!

चोर-भै विचार अनगुप्त मन आनिये.... अगुप्त अर्थात् चोर, चोरी का भय। चोर ले जायेंगे। **अनगुप्त मन आनिये... अनचिंत्यौ अबही अचानक कहाधौं होइ... अचानक ही कुछ विपत्ति न आ खड़ी हो, ऐसी चिन्ता करना अकस्मात भय है।** अरे, कोई सर्प डस जायेगा, कोई सिंह आ जायेगा जंगल में, यह अकस्मात (भय)। ऐसे भय जगत में होते हैं, ऐसा कहते हैं, देखो न! **ऐसौ भय अकस्मात जगतमैं जानिये।** अज्ञानी को ऐसे भय होते हैं। धर्मी को यह भय होता नहीं। अब कलश २३वाँ है न? एक-एक भय की व्याख्या करते हैं।

लोकः शाश्वत एक एष सकलव्यक्तो विविक्तात्मन-
श्चिल्लोकं स्वयमेव केवलमयं यल्लोकयत्येककः।
लोकोऽयं न तवापरस्तदपरस्तस्यास्ति तद्भीः कुतो,
निश्शङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ।।२३।।

इसका पद

★ ★ ★

काव्य - ५०

इस भव का भय निवारण का उपाय (छप्पय)

नख सिख मित परवांन, ग्यान अवगाह निरक्खत।
आतम अंग अभंग संग, पर धन इम अक्खत।।
छिनभंगुर संसार-विभव, परिवार-भार जसु।
जहां उतपति तहां प्रलय, जासु संजोग विरह तसु।।
परिगह प्रपंच परगट परखि,
इहभव भय उपजै न चित।
ग्यानी निसंक निकलंक निज,
ग्यानरूप निरखंत नित।।५०।।

शब्दार्थः-नख सिख मित=पैर से सिर की चोटी तक। अवगाह=व्याप्त। निरक्खत= देखता है। अक्खत=जानता है। विभव=धन, सम्पत्ति। प्रलय=नाश। प्रपंच=जाल। परखि=देखकर।

अर्थः-आत्मा सिर से पैर तक ज्ञानमयी है, नित्य है, शरीर आदि परपदार्थ हैं, संसार का सब वैभव और कुटुम्बियों का समागम क्षणभंगुर है। जिसकी उत्पत्ति है, उसका नाश है। जिसका संयोग है, उसका वियोग है, और परिग्रह-समूह जंजाल के समान है। इस प्रकार चिन्तवन करने से चित्त में इस भव का भय नहीं उपजता। ज्ञानी लोग अपने आत्मा को सदा निष्कलंक और ज्ञानरूप देखते हैं, इससे नि:शंक रहते हैं।।५०।।

काव्य-५० पर प्रवचन

नख सिख मित परवांन, ग्यान अवगाह निरक्खत।
आतम अंग अभंग संग, पर धन इम अक्खत॥
छिनभंगुर संसार-विभव, परिवार-भार जसु।
जहां उतपति तहां प्रलय, जासु संजोग विरह तसु॥
परिगह प्रपंच परगट परखि,
इहभव भय उपजै न चित।
ग्यानी निसंक निकलंक निज,
ग्यानरूप निरखंत नित॥५०॥

अपने आत्मा को आनन्दस्वरूप देखता है। ज्ञानस्वभाव शाश्वत् वस्तु है। सत् जो है, वह है। उसे देखने से धर्मी को इस भव का भय उसे नहीं। इस भव की है न यह बात? इस भव का भय नहीं। **नख सिख मित परवांन... पैर से सिर की चोटी तक...** यह सिर... **ग्यान अवगाह निरक्खत... आत्मा सिर से पैर तक ज्ञानमयी है।** मैं तो ज्ञानमय चैतन्य शाश्वत् वस्तु हूँ। उसमें इस लोक का भय आवे कहाँ से? वह तो ज्ञान जिसका शरीर और नित्य शाश्वत् हूँ। आहाहा! उसे इस लोक का भय नहीं होता।

ग्यान अवगाह निरक्खत.... ऐसा। **आतम अंग अभंग। नित्य है... शरीर आदि परपदार्थ है....** लो। **निरक्खत—**देखते हैं। **आतम अंग अभंग संग....** अखण्डानन्द प्रभु में भंग है नहीं। **आतम अंग अभंग....** अर्थ में क्या है? **...शरीर आदि परपदार्थ है, संसार का सब वैभव....** ऊपर से अर्थ किया है। **संग पर धन इम अक्खत,....** देखते हैं। संग आदि पर है, ऐसा देखते हैं। मैं तो अभंग हूँ। संग आदि सभी चीज़ें **पर धन इम अक्खत....** धर्मात्मा ऐसा देखता है, 'परवस्तु, वह भिन्न है और मैं तो अभंग हूँ।' इसलिए उसे इस लोक का भय नहीं होता। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ८२, ज्येष्ठ कृष्ण अमावस्या, मंगलवार, दिनांक २२-०६-१९७१
निर्जरा द्वार, काव्य - ५०, ५१, ५२

यह समयसार नाटक, निर्जरा अधिकार है। ५०वाँ बोल (पद) है ५०। फिर से। दो लाईनें चली थीं। इस भव का भय निवारण का उपाय। यह निर्जरा अधिकार है। धर्मी को निर्जरा होती है, वह अधिकार है। धर्मी उसे कहते हैं कि जिसे आत्मा के आनन्द का अनुभव हुआ हो, जिसे आत्मा के आनन्द के समक्ष दुनिया में किसी (चीज़ में) कहीं उसे सुख लगता नहीं। पुण्य के भाव में भी सुखबुद्धि नहीं और पाप में भी नहीं, शरीर में नहीं, पर में कहीं नहीं। आत्मा के आनन्द के अतिरिक्त कहीं उसे सुखबुद्धि होती नहीं। इसलिए उसका चित्त कहीं अन्यत्र स्थिर नहीं होता। ज्ञानानन्दस्वभाव आत्मा का है, ऐसा जिसने अनुभव किया है, जाना है, उसे क्षण-क्षण में स्वभाव-सन्मुखता वर्तती है। इसलिए उसे कर्म का उदय आवे, वह सब खिर जाता है, ऐसा कहना है यहाँ निर्जरा (अधिकार में)।

नख सिख मित परवांन, ग्यान अवगाह निरक्खत।
आतम अंग अभंग संग, पर धन इम अक्खत॥
छिनभंगुर संसार-विभव, परिवार-भार जसु।
जहां उतपति तहां प्रलय, जासु संजोग विरह तसु॥
परिगह प्रपंच परगट परखि,
इहभव भय उपजै न चित।
ग्यानी निसंक निकलंक निज,
ग्यानरूप निरखंत नित॥५०॥

आहाहा! नख से शिख। नख से उस सिर तक ज्ञान प्रमाण मैं तो आत्मा हूँ। नख से वह शिख। **मित परवांन**—मर्यादा प्रमाण। 'मैं तो ज्ञानस्वरूप चैतन्यबिम्ब चैतन्य के प्रकाश का पूर ऐसा मैं आत्मा,' ऐसा धर्मी जानता है, **ग्यान अवगाह निरक्खत...** स्वयं ज्ञानस्वरूप में व्याप्त स्वयं अपने को देखता है। **ग्यान अवगाह...** पुण्य और पाप और राग आदि में वह अपने अवगाहता नहीं। अपना ज्ञानस्वरूप शुद्ध चैतन्य, वह अपनी स्थिति

का अस्तित्व है, उसमें वह अवगाहता है, व्यापता है। आहाहा! इसलिए उसे वह निरखता है। मैं तो ज्ञानस्वभावी आत्मा, ऐसा देखनेवाला, जाननेवाला-देखनेवाला है। **आतम अंग अभंग....** मेरा अंग तो अभंग है, अभेद है। ऐसा देखते हुए **संग पर धन इम अक्खत....** धन आदि जितना संग है पर का सब, (उसे) ऐसा देखता है कि सब नाशवान है। अविनाशी एक मैं आत्मा हूँ। बाकी सब—पुण्य-पाप के राग से लेकर सब लक्ष्मी, शरीर, स्त्री, कुटुम्ब सब—संग जो है, वह पर है, वह तो नाशवान है। आहाहा!

ऐसा देखते हुए... **छिनभंगुर संसार-विभव....** क्षण-क्षण में नाश, क्षण-क्षण में नाश होता है। जगत की सब चीज़ें शरीर से लेकर, अरे, पुण्य-पाप के राग आदि क्षण-क्षण में नाश पाते हैं। **संसार-विभव परिवारभार जसु...** और परिवार भी क्षण-क्षण में विलय अवस्था—नाश पाता है। ऐसा धर्मी अपने आत्मा के अभंग अंग को देखता हुआ, दूसरे सबके संग को भंग और नाशवान देखता हुआ... ऐसा कहते हैं। कहो, समझ में आया? **जहाँ उतपति तहां प्रलय....** जहाँ उत्पन्न हो, उसका नाश होता है। संयोग आवे, उत्पन्न हो, और जाये। **जासु संयोग विरह तसु....** संयोग हो, उसका विरह होता है। आहाहा!

पंचास्तिकाय में तो कहा है कि पर्याय का संयोग होता है, उस पर्याय का दूसरे समय में विरह होता है—वियोग होता है। दूसरी चीज़ का तो क्या कहना? शरीर आदि तो जगत की चीज़ मिट्टी-धूल है। दूसरा स्त्री का आत्मा या उसका शरीर और कुटुम्ब-परिवार सब संयोग है, इसलिए वियोग लेकर आये हैं। परन्तु आत्मा की पर्याय जो उत्पन्न हो, वह संयोगी है, उत्पन्न हुआ वह संयोग है। दूसरे समय में उसका वियोग हो जाता है। आहाहा!

ऐसा आत्मा का अभंग अंग देखता हुआ, सब क्षणभंगुर और संयोग का विरह, विरह अर्थात् वियोग। **परिग्रह प्रपंच परगट परखी....** सब परिग्रह विकल्प से लेकर सब प्रपंच प्रगट। आहाहा! जीवित अपना जीवन राग से और पर से जहाँ भिन्न देखा, उसके जीवन में पूरा परिग्रह प्रपंच प्रगट नाशवान दिखता है। कहीं उसकी दृष्टि स्थिर नहीं होती। स्थिर हुई है, वहाँ हुई है। ध्रुवस्वरूप भगवान आत्मा है। **इसभव भय उपजै न चित्त....** ऐसे विचारक को—ऐसे धर्मात्मा को इस प्रकार की विचारधारा के कारण इस

भव का भय उपजता नहीं। यह भव अर्थात् यह स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब, परिवार, शरीर यह सब आया वह चला जायेगा और मैं अकेला रह जाऊँगा—ऐसे भाव का भय धर्मी को होता नहीं। आहाहा!

ग्यानी निसंक.... वह तो निःशंक निःसन्देह निर्भय है। भय बिना... मेरे स्वरूप में कोई भय ही नहीं। कोई स्पर्श करे, ऐसा नहीं। राग जिसे स्पर्शता नहीं, तो फिर बाह्य चीज़ का स्पर्श कहाँ आया? ऐसा सम्यग्दृष्टि को—पहली धर्म की शुरुआत की दृष्टिवान को इस भव का भय होता नहीं। **निसंक निकलंक....** मेरा स्वरूप निःशंक निःसन्देह निःकलंक है। मल—मैल रहित स्वभावभाव अस्ति—सत्ता ऐसा निःकलंक अपना **ग्यानरूप निरखंत नित....** उसे ही वह देखता है, कहते हैं। आहाहा! इसलिए उसे इस लोक का भय नहीं होता। देखो, यह धर्मी की दशा! सम्यग्दृष्टि की यह स्थिति! ऐसे धर्म को मानना कि देव-गुरु-शास्त्र और नौ तत्त्व सच्चे, वह सम्यक् नहीं। अपने शुद्ध अखण्ड स्वभाव... सत्य वस्तु तो यह है।

अब यह लोग कहते हैं न, अपने व्यवहार को निभाना और उसमें से आत्मा की शुद्धि करना। कहो, यह किस प्रकार हो?

मुमुक्षु : नयी शोध होगी?

पूज्य गुरुदेवश्री : नयी शोध होगी। अरे, भगवान! आहाहा! क्या किया तूने? क्या करना है? आत्मा अखण्ड आनन्दकन्द अभंग अभेद है, उसका अनुभव नहीं, वहाँ सच्ची वस्तु कुछ नहीं। यह व्यवहार-फ्यवहार सब नाशवान विकल्प हैं। आहाहा! और उस व्यवहार को निभान से आत्मा शुद्धि हो। अरे भगवान! क्या करता है? भाई! दुनिया प्रसन्न होगी, आत्मा प्रसन्न नहीं होगा। प्रसन्न अर्थात् आत्मा को आनन्द नहीं आयेगा। व्यवहार के आचरण का निभाव और सेवन करने से उसे आनन्द नहीं आयेगा। वह व्यवहार आदि तो सब नाशवान है, उससे भिन्न मेरी चीज़ अखण्ड निःकलंक भिन्न है। ऐसी दृष्टि के अनुभव बिना किसी को क्षण-क्षण में निर्जरा (होती नहीं) और कर्म का गलना होता नहीं। वह चाहे जैसा व्यवहार करे। आहाहा!

वे भी कहे कि व्यवहार का उपदेश देना और व्यवहार को (पालना)। चेतनजी

ने याद किया था। उसने भी ऐसा कहा। आहाहा! आनन्दघनजी जैसे भी ऐसा कहते हैं, भाई! 'व्यवहारे लख दोह्यला, कांई न आवे हाथ रे। व्यवहारे लख जे रहे तेना भेद अनेक रे। शुद्धनय स्थापता सेवता ते रंगे एक पंथ रे।' भेद से कुछ हाथ नहीं आयेगा भाई! आहाहा! ऐसा तो वे यह कह गये हैं। कहो। अब उसे कहाँ... क्या हो? उसे उस प्रकार का बैठा हो अथवा बदले नहीं। उस प्रकार का बैठा तो सन्तोष हो, नहीं तो... धर्म करने की पद्धति दूसरी लगती न हो तो क्या करे वह?

यहाँ तो कहते हैं कि धर्मी जीव अपने आत्मा को निष्कलंक व्यवहार के रागरहित (देखता है)। ऐसा कहते हैं। आहाहा! **सदा निष्कलंक और ज्ञानरूप देखते हैं,....** देखो! आहाहा! व्यवहार का विकल्प तो कलंक है। महाव्रत का विकल्प आदि अथवा गुण-गुणी के भेद का विकल्प। शुभभाव के तीन प्रकार हैं न—एक, क्रियानय का विकल्प शुभभाव; एक भक्ति का शुभभाव और एक गुण-गुणी के भेद का शुभभाव। तीनों ही राग है, वह दु:खरूप है। अब दु:खरूप है, उससे आत्मा को निज सुखरूप की दशा हो, वह तो कलंक है। यहाँ तो ऐसा कहते हैं। नि:शंक नि:कलंक... वापस मिलान है न उस 'क' का भी। **ज्ञानी निसंक निकलंक,....** ऐसा वापस। नि:शंक का वह 'क' वापस मिलना चाहिए न! **निकलंक निज ग्यानरूप....** वापस। अपना ज्ञान है, ऐसा। भगवान तीर्थंकर का और केवली का भी नहीं। उनका (ज्ञान) वह तो पर है। आहाहा!

ज्ञानरूप निज... मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ। ज्ञान की प्रधानता से आत्मा को ज्ञानरूप वर्णन किया है। क्योंकि सभी गुणों में ज्ञान प्रधान है और सविकल्प है, वह (अर्थात् कि) स्व-पर को जानने की सामर्थ्य (वाला) है। इसलिए यहाँ तो (ऐसा कहा कि) अकेला ज्ञानप्रकाश की मूर्ति आत्मा, वह निष्कलंक—राग के कलंक बिना की चीज़ है। ऐसे अपने आत्मा को देखने से उसे क्षण-क्षण में अशुद्धता टलती है और उसे कर्म गलते हैं और शुद्धता बढ़ती है। तीनों को निर्जरा कहा जाता है। शुद्धता बढ़ती है, उसे अस्ति की निर्जरा कहा जाता है; अशुद्धता टलती है, उसे (नास्ति से) निर्जरा कहा जाता है और कर्म पर है, वे गलें, उसे असद्भूत व्यवहारनय से द्रव्यनय से बाहर की... ऐसी बात है, भाई! मार्ग ऐसा है। वस्तु ऐसी... वस्तु ऐसी है। मार्ग अर्थात् भगवान ने कहीं

रचा है कि ऐसा मार्ग तुझे करना? वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। अकेला ज्ञान का पिण्ड... दूसरे में आयेगा।

अकेला ज्ञानस्वरूप चैतन्य जिसमें कहीं विकल्प की गन्ध नहीं, व्यवहार का उसमें स्पर्श नहीं। आहाहा! इस प्रकार दृष्टि के स्वरूप में वस्तु आवे कि वस्तु ऐसी है। समझ में आया? इतनी है, ऐसी है, ऐसा उसे ऐसे बैठता नहीं। यह कहीं दिखता नहीं, ऐसा कहता है। परन्तु दिखता नहीं... दिखता नहीं... ऐसा निर्णय कौन करता है?

मुमुक्षु : देखनेवाला।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो देखनेवाला। देखनेवाला ऐसा कहता है कि मेरा निर्णय मुझे होता नहीं। ...गजब बात, ले! 'मैं मुझे दिखता नहीं' इसका अर्थ क्या? 'मैं यह कुछ हूँ' वह मुझे दिखता नहीं, इसका अर्थ क्या हुआ? 'मैं हूँ' ऐसा तो सिद्ध हुआ उसे।

मुमुक्षु : मैं मुझे दिखता हूँ।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! मैं... यह आत्मा। ऐसा आया था न ७३ में, नहीं? ७३ गाथा (समयसार) में भाई! नहीं? यह आत्मा अखण्ड अनन्त प्रत्यक्ष, अखण्ड प्रत्यक्ष अनन्त चिन्मात्र ज्योति। पहली लाईन आयी थी, ७३ में।

मैं यह आत्मा... यह वहाँ नहीं। जयपुर में नहीं किया होगा। यह नहीं वहाँ। इतना अन्तर। 'मैं तो एक प्रत्यक्ष हूँ, यही मेरा स्वरूप है।' न ज्ञात होऊँ और परोक्ष रहूँ, यह बात ही स्वरूप में नहीं। आहाहा! ऐसा भगवान आत्मा स्वयं अपने निजस्वरूप से देखने पर, उसे कर्म की निर्जरा (होती है), अशुद्धता टलती है। यह कहीं अपवास-बपवास किये और यह किया, इसलिए कर्म टलते हैं—ऐसा है नहीं, ऐसा यह कहते हैं। यह भव के भय निवारण के उपाय की बात है न यह। परभव का भय निवारण। ५१ (पद)। दो का एक श्लोक था। श्लोक एक ही था, कलश एक था।

★ ★ ★

काव्य - ५१

परभव का भय निवारण करने का उपाय (छप्पय)

ग्यानचक्र मम लोक, जासु अवलोक मोख–सुख।
इतर लोक मम नाहिं, नाहिं जिसमांहि दोख दुख।।
पुन्न सुगतिदातार, पाप दुरगति पद–दायक।
दोऊ खंडित खानि, मैं अखंडित सिवनायक।।
इहविधि विचार परलोक–भय,
नहि व्यापत वरतै सुखित।
ग्यानी निसंक निकलंक निज,
ग्यानरूप निरखंत नित।।५१।।

शब्दार्थ:–जासु=जिसे। इतर=दूसरा। खंडित=नाशवान। अखंडित=अविनाशी। सिवनायक=मोक्ष का राजा।

अर्थ:–ज्ञान का पिण्ड आत्मा ही हमारा लोक है, जिसमें मोक्ष का सुख मिलता है। जिसमें दोष और दु:ख हैं, ऐसे स्वर्ग आदि अन्य लोक मेरे नहीं हैं! नहीं हैं!! सुगति का दाता पुण्य और दु:खदायक दुर्गतिपद का दाता पाप है, सो दोनों ही नाशवान हैं और मैं अविनाशी हूँ–मोक्षपुरी का बादशाह हूँ। ऐसा विचार करने से परलोक का भय नहीं सताता। ज्ञानी मनुष्य अपने आत्मा को सदा निष्कलंक और ज्ञानरूप देखते हैं, इससे नि:शंक रहते हैं।।५१।।

काव्य-५१ पर प्रवचन

ग्यानचक्र मम लोक, जासु अवलोक मोख-सुख।
इतर लोक मम नाहिं, नाहिं जिसमांहि दोख दुख॥
पुन्न सुगतिदातार, पाप दुरगति पद-दायक।
दोऊ खंडित खानि, मैं अखंडित सिवनायक॥

इहविधि विचार परलोक-भय,
नहि व्यापत वरतै सुखित।
ग्यानी निसंक निकलंक निज,
ग्यानरूप निरखंत नित॥५१॥

पुण्य को सुगतिदातार कहा / स्वर्गादि।

अन्तिम दो पद तो वह के वह हैं। **ग्यानचक्र**। चक्र अर्थात् पिण्ड। ज्ञान का पिण्ड पूरा अन्दर। वह **ग्यानचक्र मम लोक,....** वह मेरा लोक है। मुझे परलोक-फरलोक और दूसरी कोई गति-बति है (नहीं)। आहाहा! **जासु अवलोक...** जिसे देखने से—अवलोकने से मोक्ष का सुख होता है। स्वरूप ज्ञानपिण्ड को देखने से आनन्द आता है, उसने आत्मा को देखा—जाना, ऐसा कहा जाता है। आहाहा! समझ में आया? भगवान ज्ञानस्वभाव को देखने से (अर्थात्) अवलोकने से... है न? निश्चय से देखने से मोक्ष का सुख अर्थात् जो मोक्ष में सुख है, वही सुख यहाँ आता है। आनन्द, अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव... सम्यग्दर्शन में अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव आता है।

कहते हैं कि अपने को देखने से—निज को निरखने से... **इतर लोक मम नाहिं...** यह स्वर्ग, नरक (आदि) चार गति (रूप) लोक मेरा है ही नहीं। आहाहा! स्वर्ग, नरक, पशु और मनुष्य का भव—वह लोक मम नाहिं, वह मेरा लोक ही नहीं। **नाहिं जिसमांहि दोख दुख....** जिसमें दोष और दु:ख है, वह मेरा लोक नहीं। चार गति में तो दोष ही भरे हैं। आहाहा! और दु:ख है। यह सेठाई के भव और देव के भव, कहते हैं कि दोष और दु:ख से भरे हैं। बराबर होगा? देखो, जिस माहिं दोष और दु:ख है। अर्थात् कि मैं तो निर्दोष और आनन्द (स्वरूप) हूँ। मेरा यह लोक है और पर लोक भी, प्रधान लोक, वह मेरा है। यह लोक स्वर्ग आदि दोष और दु:ख से भरपूर है, वह लोक मेरा नहीं। आहाहा!

पुन्न सुगतिदातार... स्पष्टीकरण करते हैं कि जितना व्यवहार पुण्यभाव है, वह तो स्वर्ग दे, परन्तु वह स्वर्ग तो दु:ख और दोष से भरपूर गति है। आहाहा! **पुन्न सुगतिदातार...** परन्तु सुगति शब्द प्रयोग किया है न, कहते हैं।

मुमुक्षु : उसमें क्या? गति ही है न, संसार गति में नहीं जाता?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु पहले कहा है न कि **इतर लोक मम नाहिं**। यह स्वर्ग आदि लोक मेरा नहीं, उसमें तो दोष और दुःख भरे हैं। आहाहा! मैं तो भगवान आत्मा हूँ, निर्दोष और आनन्द से भरपूर मेरा तत्त्व है। और इतर दूसरा लोक है, वह मेरा लोक है नहीं। इसलिए यहाँ मरकर कहाँ जाऊँगा, यह प्रश्न उठता (नहीं)। आहाहा! कहाँ जाऊँगा मरकर? कहाँ जाये? वह स्वयं ही अपने में है जहाँ जाये वहाँ। वास्तव में तो धर्मी को स्वर्ग की गति और नरक की गति, उस गति का स्पर्श भी उसे नहीं। समझ में आया?

धर्म का रूप ऐसा है। यह कहीं साधारण दया पालना, व्रत करो और तपस्या की और धर्म (हो, ऐसा नहीं है)। परन्तु ऐसा लोगों को प्रिय लगे न...। लोग कितने इकट्ठे होते हैं, लोग प्रसन्न हो जाते हैं। यह बात क्या लम्बी लगती है न, लो। व्यवहार करोगे तो स्वर्ग मिलेगा, आत्मा नहीं, ऐसा हुआ न इसमें? यह मेरा लोक नहीं, यह पुण्य का फल है। आहाहा! व्यवहार दया-दान-व्रत-भक्ति-पूजा, ऐसा व्यवहार पुण्य, वह मेरा लोक नहीं, ऐसा उसका फल है। आहाहा! फिर मैं कहाँ जाऊँगा, यह कुछ है नहीं। मैं जहाँ हूँ वहाँ ही हूँ। धर्मी तो जहाँ है, वहाँ ही है। ज्ञानस्वरूप में है। वह राग में भी आता नहीं और गति में भी जाता नहीं। आहाहा!

पुन्न सुगतिदातार पाप दुरगति पद-दायक... पाप दुर्गति के पद को दे कि जो इतर है, वह मेरी चीज़ नहीं। आहाहा! लो, पुण्य का फल जो है, वह इतरलोक है, वह मेरा लोक (नहीं)। तो फिर यहाँ पुण्य को अपना माने, वह अज्ञानी है, ऐसा कहते हैं। जिसका फल इतरलोक है, उसके कारण को अपना माने, वह तो इतरलोक को अपना माना और इतरलोक के कारण को भी अपना माना। अपना स्वभाव राग और पुण्यरहित है, उसे जीव का माना नहीं। भारी सूक्ष्म पड़े लोगों को यह! यह तो वस्तु ऐसी... फिर ऐसी ही बात आयेगी यहाँ। शिव का बादशाह है यह तो, मोक्षपुरी का बादशाह है। आहाहा! भगवान आत्मा मुक्तस्वरूप बादशाह है। बन्धन-फन्दन राग-फाग उसे है ही नहीं। आहाहा! अभी, हों! **दोऊ खंडित खानि...** कहते हैं कि पुण्य और पाप के फलरूप गति, वह तो खण्डित खान है, अखण्ड खान वह है (नहीं)। आहाहा!

'**पोग्गलकम्मपदेसट्ठिदं च तं जाण परसमय**' यह तो जरा परसमय—स्वसमय

का जरा विचार आया दोपहर में। उन आनन्दघनजी में आता है न, कहा, उन्होंने क्या लिया है ? उन्होंने भी पाठ में पहले से स्वसमय लिया है। आत्मा में स्थिर होता है, वह स्वसमय, ऐसा लिया है। यह कहे कि स्वसमय सिद्ध ही होते हैं, १४ (गुणस्थान) तक का हो तो। अरे! गजब बात है न! ऐसा कहे कि भाई! स्वसमय की जघन्यता चौथे में है और पूर्णता तेरहवें में है, ऐसा कहे तो ठीक है। बारहवें तक अभी परसमय कहा जाता है। वह राग है न, अशुद्धता है न, अपूर्णता है न, व्यवहारनय है सही। हाँ, है, वह परसमय है न। रयणसार में कहा है, अन्तरात्मा बारहवें गुणस्थान तक अभी उसे परसमय कहा जाता है।.... वह राग का भाग है न, इस अपेक्षा से। परन्तु वास्तव में तो दृष्टि में वह परसमय का स्वरूप ही नहीं। आहाहा! वह तो ज्ञेयरूप से ज्ञान में है, ऐसी बात है। इसलिए परिणति में अधूरी दिखाई देती है, परन्तु अधूरी और जो है वह सब वास्तव में तो ज्ञान का ज्ञेय है।

ऐसा अन्तरात्मा, कहते हैं, **दोऊ खंडित खानि,....** पुण्य और पाप दोनों खण्ड— भाग है, और उसके फलरूप से चार गति मिले, वह खण्डित खान है। '**मैं' मैं अखंडित सिवनायक....** आहाहा! समकिती धर्मी जीव अपने को अखण्ड शिवनायक (मानता है)। 'मैं शिवनायक, मैं तो मोक्ष का नायक हूँ, गति का नायक (नहीं)' ऐसा कहते हैं मूल तो। समझ में आया ? आहाहा! उस स्वर्ग की गति का मैं नायक नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! पाँचवें काल के मुनि या समकिती स्वर्ग में ही जाते हैं। यहाँ कहते हैं, परन्तु मैं जाता ही नहीं न! जानो कि यह है, इतना। स्वर्ग तो परलोक है। परलोक वह अन्य लोक है, वह मेरा लोक नहीं। लोकयंति लोक में जो मेरा देखने का—अवलोकने का लोक है, वह तो मेरी चीज़ अन्तर में है। वह कहीं बाहर में है नहीं।

कहो, **मैं अखंडित सिवनायक....** सम्यग्दृष्टि जीव ऐसा स्वीकार में है कि 'मैं तो अखण्ड हूँ। मोक्ष अर्थात् पवित्रता की पूर्णता का ही मैं नायक हूँ। मैं कोई यह चार गति और उसका स्वामी हूँ, परलोक स्वर्ग की गति का स्वामी हूँ या नरकगति का स्वामी— वह मैं नहीं।' आहाहा! समझ में आया ? गति है, वह तो उदयभाव है। उदयभाव है, वह तो खण्ड-खण्ड विकारी विभाव है। उसका फल वह गति भी दु:खरूप है, दोषरूप है। आत्मा दोष और गतिरूप हो, ऐसा कैसे बने ? आस्रव वस्तु है, वह दोष है, गति

(रूप) उदयभाव है, वह आस्रवतत्त्व है, आहाहा! बहुत धीरज की बातें हैं भाई यह तो! जिसे जन्म-मरण का किनारा लाना (है, उसकी) बात है यहाँ तो। अवतार करना, यह कहते हैं, खण्ड-खण्ड (भाव है)। वह अवतार ही मेरा नहीं, ऐसा कहते हैं। खबर नहीं मुनि को कि हम तो पंचम काल के (है, इसलिए) स्वर्ग में जायेंगे? नहीं, हम तो कहीं जाते नहीं, हम तो हमारे में हैं। आहाहा! राग आदि है, वह हमारी चीज़ नहीं। तो उसके फलरूप से स्वर्ग आदि (मिले), उसमें हम जाते हैं या उसमें हम हैं, (ऐसा) है नहीं। आहाहा!

शास्त्र में ऐसा आता है कि समकिती वैमानिक में ही जाता है, अन्यत्र नहीं जाता। ऐई! ऐसी कथनशैली शास्त्र की... वैमानिक में जाता है; स्त्री में नहीं जाता, नपुंसक नहीं होता, नारकी नहीं होता, पशु नहीं होता, यह होता है। यहाँ कहते हैं, वह तो एक संयोग क्या है, उसका ज्ञान कराया है। बाकी समकिती कहीं जाता नहीं और कुछ होता नहीं। होता है तो ज्ञानरूप और जाता है तो आनन्द में। अरे, गजब बात, भाई! **अखंडित सिवनायक....** मोक्षपुरी का बादशाह। हो गया मोक्ष? सुन न! यहाँ तो पवित्रता है... पवित्रता है, उसका मैं नायक हूँ, ऐसा कहना है। शिवनायक है सही न? 'पवित्रता का मैं स्वामी हूँ। यह गति और दोष और पुण्य और पाप के फल और पुण्य-पाप—यह मेरे नहीं और मैं इनका स्वामी नहीं।' आहाहा! देखो, यह धर्मदृष्टि होने पर ऐसी विधि और स्थिति—दशा होती है।

इस विधि विचार परलोक-भय... इस प्रकार विचारने पर उसे परलोक भय **नहीं व्यापत...** परलोक भय व्याप्त ही नहीं होता। और **वरतै सुखी...** आनन्दरूप से वर्ते... आनन्द में वर्तता है। आहाहा! अनाकुलता के समाधान में वर्तता है, कहते हैं। **ग्यानी निसंक निकलंक निज...** धर्मी जीव तो नि:शंक है, नि:सन्देह है, निर्भय है। 'अखण्ड चैतन्यस्वभाव, वह मैं हूँ। उसमें खण्ड-खण्ड पुण्य-पाप और उसके फल वह मैं नहीं।' इसलिए उसे परलोक भय व्यापता (नहीं है)। परलोक भय आता नहीं, परलोक भय दशा में होता नहीं। दशा में गति होती नहीं तो फिर परलोक भय कहाँ से आया? ऐसा कहते हैं। आहाहा! दशा में परगति... परगति व्यापती नहीं। आहाहा! समझ में आया? ज्ञान....

मुमुक्षु : जो हो नहीं, वह उसका किस प्रकार?

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यापती नहीं और भय किसका? आहाहा! ऐसा चैतन्य का स्वरूप भगवान बादशाह का है, ऐसी जिसे खबर नहीं, उसे धर्म हो और ऐसा धर्म किया... आहाहा! क्या हो? अनादि से लुटा है और लुटना इसे अच्छा लगता है। यह पुण्यभाव में लुट गया है। वह कहता था न, नहीं तब? परलोक में... नागलपुरवाला नहीं? भाई थे न तब। बोटाद में। अब पुण्य-धर्मक्रिया करने दो, स्वर्ग में सुख तो भोगेंगे, फिर धर्म होगा वहाँ। पुराने व्यक्ति हमारे बोटाद के। नागलपुर है न साथ में दो कोस। विसाश्रीमाली नहीं सलोद, सलोद है न सलोद? ऐसी पद्धतिसर ठीक.... दस-बारह घर थे। सलोद... कारखाना टाटा का... केशवलाल कहता था वह भाई। केशवभाई का पिता... सलोद है कुछ दूसरा। यह करते थे वह दूसरा...

धर्म की कुछ खबर न हो। महाराज आवे, सुनना और आहार-पानी निर्दोष देना, बस जाओ। वह महाराज भी ऐसा कहे कि निर्दोष पानी दे, आहार-पानी ले, दोनों सुगति जाये, ऐसा पाठ है। .... हमारे हीराजी महाराज बहुत कहते जहाँ-तहाँ। ऐसा कि पहले दिन यही कहे, फिर से आवे तो उनके लिये आहार न बनावे। साधु के लिये आहार न बनावे, इसलिए पहले से यही बात रखे। देखो, भाई! साधु आवे तो आहार-पानी उनके लिये बनाना नहीं। उनके लिये कुछ भी पानी-बानी किया, गर्भ में गलोगे, ऐसा कहे। पहले तो तुरन्त (पहुँच) जाये, इसलिए कुछ (उनके लिये) बनावे नहीं। एकदम जाये। समय हो वहाँ आहार-पानी ले लेवे... रोटी दो-तीन... फिर दोपहर में यह कहे। दोबारा आना हो न इसलिए (कहे)।

'साधु के लिये कुछ नहीं किया जाता, पानी की बूँद भी नहीं की जाती। निर्दोष आहार-पानी दे और आहार-पानी निर्दोष लेनेवाला... निर्दोष दाता और निर्दोष लेनेवाला, दोई गच्छंति सुगई। पाँचवाँ अध्याय है। उस सुगति का अर्थ वहाँ 'धर्म करते हैं' (ऐसा है) वापस। .... दो भाग है। उसमें यह सौ गाथा का अन्तिम श्लोक है सौवाँ। दोई गच्छंति सुगई... हीराजी महाराज हमारे सम्प्रदाय के गुरु। निर्दोष आहार-पानी लेनेवाले, हों! पानी-आहार के यह सब अभी गड़बड़ करते हैं, ऐसा नहीं। बिल्कुल पानी-आहार (निर्दोष)। हमारे लिये (बनाया हुआ) जरा पानी की बूँद (हो तो कहे), नहीं। प्यासे रहे, छाछ पी आवे। बेचारे ने मान लिया हुआ, क्रियायें मान ली हुई, क्या हो?

अच्छे में अच्छे कहलाते थे, हिन्दुस्तान का हीरा। अभी स्थानकवासी में ऐसा कोई है भी नहीं ऐसा। ऐसी क्रिया उनकी थी। हीराजी महाराज हीरा हिन्दुस्तान का हीरा। क्रिया ऐसी थी, बस। मान्यता मिथ्यात्व की। देखा है या नहीं तुमने ? तुमने नहीं देखा होगा। (संवत्) १९७४ में गुजर गये।

मुमुक्षु : सुरेन्द्रनगर में बड़ी पालखी निकाली थी।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, पालखी निकाली थी वहाँ जलाया था सुरेन्द्रनगर। ७४, वैशाख कृष्ण अष्टमी। २६ और २७ = ५३ वर्ष हुए। बेचारे बहुत भद्रिक थे, परन्तु यह तत्त्व ही नहीं था, कहीं कान में पड़ा नहीं था।

वे मर गये, तब बीस वर्ष का लड़का मरे, ऐसे लाखोंपति रोते थे। पाँच-पाँच लाख के आसामी रायचन्द गाँधी बोटादवाले। हीराजी महाराज का नाम सुना (कि) गुजर गये, अश्रु की धारा, हों... बड़ी पालखी निकाली। कीर्तिवाले थे न! हम आये... हम पाँच कोस दूर थे। हमारे आने के बाद पालखी उठाई। साधु रोवे, आजिका रोवे, गृहस्थ रोवे। बीस वर्ष का लड़का मर गया हो, ऐसे रोवे, ऐसा प्रेम था। मानी हुई क्रिया थी सब, तत्प्रमाण करते थे। यह बात तो थी ही नहीं। आहाहा! यहाँ तो कहते हैं कि शुभविकल्प है वह बन्ध का कारण है। उसे धर्म का कारण माने तो वह मिथ्यात्व लगता है। आहाहा! ऐसी बात, बापू! यह मार्ग वीतराग का अन्तर, वीतराग अर्थात् आत्मा, हों!

ग्यानी निसंक निकलंक निज.... नि:कलंक कहो या वीतराग कहो, आत्मा वीतरागस्वरूप ही है। **ग्यानरूप निरखंत नित,...** नित है न! अपने आत्मा को तो ज्ञातापने हमेशा देखता है। रागवाला और क्रियावाला और पुण्यवाला और स्वर्ग में जानेवाला—ऐसा देखता नहीं। आहाहा! देखो न, बनारसीदास ने भी कितना ऊँचा (पद बनाया है)। अब मरण का भय। (पद) ५२। नीचे श्लोक २७।

प्राणोच्छेदमुदाहरन्ति मरणं प्राणाः किलास्यात्मनो,
ज्ञानं तत्स्वयमेव शाश्वततया नोच्छिद्यते जातुचित्।
तस्यातो मरणं न किञ्चन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो,
निश्शङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति।।२७।।

यह वेदना का अलग है, वेदना का अलग कलश आयेगा। उसका पद भी अलग है। यह तो एक का पद यह है। मरणभय का पद अलग है और वेदना का अलग है। कलश भी अलग और यह भी अलग, दोनों अलग हैं।

★ ★ ★

काव्य - ५२

मरण का भय निवारण करने का उपाय (छप्पय)

फरस जीभ नासिका, नैन अरु श्रवन अच्छ इति।
मन वच तन बल तीन, स्वास उस्वास आउ-थिति।।
ये दस प्रान-विनास, ताहि जग मरन कहिज्जइ।
ग्यान-प्रान संजुगत, जीव तिहुं काल न छिज्जइ।।
यह चिंत करत नहि मरन भय,
नय-प्रवांन जिनवरकथित।
ग्यानी निसंक निकलंक निज,
ग्यानरूप निरखंत नित।।५२।।

शब्दार्थ:-फरस=स्पर्श। नासिका=नाक। नैन=नेत्र। श्रवन=कान। अच्छ (अक्ष)= इन्द्रिय। संजुगत=सहित। कथित=कहा हुआ।

अर्थ:-स्पर्श, जीभ, नाक, नेत्र और कान ये पाँच इन्द्रियाँ, मन, वचन, काय ये तीन बल, श्वासोच्छ्वास और आयु इन दस प्राणों के वियोग को लोक में लोग मरण कहते हैं; परन्तु आत्मा ज्ञानप्राणसंयुक्त है, वह तीन काल में कभी भी नाश होनेवाला नहीं है। इस प्रकार जिनराज का कहा हुआ नय-प्रमाणसहित तत्त्वस्वरूप चिन्तवन करने से मरण का भय नहीं उपजता। ज्ञानी मनुष्य अपने आत्मा को सदा निष्कलंक और ज्ञानरूप देखते हैं, इससे नि:शंक रहते हैं।।५२।।

काव्य-५२ पर प्रवचन

फरस जीभ नासिका, नैन अरु श्रवन अच्छ इति।
मन वच तन बल तीन, स्वास उस्वास आउ-थिति॥
ये दस प्रान-विनास, ताहि जग मरन कहिज्जइ।
ग्यान-प्रान संजुगत, जीव तिहुं काल न छिज्जइ॥
यह चिंत करत नहि मरन भय,
नय-प्रवांन जिनवरकथित।
ग्यानी निसंक निकलंक निज,
ग्यानरूप निरखंत नित॥५२॥

ये २७वें कलश में ऊपर है। कहते हैं कि धर्मात्मा सम्यग्दृष्टि ऐसा अपने को विचारता है कि यह पाँच इन्द्रियाँ जो है—स्पर्श, जीभ, नाक, आँख, कान। '**अच्छ**'— इन्द्रियाँ। 'अच्छ' है न (इसका अर्थ) इन्द्रिय है। (पाँच इन्द्रियाँ), मन, वचन और तन —मन, वचन और शरीर—यह तीन बल और श्वास और उच्छवास—नौ, और आयुष्य। श्वास-उच्छवास (मिलकर) नौ और आयुष्य—दसवाँ। यह दसों ही जड़ हैं। यह **ये दस प्रान-विनास....** इन्द्रियों का नाश, मन-वचन-तन का नाश। देखो, शरीर का नाश, वाणी का नाश, मन का नाश, श्वासोश्वास जड़ नाश, आयु की स्थिति का नाश—ये सब नाशवान प्राण हैं। यह धर्मी उन्हें अपने प्राण नहीं मानता। यह इन्द्रियाँ मेरी हैं, ऐसा नहीं मानता, ऐसा कहते हैं। यह तो जड़ की है। मन, वचन और तन, यह मेरे हैं, ऐसा मानता नहीं। यह सब जड़ के हैं। आहाहा! श्वास मेरा नहीं, वह जड़ का है और आयुष्य की स्थिति—शरीर की अवधि, वह जड़ की है।

दस प्रान-विनास, ताहि जग मरन कहिज्जइ.... इन दस प्राण के वियोग को दुनिया मरण कहती है। ज्ञानी उन्हें अपना मानता नहीं, इसलिए उसे मरणभय नहीं होता। आहाहा! **ग्यान प्रान संजुगत....** तब मेरे प्राण कौन है? 'मैं तो शाश्वत् चैतन्यप्राण से जीनेवाला आत्मा हूँ।' यह दस प्राण से जीवन, वह जीव का जीवन ही नहीं। आहाहा! मन से... मन का रहना मनबल, वह जड़ है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! वाणी, काया और

श्वास तथा आयुष्य। दस प्राण का विनाश (हो), उसे जगत मरण कहता है। परन्तु वे प्राण मेरे नहीं, मैं तो ज्ञानप्राण से सहित हूँ। ऐसे दस प्राण से सहित नहीं। दस प्राण से सहित नहीं, परन्तु ज्ञानप्राण से सहित हूँ, ऐसा। आहाहा!

तुम्हारी इन्द्रियाँ शिथिल पड़ गयी हैं, हों! वह कहे, हाँ। वाणी बल भी अभी जैसा पहले था वैसा नहीं। हाँ। परन्तु मेरा था ही नहीं, फिर किसे... ? पहले जैसा बोलते थे, वैसा अभी बोल नहीं सकते तुम, हों! हाँ। परन्तु क्या हाँ?

मुमुक्षु : बोलता था पुद्गल।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो पुद्गल की भाषा थी। वह प्राण तेरा कहाँ था? वचनप्राण, वह तेरा कहाँ था? आहाहा! मनप्राण भी तेरा कहाँ था? शरीर तो है ही पर। आहाहा! **ग्यान प्रान संजुगत.... परन्तु आत्मा ज्ञानप्राणसंयुक्त है, वह तीन काल में कभी भी नाश होनेवाला नहीं.... जीव तिहुंकाल न छिज्जइ।**

भगवान आत्मा... जीवत्वशक्ति में आता है न, जीवत्वशक्ति से जीनेवाला त्रिकाल है। उसका कभी नाश नहीं होता। किसका मरण हो उसे? मरण का भय क्या? आहाहा! **ग्यान प्रान संजुगत जीव तिहुं काल न छिज्जइ....** तीनों काल में भगवान ज्ञानप्राण से कभी नाश नहीं होता। शाश्वत् ज्ञानप्राण से (सहित) प्रभु है, ऐसी अन्तर की दृष्टि के कारण धर्मी को दस प्राण के वियोग के मरण का त्रास और भय होता नहीं।

यह चिंत करत नहि मरन भय.... इस प्रकार श्रद्धा और ज्ञान में विचारणा होने से उसे मरण का भय हो (नहीं) सकता। आहाहा! 'दुनिया को मरण का भय है, ज्ञानी को आनन्द की लहर जो।' कौन मरे? कौन जीवे? उसमें कहाँ था मैं कि टिकूँ? 'मैं तो जहाँ हूँ वहाँ हूँ। ऐसे मेरे प्राण का मुझसे कभी वियोग नहीं होता।' आहाहा! निश्चय सत्य की बातें ऐसी सूक्ष्म लगे, परन्तु सत्य वस्तु तो यह ही है।

मुमुक्षु : .... सुने तो समाधिमरण कहे...

पूज्य गुरुदेवश्री : सम्यग्दर्शन बिना समाधिमरण किसे कहे परन्तु? सुने तो क्या हुआ? कहाँ है समाधिमरण, किसका था?

मुमुक्षु : आप कहते हो कि मरणभय नहीं होता और शास्त्र में आता है कि समाधिमरण ?

पूज्य गुरुदेवश्री : बातें करते हैं सब। समाधिमरण किसे कहते हैं ? जिसे अन्तर में राग से भिन्न शान्तस्वरूप आनन्दस्वरूप समाधिस्वरूप है, ऐसा जिसे भान हुआ है, उसे देह के छूटने के काल में समाधि होती है। परन्तु राग को अपना मानता है, विकल्प का आचरण अपना मानता है, ये क्रिया श्वास आदि की, मन की, वाणी की मेरी है (ऐसा मानता है), वह तो मर जाता है उसमें इकट्ठा। आहाहा! समाधि कहाँ से आयी ?

एक व्यक्ति तो पूछता था नहीं एक व्यक्ति ? 'महाराज! अभी के पंचम काल के समाधिमरण तड़पकर मरते होंगे ?' ऐसा पूछता था। क्योंकि यह बेचारे व्रत लेकर बैठे, समकित नहीं होता, भान नहीं होता। व्रत लेकर बैठे, प्रतिक्रमण लेकर बैठे और मरते समय हाय... हाय... तृषा... तृषा... तड़पते हों और देह छूटे। समाधिमरण हो गया। धूल भी नहीं समाधि।

मुमुक्षु : कहलाती तो है न समाधि ?

पूज्य गुरुदेवश्री : पागल जैसे। दूसरा क्या कहे बाहर में तो ? आहाहा! ऐसा विचारने पर, यहाँ तो कहते हैं, मेरे चैतन्य भावप्राण का तो मुझे कभी वियोग होता नहीं, इसलिए मरण किसका ? दस प्राण तो नाशवान हैं ही वे। नाशवान हैं, ऐसा हुआ। माना था ऐसा हुआ। उसमें मुझे कहाँ मरण आया ? आहाहा! ऐसा आत्मा अन्तर में शाश्वत् चिदानन्दमूर्ति की दृष्टि में, अनुभव में आया, उसे यह मरण-बरण, फिर से भव होता नहीं। आहाहा!

नय प्रवांन जिनवरकथित.... निश्चयनय से ऐसी वस्तु है, ऐसा नय से और **प्रमाणसहित तत्त्वस्वरूप चिंतवन करने से....** 'त्रिकाली द्रव्य हूँ और वर्तमान पर्याय की परिणति शुद्ध है। उसमें रागादि या दूसरे प्राण मुझे है नहीं।' ऐसा **नय-प्रमाणसहित तत्त्वस्वरूप चिन्तवन करने से मरण का भय नहीं उपजता,...** लो, **जिनवरकथित....** भगवान ने जो आत्मा त्रिकाली द्रव्यस्वरूप कहा, वह निश्चयनय और उसकी शुद्ध परिणति वर्तमान है, वह व्यवहारनय। यह दस प्राण से जीना, वह व्यवहार—ऐसा नहीं,

ऐसा कहते हैं। भावप्राण से परिणमना, जीना, वह व्यवहारनय और त्रिकाल जो वस्तु है, वह निश्चयनय, ऐसा। मैं ज्ञानप्राण से, आनन्दप्राण से जीनेवाला, तो उसकी परिणति जो ज्ञान और आनन्द की है, वह व्यवहारनय है और त्रिकाल जो है, वह निश्चयनय है। ऐसे नय और प्रमाण हैं। परन्तु यह दस प्राण, वे मेरे व्यवहार के हैं और निश्चयप्राण यह है, ऐसा नहीं है। समझ में आया?

जो उसमें नहीं, उसके साथ प्रमाण, व्यवहार और निश्चय कहाँ से स्थापना, ऐसा कहते हैं। वह तो पर में है। जिनवरकथित—भगवान ने कहा कि निर्मल पर्याय है, वह व्यवहार है। त्रिकाली, वह निश्चय है। आहाहा! प्राण से जीता हूँ, ऐसा कहना है न! ज्ञान-आनन्द प्राण से जीता हूँ। ध्रुव तो शाश्वत् है, परन्तु उसकी परिणति भी उस जाति की होती है। इससे जिनवर ने कहा हुआ निश्चय तत्त्व और उन्होंने कही हुई व्यवहार परिणति—ऐसे प्रमाण से देखने पर ज्ञानी नि:शंक है। धर्मी जीव नि:शंक, नि:सन्देह है। नि:शंक नि:कलंक है। उसे राग आदि का व्यवहार का कलंक है (नहीं)। आहाहा!

निज ग्यानरूप निरखंत नित,.... लो! अपने को ज्ञानरूप से हमेशा सदा ही (देखता है)। मैं तो ज्ञाता-दृष्टा और आनन्द ही हूँ। त्रिकाल... त्रिकाल... त्रिकाल... यह जीवन, वह मेरा जीवन है। यह विवाद उठाया है न। जीवो और जीने दो, नहीं? उसने कहा स्वरूप, भाई ने—हितैषी (ने)। जीवो और जीने दो। ऐसा (होवे) तब तो संसार प्राणी वह सुखी। जीवो और जीने दो, यह महावीर भगवान का उपदेश है?

मुमुक्षु : यह तो अंग्रेज लोगों का कहना है, इसकी खबर ही नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसने बेचारे ने ऐसा डाला तो उन्होंने आलोचना की। कौन करे? जीवे कौन? प्राण से जीने दो, ऐसा भगवान ने कहा? प्राण इसके हैं? इसके नहीं और उनसे जीने दो, ऐसा भगवान कहे? आहाहा!

ऐसा लोगों ने सिद्ध कर दिया है। ऐसा ही बोले। महावीर का सन्देश, जीवो और जीने दो, ऐसा बोले। स्वागत हो और लोग सब इकट्ठे हों। जवान व्यक्ति बोले। महावीर का सन्देश, जीवो और जीने दो। अरे, परन्तु भगवान का सन्देश यह है ही नहीं, सुन न! सुना हुआ भी सुहावे नहीं। उसने इनकार किया कि नहीं। भगवान का सन्देश तो आनन्द

और ज्ञान के दर्शन, ज्ञान, सुख और शान्ति, सत्ता के प्राण जो तेरे हैं, उस प्राण से पर्याय में जीवन करना, यह भी व्यवहार है। पर से जीने की बात भी कहाँ हो अनुकूल? जीवे तो यह भी है और मरता है। वह प्राण तो उसके आत्मा के हैं ही नहीं, वे तो जड़ के हैं।

अशुद्ध प्राण इसकी पर्याय के गिनो तो भी वे अशुद्ध निश्चय से हैं। उसके स्वभाव के, उसके अपने नहीं। वे तो नहीं परन्तु इसकी योग्यता से जीता है पर्याय में, वह संयोगी भाव है। अपना स्वभाव नहीं, वह पुद्‌गल के ही हैं निश्चय से तो। अशुद्ध भावप्राण जो है न। आहाहा! जिससे जो होता है, वह (उसमें) करण आया न! करण नहीं आया? सज्झाय में आया था। प्रकृति आदि करण... करण से निपजे हुए... जिससे निपजे, वह उसके। आहाहा! पुद्‌गलकरण से निपजे हुए सब अशुद्धभाव, उसके निमित्त से, आत्मा के नहीं। बहुत कठिन काम है जगत को!

ज्ञानरूप निरखंत नित,.... लो। सदा ही स्वयं अपने स्वभाव को निरखता है अर्थात् देखता है। यहाँ तो पर को देखता है, इससे इनकार किया वापस। ऐसा कहे, यह प्राण से जीता है, उसमें पर को देखता है, ऐसा नहीं आया। भाई! दस प्राण गये, नाश हुए। थे और नाश हुए, उसे देखता है, ऐसा भी नहीं आया। स्वयं अपने ज्ञानभाव में जो है, उसे स्वयं देखता है, उसे क्षण-क्षण में कर्म की निर्जरा होती है। उसे निर्जरा होती है। अपवास... अभी बाहर निकलना नहीं, प्रत्याख्यान कराओ। हो गयी निर्जरा और समाधिमरण। यह मरण कहाँ से समाधि थे? आहाहा! यह मरण की बात की। अब वेदनाभय का श्लोक है, वह आयेगा।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ८३, आषाढ़ शुक्ल १, बुधवार, दिनांक २३-०६-१९७१
निर्जरा द्वार, काव्य - ५३-५४

समयसार नाटक, निर्जरा द्वार। २४वाँ कलश है नीचे। वेदना। २४वाँ है न? धर्मी को निर्जरा कैसे होती है, यह अधिकार है।

एषैकैव हि वेदना यदचलं ज्ञानं स्वयं वेद्यते,
निर्भेदोदितवेद्यवेदकबलादेकं सदानाकुलैः।
नैवान्यागतवेदनैव हि भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो,
निश्शङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति।।२४।।

वेदनाभय निवारण करने का उपाय।

★ ★ ★

काव्य - ५३

वेदना का भय निवारण करने का उपाय (छप्पय)

वेदनवारौ जीव, जाहि वेदत सोऊ जिय।
यह वेदना अभंग, सु तौ मम अंग नांहि बिय।।
करम वेदना दुविध, एक सुखमय दुतीय दुख।
दोऊ मोह विकार, पुग्गलाकार बहिरमुख।।
जब यह विवेक मनमहिं धरत,
तब न वेदनाभय विदित।
ग्यानी निसंक निकलंक निज,
ग्यानरूप निरखंत नित।।५३।।

शब्दार्थः-वेदनवारौ=जाननेवाला। जाहि=जिसे। अभंग=अखण्ड। बिय=व्यापता। बाहिरमुख=बाह्य।

अर्थः-जीव ज्ञानी है और ज्ञान जीव का अभंग अंग है, मेरे ज्ञानरूप अंग में जड़

कर्मों की वेदना का प्रवेश ही नहीं हो सकता। दोनों प्रकार का सुख–दु:खरूप कर्म–अनुभव मोह का विकार है, पौद्गलिक है और आत्मा से बाह्य है। इस प्रकार का विवेक जब मन में आता है, तब वेदना–जनित भय विदित नहीं होता। ज्ञानी पुरुष अपने आत्मा को सदा निष्कलंक और ज्ञानरूप देखते हैं, इससे नि:शंक रहते हैं।।५३।।

काव्य-५३ पर प्रवचन

वेदनवारौ जीव, जाहि वेदत सोऊ जिय।
यह वेदना अभंग, सु तौ मम अंग नांहि बिय॥
करम वेदना दुविध, एक सुखमय दुतीय दुख।
दोऊ मोह विकार, पुग्गलाकार बहिरमुख॥
जब यह विवेक मनमहिं धरत,
तब न वेदनाभय विदित।
ग्यानी निसंक निकलंक निज,
ग्यानरूप निरखंत नित॥५३॥

वेदनवारौ जीव.... धर्मी को ऐसा भान वर्तता है कि 'मुझे तो सिद्ध होना है।' मुक्ति... मुक्ति। तो मुक्त में तो अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द, अनन्त शान्ति, स्वच्छता इत्यादि दशायें हैं, तो वह दशा प्राप्त करनी है। निर्जरा करता है न। तो वह दशा कहाँ से प्राप्त होगी? वह दशा जिसमें भरी है, उससे प्राप्त होगी। पूछा था न अभी? लड़कों को पूछा था, 'ऐ... (सादि)–अनन्त सिद्ध होकर क्या करना है तुम्हारे? सिद्ध में तो अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द आदि होते हैं, वे कहाँ से लाओगे तुम? कहाँ है, वह लाओगे उसे? वह निमित्त में है? राग में है? एक समय की पर्याय में है?' है तो अन्दर ध्रुव में गुण में। जहाँ है, वहाँ एकाग्र होने से सिद्धपद होता है। कर्म की निर्जरा होती है और पूर्णपद की प्राप्ति होती है। तो इसका अर्थ यह है कि आत्मा में अनन्त गुण जो शक्तिरूप सब पड़े हैं, उसमें इसे एकाग्र होना है। उसे राग में और निमित्त में एकाग्र होना है? उसमें तो नहीं। वह मुझमें नहीं। राग और निमित्त मुझमें नहीं (और) उसमें से पर्याय प्रगट हो—

आती है, ऐसा नहीं। बराबर है ? तो एक समय की वर्तमान अवस्था है, उसमें भी नहीं, वह तो एक समय की अवस्था है।

कहते हैं कि **वेदनवारौ जीव....** मैं स्वयं ही आनन्द का वेदन करनेवाला और **जाहि वेदत सोऊ जिय...** वेदन में आवे वह मैं। बराबर है ? क्या कहते हैं यह ? धर्मी ने ऐसा भान, प्रतीति की है कि जो कुछ पूर्ण दशा प्राप्त होनेवाली है, साधक है न, वह दशा तो अन्तर में एकाग्र होने से होती है, ऐसी है। बराबर है ? राग में और निमित्त में एकाग्र होने से वह कुछ मिले, ऐसा नहीं। क्योंकि उसमें है नहीं। इसी प्रकार एक समय की पर्याय में भी एकाग्र होने से कुछ (मिले, ऐसा नहीं)। उसमें है नहीं (कि) नया निकले। इसलिए ऐसा ही सिद्ध हो गया कि जो त्रिकाली वस्तु स्वभाव है, उसमें जितनी पर्यायें प्रगट होनेवाली हैं, वे सब शक्तिरूप से पड़ी है। तो वहाँ शोधे तो मिलेगी। बाकी अन्यत्र शोधे तो मिलेगी (नहीं)। कहो, समझ में आया ? इसलिए धर्मी को अन्तर्दृष्टि में ध्रुव के ऊपर ही उसकी आस्था है और दृष्टि है। एकाग्र होने का वही उसका ध्येय है वहाँ। समझ में आया ? इसलिए कहते हैं कि वेदन करनेवाला जीव, वह आनन्द का वेदन करनेवाला भी मैं और वेदन में आवे वह आनन्द, वह भी मैं। उसमें वेदनेवाला दूसरा और वेदन में कुछ राग आदि दूसरी चीज़, ऐसा है नहीं। अरे, आहाहा!

वेदनवारौ जीव.... भगवान आत्मा, जिसमें अतीन्द्रिय आनन्द पूर्ण आनन्द पड़ा है। पूर्ण आनन्द प्रगट हो, इतनी ऐसी तो दशायें अनन्त पड़ी हैं। ऐसा जो जीव, ऐसा दृष्टि में और अन्तर एकाग्रता में लिया है, तो कहते हैं कि वेदन करनेवाला, आनन्द का वेदन करनेवाला भी मैं हूँ। और **वेदत सोऊ जिय....** वेदन में आता है, वह भी जीव। अपना आनन्द वेदन में आता है। वेदन करनेवाला भी वह और वेदन में भी वह ही। समझ में आया ? आहाहा! यह धर्म कैसे हो, इसकी बात है। निर्जरा कैसे हो, ऐसा है न ? तो उसका अर्थ ही (यह कि) धर्म कैसे हो। कि जो आत्मा अनन्त आनन्द का पिण्ड प्रभु है, उसकी एकाग्रता से अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन करनेवाला मैं और वेदन में आये, वह भी मेरी आनन्द दशा। वेदन करनेवाला आत्मा और सुख-दुःख को वेदे ऐसा स्वरूप में है नहीं। समझ में आया ?

तत्त्व ऐसा सीधा और सरल है, परन्तु अनादि से इसकी दृष्टि में लेने का प्रयत्न ही

किया नहीं। यहाँ कहते हैं कि धर्मी उसे कहते है कि जिसे आनन्द का वेदन करनेवाला मैं और आनन्द वेदन में आये, वह भी मैं, उसे धर्मी कहते हैं। धर्मी को पुण्य-पाप के परिणाम में कहीं सुखबुद्धि उड़ गयी है। शरीर में, वाणी में, स्त्री-कुटुम्ब परिवार में, कीर्ति में सुखबुद्धि उड़ गयी है क्योंकि उसमें सुख है नहीं। और जो सुख प्रगट करना है, वह तो सुखानन्द प्रभु आत्मा स्वयं है। आहाहा! ऐसा सच्चिदानन्द प्रभु आत्मा उसे, कहते हैं कि वेदन करनेवाला मैं हूँ। क्योंकि मैं तो आनन्दमूर्ति हूँ। उस आनन्द का वेदन करनेवाला भी मैं और वेदन में आवे वह भी मेरी आनन्द की दशा है। राग और सुख-दु:ख की कल्पना, वह मेरी दशा नहीं कि मैं उसे वेदन करूँ और वेदन करनेवाला आत्मा और वेदन में आवे, वह राग (ऐसा नहीं)। आहाहा!

देखो, यह वीतरागी धर्म! सर्वज्ञ परमात्मा ने वस्तु का सत् स्वरूप जैसा है, वैसा बतलाया, वह इस प्रकार से है, भाई! हमने उसे कुछ किया नहीं। तेरा स्वभाव... भगवान! तुझे सुखी होना है न। और सुख तो वापस कैसा सुख? पूर्ण सुख। सही है न? कहीं थोड़ा सुख माँगे? तो पूर्ण सुख वह तो अतीन्द्रिय आनन्द का सुख है। अब यह अतीन्द्रिय आनन्द का सुख तुझे प्राप्त करना हो तो कहाँ से लायेगा तू? इन संयोगों में है कहीं? स्त्री-पुत्र, परिवार, कीर्ति, पैसा, धूलधमाल, दाल-भात, पकवान, मौसम्बी, मोटरें, वहाँ है? धूल में भी नहीं। वे तो पर हैं। अब पुण्य-पाप के राग में है वह? राग में तो आकुलता है और आत्मा तो आकुलतारहित है। आकुलतासहित, वह आत्मा नहीं। आहाहा!

कहते हैं, **वेदनवारौ जीव...** वेदनवाला तो मैं जीव हूँ। आहाहा! धर्मी—समकिती को धर्म की पहली दशा प्रगट हो वहाँ, आनन्द का वेदन करनेवाला मैं, वेदन आवे, वह आनन्द, वह भी मेरा आनन्द। समझ में आया? आहाहा! **यह वेदना अभंग...** मेरा आनन्दस्वरूप, उसमें एकाग्र होने से जो आनन्द प्रगट हुआ, वह अभंग है। उसमें भंग पड़े, ऐसी चीज़ (नहीं)। आहाहा! क्योंकि वस्तु जैसे अभंग है, उसके आश्रय से जो आनन्द प्रगट हुआ, वह भी अभंग है। संसार की सुख-दु:ख की कल्पनाओं में भंग-छेद पड़े संयोग-वियोग में। संयोग चले जायें और बाहर में खण्ड पड़ जाये (तो) दु:खी हो। भगवान आत्मा... जिसे आनन्द का धाम प्रभु आत्मा है, ऐसा जहाँ अनुभव और दृष्टि में आनन्द आया, इससे धर्मी को आनन्द का वेदन, वही अभंग वेदना है। आहाहा!

सु तौ मम अंग... यह अभंगवेदना तो मेरा अंग है, मेरी चीज़ है यह। **नाहिं बिय...** उसमें दूसरी वेदना व्याप्ती नहीं। क्या कहा समझ में आया इसमें ? अस्ति-नास्ति की है। आहाहा! 'मैं आत्मा हूँ और आत्मा अर्थात् अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द, अनन्त शान्ति, स्वच्छता, प्रभुता, परमेश्वर के सामर्थ्यवाला मैं आत्मा हूँ। मैं पामर नहीं, मैं अल्पज्ञ नहीं, मैं विकारी नहीं, मैं संयोग में आता नहीं।' ऐसा आत्मा दृष्टि में और आश्रय में आया, कहते हैं कि मुझे तो आनन्द की वेदना अभंग—अखण्ड एक है। और यह आनन्द की वेदना, वह मेरा भाग है, वह मेरा अंग है। समझ में आया ? आहाहा! **नाहिं बिय...** नहीं व्यापती। राग आदि दूसरी वेदना मुझमें है ही नहीं, राग से तो मुक्त हूँ। आहाहा! धर्मी जीव राग के विकल्प से मुक्त है। इसलिए मुझे मेरे आनन्द की वेदना में दूसरी वेदना व्याप्त हो जाये, ऐसा है (नहीं)। आहाहा!

यह अनेकान्त है, यह अनेकान्त (ऐसा) लोग ... कहते हैं। समझ में आया ? वह तो मिश्रपना कहा है अपेक्षा से, बाकी तो धर्मी को स्वभाव के वेदन का भाग, वही अपना अंग है। राग का वेदन, वह उसका अंग नहीं। इसलिए वह राग की वेदना स्वभाव में व्यापती नहीं अर्थात् आती नहीं। आहाहा! कनुभाई! न्याय से समझ में आये ऐसा है। यह तो लॉजिक से बात चलती है यह। आहाहा! भगवान तू है न! है उसमें क्या है ? क्या उसमें नहीं ? क्या है और क्या उसमें नहीं ? अनन्त आनन्द, अनन्त ज्ञान, अनन्त शान्ति, अनन्त स्वच्छता, अनन्त प्रभुता, वह है। ऐसा उसमें एक भी नहीं कि जिसमें पूर्णता न हो। आहाहा! अभी, हों! आहाहा! जिस क्षण में द्रव्य को स्वीकार किया वस्तु को, उसी क्षण में द्रव्य में पूर्णता पड़ी है और उसमें एकाग्र होने की धारा बहती है। आहाहा!

उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं, उसे धर्मी कहते हैं... आहाहा! बाहर खोजने जाये तो बाहर से मिले, ऐसा है ? कहो, धर्म की दशा कहीं सम्मेदशिखर से मिलेगी ? शत्रुंजय से मिलेगी ? समवसरण में भगवान के पास जाये, वहाँ से मिलेगी ? मैं स्वयं ही पूरे आनन्दस्वभाव की शक्ति से भरपूर प्रभु हूँ। मेरे समीप में मैं जाऊँ तो मुझे मिलेगा। 'समीप में' का अर्थ एकाग्रता। ऐसी एकाग्रतावन्त को राग की वेदना और सुख-दुःख की होती नहीं। इसलिए राग आदि आवे, वह खिर जाते हैं, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

यह वेदना अभंग, सु तौ मम अंग नांहि बिय.... दूसरा मुझमें व्याप्त नहीं। देखो,

समझ में आया? आहाहा! भारी ऐसा मार्ग! यह मार्ग का स्वरूप ही ऐसा है। आहाहा! वीतराग ने यही कहा है। परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकर ने इन्द्रों के समक्ष और गणधरों के समीप में वाणी में यह कहा था। 'भाई! तू पूरा है न प्रभु! तुझे शोधना हो तो वहाँ शोधना, हों! आहाहा! बाकी बाहर में झपट्टे मारने से कुछ मिले ऐसा (नहीं)।' आहाहा! ऐसा जहाँ अन्तर में वस्तु का स्वीकार होकर, वस्तु में अनन्त आनन्द और ज्ञान, ऐसा स्वीकार दृष्टि में हुआ, उसे तो आनन्द का वेदन है। आहाहा!

यह बिच्छू काटे और सर्प काटे और यह बाघ खाता है न! धर्मी को वेदन ही नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! बाघ का तो मुख उसे छूता ही नहीं। टुकड़ें हो, वह उसमें नहीं होते, परन्तु जरा-सा अंश दुःख के वेदन की पर्याय आवे, वह भी जीव के स्वभाव में नहीं व्यापती, ऐसा कहते हैं। आहाहा! ऐई तंबोली! ऐसा स्वरूप है। क्योंकि उसका व्यापक भगवान आत्मा और उसकी व्याप्य तो निर्मल दशा है, ऐसा कहते हैं। क्योंकि व्यापक अर्थात् पसरनेवाला—फैलनेवाला, वह स्वयं भगवान आत्मा है। फैलकर क्या फैला? किसका विस्तार हुआ सम्यग्दर्शन में? कि शान्ति और आनन्द का फैलाव हुआ। वह आनन्द और शान्ति का व्याप्य आत्मा का (और) आत्मा व्यापक। परन्तु अन्दर सुख-दुःख की कल्पना का राग का वेदन, वह आत्मा का वेदन नहीं और आत्मा में वह व्यापता नहीं क्योंकि व्यापक वह नहीं। समझ में आया? अरे! ऐसा गजब स्वरूप, भाई!

अभी तो पकड़ना कठिन (कि) क्या कहते हैं यह! इसके बिना, इसकी समझण बिना तो कहाँ प्रयोग करना, कहाँ जाना और कहाँ से हटना—इसकी खबर बिना अनादि काल से विकल्प में भटका करता है, सुख-दुःख की वेदना में (भटका करता है), ऐसा कहते हैं। यह सुख-दुःख का वेदन, अनादि का दुःखी, उसे दुःख का वेदन है, ऐसा कहते हैं। अपने आत्मा के भान बिना, स्वभाव के स्वीकार बिना, राग का स्वीकार है तो दुःख का स्वीकार है और दुःखी प्राणी है। यह सेठिया हो या राजा हो, मात्र दुःखी हैं बेचारे। ऐसा होगा।

मुमुक्षु : ऐसा ही है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐई मोहनभाई! परन्तु यह लड़के कमायें ५०-५० हजार, लाख-लाख कमायें, तो भी दुःखी होंगे?

मुमुक्षु : परन्तु कमाये कौन?

पूज्य गुरुदेवश्री : रोते हैं, राग में रोते हैं बेचारे। आहाहा! यह रागभाव करके वेदते हैं, वे दु:खी हैं। वह वेदन दु:ख है, ऐसा कहते हैं और वह दु:ख का वेदन मेरा है, यह मान्यता मिथ्यात्व है, ऐसा यहाँ कहते हैं। आहाहा!

यहाँ तो भगवान आत्मा, जिसमें अनन्त आनन्द का रस पड़ा है। वह वस्तु ही ज्ञानरस, आनन्दरसस्वरूप है। आनन्द और ज्ञान उसका सत्त्व, उसका भाव, उसका तत्त्व है। भगवान आत्मा का सत्त्वपना, वह तो ज्ञान-आनन्द आदि उसका पना है। आहाहा! ऐसे स्वभाव का धर्मी को स्वीकार होने से, वह धर्मी राग और द्वेष के वेदन में व्यापता नहीं अथवा वह वेदन यहाँ व्यापता नहीं। आहाहा! क्या कहा यह? राग-द्वेष का विकल्प है, उसमें वह स्वयं व्यापता नहीं और वह राग-द्वेष की वेदना यहाँ व्यापती नहीं। आहाहा! कठिन बात, भाई! ऐसी धर्मी की शुरुआत होती होगी तो ऐसा होता है? यह तो ऊँची बात होगी कोई केवली की। बापू! केवली तो कहीं रह गये। केवली की अनन्त पर्याय का पिण्ड तू है। यह तेरी बात है। आहाहा! क्या करे?

यहाँ कहते हैं, **करम वेदना दुविध, एक सुखमय दुतीय दुख....** कर्म के निमित्त में वेदन में कल्पना सुख की और दु:ख की है, वह दोनों कर्मवेदना, दोनों विभाववेदना, दोनों दु:खवेदना है। **दोऊ मोह विकार....** समझ में आया? यह पर में उमंग आकर उत्साह आवे, प्रेम आवे पर में। कहते हैं कि वह राग का वेदन है, दु:ख का वेदन है, वह कर्म के फल का अज्ञान का वेदन है। वह **दोऊ मोह विकार....** है। भगवान आत्मा निर्विकारी स्वभाव की मूर्ति प्रभु, जिसे आत्मा ऐसा है, ऐसा जहाँ स्वीकार में, अनुभव में, प्रतीति में आया, इसलिए कहते हैं कि उसे तो आनन्द की वेदना व्यापती है, अतीन्द्रिय आनन्द की वेदना पसरती है। यह वेदनेयोग्य वह और वेदनेवाला वह आत्मा। आत्मा वेदनेवाला और यह पुण्य सुख-दु:ख की कल्पना का व्यापना, वेदना वस्तु में नहीं। कहो, समझ में आया? अरे, कठिन भाई ऐसा धर्म!

अब उस व्यवहार में से इसे वापस हटना सुहाता नहीं न, क्योंकि उसमें दिखता है कुछ... करते हैं (ऐसा) कुछ दिखता है। जिसमें घात हो जाता है, (उसमें) करते हैं, ऐसा इसे दिखता है।

मुमुक्षु : कौन देखे अज्ञानी ?

पूज्य गुरुदेवश्री : उसे भान भी कहाँ है ? आहाहा ! कहो, कान्तिभाई ! ऐसा स्वरूप है। सर्वज्ञ परमात्मा ने उसे प्रगट किया और प्रगट करने की पद्धति भगवान ने बतलायी। कि 'भाई ! जहाँ वह पड़ा है... तुझे जो अनन्त आनन्द और शान्ति और सुख और अनन्त ज्ञान प्रगट करना है, बेहद आनन्द आदि, तो वह जहाँ पड़े हैं, वहाँ जा न ! एकाग्र वहाँ हो, जहाँ अन्दर में पड़े हैं, वहाँ एकाग्र हो।' एकाग्र होनेवाला धर्मी, उसे कर्म के सुख-दु:ख की कल्पना का वेदन व्यापता (नहीं)। आहाहा ! थोड़ा है, उसे गिना नहीं यहाँ, लो। वह ज्ञेयरूप से हो गया।

मुमुक्षु : व्यापक नहीं....

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा ! **नाहिं बिय... 'बिय'** का अर्थ व्यापती किया है। **'बिय'** है न वह। आया न, **'नांहि बिय... 'बिय'** का अर्थ व्यापती किया है। यह तो दूसरा नहीं... इसका अर्थ कि दूसरा व्यापता नहीं, ऐसा। दूसरी वेदना उसमें नहीं, अर्थात् व्यापती नहीं। समझ में आया ? इसकी समझण में तो अभी बात ले कि वस्तु ऐसी है और इस प्रकार से प्रगट हो, तब उसे धर्म होता है। अब इसकी खबर बिना धर्म हुआ... धर्म हुआ... धर्म हुआ... आहाहा ! ऐसा का ऐसा इसने अज्ञान में काल गँवाया है।

भगवान कहते हैं कि ऐसे जीव को निर्जरा होती है, क्योंकि वहाँ उसे अपने आनन्द की व्याप्य वेदना है। व्यापक भी आत्मा अर्थात् कि वेदन करनेवाला भी आत्मा और अतीन्द्रिय आनन्द की अवस्था वेदन में आये, वह भी आत्मा की दशा है। कर्म के जो सुख-दु:ख का भेद... **दोऊ मोह विकार...** आहाहा ! अन्तर में पैसा देखकर, स्त्री देखकर, प्रतिष्ठा सुनकर, परिवार बड़ा है इसलिए मुझे ठीक—ऐसी कल्पना करके जो भाव वेदता है, वह तो सब मोह का विकार है, कहते हैं। समझ में आया ?

पुग्गलाकार बहिरमुख.... भाषा देखो। यह तो पुद्‌गल का स्वरूप है। भगवान ! यह सुख-दु:ख संसार की कल्पना में भाव, वह तो पुद्‌गल का स्वरूप है। आकार अर्थात् पुद्‌गल का स्वभाव है। और वह बहिर्मुख है, वह तेरे अन्तर्मुख स्वभाव में (है ही नहीं)। आहाहा ! अरे ! ऐसी बात सुनने को मिलती नहीं, वह कब समझण करके

अन्दर स्व का आश्रय करे तो धर्म हो, यह बात कहाँ रह गयी, ओहोहो! बहुत दुर्लभ बात... बहुत.... जिन्दगी पूरी होगी। पूरे होने के सन्मुख तो जाता है। आहाहा! करने का क्या, इसकी सूझ पड़े नहीं, फिर कुछ कहीं करे, ऐसा मानता है। आहाहा! भारी भाषा कही।

कहते हैं, 'भाई! प्रभु! तू तो अनाकुल आनन्दस्वरूप आत्मा है न।' अब यह आनन्दस्वरूप में तो आनन्द का ही वेदन प्रगट हो, क्योंकि पसरनेवाला व्यापक तो वह है। उसकी दशा व्याप्यरूप से—कार्यरूप से, तो आनन्द का कार्य, वह उसका वेदन है। आहाहा! और यह सुख-दुःख की कल्पना, वह दोनों दुःखरूप है, दोनों पुद्गलाकार है, पुद्गलस्वरूप है और दोनों बहिर्मुख है। बहिर्लक्ष्य से उत्पन्न हुए भाव हैं। धर्मी को वह भाव होता (नहीं)। अन्तर्मुखी दृष्टि के कारण, आहाहा! स्वरूप दृष्टि होकर जो स्वरूप के वेदन की दशा, वह तो स्वरूप का आकार और स्वरूप का भाव है। और यह जो सुख और दुःख की कल्पना... आहाहा! नौकरी पाँच सौ की हो और एकदम हजार-पाँच हजार वेतन हो, प्रसन्न... प्रसन्न हो जाये। भूख हो इतनी, उसमें वापस देखे ऐसा उसे हलुवा लसलसता मीठा, ऐसा कुछ दाँत से चबाना न पड़े, आहाहा! कहते हैं, भाई! यह विकार का वेदन है, भाई! उस हलुवा का नहीं। वह तो मोह का विकार। आहाहा! वह तेरा कार्य (नहीं), तेरा स्वभाव नहीं। आहाहा!

पुग्गलाकार बहिरमुख, जब यह विवेक मनमहिं धरत.... देखो, दोनों भिन्न किये न। सुख-दुःख की कल्पना पुद्गलस्वरूप, बहिर्मुख और व्यापक आत्मा और व्याप्य उसकी आनन्ददशा।—ऐसे दोनों की विवेकता का—भिन्नता का भान हुआ। **जब यह विवेक मनमहिं धरत.... 'मनमहिं'** शब्द रखा है। भाव में उस जाति का ख्याल आया, **तब न वेदनामय विदित....** तब धर्मी को वेदना का भय होता नहीं। मुझमें वेदना व्यापती नहीं, हर्ष-शोक व्यापते नहीं, मैं उसमें व्यापता नहीं। फिर मुझे वेदना है, वह भय हो सकता (नहीं)। आहाहा!

ऐसा स्वरूप मेरा! ऐसा भगवान ने कहा होगा ऐसा?

मुमुक्षु : भगवान ही कहते हैं, भगवान के अतिरिक्त दूसरा कोई कह नहीं सकता।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु यह भगवान ने कहा है, परन्तु ऐसा एक निश्चय का

कहा है। परन्तु वापस व्यवहार का दूसरा कुछ रह जाता है या नहीं? यह तो कहा न यहाँ कि व्यवहार का जो वेदन है, वह जीव के व्याप्य में नहीं। यह कहा। आहाहा! धर्मी जीव को तो शुद्ध त्रिकाली ज्ञायकभाव का जहाँ आश्रय है और आदत पड़ गयी है, उसके अवलम्बन की, इसलिए उसे कहते हैं कि आनन्द की दशा में परिणित हुआ, उसे दुःख की दशा का परिणमन ही नहीं। ऐसा कहते हैं। समझ में आया? कहो, समझ में आया या नहीं हिम्मतभाई? भारी सूक्ष्म बातें पड़े ऐसी! ऐसा धर्म कैसे चले? मार्ग तो यह है प्रभु! दूसरे प्रकार से कोई कल्पित करे और मनावे, जिन्दगी चली जायेगी, भाई! अज्ञान में, अविवेक में जिन्दगी दुःखी होकर जीव चला जायेगा।

यहाँ तो प्रभु सर्वज्ञ परमात्मा त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव ऐसा फरमाते हैं, 'भाई! तू जो है, वह तो आनन्द की और ज्ञान की मूर्ति है। और तुझे अनन्त ज्ञान और आनन्द प्रगट करना है, वह तो पर्याय में अन्तर के आश्रय से प्रगट होंगे।' इस वस्तु के आश्रय से प्रगट होंगे। आहाहा! तो इस वस्तु की जिसे दृष्टि हुई, ऐसा जो धर्मी, यह कहते हैं कि पुण्य-पाप के हर्ष-शोक के वेदन (मुझे नहीं)। पर जड़ का वेदन तो है ही नहीं। अज्ञानी को भी नहीं। शरीर में दुःख हुआ, कुछ पीड़ा, वह कहीं शरीर की पीड़ा यहाँ है? कटा, वह दुःख है? वह तो शरीर की अवस्था है, जड़ की अवस्था है। उसमें अरुचि भाव हुआ, वह दुःख का वेदन है। और शरीर में कदाचित् कुछ अनुकूलता दिखाई दी, वह तो जड़ की अवस्था है। परन्तु उसमें अनुकूलता दिखाई दी, आहाहा! भारी मजा... वह तो कल्पना के सुख का, मोह के विकार का वेदन है। ऐसा मोह के विकार का वेदन और अपने आत्मा का वेदन—इन दोनों का विवेक होने से **तब न वेदनाभय विदित....** उसे भय नहीं होता। आहाहा!

ग्यानी निसंक निकलंक निज.... प्रत्येक में यह शब्द प्रयोग किया है। धर्मी जीव तो निःशंक है कि सुख-दुःख की कल्पना का व्यापना मुझमें है नहीं। आहाहा! धर्मी समकिती को ऐसा है कि 'मैं तो निःशंक शुद्ध आनन्द और ज्ञान का स्वामी, वह निःशंक हूँ। निःकलंक—मुझमें वह राग की वेदना, ऐसे कलंकरहित चीज़ मैं हूँ।' आहाहा! यह भाव में बात है, हों! वस्तु से ऐसा जहाँ चैतन्य भगवान स्वीकार किया, श्रद्धा में अनुभव किया, तो कहते हैं, वह तो निःशंक है। अरे! वेदना कैसी कठोर आयेगी? और मेरा

मरण बिगड़ेगा अथवा कुछ होगा तो क्या होगा? क्या होगा? मैं तो आनन्द का वेदन करनेवाला आनन्द लेकर आगे जानेवाला (हूँ), ऐसा कहते हैं। दु:खी होकर वेदना होकर जानेवाला, वह मेरी चीज़ है (नहीं)। आहाहा!

देखो, मरते हुए भी धर्मी जीव को, मरते हुए अर्थात् देह के प्राण छूटने के काल में, उसे तो आत्मा के आनन्द के व्याप्य—व्यापक की दृष्टि और उसकी दशा है। इसलिए उसे मरण का और राग, दु:ख के वेदन का व्यापना उसमें है नहीं। 'जगत को मरण का डर है, ज्ञानी को आनन्द की लहर।' अरे, अरे! मरे कौन? जीवित जीव अनादि का है, उसमें मरे कौन? जाये कौन? नया हो कौन? आहाहा! ऐसा **निसंक निकलंक निज....** मैं तो नि:कलंकस्वरूप हूँ। राग के वेदन का कलंक मुझे नहीं। आहाहा! समझ में आया?

ग्यानरूप निरखंत नित.... यह तो आत्मा को ज्ञानरूप, आनन्दरूप, शान्तिरूप, सुखरूप **निरखंत नित...** नित्य इस प्रकार ही आत्मा को देखता है धर्मी। धर्मी राग के वेदनवाला और कर्मवाला और यह वाला, यह देखता नहीं। आहाहा! अब यह बात मूल की नहीं होती और ऊपर की डालियाँ—पत्तों की बातें। यह व्रत पालन करो और अहिंसा करो और शरीर से ब्रह्मचर्य पालन करो। अरे भगवान! भाई! यह डालियाँ-पत्ते तोड़ने से वह मूल नहीं छिदेगा। समझ में आया? **निरखंत नित निज...** मैं तो ज्ञानस्वरूप, आनन्दस्वरूप, शान्त निर्विकार अकषायस्वरूप हूँ। उसे देखता हुआ निरखता हुआ ज्ञानी राग की वेदना और दु:ख की वेदना का भय उसे होता (नहीं)। है नहीं, फिर भय किसका?

अनरक्षा। अनरक्षा भय निवारण। कुछ रक्षा करूँ तो ठीक, वरना चला जायेगा तत्त्व। अनरक्षा, वह स्वरूप में है (नहीं)। स्वरूप तो रक्षित अनादि-अनन्त ध्रुव है। आहाहा! इसका श्लोक २५वाँ।

यत्सन्नाशमुपैति तन्न नियतं व्यक्तेति वस्तुस्थिति-
र्ज्ञानं सत्स्वयमेव तत्किल ततस्त्रातं किमस्यापरैः।
अस्यात्राणमतो न किञ्चन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो,
निश्शङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति।।२५।।

ज्ञान का, आनन्द का सदा ही अनुभव करता है। आहाहा! **विदन्ति...** प्रत्यक्ष आनन्द और ज्ञान को वेदता है, ऐसा कहते हैं। इसका पद।

★ ★ ★

काव्य - ५४

अनरक्षा का भय निवारण करने का उपाय (छप्पय)

जो स्ववस्तु सत्तासरूप जगमहिं त्रिकालगत।
तासु विनास न होइ, सहज निहचै प्रवांन मत।।
सो मम आतम दरब, सरवथा नहिं सहाय धर।
तिहि कारन रच्छक न होइ, भच्छक न कोइ पर।।
जब इहि प्रकार निरधार किय,
तब अनरच्छा-भय नसित।
ग्यानी निसंक निकलंक निज,
ग्यानरूप निरखंत नित।।५४।।

शब्दार्थ:-स्ववस्तु=आत्मपदार्थ। तासु=उसका। रच्छक (रक्षक)=बचानेवाला। भच्छक=नाश करनेवाला। निरधार=निश्चय।

अर्थ:-सत्स्वरूप आत्मवस्तु जगत में सदा नित्य है, उसका कभी नाश नहीं हो सकता, यह बात निश्चयनय से निश्चित है। सो मेरा आत्मपदार्थ कभी किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं रखता, इससे आत्मा का न कोई रक्षक है न कोई भक्षक है। इस प्रकार जब निश्चय हो जाता है, तब अनरक्षा-भय का अभाव हो जाता है। ज्ञानी लोग अपने आत्मा को सदा निष्कलंक और ज्ञानरूप देखते हैं, इससे निःशंक रहते हैं।।५४।।

काव्य-५४ पर प्रवचन

जो स्ववस्तु सत्तासरूप जगमहिं त्रिकालगत।
तासु विनास न होइ, सहज निहचै प्रवांन मत॥

सो मम आतम दरब, सरवथा नहिं सहाय धर।
तिहि कारन रच्छक न होइ, भच्छक न कोइ पर॥
जब इहि प्रकार निरधार किय,
तब अनरच्छा-भय नसित।
ग्यानी निसंक निकलंक निज,
ग्यानरूप निरखंत नित॥५४॥

मेरा कोई रक्षक भी नहीं और मेरा कोई भक्षक भी नहीं। आहाहा!

जो स्ववस्तु सत्तासरूप.... मेरी चीज़ है, वह अस्तिरूप से त्रिकाल है, उसमें अस्तित्व में रखना या नाश होना, वह होता नहीं। आहाहा! **सत्स्वरूप आत्मवस्तु जगत में सदा नित्य है।** प्रभु आत्मा तो सदा ही अविनाशी है। आहाहा! **स्ववस्तु...** धर्मी की स्ववस्तु अपना आत्मा, जो अनादि-अनन्त नित्य ध्रुव, वह सत्तास्वरूप है, अस्तिवाला तत्त्व है। अस्तिवाले में रक्षक होना, ऐसा होता (नहीं)। 'है' उसमें रक्षक क्या? और 'है' उसमें भक्षक क्या? 'है' उसे भक्ष्य करे कौन? 'है', उसकी रक्षा करे कौन? है वह।

जो स्ववस्तु सत्तासरूप जगमाहिं त्रिकालगत.... तीनों काल में 'है' अनादि-अनन्त मैं हूँ, वह मैं आत्मा। ऐसे आत्मा की रक्षा करूँ तो रहे, वरना न रहे—ऐसा उसमें है नहीं। यह बाहर की चीज़ तो देखो न ... इकट्ठे करे, दरवाजा करे, सरिया पक्का डाले।

मुमुक्षु : कौन करे? यह तो आपने समझा दिया है। वह तो उसके कारण से....

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु यह रक्षा हुई कहलाती है उसे। अरे, किसकी रक्षा करे? भाई! पर की रक्षा कर सकता नहीं और स्व (सत्) की रक्षा हो सकती नहीं। क्योंकि सत् त्रिकाल है, उसमें रक्षा किसकी? ऐसा कहते हैं। आहाहा!

यह स्त्री-पुत्र की तो रक्षा कर सकता है या नहीं?

मुमुक्षु : कौन किसकी करे?

मुमुक्षु २ : पर है तो पर की करे?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह पति किसका हुआ तब? परन्तु पति हुआ न? पत्नी का पति। यह नरपति। राजा नरपति कहलाता है। वह उद्योगपति (कहे तो) और प्रसन्न हो।

यह भाई ने उद्योग करके अपने बाहुबल से पैसे इकट्ठे किये और बाहर चढ़े, ऊँचे आये हैं भटकने। उसकी महिमा करे...। ऐई! भटकने का है, दूसरा धूल में क्या है? आहाहा!

पचास लाख इकट्ठे किये हों... उद्योगपति।

मुमुक्षु : अरे! अब २५-५० लाख तो....

पूज्य गुरुदेवश्री : अब अधिक हो गया, बात सच्ची। फिर यह महाजन में तो बहुत पैसे बढ़ गये। ऐई! यहाँ तुम्हारे। धूल में नहीं वहाँ। हैरान होकर मर जायेगा। अभी कहते थे, नैरोबी आओगे? कहा, परन्तु तुम्हारे में ठिकाना नहीं। नैरोबी कौन...? कहे, बात सच्ची। कब भागना पड़ेगा, यह ठिकाना (नहीं)। रंगभेद के कारण... तुम्हारे भाई कहते थे। वे ललिताबेन के वर नरशीभाई। ऐसा कहे, वहाँ आओगे न?

मुमुक्षु : करोड़पति है।

पूज्य गुरुदेवश्री : करोड़ गिनो... गिनना है न। आहाहा! यह करोड़ का पति माने, वह मूढ़ मिथ्या (दृष्टि) है, ऐसा कहते हैं यहाँ तो। करोड़ तो जड़ चीज़ है। उसका पति आत्मा? यहाँ तो राग का पति माने कि राग मेरी चीज़ है, वह भी मूढ़ और अज्ञानी है। आहाहा!

'**जगमहि त्रिकालगत...**' मैं तो तीनों काल रहनेवाली चीज़ हूँ। धर्मी को अपने आत्मा की दृष्टि है (कि) वह तो त्रिकाल रहनेवाली चीज़ है। '**तासु विनास न होइ, सहज निहचै प्रवांन मत...**' उसका नाश कभी होता नहीं। **कभी नाश नहीं हो सकता, यह निश्चयनय से निश्चित है।** स्वाभाविक निश्चय से प्रमाण है। तब और व्यवहारनय से? व्यवहारनय से पर्याय बदलती है, इतना। आहाहा! ऐसा कि स्वाभाविक निश्चय से इस प्रमाणमत है, ऐसा। परन्तु यह ही सत्य है, ऐसा। आहाहा!

'**सो मम आतम दरब, सरवथा नहिं सहाय धर...**' मैं तो आत्मद्रव्य—वस्तु हूँ। '**सरवथा नहिं सहाय**' कोई सहाय मुझे है नहीं, ऐसी मैं चीज़ हूँ। किसी की सहायता हो तो मैं रहूँ, रह सकूँ—ऐसा नहीं है। निःसहाय वस्तु अनादि है। आहाहा! निःसहाय अर्थात् पर की सहायता हो तो आत्मा रहे, टिक सके, ऐसा नहीं है। '**सो मम आतम दरब,**' सो मम आतमद्रव्य, देखो! धर्मी को तो मेरा आत्मद्रव्य, द्रव्य, ऐसा मेरा है।

आहाहा ! द्रव्य अर्थात् क्या होगा ? यह पैसे होंगे ? द्रव्य अर्थात् वस्तु—पदार्थ । आहाहा ! अनादि-अनन्त सत्तावाली चीज़ अस्तिवाला... अस्तिवाला... अस्तिवाला... अस्ति... अस्ति... अस्ति... उसमें अस्ति में अस्तिपने में न हो कब आवे ? आहाहा ! धर्मी जीव अपने आत्मद्रव्य को '**सरवथा नहिं सहाय धर...**' कोई उसे सहायता करनेवाला है नहीं । आहाहा !

मेरा आत्मपदार्थ कभी किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं रखता... मेरी चीज़ है, उसे किसी की अपेक्षा (नहीं) । भाई, यह अजीव है तो जीव रहे, शरीर है तो आत्मा रहे, लो, इन्द्रियाँ हों तो इन्द्रियों का ज्ञान हो । इन्द्रिय बिना अकेला किसकी सहायता से ज्ञान हो ? ऐसा मैं हूँ ही नहीं । मैं तो मेरे स्वभाव से ज्ञान होता है और स्वभाव से आनन्द होता है, ऐसा त्रिकाली हूँ । इसका नाम धर्मी और इसका नाम सम्यग्दर्शन । आहाहा ! '**सरवथा नहि सहाय धर...**' भाई ! कथंचित् तो रखो, वरना एकान्त हो जायेगा । यहाँ तो सर्वथा शब्द प्रयोग किया है । आहा ! '**व्यक्त नियतं ततस्त्रातं किमस्यापरैः**' ऐसा है न ? मेरा रखण कौन करे पर ? '**अस्यात्राणमतो न किश्चन भवेत**'—किंचित् नहीं, ऐसा । सर्वथा मेरा कोई सहायता करनेवाला है ही नहीं । सर्वथा मैं स्वयं हूँ । भाई, कथंचित् सहाय और कथंचित् असहाय, ऐसा रखो तो अनेकान्त होगा । यह बात ही खोटी है । आहाहा !

सर्वथा मैं... पर से रक्षा हो तो रहूँ, ऐसा मैं बिल्कुल हूँ ही नहीं । सर्वथा मेरा अस्तित्व त्रिकाल सत्ता से स्वभाव से शोभित है, सर्वथा रक्षक हूँ । पर रक्षा करे तो रहूँ, ऐसा मैं हूँ (नहीं) । आहाहा ! यह जहाँ वस्तुस्वरूप है, वहाँ और सर्वथा नहीं होता, वहाँ फिर कथंचित् ऐसा और कथंचित् ऐसा, ऐसा होगा ? उसने लिखा न, नहीं कुछ ? सत् ऐसा ही है । अरे, ऐसा सुनकर हमको हास्य होता है ।

मुमुक्षु : उसे तो हास्य ही हो न !

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे भगवान ! भाई ! तू तो त्रिकाल ऐसा ही है । अब उसमें तुझे हास्य क्या आया ? कहे, मैं हूँ भी सही और नहीं भी सही, ऐसा ? तो यह अनेकान्त होगा ? आहाहा !

इसलिए कहते हैं न इसमें, देखो । **तिहि कारन रच्छक न होइ, भच्छक न कोइ**

पर.... भगवान आत्मा शुद्ध, शुद्ध सत्तास्वरूप अनादि-अनन्त मैं हूँ, उसमें कोई मेरा रक्षक नहीं तथा मेरा कोई भक्षक नहीं। रक्षक हो तो भक्षक हो और भक्षक हो तो रक्षक हो। आहाहा! भाई! यह मुकाम-बुकाम उतारना हो तो सेठिया की आवश्यकता पड़े, लो। नाथ कहते हैं न नाथ। आहाहा! स्त्री का नाथ पति है, ऐसा कहा जाता है। नाथ किसलिए? जो प्राप्त चीज़ की रक्षा करे और अप्राप्त को दे, उसे नाथ कहते हैं, लो। यहाँ तो मिली हुई है, उसे ऐसा का ऐसा रखे आत्मा। अप्राप्त अर्थात् अप्राप्त कुछ है ही नहीं।

अप्राप्त सिद्ध की पर्याय वह तो होती है, ऐसा कहते हैं, होगी ही। अनन्त सिद्ध पर्यायों का पिण्ड प्रभु, जिसने भरोसे-प्रतीति में होकर चढ़ा दिया है कसौटी में, उसे केवलज्ञान प्रगट होगा ही। समझ में आया? आहाहा! .... कहे, इतना सब हो तो (और) कर्म के कारण नहीं रुका हुआ, तो फिर कर दो मोक्ष अभी लो, ऐसा कहते हैं। ऐई! अरे भगवान! क्या कहता है तू यह? प्रभु! तुझे किसकी गाली सुनकर प्रसन्न होना है। कर्म मुझे हैरान करे और कर्म मार्ग दे तो हो और कर्म के कारण मुझे ऐसा होता है— ऐसी गालियाँ सुननी है तुझे? आहाहा!

'मेरी बहू विधवा है, इसलिए मैं आया हूँ।' आता है न?

मुमुक्षु : पिताजी का पत्र आया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पिताजी का पत्र है। दादा का पत्र आया है, ऐई... परन्तु हम तो रोने लगे और हम तो आये सामने-सामने। तू पति बैठा, तेरी स्त्री कैसे विधवा? परन्तु पत्र लिखा है बाप-दादा ने कि तू आना, तेरी बहू विधवा है (और) यहाँ वह रोता है। छह महीने-बारह महीने... धर्मदास क्षुल्लक में आता है। आहाहा!

फिर रोना लगा वह साथ में। वह भी घर का व्यक्ति है न। बनिया को रोते-रोते अन्त में घर का व्यक्ति रहे। सब खड़े हो गये और वह खड़ा नहीं हुआ। तो कहे, यह कौन है? अब कौन अन्तिम रह गया? कहे, वह तो उसका पति। अरे, परन्तु वह है और कौन विधवा? क्या हुआ यह? यह चिट्ठी रही। दादा की चिट्ठी आयी है। ऐसी यह चिट्ठी रही, ज्ञानावरणीय ने आत्मा के ज्ञान को रोका है। दादा की चिट्ठी है। सुन न अब! उसके हाथ में भगवान की चिट्ठी है, ऐसा कहे। अरे, तुझे भान नहीं...। अक्ल के खां। खां अर्थात् कि अक्ल खा ली गयी है।

यहाँ कहते हैं, **तिहि कारन रच्छक न होइ....** मैं तो अनादि-अनन्त प्रभु हूँ। मेरी रक्षा हो तो रहूँ, ऐसा मैं नहीं और कोई मुझे भक्षक कर जाये, ऐसा मैं नहीं। **जब इहि प्रकार निरधार किय,....** देखो! जब इस प्रकार का स्वरूप का निश्चय हुआ है समकिती को... निरधार आया न! **अपने आत्मा को सदा निष्कलंक और ज्ञानरूप देखते हैं। निश्चय हो जाता है।** लो। **जब इहि प्रकार निरधार...** आत्मा में होता है समकिती को, **तब अनरच्छा-भय नसित....** अरक्षाभय उसे होता नहीं, नाश हो जाता है। आहाहा!

ग्यानी निसंक निकलंक निज.... धर्मी जीव तो उसे कहते हैं कि जिसे स्वरूप में शंका पड़ती नहीं कि यह स्वरूप ऐसा रहेगा या नहीं रहेगा। ऐसा सन्देह नहीं। आहाहा! लो, भाई! कर्म का ऐसा कोई जोर आवे तो आत्मा सब हैरान-हैरान हो जाये। ऐ, इसकी तुझे प्रतीति कर्म के जोर में? तुझमें जोर है कि मैं केवलज्ञान क्षण में लूँ, इसकी तुझे प्रतीति नहीं? एक क्षण में जगा तो मैं पूर्ण कर दूँ, ऐसा मैं हूँ। उसे कोई रखनेवाला-रोकनेवाला कोई है (नहीं)। आहाहा! रोकनेवाला अर्थात् भक्षक कहा न! ऐसा करूँ तो उसमें कोई रक्षक हो तो ऐसा हो, नहीं तो भक्षण हो जायेगा, कोई वापस नाश कर देगा।

भगवान आत्मा ध्रुव भगवान नित्यानन्द प्रभु, उसका जहाँ निर्धार अन्तर का अनुभव करके हुआ, वह तो अपने को निःशंक मानता है। निःसन्देह। पूर्णानन्द का नाथ ही मैं हूँ। मुझमें रक्षक हो तो रहूँ और भक्षक आवे तो नाश हो जाऊँ, ऐसा मैं नहीं। आहाहा! अजगर निगल जाता है न पूरा शरीर को। अजगर उसे कहते हैं न? 'अज' अर्थात् बकरा। वह अजगर होता है न! गर अर्थात् निगल जाये। बकरा निगल जाये, इसलिए अजगर कहते हैं। पूरा निगल जाये। इसी प्रकार मेरे पूरे तत्त्व को कोई निगल जायेगा। परन्तु होवे उसे निगले कौन? आहाहा! है, है और है। आहाहा! ऐसी महासत्ता का अस्तित्व दृष्टि में आया, कहते हैं, निःकलंक हूँ मैं तो। कलंक-बलंक मुझे है नहीं। **निज ग्यानरूप...** अपने को आनन्द और ज्ञानरूप देखता हुआ मैं तो ज्ञानरूप हूँ। विकाररूप उस रूप भी मैं (नहीं)। ऐसा **निरखंत नित...** सदा अपने को ज्ञानस्वभाव से नित्य देखता है। इसलिए उसे राग और द्वेष आये, वे निर्जरित हो जाते हैं और निगल जाये उसे निर्जरा होती है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ८४, आषाढ़ शुक्ल २, गुरुवार, दिनांक २४-०६-१९७१
निर्जरा द्वार, काव्य - ५५, ५६, ५७

२६वाँ कलश। निर्जरा द्वार। सात भय का वर्णन आता है। धर्मी भयरहित है। उसमें यह चोर-भय निवारण। उसका २६वाँ कलश।

स्वं रूपं किल वस्तुनोऽस्ति परमा गुप्तिः स्वरूपे न यत्-
शक्तः कोऽपि परः प्रवेष्टुमकृतं ज्ञानं स्वरूपं च नुः।
अस्यागुप्तिरतो न काचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो,
निश्शङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति।।२६।।

★ ★ ★

काव्य - ५५

चोर भय निवारण करने का उपाय (छप्पय)

परम रूप परतच्छ, जासु लच्छन चिन्मंडित।
पर प्रवेस तहां नाहिं, माहिं महि अगम अखंडित।।
सो ममरूप अनूप, अकृत अनमित अटूट धन।
ताहि चोर किम गहै, ठौर नहि लहै और जन।।
चितवंत एम धरि ध्यान जब,
तब अगुप्त भय उपसमित।
ग्यानी निसंक निकलंक निज,
ग्यानरूप निरखंत नित।।५५।।

शब्दार्थः-परतच्छ (प्रत्यक्ष)=साक्षात्। प्रवेस=पहुँच। महि=पृथ्वी। अकृत= स्वयंसिद्ध। अनमित=अपार। अटूट=अक्षय। ठौर=स्थान। अगुप्त=चोर। उपसमित=नहीं रहता, हट जाता है।

अर्थः-आत्मा साक्षात् परमात्मारूप है, ज्ञानलक्षण से विभूषित है, उसकी अगम्य

और नित्य भूमि पर परद्रव्य का प्रवेश नहीं है। इससे मेरा धन अनुपम, स्वयंसिद्ध, अपरम्पार और अक्षय है, उसे चोर कैसे ले सकता है? दूसरे मनुष्य के पहुँचने को उसमें स्थान ही नहीं है। जब ऐसा चिन्तवन किया जाता है, तब अगुप्ति-भय नहीं रहता। ज्ञानी लोग अपने आत्मा को सदा निष्कलंक और ज्ञानरूप देखते हैं, इससे नि:शंक रहते हैं।।५५।।

काव्य-५५ पर प्रवचन

परम रूप परतच्छ, जासु लच्छन चिन्मंडित।
पर प्रवेस तहां नाहिं, माहिं महि अगम अखंडित॥
सो ममरूप अनूप, अकृत अनमित अटूट धन।
ताहि चोर किम गहै, ठौर नहि लहै और जन॥
चितवंत एम धरि ध्यान जब,
तब अगुप्त भय उपसमित।
ग्यानी निसंक निकलंक निज,
ग्यानरूप निरखंत नित॥५५॥

धर्मी अर्थात् सम्यग्दृष्टि की भावना, उसकी विचारणा है कि **परम रूप परतच्छ....** मैं तो परमस्वरूप प्रत्यक्ष परमात्मस्वरूप ही हूँ। परमस्वरूप अर्थात् त्रिकाली प्रत्यक्ष परमात्मा—परम आत्मा—परमस्वरूप। ऐसा जो आत्मा प्रत्यक्ष... प्रत्यक्ष है, ऐसा कहते हैं। ज्ञान के स्वसंवेदन से वह प्रत्यक्ष है। ऐसा मेरा स्वरूप **जासु लच्छन चिन्मंडित....** जिसका लक्षण ज्ञानसहित है, ज्ञान से शोभायमान है। ज्ञान उसका लक्षण है, उससे वह शोभायमान है, सहित है, विभूषित है। अर्थ में ऐसा कहा है मण्डित का अर्थ। **ज्ञान लक्षण से विभूषित**। मण्डित शब्द है न!

चिन्मंडित... मेरा स्वरूप ही ज्ञान से विभूषित है। ऐसा आत्मा मैं, उसमें **पर प्रवेस तहां नाहिं....** उसमें किसी का प्रवेश है नहीं। प्रवेश नहीं उसे कौन लूटे? चोर का भय, उसमें (नहीं क्योंकि) उसमें पर का प्रवेश ही नहीं। **पर प्रवेस तहां नाहिं, माहिं महि**

अगम अखंडित.... वह तो पृथ्वी में—जगत के अन्दर मेरी चीज़ ही अतीन्द्रिय अखण्डित है। **नित्य भूमि पर परद्रव्य का प्रवेश नहीं है....** ऐसा इकट्ठा किया है। मेरी भूमि ही **माहिं महि अगम....** है। मेरी असंख्य प्रदेशी ध्रुव भूमि वह किसी को गम्य है (नहीं)। दूसरे को गम्य नहीं कि उसमें प्रवेश करे। **पर प्रवेस तहां नाहिं माहिं महि अगम अखंडित....** दूसरे पदार्थ से अगम्य है, इन्द्रिय से भी अगम्य है। अखण्डित है।

सो ममरूप अनूप.... वह मेरा स्वरूप तो अनूप (अर्थात् कि) उपमा बिना की चीज़ है। 'चैतन्य महापदार्थ परमात्म भगवानस्वरूप ही मैं हूँ' ऐसा जिसे अन्तर में भासित हुआ है, उसे **अकृत**—अकृत चीज़ हूँ। वह की हुई चीज़ नहीं, अकृत है। मैं अनादि-अनन्त आत्मा नया बना हुआ नहीं; है, वह अनादि से है। **अटूट धन...** वह मेरा धन तो नाश न हो, ऐसा है। यह दुनिया की लक्ष्मी तो नाश हो जाये, लो। अक्षय है। मेरा धन अनुपम है, स्वयंसिद्ध है। अपरम्पार और अक्षय है, ऐसा लिखा है। ऐसा जो मेरा स्वरूप, उसमें कौन प्रवेश करे कि उसे ले जाये या लूट जाये? आहाहा!

अनमित... प्रमाण बिना की—मर्यादा बिना की चीज़ है, वह महा वस्तु। **अटूट धन** है। **ताहि चोर किस गहै....** चोर कैसे उसे उठाये? नित्यानन्द प्रभु मैं, उसे कौन उठाये? जिसमें गम्य नहीं पर की, पर का प्रवेश नहीं, पर जिसमें झाँखी डालकर देखे, ऐसी वह चीज़ (नहीं)। **किम गहै ठौरे नहि लहै....** उसके स्थान को दूसरा पाता ही नहीं तो क्या ले? ऐसा कहते हैं। किसी गाँव में एक वस्तु हो, किसी गाँव में उसमें... सुविधा दे तो जरा वहाँ जा आवे। मेरे स्थान को नहीं लहै। मेरा स्थान असंख्य प्रदेशी आनन्दघन है, ऐसे स्थान को दूसरा पा नहीं सकता। **और जन...** मेरे अतिरिक्त अन्य उस घन में प्रवेश करते नहीं। बहुत स्पष्ट बहुत सरस कहा है। यह श्लोक... **चितवंत एम धरि ध्यान जब....** ऐसे अपने स्वरूप-सन्मुख की सावधानी के ध्यान में ऐसी भावना में होता है। **तब अगुप्त भय उपसमित....** चोर का भय वहाँ शान्त हो जाता है (अर्थात्) चोर-भय रहता (नहीं)। आहाहा!

ज्ञानी निसंक निकलंक निज.... धर्मी तो निःशंक है, निःसन्देह है। अखण्ड आत्मा ध्रुव नित्य मैं हूँ, उसमें निष्कलंक है। उसे कोई कलंक है नहीं। संसार का विकल्प भी जिस स्वरूप में नहीं, ऐसा निष्कलंकस्वरूप है। उसमें कौन प्रवेश करे?

और उस स्थान को कौन पहुँचे कि जिस स्थान में आकर उसे ले जाये?

मुमुक्षु : नहीं ले जाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! और वही मेरी चीज़ है, ऐसा कहते हैं। गम्य अर्थात् मेरी चीज़ यह है। कोई राग आदि या परवस्तु, वह मेरी चीज़ है नहीं। आहाहा! **ज्ञानी निसंक निकलंक निज ग्यानरूप....** अपने ज्ञानस्वरूप को अर्थात् आत्मस्वरूप को **निरखंत नित...** सदा उसकी दृष्टि द्रव्य के ऊपर ही होती है। आहाहा! कहो, यह तो सम्यग्दृष्टि की बात है। यह कहीं मुनि की, केवली की बात नहीं। यह तो पहले ही धर्म की बात है। ऐसा इसका स्वरूप है, ऐसा इसे अनुभव में आवे, तब उसे सम्यग्दर्शन कहा जाता है। **ग्यान निरखंत नित,....** लो। यह चोर-भय का निवारण कहा।

अब अकस्मात-भय निवारण। २८वाँ पद (कलश)।

एकं ज्ञानमनाद्यनन्तमचलं सिद्धं किलैतत्स्वतो,
यावत्तावदिदं सदैव हि भवेन्नात्र द्वितीयोदय:।
तन्नाकस्मिकमत्र किञ्चन भवेत्तद्भी: कुतो ज्ञानिनो,
निश्शङ्क: सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ।।२८।।

सदा और सतत दोनों साथ में दिये। निरन्तर आत्मा अपने सतत स्वभाव कायम रहनेवाला, उसे देखता है। देखता है अर्थात् उसे अनुभव करता है। उसका पद ५६। **अकस्मात भय निवारण करने का उपाय।**

सुद्ध बुद्ध अविरुद्ध। उसमें भी आता है .... सुखकन्द। **अब हम कब हु न निजघर आये...** उसमें आता है। **सुद्ध बुद्ध अविरुद्ध।** हिन्दी लोग बोलते हैं.....

★ ★ ★

काव्य - ५६

अकस्मात भय निवारण करने का उपाय (छप्पय)

सुद्ध बुद्ध अविरुद्ध, सहज सुसमृद्ध सिद्ध सम।
अलख अनादि अनंत, अतुल अविचल सरूप मम।।

चिदविलास परगास, वीत-विकलप सुखथानक।
जहाँ दुविधा नहि कोइ, होइ तहां कछु न अचानक।।
जब यह विचार उपजंत तब,
अकस्मात भय नहि उदित।
ग्यानी निसंक निकलंक निज,
ग्यानरूप निरखंत नित।।५६।।

शब्दार्थ:-सुद्ध=कर्मकलंक रहित। बुद्ध=केवलज्ञानी। अविरुद्ध=वीतराग। समृद्ध= वैभवशाली। अलख=अरूपी। अतुल=उपमा रहित। वीत-विकल्प=निर्विकल्प।

अर्थ:-मेरा आत्मा शुद्ध ज्ञान तथा वीतरागभावमय है और सिद्ध भगवान के समान समृद्धिशाली है। मेरा स्वरूप अरूपी, अनादि, अनन्त, अनुपम, नित्य, चैतन्यज्योति, निर्विकल्प, आनन्दकन्द और निर्द्वन्द्व है। उस पर कोई आकस्मिक घटना नहीं हो सकती, जब इस प्रकार का भाव उपजता है, तब अकस्मात-भय उदय नहीं होता। ज्ञानी मनुष्य अपने आत्मा को सदा निष्कलंक और ज्ञानरूप देखते हैं, इससे नि:शंक रहते हैं।।५६।।

काव्य-५६ पर प्रवचन

सुद्ध बुद्ध अविरुद्ध, सहज सुसमृद्ध सिद्ध सम।
अलख अनादि अनंत, अतुल अविचल सरूप मम॥
चिदविलास परगास, वीत-विकलप सुखथानक।
जहाँ दुविध नहि कोइ, होइ तहां कछु न अचानक॥
जब यह विचार उपजंत तब,
अकस्मात भय नहि उदित।
ग्यानी निसंक निकलंक निज,
ग्यानरूप निरखंत नित॥५६॥

आहा! **मेरा आत्मा शुद्ध ज्ञान....** बुद्ध है न! शुद्ध ज्ञान और वीतरागमय हूँ मैं तो। अविरुद्ध अर्थात् विरोधता के कषायभाव आदि मुझमें है नहीं, लो। '**सुद्ध**' मेरा आत्मा

शुद्ध ज्ञान और शुद्ध वीतरागता से भरपूर है। और **सहज सुसमृद्ध सिद्ध सम....** सिद्ध समान मेरा आत्मा अनन्त निज समृद्धि से भरपूर स्वाभाविक है। सिद्ध भगवान में जैसे पूर्ण आनन्द आदि समृद्धि है, ऐसी ही मुझमें मेरी समृद्धि अनन्त ज्ञान-आनन्द आदि समृद्धि से भरपूर स्वाभाविक हूँ। उसमें अकस्मात का क्या कारण? उसमें अकस्मात क्या होगा? ऐसा कहते हैं। **सिद्ध सुसमृद्ध... सुसमृद्ध सिद्ध सम....** सिद्ध की भाँति मैं समृद्धिवाला आत्मा हूँ। जितनी समृद्धि सिद्ध में है, ऐसी सब मेरी समृद्धि मुझमें है। आहाहा! 'सिद्ध समान सदा पद मेरो।' ऐसा स्वरूप है, ऐसा सम्यग्दृष्टि अपनी विचारधारा में... निर्जरा की धारा में ऐसा विचार होता है। आहाहा!

अलख... मैं तो अलख हूँ। इन्द्रियों आदि से भी ज्ञात नहीं, ऐसा हूँ। अरूपी हूँ, ऐसा। इन्द्रिय से या विकल्प से ज्ञात हो, ऐसा मैं नहीं। मैं तो प्रत्यक्ष मेरे स्वभाव से ज्ञात होऊँ, ऐसा मैं हूँ; इसलिए अलख हूँ। **अलख...** इन्द्रिय आदि विकल्प से भी लख अर्थात् जाना न जाये। अलख अर्थात् जाना न जाये, लखा न जाये, लखा अर्थात् जाना न जाये **अनादि अनंत...** मैं तो अनादि-अनन्त हूँ। है, है और है। ऐसे अनादि-अनन्त में अकस्मातपना क्या? उसमें नयापन क्या? दूसरे का प्रवेश कहाँ है? दूसरी चीज़ कहाँ है कि उसमें अकस्मात हो जाये? **अतुल**—तुलना—उपमा न हो सके, ऐसा मैं अनुपम। **अतुल** अर्थात् तुलना न हो सके (अर्थात्) कि जिसे कोई उपमा (नहीं) दी जा सके, ऐसा आत्मा है। **अविचल सरूप मम....** मेरा स्वरूप चलित नहीं। है न उसमें।

अनादि अनंत अचलं... चलित नहीं मैं कभी, ऐसा यहाँ कहते हैं। वस्तु है, वह किस प्रकार चले? ध्रुव नित्य वस्तु है, वह पर्याय में आती नहीं तो चले किससे? (ऐसा कहते हैं।) ऐसा जो परम स्वरूप शुद्ध ध्रुव चैतन्यधातु, वह अविचलस्वरूप मेरा है। चलित नहीं, अस्थिर हो नहीं, ऐसी मेरी चीज़ है अनादि-अनन्त। ऐसे धर्मी को ऐसी वस्तु अनुभव में भासित हुई है, इसलिए उसकी वह ऐसी भावना करता है। आहाहा! लो, **अविचल स्वरूप मम चिद्विलास परगास....** मेरा तो चिद् का आनन्द, वह मेरा प्रकाश है। चैतन्यज्योति, लो। अविचल का अर्थ नित्य किया। **चिद्विलास परगास...** ज्ञान के आनन्द का प्रकाश। जिसमें से निकले तो ज्ञान और आनन्द, वह मेरा विलास है, वह चिद्विलास है। चैतन्यधातु और आनन्दस्वरूप त्रिकाल, इससे उसके अनुभव में भी

ज्ञान और आनन्द का प्रकाश आता है। उसमें राग और पुण्य, वे आते नहीं। आहाहा!

वीत-विकलप... यह विकल्प से रहित निर्विकल्प चीज़ है। दया-दान-व्रत-भक्ति के विकल्प, वे वस्तु के स्वरूप में नहीं, वह चीज़ ही पर है। अथवा निर्विकल्प अर्थात् अभेदस्वरूप हूँ। आनन्दकन्द हूँ। **सुखथानक** है न। **सुखथानक...** मेरा स्थान ही आनन्द को उपजानेवाला मैं आनन्दमय हूँ। आहाहा! आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का स्थान है। वह कोई दु:ख और आपदा का स्थान (नहीं)। आहाहा! संसार का वह स्थान है ही नहीं, ऐसा कहते हैं। सुख का—आनन्द का धाम हूँ। अतीन्द्रिय आनन्द के धाम में **जहां दुविधा नहि कोई....** जहाँ दोपना—दूसरापना ही जहाँ नहीं। **होइ तहां कछु न अचानक... होइ तहां कछु न अचानक....** जहाँ दुविधा—दो (पना) नहीं, ऐसा मेरा स्वरूप भगवान है। **होइ तहां कछु न अचानक....**

पण्डित जयचन्दजी ने लिखा है न इस समयसार की शुरुआत में, नहीं ? ऐसा कि समयसार नाटक इससे पहले बाहर आ गया। उस प्रस्तावना में लिया है। परन्तु उन्होंने तीन कारण दिये हैं न कि यह लिखने का हेतु क्या ? एक यह कारण दिया।

मुमुक्षु : इसका अर्थ समझो।

पूज्य गुरुदेवश्री : जरा कोई पक्ष ले जाये और एकान्त ले जाये, इसलिए यह स्पष्ट (करने) शास्त्र के अर्थ को कहता हूँ। हाँ, इससे अनुवाद करता हूँ। इसमें से मिली हुई बस बात एक-एक। उसमें अकेला वेदान्त का है, ऐसा नहीं। पर्याय सहित की बात है, अनुभव सहित की बात है। पर्याय अनुभव विलास सहित है। परन्तु ऐसा अर्थ एकदम निकाल सके नहीं, इसलिए इस अनुभाग का अनुवाद किया गया है। तीन कारण दिये हैं। कोई वेदान्त से ऐसे न ले जाये, एक कारण। दूसरा—ऐसे मुझसे भी साधारण बुद्धि प्राणी की (हो), संस्कृत व्याकरण आदि न जानते हों, उन्हें ऐसी सादी भाषा में समझने में ठीक पड़े, ऐसा। रखे हैं न, तीन कारण रखे हैं प्रस्तावना में। यहाँ तो ऐसा कहना है कि यह बात इतनी अधिक लगे उसे कितनों को कि यह तो वेदान्त है, ऐसा हो जाये। नहीं, ऐसी बात, परन्तु उसे निकालना न आवे....

श्रीमद् ने भी एक पत्र में लिखा है न, 'समयसार' वाँचकर कितनों को एक

आत्मा का भ्रम हो जाता है। एक आत्मा है, ऐसी श्रद्धा हो जाती है। पत्र में है कहीं। एक आत्मा अर्थात् स्वयं एक आत्मा। सब होकर एक आत्मा की कहाँ बात है यहाँ? अद्वैत हूँ मैं स्वयं। गुणभेद भी नहीं, ऐसा अद्वैत और एक है। आहाहा! क्या हो? ऐसी जहाँ निश्चय बात आवे सत्य की, तो कितने ही कहें, भाई! यह तो वेदान्त है। यह वेदान्त को लागू पड़े, ऐसी है। उसमें भी आता है न मोक्षमार्गप्रकाशक में आता है न, कि ऐसी बात वेदान्तवालों को यह ठीक लगे। ऐसा आता है, नहीं? ..... ऐसा आता है। उसमें भी बहुत स्पष्टीकरण किये हैं, हों! वेदान्त मतवालों को यह बात अच्छी लगे और इस बात वालों को वेदान्त सूक्ष्म लगे, परन्तु ऐसा नहीं है। निश्चयाभास का अधिकार है, वहाँ यह कहा है। आहाहा!

यह तो वस्तु स्वयं। एक विचार तो यह था न कि जब दो भाग है आत्मा में— द्रव्यभाग और एक पर्यायभाग। परन्तु दोनों को यदि हेय और उपादेय करें तो उसमें... समझ में आया? दो भाग होते नहीं। समझ में आया? यह तो पर्याय हेय है... उसमें यह लिया। जैसे स्व और पर दो पदार्थ हैं, उसी प्रकार यह एक स्व में दो भाग है। अब दोनों भाग को उपादेय कहें तब तो उसका द्रव्यस्वभाव दृष्टि में आवे नहीं। और लेना है द्रव्यस्वभाव त्रिकाल। पर्याय को आश्रय लेना है त्रिकाली का, इसलिए दो भाग में एक को हेय और एक को उपादेय किये बिना वस्तु ही सिद्ध नहीं होती। समझ में आया? इसलिए किसी को वेदान्त लगे। ऐसा भी तो कहाँ दो होकर... दो है उसमें एक हेय और एक उपादेय, ऐसे दो कहाँ हैं वेदान्त में? समझ में आया? कहीं भी उसे कैसे... तर्क से सब खड़ा किया हुआ है। लोगों को सुधरे हुए को ऐसा लगे कि भारी बात ओहोहो! ऐसी वस्तु ही कोई स्वयं एक अखण्डानन्द परमात्मा स्वयं अद्वैत है।

दुविधा नहि कोई.... ऐसा यहाँ कोई दो प्रकार के आवे न, उसे ऐसा कहे... दुविधा नहीं अर्थात् अकेला ही आत्मा है और दूसरा नहीं—ऐसा कोई निकाले, ऐसा यहाँ नहीं है। यहाँ तो एक स्वरूप मेरा है जो अखण्ड अद्वैत, उसमें दुविधा नहीं। राग और निमित्त का सम्बन्ध उसे कुछ है ही नहीं। समझ में आया? मार्ग वीतराग का ऐसा सूक्ष्म है। वीतराग स्वयं ही है, कहा न यहाँ। आया था न, **अविरुद्ध**। अविरुद्ध का अर्थ अन्दर में है। अन्दर है, देखो! **मेरा आत्मा शुद्ध ज्ञान और वीतरागभावमय है**। अर्थ में

है। इसका अर्थ है न! इस **अविरुद्ध** का अर्थ ही ज्ञान और वीतरागता दोनों, ऐसा। किसी जगह ज्ञान और आनन्द सिद्ध करे। किसी समय आनन्द को चारित्र में डालकर वीतरागता सिद्ध करे।

मुमुक्षु : नामभेद।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, ऐसा। वस्तु स्वयं भगवान आत्मा ज्ञान और वीतरागभाव अर्थात् आनन्दभाव अथवा आनन्द और ज्ञान दोनों। इस आनन्द में सम्यग्दर्शन और चारित्र दोनों आ गये। अथवा त्रिकाली श्रद्धा और त्रिकाली स्थिरता, यह वीतरागभाव में आ गयी। समझ में आया? यह तो भाई! अन्तर की सूक्ष्म बातें हैं। यह कहीं बाहर से पकड़ में आ जाये, ऐसी चीज़ है (नहीं)। आहाहा! इस प्रकार इसके भाव में उसे उस प्रकार की रुचि और समझण निश्चित होनी चाहिए पहले। समझ में आया?

जहां दुविधा नहीं कोइ, होइ तहां कछु न अचानक.... एक ही वस्तु है, दो नहीं, वहाँ अचानकपना क्या होगा? ऐसा कहते हैं। परन्तु अर्थात् एक हूँ इसका अर्थ—'मैं अखण्ड पूर्णानन्द प्रभु हूँ, एकरूप वस्तु हूँ।' एक अर्थात् सब होकर एक, ऐसा यहाँ कुछ नहीं। अपना स्वरूप ही एकरूप है, वीतरागता है, ज्ञान है, आनन्द है, सब एकरूप अभेद है। उसमें **होइ तहां कछु न अचानक....** अचानक वहाँ कुछ होता नहीं। आहाहा! यह तो उस पर्याय का हेय का आया था न भाई... वह हेयपना यथार्थरूप से है। उसमें दोनों को उपादेय करे तो दृष्टि हाथ (नहीं) आती। दृष्टि का विषय ध्रुव है, ध्रुव तो हाथ आता नहीं। उस प्रमाण में कहा न भाई, नहीं? प्रमाण में... निश्चय से प्रमाण बढ़ गया। निश्चय में तो एक (अखण्ड) द्रव्य लिया है और प्रमाण में तो दोनों हैं। इसलिए पूज्य वह हो गया। कहे, नहीं। जिसमें व्यवहार का निषेध आता नहीं, वह पूज्य नहीं हो सकता। न्याय से बहुत सरस बात है।

यह तो डाला है निहालभाई ने रुचि का, नयचक्र में से। दो वस्तु है। क्योंकि कार्य भी है और त्रिकाली कारण है। एक वस्तु कार्य है, कार्य कहो या पर्याय कहो। और त्रिकाली वस्तु है। अब दो वस्तु में दोनों वस्तु पर दृष्टि देने से एकरूप अखण्ड तो दृष्टि में आता नहीं। पूरा तत्त्व... दृष्टि करनेवाली पर्याय है, परन्तु उसका विषय तो पूरा तत्त्व दृष्टि में आना चाहिए। उस प्रमाण में ऐसा आता नहीं। क्या कहा जाता है, समझ में आया?

मुमुक्षु : दो भाग है, ऐसा नहीं कहा जाता।

पूज्य गुरुदेवश्री : है ही नहीं, ऐसा हो ही नहीं सकता। जैसे दो है तो दोनों उपादेय नहीं और दोनों हेय नहीं, ऐसे दो हैं। दो हैं, तो उसमें अकेली जो त्रिकाली वस्तु है, उसका आश्रय करना है, ऐसी बात आये बिना पर्याय को हेय (करके) पर्याय का लक्ष्य छूटता नहीं। यह और सूक्ष्म! ऐई! ऐसी बात है भाई जरा! आने पर तो... ऐसी बात है। आहाहा! कहो, समझ में आया? नहीं समझ में आये, ऐसा नहीं होता। ऐई प्रदीप! क्या कहते हैं थोड़ा समझ में आता है। मैंने कहा, समझ में आया? कहा, अब समझ में आता है थोड़ा। अब कॉलेजवालों को थोड़ा समझ में आये ऐसा कैसे? कॉलेज में क्यों सब होशियार करे सर्वत्र। कॉलेज में कोई होशियारी चले नहीं। वहाँ मुफ्त के गप्पे... आहाहा!

यह वस्तु है न, भगवान! इसके ख्याल में, इस प्रकार से हो ऐसा, इसे आना चाहिए कि यह वस्तु स्वयं ही प्रभु आत्मा ध्रुव है। उसमें तो दुविधा—दूसरी (चीज़) नहीं। आहाहा! जिसमें पर्याय भी नहीं, ऐसे ध्रुव तत्त्व में अचानकपना क्या हो सकता है? आहाहा! दुविधा के बदले यह याद आ गया अभी चलते-चलते। वे वेदान्त और सब कहते हैं न! अरे, यह चीज़ ऐसी वस्तु है। सर्वज्ञ ने जो अभूतार्थ कहा है, वह अभूतार्थ यह वस्तु कही है। अर्थात् त्रिकाल की अपेक्षा से तो यह पर्याय अभूतार्थ माने बिना ज्ञात (नहीं) होता। उसमें अभेद में भेद नहीं दिखता, ऐसा स्पष्टीकरण किया है न भाई ने! यहाँ अभूतार्थ क्यों कहा? कि अभेद में भेद दिखाई नहीं देता और अभेद में भेद दिखाई दे तो अभेद सिद्ध नहीं होता। और जो रागी प्राणी है, वह भेद का लक्ष्य करे तो राग हुए बिना नहीं रहता।

देखो न, पण्डित जयचन्दजी ने कितना बहुत सरस कहा है! ऐसी बात साधारण प्राणी इसका अर्थ नहीं कर सके, ऐसा स्पष्टीकरण किया है। बहुत अच्छे सब... छठवीं-सातवीं (गाथा) बहुत सरस सब। आहाहा! कहते हैं कि आत्मा एकरूप त्रिकाल अभेद ऐसी दृष्टि में भेद नहीं दिखता। भेद (दिखता) नहीं, इसलिए उसे 'असत् है' ऐसा कहना चाहिए। ऐसा कहा है न। किस कारण से? (सर्वथा) भेद नहीं और पर्याय नहीं, ऐसा नहीं। परन्तु इस कारण से भेद नहीं और व्यवहार नहीं, इतना अभूतार्थ है। समझ

में आया? त्रिकाली एकरूप वस्तु जहाँ देखते हैं, इसका अर्थ इतना हुआ कि वर्तमान जब अन्तर्मुख देखे... अन्तर्मुख देखे अर्थात् इसका अर्थ यह हुआ कि उसे भेद-बेद के ऊपर लक्ष्य जाता ही नहीं। यह बाह्य लक्ष्य है, वहाँ सब भेदरूप है। परन्तु जहाँ अन्तर्मुख हो, वहाँ यह अभेद है और सामान्य है, (ऐसा) लक्ष्य करना, वह भी कहाँ है वहाँ? परन्तु अन्तर्दृष्टि करने पर दृष्टि का विषय अभेद है, ऐसा वहाँ आ जाता है। आ जाता है। अभेद है, ऐसी सामान्य पर दृष्टि पड़ जाती है, ऐसा। समझ में आया?

इसलिए उसे कहा कि दृष्टि का विषय तो अभेद है। परन्तु वह दृष्टि और ज्ञान का पद निश्चयनय से कहा न! निश्चयनय अर्थात् अभेद भूतार्थ है, ऐसा कहा है न! निश्चयनय वह भूतार्थ। ११वीं (गाथा का) दूसरा पद। **भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ...** यह शुद्ध ज्ञान ही सत्यार्थ है, यह शुद्धनय ही त्रिकाली वस्तु है। समझ में आया? उस दुविधा में से आ गया। दुविधा नहीं होती... भाई गाते हैं न? गोदिकाजी गाते हैं, नहीं? वह बुध का। बुध का उसमें आता है, गायन बहुत पुराना है। बहुत वैराग्य से गाते हैं। 'दुविधा कबहु न तजि' ऐसा है न? ऐसा है बुध का न, बुधजन का है। वह गायन गाया था एक बार। अब तो भाई यह गाते हैं—'मैं ज्ञानानन्द स्वभावी हूँ' २-३-४ दिन से व्याख्यान पूरा होने पर (गाते हैं)।

यहाँ तो कहते हैं—भगवान आत्मा अभेद एकरूप, जहाँ भेद... विकल्प है न, भेद नहीं जहाँ। विकल्प अर्थात् भेद नहीं। और सुख का स्थान आत्मा है। उसमें दुविधा कहाँ? दो प्रकार ही जहाँ नहीं। आहाहा! सम्यग्दर्शन का विषय एक ही प्रकार है, अभेद। इससे सम्यग्दृष्टि दुविधा में है ही नहीं। **तहां कछु न अचानक...** वहाँ कहीं जरा भी अचानक—अकस्मात् कुछ हो जाये, (ऐसा नहीं है)। क्या अकस्मात् हो? आहाहा! **अटूट धन...** आया है यहाँ। ऐई! यह सब धूल और लक्ष्मी तो मर जाती है, हाय... हाय! करके। आहाहा! इतना रह गया, इतना करना रह गया, अकस्मात् हो गया। उसे जाने .... ५० वर्ष हो गये, ६० वर्ष हुए वहाँ मरण की तैयारी हो जाये। हाय! हाय! ऐई!

वहाँ मकान बनाया... भाई ने और अब यहाँ पड़े उस अस्पताल में। मगनभाई के प्रति पत्र था, लाये थे न। मगनभाई! चन्द्रकान्त को, उसे बेचारे को ऐसा कि.... परन्तु अब पीछे से अब... ५० वर्ष हुए होंगे, कितने हुए होंगे, नहीं? ५५-५६। तो उस समय

हो कि यह करो और अब निवृत्ति लेंगे। यह सब उसकी अवस्था जितना काल न रहेंगे। अरे! यह तो पर में सब अकस्मात् काम विचारा हुआ (नहीं होता, क्योंकि) वह तो जड़ की (दशा) है। उसमें विचारानुसार क्या हो पर में? कि इतने वर्ष में अपने निवृत्ति लेंगे। अब बस हो गया, लो। यह वहाँ था न पोरबन्दर में। पहले गये तब, हों! (संवत्) १९८२ के वर्ष में। क्या नाम, भूल गये? गिरधरभाई। एक गिरधरभाई थे ८२ के वर्ष में। मकान बनाया। पैसेवाला व्यक्ति था। ८२ की बात है, हों! पहले-पहले ८२ में गये थे न। १८ और २७ = ४३ वर्ष हुए।

तब मकान बनाये... बाजार में। अब अपने से निवृत्ति से यहाँ रहेंगे। उसमें चढ़ा गोला। हम वहाँ थे, उठकर बाहर गये। क्या कहलाता है? ... है न। भवानजी, वहाँ थे, वे कच्छी भाई भवानजी वहाँ थे। भवानजी यहाँ सुनने आते थे। यहाँ कहा, भाई! महाराज के दर्शन करेंगे। वहाँ यह गोला चढ़ा। बचेगा या नहीं अब कुछ... यह मकान बनाये, अब निवृत्ति लूँगा। निवृत्ति कहाँ से आवे? बाहर में कहाँ वहाँ (थी)? अभी नहीं, बाद में करूँगा, अभी नहीं बाद में करूँगा। यह अभी आवे नहीं, बाद में हो नहीं। ऐसा आत्मा में नहीं, कहते हैं। आत्मा तो, अकस्मात् उसमें हो, ऐसी चीज़ ही नहीं। आहाहा! समझ में आया?

देह छूट गयी... उस समय भी थोड़े से पैसे बहुत कहलाते थे न भाई! ४५ वर्ष पहले सात-आठ लाख, वे बहुत कहलाये। यह तो अब वह सब फटा, कौन जाने। (पैसे की कीमत) घट गयी। पहले के एक लाख और अभी के बीस लाख, सब समान हो गये। भाव सर्वत्र बढ़ गये। सब बढ़ गये। यह नौकर, सब कारीगर, मजदूर, ओहोहो! इनके प्रमाण में सब (बढ़े)। एक रुपया चार पैसे का हो गया, ३ पैसे का। बीसवाँ गिनूँ ३ पैसे का। १६वाँ गिनो तो एक आना। इतने ५-७ लाख थे। ....

दस हजार.... कहा, हमारे पिता के पिता (के पास) दस हजार। बड़ी इज्जतदार। गीगाकुरा ओहोहो! बापू! उसके पैर में जूतियाँ... एक व्यक्ति बोलता था। ८१ में गढडा में चौमासा था न। उसे खबर नहीं, ऊपर महाराज हैं। मैं तो मंजिल में चढ़कर बैठा था। नीचे एक बुढ़िया निकली। ऐसे... बोधा ने लिया न मकान, मुसलमान ने लिया। इतना कुछ जरा-सा होगा, उसे इसलिए बाई बोलती थी। मुसलमान वृद्ध... जीर्ण हो गयी और

चलती थी। बात करती जाती थी। बापू! गीगाकुरा की जूतियाँ न पहने कोई। बापू! यह तो वे थे। .... मैं सुनता था, ऊपर था। कीर्ति बड़ी हमारे पिता के पिता की। गीगाकुरा। पूँजी दस हजार की। दो हजार कमाते दो महीने में। यह धन्धा क्या कहलाये वह ? पेटी, रुई की पेटी। यह गृहस्थ, राजा जैसा व्यक्ति। धन्धा-बन्धा-व्यापार में व्यक्ति... यह बात उसको शोभे नहीं, उसमें हो नहीं। ... अब यहाँ तो तम्हारे ५-५-१० वर्ष हुए ठिकाना नहीं तुम्हारे चिमनभाई को।

मुमुक्षु : महँगाई बहुत है।

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या होगा पोपटभाई? अब इनके साले का ठिकाना नहीं कुछ। अरबों रुपये कहलाते हैं ... ... अरे, धूल में भी नहीं। वहाँ अकस्मात् हो जाय... ? भगवान आत्मा पूर्णानन्द का नाथ, जिसमें पर का प्रवेश नहीं, पर को गम्य नहीं कि कहाँ है वह। पर को गम्य नहीं कि कहाँ है वह आत्मा। उस आत्मा का अकस्मात् क्या हो सकता है ? आहाहा! कहो, कनुभाई! यह तो लॉजिक से सिद्ध होता है, हों! आहाहा! कहो, समझ में आया या नहीं यह ? अब यह तो अभी सम्यग्दर्शन की बात चलती है। अभी उसका ठिकाना नहीं और हो गये व्रतधारी महाव्रत और चारित्र। चार गति में डूब मरेगा उल्टा जाकर। आहाहा!

एक वस्त्र का धागा रखकर भी मुनि मनावे—माने तो, कहते हैं, निगोदगामी। कुन्दकुन्दाचार्य यह कहनेवाले यह कहते हैं, लो। यह यथार्थ है। उसकी भूमिका की खबर नहीं, उसे राग कितना, उसकी खबर नहीं, उसे संयोग कितना हो, उसकी खबर नहीं, उसे मुनि हो उसने द्रव्य का आश्रय कितना लिया हो, उसकी खबर नहीं। एक भी तत्त्व की खबर नहीं। मिथ्यात्व सेवन है और उसके फल में (निगोद है)। ऐई शान्तिभाई! यह सब वस्त्र-पात्रवालों को तुमने बहुत स्थापित किया होगा वहाँ। पढ़ाते थे न ये। कहाँ कलकत्ता ? बहुत... कलकत्ता... कलकत्ता, नहीं ? कलकत्ता। मोहनभाई गये ? गये होंगे। आहाहा! प्रभु! तेरी चीज़ ऐसी है। जिसमें दुविधा—दो प्रकार जहाँ नहीं, वहाँ दूसरा आकर वहाँ क्या करेगा अन्दर ? ऐसा कहते हैं।

जब यह विचार उपजंत तब,.... जब यह विचार उपजता है, तब **अकस्मात भय नहि उदित....** अकस्मात् भय प्रगट नहीं होता। आहाहा! **ग्यानी निसंक निकलंक**

निज.... धर्मी तो निःशंक है कि मेरी चीज़ में किसी का प्रवेश नहीं। कहाँ हूँ, इसका गम्य नहीं दुनिया को। उसमें कहा है न कि केवली भी मुझे नहीं जानते। अर्थात् कि देखो, मुझमें आकर मुझे कहाँ जानते हैं? वे तो वहाँ दूर रहकर जानते हैं। यह तो व्यवहार... भाई!

मुमुक्षु : उसके सम्बन्धी के ज्ञान को जाने न, उसे (पर को) कहाँ जानते हैं?

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या कहा?

मुमुक्षु : स्वयं अपना अनुभव....

पूज्य गुरुदेवश्री : उसे कहाँ है? मैं ऐसा हूँ, ऐसा वेदन तो इसे है। ऐसा वेदन होकर जानते हैं केवली? 'केवली भी मुझे नहीं जानते, ऐसा मैं हूँ' ऐसा लिखा है। सम्यग्ज्ञान दीपिका। सम्यग्ज्ञान दीपिका न? अरे! कितनी बात तो ऐसी बातें की है न ...। गहरी-गहरी, परन्तु अलौकिक बात, हों! ज्ञानी-अज्ञानी कोई नहीं जाने, ऐसा मैं हूँ। लो, और यह क्या? परन्तु ज्ञानी तो पर है न! पर मुझरूप होकर कहाँ वह जानता है? उसमें रहकर जानता है। समझ में आया? आहाहा! गजब बात!

अकस्मात भय नहि उदित, ज्ञानी निसंक निकलंक निज.... वह तो निःशंक है कि मेरा स्वभाव त्रिकाल वीतराग और ज्ञानमय है। निष्कलंक—राग और कलंक-फलंक उसमें है नहीं। **निज ग्यानरूप निरखंत नित,...** लो। अपने ज्ञानस्वरूप को निरखता है। देखो, वहाँ यह पर्याय आ गयी। सर्वत्र आ गया है वहाँ। **ग्यानरूप निरखंत नित,...** मैं तो ज्ञानस्वभाववाला तत्त्व त्रिकाल वीतरागमूर्ति हूँ। सम्यग्दृष्टि को आत्मा ऐसा है, ऐसा अनुभव में आया है। आहाहा! इससे उसे अकस्मात् भय है नहीं। यह २८वाँ (कलश) है। यह हो गये सातों भय। सात भय हो गये सात भय। अब आठ निःशंक आदि मिलाते हैं अन्दर। क्योंकि निःशंक में से सात भय निकाले न! अब आठों का निःशंक, निःकलंक, आठों की बात इकट्ठी करते हैं। अब २९वाँ कलश।

टङ्कोत्कीर्ण-स्वरस-निचितज्ञान-सर्वस्वभाजः,
सम्यग्दृष्टेर्यदिह सकलं घ्नन्ति लक्ष्माणि कर्म।
तत्तस्यास्मिन्पुनरपि मनाक्कर्मणो नास्ति बन्धः
पूर्वोपात्तं तदनुभवतो निश्चितं निर्जरैव।।२९।।

यह तो निश्चय समकित की बात है यह। निश्चय समकित तो १२वें (गुणस्थान में) होता है। अरर! भगवान! तू यह क्या कहता है? इसलिए ऐसा इतना सब चौथे में होता नहीं, ऐसा (अज्ञानी) कहते हैं। चौथे में अभी तो सराग व्यवहार समकित होता है। अरेरे! स्व के आश्रय बिना की दृष्टि, वह कहीं समकित है? स्व के आश्रय की दृष्टि अर्थात् वह तो निश्चय हो गया। आहाहा! व्यवहार तो पर का आश्रय है। पर के आश्रय में वस्तु कहाँ से आयी? आहाहा! इसका पद। **सम्यग्ज्ञानी जीवों को नमस्कार**। बनारसीदास नमस्कार करते हैं।

★ ★ ★

काव्य - ५७

सम्यग्ज्ञानी जीवों को नमस्कार (छप्पय)

जो परगुन त्यागंत, सुद्ध निज गुन गहंत धुव।
विमल ग्यान अंकूर, जासु घटमहिं प्रकास हुव।।
जो पूरबकृत कर्म, निरजरा-धार बहावत।
जो नव बंध निरोध, मोख-मारग-मुख धावत।।
निःसंकतादि जस अष्ट गुन,
अष्ट कर्म अरि संहरत।
सो पुरुष विचच्छन तासु पद,
बानारसि वंदन करत।।५७।।

शब्दार्थः-धुव (ध्रुव)=नित्य। धार=प्रवाह। निरोध=रोककर। मोख-मारग-मुख= मोक्षमार्ग की ओर। धावत=दौड़ते हैं। संहरत=नष्ट करते हैं।

अर्थः-जो परद्रव्य से आत्मबुद्धि छोड़कर निज-स्वरूप को ग्रहण करते हैं, जिनके हृदय में निर्मल ज्ञान का अंकुर प्रगट हुआ है, जो निर्जरा के प्रवाह में पूर्वकृत कर्मों को बहा देते हैं, और नवीन कर्मबन्ध का संवर करके मोक्षमार्ग के सन्मुख हुए हैं, जिनके निःशंकितादि गुण अष्टकर्मरूप शत्रुओं को नष्ट करते हैं, वे सम्यग्ज्ञानी पुरुष हैं। उन्हें पण्डित बनारसीदासजी नमस्कार करते हैं।।५७।।

पद-५७ पर प्रवचन

जो परगुन त्यागंत, सुद्ध निज गुन गहंत धुव।
विमल ग्यान अंकूर, जासु घटमहिं प्रकास हुव॥

जो पूरबकृत कर्म, निरजरा-धार बहावत... निर्जरा की धार बहाता है, प्रवाह। वह पानी में प्रपात नहीं था? देखने नहीं गये थे एक जगह? जोगफॉल। पानी नहीं कितना ऊँचा पानी? ८०० फीट ऊँचा, लो। पानी की धार पड़े धार। उसमें कुछ सूझ पड़ती होगी? इसी प्रकार धर्मी को निर्जरा ऐसी धार बहती है, ऐसा कहते हैं। निर्जरा धार।

जो पूरबकृत कर्म, निरजरा-धार बहावत।
जो नव बंध निरोध, मोख-मारग-मुख धावत॥
निःसंकतादि जस अष्ट गुन, अष्ट कर्म अरि संहरत।

आठ गुण से आठ कर्म को नष्ट किया, ऐसा कहते हैं। साथ में मिलाना है न! **निःसंकतादि जस अष्ट गुन,....** यहाँ गुण कहा है, (परन्तु) है तो पर्याय। समकित स्वयं पर्याय है और यह अंग सब पर्याय है। यह सब अवयव है। आहाहा!

निःसंकतादि जस अष्ट गुन, अष्ट कर्म अरि संहरत।
सो पुरुष विचच्छन तासु पद, बानारसि वंदन करत॥

यह प्रश्न भी आया, समकिती को वन्दन किया जाये या नहीं? इसलिए बनारसीदास में... बनारसीदास ऐसा करते हैं। वे गृहस्थ थे, पण्डित थे। अब बहुत जगह आता है। ध्रुव नित्य... वह समकित निश्चय है, वह बारहवें में, तेरहवें में होता है। समकित को तो भारी कर डाला।

मुमुक्षु : ....चारित्रभ्रष्ट हो और समकित हो तो तिर जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कैसे हैं धर्मी? कि **जो परगुन त्यागंत....** राग आदि में आत्मबुद्धि छोड़ दी है। शरीर, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, प्रतिष्ठा और राग—सब परद्रव्य है। उनमें, वे मेरे हैं, ऐसी आत्मबुद्धि उसमें से जिसने छोड़ दी है। आहाहा! कठिन बात!

और वापस भरत चक्रवर्ती, आत्मबुद्धि छोड़ दी है और हमेशा सैकड़ों कन्याओं

से विवाह करे। ऐसा कैसे बैठे जगत को ? भाई! अन्तर में तो छूटा हुआ ही है। इस राग के भाग से छूटा है, वहाँ परवस्तु का तो प्रश्न कहाँ है वहाँ? आहाहा! **जो परगुन त्यागंत, सुद्ध निज गुन गहंत ध्रुव....** वह निजस्वरूप को ग्रहण करता है। ध्रुव निश्चय से, ऐसा। **निज गुन गहंत ध्रुव, परगुन त्यागंत....** ध्रुव निश्चय से ग्रहण, ऐसा। ध्रुव को, ऐसा नहीं। **निज गुन गहंत ध्रुव,....** ऐसा। **परगुन त्यागंत, निज गुन गहंत ध्रुव**। निश्चय से अपने गुण को ग्रहण करता है, (ऐसा) यहाँ कहा।

विमल ग्यान अंकूर,.... लो, यह पर्याय आयी। **विमल ग्यान अंकूर,....** अंकुर फूटा अन्दर का, कहते हैं। आनन्द का प्रत्यक्ष (अनुभव) होने पर ज्ञान का अंकुर और आनन्द का अंकुर फूटा, समकिती को। आहाहा! यह शास्त्र का ज्ञान, वह बात यहाँ नहीं, हों! शास्त्र का ज्ञान... यहाँ तो **विमल ग्यान अंकूर,....** यह त्रिकाली ज्ञानस्वभाव है, उसका अंकुर फूटा अन्दर में से कि जो अंकुर केवलज्ञान का कारण कहलाता है। अंकुर आता है न। दो अंकुर—एक यह प्रगट ज्ञान का अंकुर केवलज्ञान का और शुद्ध में शुद्ध का अंश है, वह यथाख्यातचारित्र का अंकुर। चिट्ठी में—परमार्थवचनिका में आता है न!

विमल ग्यान अंकूर, जासु घटमहिं प्रकास हुव.... लो। जिसके हृदय में निर्मल ज्ञान का अंकुर प्रगट हुआ है। सहजानन्दस्वरूप प्रभु के अवलम्बन से, जो पर्याय परसन्मुख के लक्ष्यवाली थी, वह छूटकर स्व के लक्ष्यवाली अंकुरदशा प्रगट हुई है। कहो, समझ में आया ? इसका अर्थ किया है ध्रुव का, नहीं ? ध्रुव अर्थात् नित्य किया है। अर्थ किया है न शब्दार्थ। कायम यह ग्रहण करता है, ऐसा। **गुन गहंत नित,....** ऐसा। वह तो अपने निज गुण को ही ग्रहण करता है, राग को छोड़ता है। छोड़ता है अर्थात् छूट जाता है। भाषा तो ऐसी ही हो न! **परगुन त्यागंत,...** लो। यह राग है, उसे छोड़ूँ, ऐसा है ? स्वभाव-सन्मुख की दशा में, राग की उत्पत्ति जो परसन्मुख में थी, वह छूट जाती है। उसे **परगुन त्यागंत,...** स्वगुण को ग्रहण करता है।

इसलिए **विमल ग्यान अंकूर, घटमहिं प्रकास हुव....** ज्ञान का अंकुर फूटा है। सम्यग्ज्ञान कला... केवलज्ञान के साथ कला। क्या कहा देखा ? केवलज्ञान के साथ क्रीड़ा करता है, ऐसा आया है।

मुमुक्षु : सम्यग्दर्शन केवलज्ञान को बुलाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बुलाता है... यह तो अनेक प्रकार की बातें आवे। इसलिए यह जहाँ (सम्यग्दर्शन) पर्याय हुई, केवलज्ञान लायेगी ही, ऐसा। आयेगा ही। दूज हुई, वह पूनम होगी ही, ऐसा। **जासु घटमहिं प्रकास हुव....**

जो पूरबकृत कर्म, निरजरा-धार-बहावत.... अज्ञान से बँधे हुए कर्म सत्ता में थे। धर्मी को निर्जरा **धार-बहावत....** निर्जरा का प्रवाह बहाता है। यह असंख्यगुणी निर्जरा कही है न! निर्जरा का प्रवाह बहता है। बन्धन का प्रवाह जो अज्ञान में था, वह अब निर्जरा का प्रवाह हो गया, ऐसा कहते हैं। राग और कर्म मेरे, ऐसी मान्यता थी, वहाँ तो बन्धन की धारा चलती थी। वस्तु के स्वभाव का भान सम्यक् में होने पर उसे निर्जरा की **धार-बहावत,** लो। **प्रवाह में पूर्वकृत,** देखो! निर्जरा का प्रवाह है न! **पूर्वकृत कर्मों को बहा देते हैं।** छूट जाते हैं।

जो नव बंध निरोध... नया बन्ध का (आना) रुक गया है। पुराने बन्ध की निर्जरा का प्रवाह बहता है। **मोख-मारग-मुख-धावत...** मोक्षमार्ग की ओर, ऐसा। यह मोक्षमार्ग के सन्मुख होता है। अन्दर सन्मुख संवेग का वेग वहाँ हुआ है। **निःशंकितादि जे अष्टगुन...** उसे निःशंक, निःकांक्षा, ऐसे आठ गुण अर्थात् पर्यायें—समकित के चिह्न—निशान—लक्षण—आचरण... **जस अष्ट गुन** यह पर्याय है।

अष्टकर्म अरि संहरत... आठ कर्मरूपी शत्रु। देखो, यहाँ तो शत्रु लिया। ऐई! कर्म वैरी। वे कहे, अरिहंताणं नहीं कहना। ... लोग भी कहाँ अटके हैं। मूल बात को सिद्ध न करके, शब्दों में... यह कहा यहाँ देखो। **अष्टकर्म अरि संहरत...** आठ कर्मरूपी शत्रु। **सो पुरुष विचच्छन तासु पद...** वह विचक्षण पुरुष—धर्मी, उसके पद को बनारसीदास वन्दन करते हैं, लो। आहाहा! निर्जरा का हो गया न। **सम्यग्ज्ञानी पुरुष हैं, उन्हें बनारसीदास नमस्कार करते हैं,...** लो। **सम्यग्ज्ञानी पुरुष हैं, उन्हें बनारसीदास नमस्कार करते हैं।** अब आठ अंग के नाम आयेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ८५, आषाढ़ शुक्ल ३, शुक्रवार, दिनांक २५-०६-१९७१
निर्जरा द्वार, काव्य - ५८ से ६१ तथा सार

यह निर्जरा अधिकार है। समयसार नाटक। यह आठ अंग के नाम की बात करते हैं। सम्यग्दर्शन के आठ अंग। सम्यग्दर्शन के आठ चिह्न। लक्षण कहो, चिह्न कहो, आचार कहो या अंग कहो, अवयव कहो। सम्यग्दृष्टि को इन आठ अंग की सहायता से निर्जरा होती है, ऐसा सिद्ध करना है।

★ ★ ★

काव्य - ५८-५९

सम्यग्दर्शन के अष्ट अंगों के नाम (सोरठा)

प्रथम निसंसै जानि, दुतिय अवंछित परिनमन।
तृतिय अंग अगिलानि, निर्मल दिष्टि चतुर्थ गुन।।५८।।
पंच अकथ परदोष, थिरीकरन छट्ठम सहज।
सत्तम वच्छल पोष, अष्टम अंग प्रभावना।।५९।।

शब्दार्थ:-निसंसै=(नि:संशय) निशंकित। अवंछित=वांछारहित, नि:कांक्षित। अगिलानि=ग्लानि रहित, निर्विचिकित्सित। निर्मल दिष्टि=यथार्थ विवेक, अमूढ़दृष्टि। अकथ परदोष=दूसरों के दोष नहीं कहना, उपगूहन। थिरीकरन=स्थिर करना, स्थितिकरण। वत्सल=वात्सल्य, प्रेम।

अर्थ:-नि:शंकित, नि:कांक्षित, निर्विचिकित्सित, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना-ये सम्यग्दर्शन के आठ अंग हैं।।५८-५९।।

काव्य-५८-५९ पर प्रवचन

प्रथम निसंसै जानि, दुतिय अवंछित परिनमन।
तृतिय अंग अगिलानि, निर्मल दिष्टि चतुर्थ गुन॥५८॥

पंच अकथ परदोष, थिरीकरन छट्ठम सहज।
सत्तम वच्छल पोष, अष्टम अंग प्रभावना॥५९॥

आठ के नाम दिये। पहला **निसंसै...** इस प्रत्येक का अर्थ करेंगे दूसरे (पद) में। संशय—शंका नहीं—**निःशंकित।** दूसरा **अवंछित—**वांछारहित—निःकांक्षित। किसकी (वांछारहित) यह व्याख्या करेंगे। **अगिलानि—**ग्लानि रहित अर्थात् निर्विचिकित्सा। ग्लानि नहीं। इसका अर्थ करेंगे। **निर्मल दिष्टि** अर्थात् यथार्थ विवेक—अमूढ़दृष्टि। **अकथ दोष... परदोष—दूसरों के दोष नहीं कहना।** उपगूहन एक लिया है। **थितिकरन—स्थिर करना।** यह स्थितिकरण। और **वच्छला—**वात्सल्य, प्रेम। **ये सम्यग्दर्शन के आठ अंग हैं,** लो। इन आठ अंगों का स्वरूप। इनका स्वरूप कहते हैं।

★ ★ ★

काव्य - ६०

सम्यक्त्व के आठ अंगों का स्वरूप (सवैया इकतीसा)

धर्ममैं न संसै सुभकर्म फलकी न इच्छा,
असुभकौ देखि न गिलानि आनै चितमैं।
सांची दिष्टि राखै काहू प्रानीकौ न दोष भाखै,
चंचलता भानि थिति ठानै बोध वितमैं।।
प्यार निज रूपसौं उछाहकी तरंग उठै,
एई आठौं अंग जब जागै समकितमैं।
ताहि समकितकौं धरै सो समकितवंत,
वहै मोख पावै जौ न आवै फिरि इतमैं।।६०।।

शब्दार्थः-संसै (संशय)=सन्देह। भानि=नष्ट करके। थिति ठानै=स्थिर करे। बोध=रत्नत्रय। तरंग=लहर। उछाह=उत्साह। इतमें=यहाँ (संसार में)।

अर्थः-स्वरूप में सन्देह नहीं करना निःशंकित अंग है, शुभ क्रिया करके उसके फल की अभिलाषा नहीं करना निःकांक्षित अंग है, दुःखदायक पदार्थ देखकर ग्लानि

नहीं करना निर्विचिकित्सा अंग है, मूर्खता त्यागकर तत्त्व का यथार्थ निर्णय करना अमूढ़दृष्टि अंग है, दूसरों के दोष प्रगट नहीं करना उपगूहन अंग है, चित्त की चंचलता हटाकर रत्नत्रय में स्थिर होना स्थितिकरण अंग है, आत्मस्वरूप में अनुराग रखना वात्सल्य अंग है, आत्म-उन्नति के लिये उत्साहित रहना प्रभावना अंग है, इन आठ अंगों का प्रगट होना सम्यक्त्व है, उस सम्यक्त्व को जो धारण करता है, वह सम्यग्दृष्टि है, सम्यग्दृष्टि ही मोक्ष पाता है और फिर इस संसार में नहीं आता।

विशेष:-जिस प्रकार शरीर के आठ अंग होते हैं और वे अपने अंगी अर्थात् शरीर से पृथक् नहीं होते और न शरीर उन अंगों से पृथक् होता है। उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के नि:शंकित आदि आठ अंग होते हैं और वे अपने अंगी अर्थात् सम्यग्दर्शन के पृथक् नहीं होते और न सम्यग्दर्शन अष्ट अंगों से निराला होता है-आठों अंगों का समुदाय ही सम्यग्दर्शन है।।६०।।

काव्य-६० पर प्रवचन

धर्ममैं न संसै सुभकर्म फलकी न इच्छा,
असुभकौ देखि न गिलानि आनै चितमैं।
सांची दिष्टि राखै काहू प्रानीकौ न दोष भाखै,
चंचलता भानि थिति ठानै बोध वितमैं॥
प्यार निज रूपसौं उछाहकी तरंग उठै,
ऐई आठौं अंग जब जागै समकितमैं।
ताहि समकितकौं धरै सो समकितवंत,
वहै मोख पावै जौ न आवै फिरि इतमैं॥६०॥

कहते हैं कि धर्म में संशय नहीं। अपना जो शुद्ध चैतन्यस्वरूप अखण्ड अभेद, उसमें संशय (किंचित् भी नहीं)। निर्भय और.... संशयी। संशय नहीं। ऐसे तो नि:शंक का अर्थ दूसरा भी एक है न। वह शंका... लिखा है न? नियमसार में, नहीं? पाँचवीं गाथा में। आप्तपुरुष हैं वे शंकारहित हैं। आप्तपुरुष शंकारहित हैं। शंका अर्थात् मोह और राग-द्वेष दोष, उनसे आप्तपुरुष रहित हैं। यहाँ समकितवन्त, वह मोह और राग-द्वेष

रहित ही उसका स्वरूप है। समझ में आया? शंका की व्याख्या की न। पाँचवीं गाथा में, नहीं? नियमसार। '**अत्तागमतच्चाणं सद्दहणादो हवेइ सम्मतं**' उसमें आता है शब्द में मेल। आप्त, आगम और तत्त्व की श्रद्धा। व्यवहार समकिती की बात है न! तो भी आप्त किसे कहा जाता है? कि शंकारहित, वह आप्त—परमेश्वरदेव। शंका अर्थात् क्या? मोह और राग-द्वेष। उस शंकारहित—निःशंक है। इसी प्रकार धर्मी जीव अपना स्वभाव निःशंक मोह और राग-द्वेष रहित है, वह निःशंक है उसे। समझ में आया?

परमेश्वर को तो राग-द्वेष की अस्थिरता टल गयी है और वीतराग हो गये हैं। यहाँ मोह मिथ्यात्व टला है, परन्तु राग-द्वेष टले नहीं। तथापि श्रद्धा में तो (ऐसा है कि) 'मोह और राग-द्वेष रहित ही मेरा स्वरूप त्रिकाल शुद्ध है।' समझ में आया? यह समकित का पहला अंग है, निःशंक। उसका अंग—अवयव। समकित सामान्य, वह अवयवी और यह उसके अंग अर्थात् अवयव हैं। यह शरीर है, वह अंगी है और हाथ-पैर उसके अंग हैं। वह कहीं शरीर से भिन्न नहीं। इसी प्रकार समकित का अंग समकित से भिन्न नहीं। निःशंक आत्मा अस्तिरूप से लिया है वहाँ। निर्वांछना, यह नास्ति से, शुभ की वांछा नहीं, ऐसा। परन्तु अस्ति महा ऐसा स्वभाव शुद्ध अकेला पवित्र निर्मलानन्द प्रभु, ऐसी प्रतीति में उसे निःसंशय है। राग-द्वेष, मोह जिसके भाव में है ही नहीं, ऐसा आत्मा सम्यग्दृष्टि के अनुभव में, प्रतीति में, श्रद्धा में वर्तता है। कहो, समझ में आया या नहीं?

निर्वांछक। **सुभकर्मफल की न इच्छा....** शुभ परिणाम है, उनसे सम्यग्दृष्टि तो विरक्त ही है। परन्तु उस शुभभाव का फल भी इच्छता (नहीं)। जे अपनी चीज़ नहीं, वह शुभभाव अपना है ही नहीं। निःशंक में वह राग-द्वेष-मोह से रहित ही मेरी चीज़ है, ऐसा जहाँ निःसंशय प्रगट हुआ, वहाँ उसे निर्वांछक इकट्ठा साथ में होता है। अर्थात् कि शुभराग की क्रिया जो है, उससे मैं रहित हूँ, इसलिए उसके फल की इच्छा ज्ञानी को होती (नहीं)। समझ में आया? कहे, भाई! यह पुण्य हम करते हैं और कुछ फल आयेगा स्वर्ग आदि। परन्तु वह फल और भाव दोनों मेरे नहीं। इसलिए दोनों की उसे वांछा नहीं। आहाहा! वस्तु भगवान आत्मा पूर्ण शुद्ध चैतन्यघन, उसमें जिसकी दृष्टि निःसंशयपने परिणमी है, ऐसा कहते हैं, उसे शुभभाव के फल की इच्छा नहीं होती। यह नास्ति से कहा है। वह अस्ति से।

असुभकौ देखि न गिलानि आनै चित्तमैं.... भाषा ऐसी ली है, देखो! विकल्प ऐसा देखे, इससे उसे ऐसा न हो जाये कि यह क्या? मेरे स्वभाव में यह क्या? यह मेरे स्वभाव में है ही नहीं। अशुभपरिणाम की ग्लानि और द्वेष नहीं। उसका वह ज्ञानी ज्ञाता और दृष्टा है। कहो, समझ में आया? पहले अस्तित्व सिद्ध किया। फिर इच्छारहित सिद्ध किया। फिर द्वेष नहीं, ऐसा सिद्ध किया। सम्यग्दृष्टि को अशुभभाव है, उसका द्वेष नहीं, ग्लानि नहीं। यह क्या? यह क्या? आहाहा! स्वभाव चैतन्य निर्मलानन्द होने पर भी, यह अशुभभाव होता है, उसका उसे द्वेष नहीं, ग्लानि नहीं। निर्विचिकित्सक है, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : अशुभभाव दुःखदायक है, ऐसा नहीं समझना?

पूज्य गुरुदेवश्री : दुःखदायक, परन्तु यह कहा न फिर क्या उसकी (बात)? स्वयं उसकी ग्लानि नहीं करता और द्वेष ही करता नहीं। 'है' उसे जानता है, ऐसा कहते हैं। द्वेष नहीं कि अरे, यह क्या?

देखो न, श्रेणिक राजा ने सिर फोड़कर ऐसे का ऐसा... द्वेष का अंश आया था। (परन्तु) उसके ऊपर ग्लानि नहीं। जानते हैं कि है। समझ में आया? यह तो निश्चय के सब अंग लिये हैं। **असुभकौ देखि न गिलानि आनै चित्तमैं...** वस्तु भगवान आत्मा पूर्ण आनन्दस्वरूप जहाँ अन्तर अनुभव में और दृष्टि में आया, उसे अशुभभाव की ग्लानि होती नहीं, द्वेष नहीं। आहाहा! यह क्या? **सांची दिष्टि राखै....** यह अमूढदृष्टि। उलझन नहीं, उलझन नहीं उसे। ऐसा भाव आने पर भी यह क्या होगा मेरा? उलझन नहीं। मेरा होगा ही। परमात्मा होनेवाला हूँ, वही होगा। समझ में आया? निर्मल लिखा है न, निर्मल दृष्टि। यहाँ लिखा है अर्थ में, **दुःखदायक पदार्थ देखकर ग्लानि नहीं करना।** यह साधारण बात है।

मुमुक्षु : यह बाहर की बात।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बाहर... बात तो ऐसी है वास्तव में तो। और निर्मल, है न?

निर्णय। **मूर्खता त्यागकर तत्त्व का यथार्थ निर्णय करना।** अन्दर उसे अविवेक नहीं आता, विवेक ही होता है। सूक्ष्म बात में भी कहीं उसे उलझन आती नहीं। पूरा

भगवान आत्मा चैतन्यपिण्ड जहाँ अनुभव में आया, प्रतीति में आया, भगवान बादशाह मोक्ष का नायक भगवान आत्मा स्वयं।

मुमुक्षु : शिवनायक।

पूज्य गुरुदेवश्री : शिवनायक आया था न! मोक्ष का बादशाह है, ऐसा कहते हैं। वह मुक्तिपुरी का नाथ है, संसार-फंसार का नाथ वह (नहीं)। आहाहा! कहते हैं, **सांची दिष्टि राखै....** उसमें कहीं उसे सत्य में उलझन हो जाये कि यह क्या होगा? ऐसा यह मार्ग? ऐसा भाव आता है, अशुभ रौद्रध्यान हो जाता है, इसलिए क्या भव होंगे? ऐसी शंका—अविवेक होता नहीं। अमूढदृष्टि। देखो, यह सम्यग्दर्शन की दशा और उसके आठ अंग सहचर—साथ में रहनेवाले।

सांची दिष्टि राखै काहू प्रानी कौ न दोष भासै.... किसी का दोष नहीं देखना, ऐसा व्यवहार वास्तव में तो। अर्थात् दोष को देखने की दृष्टि ही नहीं। पर्यायदृष्टि गयी है, इसलिए वस्तुदृष्टि हुई है, इसलिए पर के दोष देखने की बात नहीं। उसका आत्मा निर्दोष है, ऐसा वह देखता है। समझ में आया? जैसे अपने को पर्यायदृष्टि रहित (देखता है), उसी प्रकार पर को भी दोष रहित ही आत्मा है, ऐसा देखता है। आहाहा! **चंचलता भानि थिति ठानै बोध वितमैं,....** लो। **चित्त की चंचलता हटाकर रत्नत्रय में स्थिर होना....** स्थितिकरण। **चंचलता भानि....** रत्नत्रय में उसे जरा भी अस्थिरता—चंचलता होती नहीं। वस्तु है, वह वस्तु है। देखो, यहाँ सम्यग्दर्शन के अंग की बात है। तथापि यहाँ **चंचलता भानि थिति ठानै बोध वितमैं,....** अर्थ में ऐसा लिखा है न! रत्नत्रय में स्थिर होना। यहाँ तो रत्नत्रय... भाई! समझ में आया इसमें? उसे वहाँ (निश्चय) रत्नत्रय सिद्ध किया चौथे (गुणस्थान में)। अर्थ में है न!

चित्त की चंचलता हटाकर रत्नत्रय में स्थिर होना स्थितिकरण अंग है। चौथे में भी स्थितिकरण है न। समझ में आया? अपने सम्यग्दर्शन, अपने ज्ञान और स्थिरता के अंश में कहीं उसे चंचलता होती नहीं, लो। चौथे में कहा है न! छहढाला में नहीं कहा? तीनों मोक्ष के मार्गी हैं चौथे, पाँचवें और छठवें (गुणस्थानवाले)। आता है न? तीनों मोक्ष के मार्गी हैं। मोक्षमार्ग तीनों... तीनों... तीनों (गुणस्थान) में तीन (रत्न) हैं, ऐसा कहते हैं। दर्शन-ज्ञान-चारित्र। तीनों में तीन है। भले अंश—थोड़ा, परन्तु है तीन वहाँ।

समझ में आया ? चंचलता नाश की। **थिति ठानै बोध वितमैं,....** ज्ञानरूपी लक्ष्मी। अपना जो ज्ञानस्वभाव चैतन्यस्वभाव, उसमें स्वयं **ठानै—** स्थिर रहता है। ज्ञान में से उसे कहीं चंचलता होती नहीं।

प्यार निज रूपसौं उछाहकी तरंग उठै.... वात्सल्य। अपने शुद्धस्वरूप का ही जिसे प्यार और प्रेम है। **आत्मस्वरूप में अनुराग रखना वात्सल्य अंग है।** अनुराग—प्रेम। उसका प्रेम और राग, स्त्री, कुटुम्ब आदि नहीं ले जाता, ऐसा कहते हैं। प्रभु के साथ प्रेम जुड़ा है। अपना जो शुद्धस्वरूप, पवित्रस्वरूप, उसका जिसे प्रेम है और वात्सल्य... फिर आया न ? वात्सल्य... यह वात्सल्य आया। **उछाहकी तरंग उठै....** प्रेम है, इसलिए उत्साह की तरंग... अन्दर स्वभाव (सन्मुख की) सावधानी की तरंग उठती है, लो। **आत्म उन्नति के लिये उत्साहित रहना,....** ऐसा। यह प्रभावना अंग है। प्रभावना लेना है न यहाँ। यह उत्साह... उत्साह होता है उत्साह, वह प्रभावना है, ऐसा कहते हैं। स्वरूप सन्मुख की उत्साह की वृद्धि है, वह प्रभावना है।

भगवान आत्मा अपना पूर्ण शुद्ध स्वभाव, उसका जहाँ अन्तर दृष्टि और अनुभव हुआ, इसलिए शुद्धस्वभाव का ही उसे उत्साह वर्तता है, यह प्रभावना है। यह बाहर की प्रभावना—पतासा बाँटना और शुभभाव, वह बात यहाँ गिनी नहीं।

मुमुक्षु : क्यों गिनी नहीं ?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह इसकी है ही नहीं। शुभभाव ही इसका नहीं। ऐई ! आहा ! व्यवहार का वर्णन करे, तब आवे, परन्तु वह व्यवहार उसमें है ही नहीं। व्यवहार उसका है नहीं, व्यवहार में वह है नहीं। **उछाह की तरंग उठै।** यह प्रभावना है, लो। **प्यार निज रूपसौं....** यह वात्सल्य है। उत्साह की तरंग उठे स्वभाव-सन्मुख। सर्व मोक्ष की ओर का जहाँ उत्साह वर्तता है, वही उसकी प्रभावना है। प्रभावना बाहर में कौन करे ? लोगों में बाहर में ही पूरा समाहित हो गया है।

देखो, कितनी प्रभावना की, ओहोहो !

मुमुक्षु : वह दिखती है। अभी ही हुई न।

पूज्य गुरुदेवश्री : वहाँ जयपुर देखते हैं सब। अभी धीरुभाई कहते थे। अभी

देवशीभाई आये तब बात हुई थी। देवशीभाई वहाँ थे। वहाँ गये मुम्बई गये हैं। मलाड-मलाड? क्या वहाँ ऐसा कि...! वह तो बाहर का हुआ। उसमें आत्मा कहाँ आया?

मुमुक्षु : आत्मा नहीं आया था और आप गये? प्रभावना....

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन गया था? कहाँ गया था? ऐसी गजब बात है। ऐई माणिकलालजी! माणिकलाल तो आये नहीं थे। तुम तो निवृत्त थे। क्या था?

मुमुक्षु : बीमार थे।

पूज्य गुरुदेवश्री : बीमार थे। ले, कुछ हुआ। यह तो अब निवृत्त है। यह प्रभावना तो आत्मा में होती है, आत्मा की दशा में होती है। प्रभावना आत्मा से अलग होती है? ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : अलग नहीं होती।

पूज्य गुरुदेवश्री : शुभराग भी आत्मा से अलग है। बाहर की क्रिया तो कहीं रह गयी अब। समझ में आया?

यहाँ तो शुद्ध चैतन्यस्वरूप भगवान का जहाँ वीर्य का उल्लास स्वभाव-सन्मुख होता है, उसका नाम प्रभावना है। कहो, समझ में आया? वह तो व्यवहार हो, उसे वह जाननेयोग्य है। विकल्प हो और हो, वह तो जाननेयोग्य है, वह कहीं आदरनेयोग्य नहीं। आहाहा! ऐसा मार्ग तो देखो, वीतरागमार्ग आत्मा का! अब वहाँ सर्वस्व मान लिया गया बाहर। यहाँ तो **उछाहकी तरंग उठै....** निर्मल धारा स्वभाव-सन्मुख की वर्ते, उसका नाम प्रभावना, ऐसा कहते हैं। ऐई चेतनजी!

मुमुक्षु : उल्लसित वीर्य।

पूज्य गुरुदेवश्री : उल्लास अन्दर। यह तो बाहर हाथी, घोड़ा और मनुष्य... यह तो बाहर रह गया, तेरी दशा में कहाँ आया?

मुमुक्षु : एक मील में था।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो उसने लिखा था, मील इतना सब (नहीं होता)। मील किसे कहते हैं? परन्तु इतना बड़ा नहीं। बड़ा....

मुमुक्षु : यहाँ से स्टेशन तक।

पूज्य गुरुदेवश्री : स्टेशन तक। वह तो लोग कितने और फिर कुछ सकड़ा नहीं था। बड़ा था।

शहर में दो ओर बड़ी मोटर जाने के रास्ते हों। ऐसे जाने का रास्ता भी बड़ा और ऐसे बीच में... रास्ता बड़ा दोनों ओर। उसकी उस ओर ऐसे जाये न। बहुत बड़ा रास्ता। यह आत्मा इतना चौड़ा है कि अनन्त-अनन्त गुण को एक समय में सावधानपने से उछाले, यह उसकी प्रभावना है। ऐई माणिकलालजी! प्रयोग कहते हैं, प्रभावना—भावना। भावना—अपनी पर्याय अपने से दूर होगी?

मुमुक्षु : नहीं होगी।

पूज्य गुरुदेवश्री : शुभभाव और बाहर की क्रिया तो दूर है। बाहर की क्रिया परद्रव्य की है। शुभभाव तो आस्रव के परिणाम हैं। कहो, समझ में आया? वस्तु ऐसी है। वह व्यवहार-व्यवहार करके लोगों को ऐसे उत्साह हो जाता है न! व्यवहार अर्थात् परन्तु... व्यवहार में उत्साह होना, वही खोटी बात है, ऐसा कहते हैं। स्वरूप में उत्साह होना, वह वस्तु है, ऐसा है यहाँ। समझ में आया?

एई आठौ अंग जब जागै समकितमैं,... लो। आहाहा! आत्मा का दर्शन, उसमें आठों अंग सहचर—साथ में जगे—उत्पन्न हो। **ताहि समकितकौ धरै सौ समकितवंत....** ऐसे आठ अंगसहित समकित को धारे—उसे हो, वह समकितवन्त है। आहाहा! **वहै मोख पावै जौ न आवे फिरि इतमैं,....** वह मोक्ष को पाता है, वह सिद्धपद को पाता है। और न **इतमैं—**अब संसार में नहीं आता। **फिर संसार में नहीं आता।** आवे (कहाँ), संसार था ही कहाँ इसमें? अर्थ तो हो गया। विशेष है अब। उसमें है न विशेष? विशेष है न!

जिस प्रकार शरीर के आठ अंग होते हैं। अब यह नाम नीचे। नीचे नाम है न। **शिर—**सिर, **नितंब—**बैठक, इस शरीर की बैठक—नीचे का भाग। उसे यह नितम्ब के साथ कान... वहाँ नितम्ब का अर्थ यह।

मुमुक्षु : खम्भा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : खम्भा होता है। यह शब्द कहीं मस्तिष्क में है। इसमें भी कहीं

है। नितम्ब जोड़े कानसो। अर्थात् यह शब्द सवैया जैसा है, नहीं ? समयसार नाटक में कहीं होना चाहिए। देखा, परन्तु हाथ नहीं आया। थोड़ा देखा मोक्ष (द्वार) तक। शब्द मस्तिष्क में रह गया है कहीं। कहीं सब याद हो वहाँ ? ऐसा शब्द है, नितम्ब जोड़े कानसो। इसलिए भगवान याद आये फिर। उस कान को जोड़ देते हैं न यह टूटे नहीं। हाँ, हाँ, कन्धे के साथ। कन्धा-कन्धा कहलाये। कन्धे के साथ जोड़ देते हैं, टूटे नहीं (इसलिए)। बीच में। नितम्ब। यह स्त्री को नितम्बिनी कहते हैं। शास्त्र में बहुत जगह आता है। अब नितम्बिनी यदि कहो तो फिर पुरुष नितम्बिनी क्यों नहीं ? यदि अकेला अर्थ बैठक का हो तो, ऐसा।

ऐई ! ऐसा जरासा शब्द में ऐसा निकला था नितम्बिनी। तो फिर तुम उसे पुरुष के शरीर की बैठक नहीं। परन्तु उसे कहा हो, वह अपेक्षा से। नितम्ब—बैठक अथवा कन्धा। यह कन्धा-कन्धा एक लेना, हों, वह सब होकर। **उर—**यह हृदय छाती एक। तीन (हुए)। और पीठ (मिलकर) चार। पीछे पीठ। चार और कर (हाथ) दो। छह (हुए) और दो पैर। **कर जुगल जुगल पद,...** ऐसा। दो हाथ और दो पैर। ऐसा करके आठ हैं। **आठ अंग ये तन विषै, और उपंग अनेक...** लो, ठीक। इसके अतिरिक्त के अँगुलियाँ और यह सब, यह सब उपंग। मूल आठ अंग ये। **शरीर के आठ अंग होते हैं और वे अपने अंगी अर्थात् शरीर से पृथक् नहीं होते**। इस शरीर के आठ अंग शरीर के ही अवयव हैं। कहीं शरीर अलग हो और उसके अवयव अलग, ऐसा है नहीं। **और न शरीर उन अंगों से पृथक् होता है**। दोनों पारस्परिक। **अंगी अर्थात् शरीर से पृथक् नहीं होते और न शरीर उन अंगों से पृथक् होता है,....** ऐसा।

अंग है, वह अंगी से भिन्न नहीं और अंगी है, वह अंग से भिन्न नहीं, ऐसा। शरीर है वह इन हाथ-पैर (आदि) अवयव से भिन्न नहीं और शरीर के अवयवों से शरीर भिन्न नहीं। शरीर उनसे भिन्न नहीं। अंगी से अंग और अंग अंगी से भिन्न नहीं। इसी प्रकार समकित के जो आठ अंग, उनसे समकित भिन्न नहीं और समकित आठ अंग से भिन्न नहीं। आठ अंग समकित से भिन्न नहीं और समकित आठ अंग से भिन्न नहीं। अरे... अरे !

मुमुक्षु : एक भाग।

पूज्य गुरुदेवश्री : एक ही वस्तु है न। **उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के नि:शंकित**

आदि आठ अंग होते हैं और वे अपने अंगी अर्थात् सम्यग्दर्शन से पृथक् नहीं होते.... सम्यग्दर्शन से कहीं भिन्न नहीं। **और न सम्यग्दर्शन अष्ट अंगों से निराला होता है।** परस्पर। **आठों अंगों का समुदाय ही सम्यग्दर्शन है।** लो। यह तो अभ्यन्तर—निश्चय की बात ली न और पर्याय स्वयं....

मुमुक्षु : समयसार में निश्चय है।

पूज्य गुरुदेवश्री : निश्चय है न समयसार में। पीछे से लिखा है कि भाई! यह निश्चयप्रधान है। अब **चैतन्यनट का नाटक,...** लो। अन्तिम अर्थ यह निकालेंगे। अब ३०वाँ कलश नीचे है न! ३०वाँ।

रुन्धन् बन्धं नवमिति निजैः सङ्गतोऽष्टाभिरङ्गैः
प्राग्बद्धं तु क्षयमुपनयन् निर्जरोज्जृम्भणेन।
सम्यग्दृष्टिः स्वय-मतिरसा-दादिमध्यान्तमुक्तं,
ज्ञानं भूत्वा नटति गगनाभोगरङ्गं विगाह्य।।३०।।

आहाहा! इसका पद। चैतन्य नट का नाटक। चैतन्य नट का नाटक।

★ ★ ★

काव्य - ६१

चैतन्य नट का नाटक (सवैया इकतीसा)

पूर्व बंध नासै सो तो संगीत कला प्रकासै,
नव बंध रुंधि ताल तोरत उछरिकै।
निसंकित आदि अष्ट अंग संग सखा जोरि,
समता अलाप चारी करै सुर भरिकै।।
निरजरा नाद गाजै ध्यान मिरदंग बाजै,
छक्यौ महानंदमैं समाधि रीझि करिकै।
सत्ता रंगभूमिमैं मुकत भयौ तिहूं काल,
नाचै सुद्धदिष्टि नट ग्यान स्वांग धरिकै।।६१।।

शब्दार्थः-संगीत=गायन। सखा=साथी। नाद=ध्वनि। छक्यौ=लीन हुआ। महानंद=बड़ा हर्ष। रंगभूमि=नाट्यशाला।

अर्थः-सम्यग्दृष्टिरूपी नट, ज्ञान का स्वांग बनाकर सत्तारूप रंगभूमि पर मोक्ष होने के लिये सदा नृत्य करता है; पूर्वबन्ध का नाश उसकी गायन विद्या है, नवीन बन्ध का संवर मानों उसका ताल तोड़ना है, निःशंकित आदि आठ अंग उसके सहचारी हैं, समता का अलाप स्वरों का उच्चारण है, निर्जरा की ध्वनि हो रही है, ध्यान का मृदंग बजता है, समाधिरूप गायन में लीन होकर बड़े आनन्द में मस्त है।।६१।।

काव्य-६१ पर प्रवचन

पूर्व बंध नासै सो तो संगीत कला प्रकासै,
नव बंध रुंधि ताल तोरत उछरिकै।
निसंकित आदि अष्ट अंग संग सखा जोरि,
समता अलाप चारी करै सुर भरिकै॥
निरजरा नाद गाजै ध्यान मिरदंग बाजै,
छक्यौ महानंदमैं समाधि रीझि करिकै।

...बनारसीदास ने... इसलिए उसमें लिखा न **घर घर नाटक कथा बखानि।** कहो, आता है न! इस समयसार नाटक की यह पुस्तक पढ़ते हुए लोग बहुत प्रसन्न हुए, भाई! आहाहा! वहाँ थोड़े से बाकी आये थे, वे लोग तो लेते थे एकदम। बड़ी पुस्तक, कागज-बागज... समझे ने.... माँग है उतनी भी रही नहीं अब तो। कम हो गयी। यह १७०० मँगायी थी, वह नहीं आयी न। कितने ही शोर मचाते थे। हमने दो सौ माँगी और ३५ आयी, ऐसा कहते थे वहाँ, हों, जयपुरवाले कहते थे। ३५ आयी हमारे तो। और कोई कुछ भोपालवालों ने कुछ मँगायी थी। यह हमारे तो बहुत थोड़ी आयी है। ऐसा प्रिय और दिखाव भी ऐसा है इसका। कागज मोटा... आधार। यह तो वह.... ऐसा था छोटा ऐसा छोटा लो।

निरजरा नाद गाजै ध्यान मिरदंग बाजै, छक्यौ महानंदमैं समाधि रीझि करिकै।

सत्ता रंगभूमिमैं मुक्त भयौ तिहूंकाल.... अपनी सत्ता में मुक्त हुआ, कहते हैं। **सत्ता रंगभूमिमैं मुक्त भयौ तिहूंकाल,... नाचै सुद्धदिष्टि नट ग्यान स्वांग धरिकै,...** लो।

पूर्व बंध नासै सो तो संगीत कला प्रकासै... सम्यग्दृष्टि रूपी नट ज्ञान का स्वांग बनाकर.... है न अन्तिम। **ग्यान स्वांग धरिकै....** ज्ञान का स्वांग। मैं तो ज्ञानस्वरूप, उसका वेश धारण किया है। पुण्य-पाप और विकल्प और शरीर का वेश धर्मी को है ही नहीं। सम्यग्दृष्टिरूपी नट... है न अन्तिम पद, उसका अर्थ पहले किया है। **नाचै सुद्धदिष्टि नट ग्यान स्वांग धरिकै....** अन्तिम शब्द का पहला अर्थ किया। ज्ञान का स्वांग बनाकर फिर **सत्ता रंगभूमिमैं मुक्त भयो तिहूं काल....** सत्ता, लो। **सत्तारूप रंगभूमि पर मोक्ष होने के लिये सदा नृत्य करता है।** अपने अस्तित्व में द्रव्य-गुण और पर्याय शुद्ध, उसमें वह नाचता है। व्यवहार और राग में वह नाचता (नहीं)। आहाहा!

मुमुक्षु : पर्याय ले ली साथ में।

पूज्य गुरुदेवश्री : निर्मल पर्याय। निर्मल पर्याय में नाचता है न! यहाँ परिणमना है न! नाच करता है न। आठ अंग पर्याय ही है। समकित स्वयं पर्याय है और ज्ञान का स्वाँग वह भी पर्याय है। यह लेना है यहाँ। त्रिकाल ज्ञान हूँ, ऐसा जो पर्याय में भान हुआ, वही स्वाँग धरा है, ऐसा कहना है।

सत्ता रंगभूमि है इसकी। क्या कहा जाता है थियेटर को? ... कहे, क्या कहते हैं?

मुमुक्षु : थियेटर।

पूज्य गुरुदेवश्री : थियेटर। यह किसका? समकित का थियेटर क्या है? अपनी सत्ता। अपना अस्तित्व। द्रव्य-गुण और पर्याय का निर्मलरूप से अस्तित्व, वह अपनी सत्ता। आहाहा! **रंगभूमिमैं सत्ता मुक्त भयौ तिहूं काल,....** लो। **मोक्ष होने के लिये सदा नृत्य करता है।** शुद्ध चैतन्यवस्तु, उसकी जहाँ अन्तर अनुभव दृष्टि हुई अर्थात् वह अपने अनुभव में ही नाचता है, कहते हैं। अपनी सत्ता—अस्तित्व में (ही रहता है)। सत्ता के बाहर आता नहीं। आहाहा! आता है न कहीं, नहीं? सत्ता के बाहर निकले, वह चोर है। यह समयसार नाटक में आता है। मोक्ष अधिकार में कहीं आता है। सत्ता में रहे वह साहूकार और सत्ता के बाहर जाये, वह चोर। मोक्ष के अधिकार में कुछ है सही। वह

प्रमाद कहते हैं कुछ दूसरा। उसी सत्ता नहीं स्थापी कहीं। सत्ता... जहाँ ठोर-ठोर सत्ता है।

मुमुक्षु : २३।

पूज्य गुरुदेवश्री : (मोक्षद्वार-पद) २३ यह बहुत भाई आता है अन्दर। वह मुख्य बात लक्ष्य में रह गयी हो। अपना अस्तित्व—द्रव्य भी शुद्ध, गुण भी शुद्ध और पर्याय भी शुद्ध—वह अपना अस्तित्व, उसमें सदा ही परिणमता है। कहो, हुआ। अब पहले से। (पहली) लाईन।

पूर्व बंध नासै सो तो संगीत कला प्रकासै.... पूर्व बन्ध का नाश करे, यह तो गायन की विद्या। नाचनेवाला गाये सही न! नाटक में आवे और गाये न! 'ब्रह्मा सुत मैं नारद कहाऊँ, जहाँ होय संप वहाँ कुसंप कराऊँ।' पहले आवे यह। बड़ोदरा में देखा है। नाटक, अनुसूईया नाटक आया हुआ बड़ा, हों! उस समय सति अनुसूईया नाटक। वहाँ है न नर्मदा—भरूच के किनारे और अनुसूईया... क्या गाँव है कुछ ? .... का कोई गाँव है। पालेज से पाँच कोस है। वहाँ अनुसूईया नदी निकली है। यह दो बहनें थी मूल तो। अनुसूईया सती थी। उसका बड़ा नाटक हों, बहुत वैराग्यवाला। एक बार नहीं कहा था यह ? वहाँ कहा था। वह बाई ब्रह्मचारिणी थी। फिर स्वर्ग में जा रही थी ऐसी की ऐसी। स्वर्गवालों ने इनकार किया। 'अपुत्रस्य गति नास्ति' ऐसा आता है न भाई! ऐसा सब... विवाह बिना के (हों), पुत्र न हो, उसे गति नहीं होती सुगति।

मुमुक्षु : स्वर्ग में नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : ठीक, तो अब जाना कहाँ ? तो नीचे जो हो, उससे विवाह करूँ। उसमें नीचे एक अन्ध ब्राह्मण, उससे विवाह किया। उसे लड़के हुए।

शुद्धोसि बुद्धोसि निर्विकल्पोसि उदासिनोसि.... बेटा! ऐसा गीत गाती थी। (संवत्) १९६४ के वर्ष की बात होगी लगभग। संवत् ६४। बड़ोदरा में बड़ा थियेटर है उनका। वहाँ अन्दर गाती थी। छोटा बालक लायी होगी कहीं से। बालक... बालक, हों! वापस सच्चा, खोटा नहीं, ऐसा। वह कहीं से ले आये। ऐसा हो न नरम-बरम। **शुद्धोसि... निर्विकल्पो...** अपने आता है न भाई! बन्ध अधिकार में।

मुमुक्षु : ....में और परमात्मप्रकाश में।

पूज्य गुरुदेवश्री : दोनों जगह आता है। अपने उसमें समयसार (जयसेनाचार्य की टीका) में दो जगह है। समयसार में बन्ध अधिकार में अन्त में और (मोक्ष अधिकार में) अन्त में और परमात्मप्रकाश में है। अन्त में आता है, आता है। है न, लिखकर हमने हमारे कुँवरजीभाई को भेजा था।

'शुद्ध हो प्रभु!' बालक को ऐसे संस्कार पड़ना चाहिए, लो। वे कहे कि ऐसा पहले से?

मुमुक्षु : पहले से खोटा सिखाना?

पूज्य गुरुदेवश्री : हरिभाई का वह ऐसा पढ़कर, कहता था न एक व्यक्ति कि ऐसा शास्त्र से ज्ञान नहीं होता, यह पहले से? आया था न हरिभाई?

मुमुक्षु : शास्त्र से ज्ञान होता है, ऐसा धवल में लिखा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : लिखा है, उसका अर्थ क्या है? शास्त्र तो परवस्तु है। उससे ज्ञान होता होगा? परलक्ष्यी ज्ञान भी उससे होता है? शास्त्र से ज्ञान नहीं होता। '**सत्थं ण याणदे किंचि...**' (समयसार गाथा ३९०)।

मुमुक्षु : उसमें कहाँ लिखा है कि उससे ज्ञान नहीं होता। वह तो शास्त्र स्वयं ज्ञान नहीं है, ऐसा लिखा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु शास्त्र स्वयं (ज्ञान) नहीं तो जिसमें नहीं उससे यहाँ होता होगा? ऐसा कि वह तो दलील आयी। कहा, परन्तु इसका अर्थ ही यह... शास्त्र से ज्ञान नहीं होता, इसका अर्थ—शास्त्र है वह पर है और उसके निमित्त में जो ज्ञान होता है, वह स्वयं से होता है वहाँ, तथापि वह वास्तविक ज्ञान नहीं है। समझ में आया? वास्तविक ज्ञान तो चैतन्य के अन्तरलक्ष्य से उत्पन्न हो, वह ज्ञान है। परन्तु इतना सब न कहकर, वह शास्त्र से (हुआ, ऐसा कहलाता) ज्ञान स्वयं से हुआ है और वह ज्ञान सच्चा है, इसलिए उसे यह ज्ञानवाले को अन्तरलक्ष्य जाता है और सच्चा ज्ञान होता है—ऐसी कथन की शैली ली है।

मुमुक्षु : बहुत लम्बी शैली।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो भाई ने कहा है न वहाँ। हाथी के दाँत बाहर के दूसरे

और चबाने के दूसरे हैं। सम्यग्ज्ञानदीपिका में है। यह जैन के आचार्यों के सब लेखन में आवे, तब ऐसा ही कहे। यह बाहर के दाँत हैं, सुन न अब! तू समझ। बात सच्ची है परन्तु अब... बाहर के दाँत हैं, वे खाने में काम आवे? दिखाव में काम आवे बड़े।

मुमुक्षु : गहने बनावे।

पूज्य गुरुदेवश्री : गहने सोने के... उसमें क्या भला हुआ? भूखा हो तो उससे चबाने में काम आते हैं वे? चबाने में तो वे छोटे-छोटे हों, वे काम आते हैं।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ। वह वस्तु ऐसी है। वस्तु का स्वभाव ऐसा है, भाई! यहाँ कहते हैं, सम्यग्दृष्टि को पूर्व बन्ध का नाश होता है, यह गायन की विद्या है। यह गायन की विद्या। हाँ, गायन आवे न! गायन गाये न अन्दर से वापस साथ में नाचनेवाला। ऐसा नाचे, ऐसा लगे वह... यह गायन है कि पूर्व बन्ध का नाश हो, वही गायन की विद्या है। है न? और संगीतकला है। देखो, संगीतकला ऐसी होती है न बाजा और फाजां और... धुन लगावे....

यहाँ अभी एक नाटक किया था। कितने नाच महिलाओं के करे लड़कियाँ। भाई ऐसा यहाँ क्या लगाया तुमने? कहा। टोडरमलजी का नाटक था। दिखाव टोडरमलजी का थोड़ा और दूसरा बीच में लड़कियाँ गाये और नाचें और घूमे यह... परन्तु अब यहाँ क्या काम था? था या नहीं? ऐ जवाहरलालजी! नाटक नहीं वह? यहाँ लड़कियाँ... मैंने तो कहा, भाई! इसमें मेरा समय व्यर्थ जाता है। तब एक व्यक्ति ने किसी ने बचाव किया था किसी ने कुछ। कौन था वह बचाव करता था। यह तो आपकी भक्ति करते हैं कि यह। यहाँ भक्ति? टोडरमलजी का दिखाना और यहाँ भक्ति?

मुमुक्षु : परन्तु भक्त कब हुए? तब न करे तो कब करे भक्ति?

पूज्य गुरुदेवश्री : भक्ति का यहाँ क्या काम था? टोडरमलजी की क्या स्थिति, वह बतानी है न। वह आया बहुत थोड़ा और यह (नृत्यादि) आया अधिक। यूं भी ऐसे-ऐसे कूदे लड़कियाँ और ऐसा। क्या है परन्तु यह? ऐसा करे और ऐसा... क्या है परन्तु ... किया तो?

मैंने तो कहा, यह ऐसा कुछ भाई अपने... यह तो धर्म का स्थान है। उसमें धर्म की बात (हो)। भले टोडरमलजी की स्थिति है, उसका वर्णन आना चाहिए। वह तो बहुत थोड़ा आया। यह तो वे बैठे थे न। न्यालभाई जैसे कहे, यह सब लम्बा। भाई ने भी कहा था, हों! गोदिकाजी (ने)। गोदिका भी बोले थे, हों! 'यह क्या? कहे, मुझे भी पसन्द नहीं आता।' ऐसा लड़के-लड़के पसन्द कर आये होंगे यह पाटनी न। यह वे पढ़े हुए हो न पढ़े हुए ऐसे कोई, उन लोगों ने किया हुआ। यह कोई कहते अवश्य थे। कोई होगी संस्था, उसके लड़के करनेवाले थे। उनका अपना नाचते हो न, वह थोड़ा इसमें बताना, ऐसा। भाई! यहाँ तो अपना ज्ञान... जिसमें ज्ञान... दो बातें हों—या कोई श्रद्धा-ज्ञान की बात हो और या कोई वैराग्य की हो। दो बात के अतिरिक्त तीसरी नाच-नृत्य रास, वह तो सब बहुत नाचते हैं। नाच नट भी नाचते हैं। उसमें नया क्या परन्तु यहाँ तुझे करना है? एक व्यक्ति कोई बचाव करता था। अपने में से था कोई। भूल जाते हैं बहुत लोग न....

यहाँ तो कहते हैं, **नव बंध रुंधि ताल तोरत उछरिकै....** नये कर्म रोकता है, वह संवर मानो, वह ताल तोड़ने का है। मृदंग पर मारते हैं न हाथ... मृदंग पर हाथ मारते हैं न ऐसे। ध्वनि, यहाँ कहते हैं नये कर्म को रोकने के लिये, वह तोल तोड़ना है। आहाहा! **उछरिकै—**ताल तोड़ना, ऐसा लिखा है। **निसंकित आदि अष्ट अंग संग सखा जोरि....** अब अकेला नाचे नहीं। साथ में होते हैं न दूसरे सखा। लड़कियाँ बहुत अधिक हों, गृहस्थ अधिक हों। साथ-साथ में हो। ऐसा हो, कोई ऐसा हो। ऐसे निःशंकित आदि अष्ट अंग, वह संग सखा है। वह सखा है उसके सब, मित्र हैं उसके। समकित के आठ अंग मित्र हैं। **संग सखा जोरि—आठ अंग उसके सहचारी है,....** लो। उसकी जोड़ी है। समकित के आठ अंग, वह जोड़ी है उसकी। सहचर है, जोड़ी अर्थात् ऐसे साथ में होते हैं। .... तो ठीक डाला है।

समता अलाप चारी करै सुर भरिकै,.... लो। **समता का अलाप स्वरों का उच्चारण है।** समता... उसमें स्वर का चलता है न, उसमें क्या कहलाता है? वह... वह... फलाना फलाना।

मुमुक्षु : आलाप।

पूज्य गुरुदेवश्री : आलाप। आलाप करते हैं न। आ.... आ.... थोड़ी देर ऐसा करे, बहुत होशियार हो वह। धमप, मधप, पधम फलाना-फलाना ऐसा कुछ करते हैं, नहीं ? वह आलाप... आलाप करे आलाप। वह आलाप कौन सा यहाँ ? समता का आलाप यहाँ तो। स्वरों का उच्चारण है समता। आहाहा! निर्विकल्पता वीतरागता, वह स्वरों का उच्चारण है। आहाहा! देखो, यह समकितरूपी नट का नाटक। **निरजरा नाद गाजै....** यह निर्जरा की ध्वनि... नाद—ध्वनि निर्जरा का नाद है। अशुद्धता टलती है, वह शुद्धता बढ़ती है, वह उसकी ध्वनि है। आहाहा! नाद का अर्थ ध्वनि किया है यहाँ। **निर्जरा की ध्वनि हो रही है।**

ध्यान मिरदंग बाजै,... लो। उसमें व्यवस्थित ताल है। ताल व्यवस्थित मिलावे न पहले में। संवर मानो उसका ताल। और यहाँ ध्यान का मृदंग। स्वरूप में एकाग्रता वह मृदंग—ढोलक। ढोलक होती है न ढोलक। बाजा। और **छकयौ महानंदमैं समाधि रीझि करिकै। समाधिरूप गायन में लीन होकर....** समाधि... शान्ति... शान्ति... शान्ति... रागरहित एकाग्रता की समाधि। वह **गायन में लीन होकर....** जैसे यह गायन में लीन हो जाता है न, वैसे यह समाधि में लीन हो जाता है। यह उसकी गायन की लीनता है। **बड़े आनन्द में मस्त है,....** लो। **रीझि करके महानंदमैं छकयौ....** है। **समाधि रीझि करके,....** लो। समाधिरूप गायन में लीन होकर। रीझकर। अन्तिम दो पद की व्याख्या पहले हो गयी है। **नाचै सुद्धदिष्टि नट ग्यान स्वांग धरिकै, सत्ता रंगभूमिमैं मुक्त भयौ तिहूं काल।** आहाहा!

★ ★ ★

निर्जरा द्वार का सार

संसारी जीव अनादि काल से अपने स्वरूप को भूले हुए हैं, इस कारण प्रथम तो उन्हें आत्महित करने की भावना ही नहीं होती, यदि कभी इस विषय में उद्योग भी करते हैं तो सत्यमार्ग नहीं मिलने से बहुधा व्यवहार में लीन होकर संसार को ही बढ़ाते हैं और अनन्त कर्मों का बन्ध करते हैं, परन्तु सम्यग्ज्ञान की खूंटी का सहारा मिलने पर गृहस्थ-

मार्ग और परिग्रह-संग्रह की उपाधि रहने पर भी जीव संसार की चक्की में नहीं पिसता और दूसरों को जगज्जाल से छूटने का रास्ता बतलाता है। इसलिए मुक्ति का उपाय ज्ञान है, बाह्य आडम्बर नहीं। और ज्ञान के बिना सम्पूर्ण क्रिया बोझा ही है, कर्म का बन्ध अज्ञान की दशा में ही होता है।

निर्जरा द्वार के सार पर प्रवचन

अब सातवें अधिकार का सार। स्वयं बनारसीदास लिखते हैं। बुद्धि... बुद्धिलाल श्रावक है न, बुद्धिलाल। **संसारी जीव अनादिकाल से अपने स्वरूप को भूले हुए हैं।** निर्जरा अधिकार है न। उसे निर्जरा अनादि की है नहीं, ऐसा। अनादि का अज्ञान है। **इस कारण प्रथम तो उन्हें आत्महित करने की भावना ही नहीं होती।** आहाहा! देखो न, यह जन्मे, फिर जवानी हो और फिर विवाह करे और फिर लड़के और यह कुछ दुकान-बुकान व्यवस्थित चले, उद्योगपति नाम हो। हो गया, मर गया बेचारा। उद्योगपति। हमने बाहुबल से पैसा इकट्ठा किया। बापू कुछ छोड़ नहीं गये थे। ऐसे के ऐसे अज्ञानी (मानते हैं)। **आत्महित करने की भावना ही नहीं होती।** मेरा क्या होगा? मेरा हित कैसे होगा? उसकी तो कभी (चिन्ता की नहीं)। यह होली सुलगती है पूरी (जिन्दगी)। आहाहा! यह सब अस्तित्व है, उसे मैं रखूँ और उसमें बढ़ा, वह बढ़ा। ऐसा अनादि का (मिथ्यात्व है)। परन्तु मेरा अस्तित्व अनादि से पर से भिन्न है, उसमें क्या बढ़ा? उसकी इसे खबर भी नहीं। **भावना ही नहीं होती।** ऐसा कहते हैं। आहाहा!

यदि कभी इस विषय में उद्योग भी करते हैं तो सत्यमार्ग नहीं मिलने से.... कहते हैं कि सच्चा मार्ग मिलता नहीं, बेचारे व्यवहार में पड़े हैं। **(बहुधा व्यवहार में) लीन होकर संसार को ही बढ़ाते हैं....** ठीक। सत्यमार्ग मिले नहीं और व्यवहारमार्ग मिले। देखो, उसमें है। सत्यमार्ग नहीं मिलने से बहुधा व्यवहार में... व्यवहार में लीन होकर। यह दया पालना और व्रत पालना और तपस्या करना, पूजा करना, यात्रा निकालना—यह सब व्यवहारमार्ग—बन्धमार्ग है। ऐई पोपटभाई! क्या है यह तुम्हारा देखो न! उसे क्या दो-दो करोड़ की मशीन लेने गये हैं। अरे, मार डाले पैसा। पैसा मारता होगा? ऐसे

रुपयों के ढ़ेर देखे। कहो। क्या पन्द्रह सौ ट्रक निकले। पन्द्रह सौ ? वहाँ वे ट्रक धूल के। प्रतिदिन। यह क्या कहा ऐल्युमिनियम निकलता है न पत्थर। कितने ट्रक निकले प्रतिदिन।

मुमुक्षु : ८००।

पूज्य गुरुदेवश्री : ८००, लो। आँखें फट जाये न ऐसे। ८०० ऐल्युमिनियम के ट्रक निकलें बाहर। इतना बाहर आवे। उसमें वापस जाये जापान घूमने, आहाहा! बादशाह भी कैसा... मेरा क्या होगा, इसकी कुछ बात भी नहीं होती। आहाहा! यह तो एक दृष्टान्त। इसका नहीं, यह तो पूरी दुनिया की बात है न! आहाहा!

व्यवहार में लीन होकर.... व्यवहार कौन सा ? यह धर्म के नाम का, हों! धर्म के नाम का व्यवहार—शुभभाव करे। आहाहा! **संसार को ही बढ़ाते हैं।** ऐसे तो संसार बढ़ाता है। **और अनन्त कर्मों का बन्ध करते हैं....** लो। शुभभाव की क्रिया में एकाकार राग... देखो न, यह शत्रुंजय में आसोज पूर्णिमा आयी थी, मोटरें सड़सड़ाट जायें। बस की सब सब जाये माने। एक तो भगवान की यात्रा करना, ऐसा वापस लिखे ऐसे अन्दर में हो। शत्रुंजय की एक बार यात्रा करे तो भी भव का पार हो जाये, ऐसा उसमें आता है। कहो। यहाँ तो कहे, तीन लोक के नाथ की—तीर्थंकर की यात्रा अनन्त बार करे तो भी भव का नाश नहीं होता, ले। यह तो एक शुभभाव है, राग की मन्दता हो तो। वह तो संसार है। संसार को बढ़ाया। आहाहा! बाहर की यह धर्मप्रभावना... क्रिया में रुकना, व्यवहार की क्रिया में रुकना, शास्त्र बनाने में रुकना। ऐई! कहते हैं कि अकेले व्यवहार में रुका है, सम्यक्त्व का उपदेश तो आया (नहीं)। सत्यमार्ग क्या है, उसकी तो खबर नहीं होती। आहाहा!

और अनन्त कर्मों का बन्ध करते हैं.... वापस। वास्तविक (कर्म) तो अनन्त मिथ्यात्व है न! शुभभाव की क्रिया है, वह मेरी है और उसमें मैं हूँ। अनन्त कर्म बढ़ाता है। दर्शनमोह आदि अनन्त कर्म बाँधता है। आहाहा! क्या हो ? **परन्तु सम्यग्ज्ञान की खूंटी का सहारा मिलने पर....** लो, खूँटा मिला अब। सम्यग्ज्ञान की खूँटी... मैं तो चैतन्य शुद्ध ऐसा ज्ञान जहाँ हुआ, पुण्य-पाप के राग की क्रिया भी मेरी नहीं।

सम्यग्ज्ञान की खूंटी का सहारा मिलने पर गृहस्थ मार्ग और परिग्रह संग्रह की उपाधि रहने पर भी जीव संसार की चक्की में नहीं पिसता। गृहस्थमार्ग और परिग्रह—संग्रह की उपाधि रहने पर भी संसार चक्की में नहीं पिसता। विकल्प से जहाँ भिन्न पड़ा है ज्ञान और बाहर की क्रिया से तो भिन्न है ही। वह गृहस्थाश्रम में हो और परिग्रह के संग्रह की उपाधि भी हो बाहर की, तथापि जीव संसारचक्की में... राग की एकता ही टूट गयी है। सम्यग्ज्ञान में राग की एकता टूटी, वहाँ और पर की एकता कहाँ रही? आहाहा! संसारचक्की में नहीं पिसता। पुण्य-पाप के विकार में वह पिसता (नहीं), दबता नहीं, उसके दबाव में नहीं आ जाता, कहते हैं। आहाहा! शुभ-अशुभ विकल्प है, उससे मैं भिन्न हूँ, ऐसा भान हुआ, वह शुभाशुभ में पिलता नहीं। आहाहा!

और दूसरों को जगज्जाल से छूटने का रास्ता बतलाते हैं। दूसरे को भी, यह व्यवहार और निमित्त से पृथक् हूँ और पृथक् हो—ऐसा बतावे। और उपदेश में भी पर से भिन्न है और भिन्न हो, ऐसा बतावे। स्वयं जहाँ राग और निमित्त से भिन्न पड़ा है और भिन्न का ही भान वर्तता है, तो दूसरे को भी वही बात करे। देखो, यह उसका उपदेश ऐसा, ऐसा कहते हैं। राग कर और राग से लाभ होगा और मोक्षमार्ग होगा—यह उपदेश धर्मी का हो नहीं सकता। आहाहा! **इसलिए मुक्ति का उपाय ज्ञान है, बाह्य आडम्बर नहीं।** आहाहा! अन्तर स्वरूप की श्रद्धा, अन्तर का ज्ञान और ज्ञान में एकाग्रता, वह मुक्ति का उपाय है। बाकी बाह्य आडम्बर, वह उपाय है नहीं।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ८६, आषाढ़ शुक्ल ४, शनिवार, दिनांक २६-०६-१९७१
निर्जरा द्वार का सार

संसारी जीव अनादि काल से अपने स्वरूप को भूले हुए हैं, इस कारण प्रथम तो उन्हें आत्महित करने की भावना ही नहीं होती, यदि कभी इस विषय में उद्योग भी करते हैं तो सत्यमार्ग नहीं मिलने से बहुधा व्यवहार में लीन होकर संसार को ही बढ़ाते हैं और अनन्त कर्मों का बन्ध करते हैं, परन्तु सम्यग्ज्ञान की खूंटी का सहारा मिलने पर गृहस्थ-मार्ग और परिग्रह-संग्रह की उपाधि रहने पर भी जीव संसार की चक्की में नहीं पिसता और दूसरों को जगज्जाल से छूटने का रास्ता बतलाता है। इसलिए मुक्ति का उपाय ज्ञान है, बाह्य आडम्बर नहीं। और ज्ञान के बिना सम्पूर्ण क्रिया बोझा ही है, कर्म का बन्ध अज्ञान की दशा में ही होता है। जिस प्रकार कि रेशम का कीड़ा अपने आप ही अपने ऊपर जाल पूरता है, उसी प्रकार अज्ञानी अपने आप ही शरीर आदि से अहंबुद्धि करके अपने ऊपर अनन्त कर्मों का बन्ध करते हैं, पर ज्ञानी लोग सम्पत्ति में हर्ष नहीं करते, विपत्ति में विषाद नहीं करते, सम्पत्ति और विपत्ति को कर्मजनित जानते हैं, इसलिए उन्हें संसार में न कोई पदार्थ सम्पत्ति है न कोई पदार्थ विपत्ति है, वे तो ज्ञान-वैराग्य में मस्त रहते हैं। उनके लिये संसार में अपने आत्मा के सिवाय और कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है, जिससे वे राग करें और न संसार में कोई ऐसा पदार्थ है, जिससे वे द्वेष करें। उनकी क्रिया फल की इच्छा रहित होती है, इससे उन्हें कर्मबन्ध नहीं होता, क्षण-क्षण पर असंख्यातगुणी निर्जरा होती है। उन्हें शुभ-अशुभ, इष्ट-अनिष्ट दोनों एक से हैं अथवा संसार में उन्हें कोई पदार्थ न तो इष्ट है, न अनिष्ट है। फिर राग-द्वेष किससे करेंगे? किससे संयोग-वियोग में लाभ-हानि गिनेंगे? इससे विवेकवान जीव लोगों के देखने में सधन हों चाहे निर्धन हों वे तो आनन्द ही में रहते हैं। जब उन्होंने पदार्थ का स्वरूप समझ लिया और अपने आत्मा को नित्य और निराबाध जान लिया तो उनके चित्त पर सप्त प्रकार का भय नहीं उपजता और उनका अष्टांग सम्यग्दर्शन निर्मल होता है, जिससे अनन्त कर्मों की निर्जरा होती है।

निर्जरा द्वार के सार पर प्रवचन

यह निर्जरा अधिकार। सातवें अधिकार का सार। थोड़ा चला है। फिर से। यह निर्जरा अर्थात् धर्म कैसे हो, अशुद्धता कैसे टले और अज्ञान से कर्म कैसे बँधते हैं? दोनों बात है इसमें। पहले कहते हैं कि **संसारी जीव...** अनादि से, **अनादि काल से अपने स्वरूप को भूले हुए है।** आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप शुद्ध चैतन्य आत्मा को अनादि से भूला हुआ है। **इस कारण प्रथम तो उन्हें आत्महित करने की भावना ही नहीं होती।** अपने शुद्ध आनन्दस्वरूप को भूला हुआ, उसे आत्महित करने की पहले तो भावना ही नहीं। यह संसार में भटकने के भाव करना... **यदि कभी इस विषय में उद्योग भी करते हैं....** किसी को और ऐसा हित करने का विचार हो और उस विषय सम्बन्धी का प्रयत्न करे, परन्तु **सत्य मार्ग नहीं मिलने से....** सच्चा मार्ग मिला नहीं।

(बहुधा) व्यवहार में लीन होकर संसार को ही बढ़ाते हैं। वे तो दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा—यह परिणाम करके (संसार बढ़ाते हैं)। वह तो विकारभाव है। सच्चा स्वरूप उस राग की क्रिया से भिन्न है... दया-दान-व्रत-पूजा-भक्ति के जो परिणाम हैं, वह राग है, विकार है।

मुमुक्षु : सब जीव को बचाने को....

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन बचावे? किसे बचावे? कौन बचानेवाला? उसे स्वयं को बचावे विकार से, इसकी तो खबर नहीं। प्राणभाई! यह क्या है? कहे, किसी के प्राण को बचाना। आहाहा! कहते हैं, एक तो मानो व्यवहारधर्म क्या है, उसमें भी कितनों को तो कुछ खबर नहीं। ऐसे के ऐसे संसार में दौड़ में चला ही जाता है अनादि से। ऐसा करते हुए किसी को विचार हो तो उसे—बेचारे को सत्यमार्ग मिलता नहीं। व्रत, तप, भक्ति और पूजा, यह सब राग है, यह कहीं आत्मा की क्रिया नहीं, धर्म की क्रिया नहीं, वह तो विकार की क्रिया है। और विकाररहित अन्दर आत्मा का आनन्द स्वरूप है, यह बात उसे मिलती नहीं। इसलिए **(बहुधा) व्यवहार में लीन होकर...** बस यह क्रियाकाण्ड में लीन होकर **संसार को ही बढ़ाते हैं।**

मुमुक्षु : एक तो बेचारा उपवास करे....

पूज्य गुरुदेवश्री : उपवास कहाँ किया? धूल भी उपवास... लंघन है उसे। अपवास किये दो, चार, दस, बीस, पच्चीस, वह तो अभिमान है कि मैंने राग को छोड़ा। आत्मा का भान नहीं; जो आत्मा रागरहित, विकल्परहित, राग की क्रिया रहित है। आहाहा! उसके भान बिना वे सब अपवास करे, पूजा करे, मन्दिर बनावे, उपाश्रय बनावे, दया पालन करे, व्रत पालन करे, पुस्तक में बारह व्रत अंगीकार करे—सब संसार को बढ़ाते हैं। प्राणभाई! ऐसी बात है, जरा सूक्ष्म है। संसार को बढ़ाते हैं। ऐसा कि राग की क्रिया, विकल्प की क्रिया है वह तो। यह करना, यह पालन करूँ और उसे करना, वह तो राग है और राग में एकत्वबुद्धि है, भिन्न (आत्मा का) तो भान नहीं, इसलिए मिथ्यात्व को—संसार को बढ़ाता है। आहाहा! कहो, समझ में आया? मिथ्यात्वभाव को, अज्ञानभाव की ही पुष्टि करता है, ऐसा कहते हैं।

बहुधा व्यवहार में लीन होकर संसार को ही बढ़ाते हैं और अनन्त कर्मों का बन्ध करते हैं। आहाहा! यह व्यवहार की क्रिया, यह व्रत की, दया की, दान की, अपवास की, वह राग है, विकल्प का उत्थान है। यह करूँ, वह तो वृत्ति है—राग है। उसे अपनी माना और यह क्रिया मेरा धर्म है, ऐसा मानकर वह अनन्त कर्मों का बन्ध करता है। आहाहा! सुनने को मिला नहीं, ऐसा कहे। पहले नहीं कहा था? कि सत्य मार्ग इसने सुना नहीं।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, होंश... होंश... से मिथ्यात्व को सेवन करता है। राग की क्रिया है, विकल्प उठता है, प्रभु चैतन्य तो निर्विकल्प आनन्द का धाम है। वह तो ज्ञानसमुद्र आत्मा है। ऐसी राग की क्रिया से भिन्न स्वरूप की क्रिया की इसे खबर नहीं। और राग की क्रिया में एकत्वबुद्धि है, वह मिथ्यात्व है और मिथ्यात्व, वह अनन्त संसार का कारण है। चाहे तो वह व्रत पालता हो और महाव्रत पालता हो, वह भी विकल्प है, राग है। उसे वह स्वयं अपना स्वरूप मानता है अथवा उसे साधन मानता है। तो स्वभाव का साधन राग, वह तो एकताबुद्धि है। सूक्ष्म बात है। इसने कभी सुनी नहीं।

कहा न ऊपर, सत्यमार्ग मिला नहीं, इसलिए क्रियाकाण्ड में लवलीन रहे। अपवास करना, यह करना, ओळी करना, दान देना।

मुमुक्षु : वर्धमान तप में तो कुछ बाधा नहीं न?

पूज्य गुरुदेवश्री : वर्धमान तप था... निश्चित तो करे प्रवीणभाई! .... है, भाई कहते हैं उसे पूछना नहीं।

मुमुक्षु : नाम भी कैसा सरस दिया है वर्धमान तप।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! वर्धमान तप, वर्धमान ओळी। ऐई चेतनजी! ओळी को क्या कहते हैं? यह वर्धमान ओळी। यह वर्धमान ओळी या वर्धमान तप? मिथ्यात्व है, कहते है, यहाँ तो। भगवान का नाम ले तो भी विकल्प राग है। भगवान... भगवान... भगवान... भगवान... करे, वह तो विकल्प है। आहाहा! मार्ग बापू! वीतराग का मार्ग अलग प्रकार का पूरी दुनिया से भिन्न है। कहते हैं, सत्य मार्ग... यह विकल्प की क्रिया से भिन्न चीज़ है आत्मा, ऐसा सच्चा मार्ग तो सुनने को मिला नहीं। इससे बहुधा मनुष्य तो व्यवहार में लवलीन हो गये। इसलिए **संसार को बढ़ाते हैं और अनन्त कर्मों का बन्ध करते हैं....** लो। आहाहा!

परन्तु **सम्यग्ज्ञान की खूंटी का सहारा मिलने पर....** परन्तु जब, आत्मा ज्ञानमूर्ति, चैतन्यमूर्ति है, वह तो अकेला ज्ञाता और दृष्टा है—ऐसी अन्तर में अनुभव दृष्टि मिली, तो उसे ध्रुव का खूँटा मिला। डटा हुआ अनादि-अनन्त मैं चैतन्यमूर्ति हूँ। मुझमें यह दया, दान, व्रत के विकल्प की क्रिया तो मेरे स्वरूप में नहीं। आहा! भारी कठिन काम जगत को! **सम्यग्ज्ञान की खूंटी का सहारा मिलने पर गृहस्थ मार्ग और परिग्रह संग्रह की उपाधि रहने पर भी....** भले गृहस्थ का मार्ग हो, चक्रवर्ती का राज हो, परन्तु जहाँ राग और देह से मेरी चैतन्यखूँटी ध्रुवतारा भिन्न है, ऐसा अन्तर अनुभव और भान हुआ, तो कहते हैं कि गृहस्थ के मार्ग की भले वह क्रिया हो, परिग्रह संग्रह की उपाधि हो, पैसा भी लाखों-करोड़ों हो, **जीव संसार की चक्की में नहीं पिसता।** परन्तु वह पुण्य और पाप के विकल्प भी मेरे नहीं। मैं तो ज्ञान की मूर्ति चैतन्य शुद्ध आनन्द हूँ। ऐसे भान में वह पुण्य-पाप के चक्र में पिसता नहीं। समझ में आया? यह तो सार लिखा है पूरा।

मुमुक्षु : संसार की चक्की अर्थात्?

पूज्य गुरुदेवश्री : पुण्य-पाप के भाव, वह संसार की चक्की। वह शुभभाव, वह

पुण्य कर्मचक्र—दया, दान, व्रत, भक्ति पुण्यरूपी कर्मचक्र और हिंसा, झूठ, चोरी, विषय, वह पापरूपी कर्मचक्र। अज्ञानी दोनों कर्मचक्र में पिस गये हैं। धर्मी उस कर्मचक्र में पिसता नहीं। आहाहा! लिखा तो सरस है। **संसार की चक्की में नहीं पिसता।** आहाहा! **और दूसरों को जगज्जाल से छूटने का रास्ता बतलाता है।** दूसरे को भी ऐसा कहे कि पुण्य-पाप के परिणाम क्रिया राग है, उससे तुझे धर्म नहीं होगा। उस राग से भिन्न पड़कर चैतन्य का अनुभव कर तो धर्म होगा। ऐसा स्वयं भी राग की चक्की में पिसता नहीं, जगत को भी यह उपदेश ऐसा देता है। कान्तिभाई! आहाहा! कहो, समझ में आया? आज तो शनिवार है।

मुमुक्षु : शनिवार को अवकाश है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अवकाश पड़ता है? ऐसा।

मुमुक्षु : चौथा शनिवार।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, चौथा ठीक। आहाहा!

दो बातें सिद्ध कीं। एक तो सम्यग्ज्ञान का खूँटा चैतन्यमूर्ति मैं आनन्द और ज्ञान का सागर हूँ। ऐसा जहाँ ध्रुव चैतन्य की दृष्टि और अनुभव हुआ, उसे उसका सहारा मिला वस्तु का। उस वस्तु के सहारे की दृष्टिवन्त धर्मी, पुण्य-पाप के विकल्प मेरे हैं—ऐसे पिसता नहीं। वह भिन्न रहकर अपनी क्रिया—राग से भिन्न अपनी स्वभावक्रिया करता है। अरे, अरे क्या क्रिया! समझ में आया? **इसलिए मुक्ति का उपाय ज्ञान है।** मोक्ष का उपाय तो पुण्य-पाप की क्रिया से आत्मा का स्वरूप अन्दर भिन्न है, उसका भान और अनुभव करना, वह ही मोक्ष का उपाय है। निर्जरा अधिकार है न! **बाह्य आडम्बर नहीं....** यह सब बाह्य आडम्बर की क्रियायें हैं। आहाहा! व्रत, तप, दान, पूजा और भक्ति, वह सब विकल्प बाह्य आडम्बर है। आहाहा!

और ज्ञान के बिना सम्पूर्ण क्रिया बोझा ही है। आत्मा के भान बिना वह राग का परिणाम है, मैं शुद्ध चैतन्य आनन्द ज्ञायक चैतन्य हूँ, ऐसी जहाँ अन्तर्दृष्टि और सम्यग्ज्ञान नहीं, वहाँ यह सब क्रियायें भार—बोझा है। आहाहा! राग के परिणाम, वह बोझा—भार है। '**क्लिशतां**' आता है न! क्लेश करो तो करो, परन्तु यह पाँच महाव्रत के परिणाम

आदि बोझा है, भार है, दुःख है, राग है। आहाहा! भारी कठिन काम! अब यहाँ उसके माने हुए व्रत और उसकी मानी हुई क्रियायें, वह धर्म। यह सेठिया भी उसमें वापस पोषण दें साथ में। ऐ प्राणभाई!

मुमुक्षु : सेठिया क्या करे... ?

पूज्य गुरुदेवश्री : ....अठ्ठम किये कितने व्यक्तियों ने? दो सौ ने। जाओ, सबको पाँच-पाँच रुपये दो। हम कर सकते नहीं तो अब अपने करते हों, उन्हें तो अनुमोदन करें, ऐसा कहे। परन्तु वह मिथ्यात्व का अनुमोदन है, सुन न! ऐई!

दो नुकसान हुए। एक मिथ्यात्व का लाभ हुआ और वे करते हैं, उन्हें अनुमोदन देते हैं कि यह ठीक किया है इन्होंने, वह मिथ्यात्व को पोसता है। नटुभाई! ऐसा है। आहा! मार्ग बापू! यह राग की वृत्ति उठती है कि यह करूँ और यह करूँ, व्रत, दान और पूजा। हो, समकित के बाद भी होता है, परन्तु उसका आदर नहीं। उसे हेयबुद्धि से जानता है, धर्मबुद्धि से उसे मानता (नहीं)। आहाहा! ऐसी है बात ही कठोर है। परिणाम हो और कर्ता न हो, यह बात कठोर। सम्यग्दर्शन में पुण्य-पाप की क्रिया से, राग की क्रिया से भिन्न ऐसा स्वरूप अनुभव में आने से, वे राग के परिणाम करने योग्य हैं, इसलिए करूँ—ऐसी बुद्धि होती ही नहीं। तथापि परिणाम होते हैं। आहाहा! यह कठिन बात! शान्तिभाई! समझ में आया या नहीं यह?

ज्ञान के बिना भगवान आत्मा पुण्य-पाप के विकल्प की क्रिया से भिन्न ऐसा चैतन्य का आत्मज्ञान—स्वरूप का भान, स्वरूप का स्वीकार और स्वरूप की जिसे कीमत का ज्ञान नहीं, (उसे) सम्पूर्ण क्रिया बोझा है। आहाहा! यह अपवास करते हैं दो और पाँच और दस और बीस बोझा, भार—दुःख का भार है। यह सब दुःख का बोझा है। आहाहा! राग की क्रिया, वह तो दुःख का बोझा है।

मुमुक्षु : परन्तु वे ऐसा कहते हैं, वह क्रिया करके तो देखो।

पूज्य गुरुदेवश्री : अब अनन्त बार की ऐसी, सुन न! नौवें ग्रैवेयक में गया, तब अनन्त बार की थी। क्या है परन्तु अब? वह तो राग है, मिथ्यात्वसहित है। महापाप मिथ्यात्व का। सात व्यसन से भी बड़ा पाप। वह मिथ्यात्व लगा है उसे। राग है, वह मेरा

है, वह क्रिया मुझे करनेयोग्य है, वह क्रिया धर्म का साधन है। वह सब मिथ्यात्व—विपरीत मान्यता के शल्य को पोषण करनेवाली है। आहाहा! समझ में आया? आता है न इसमें। आयेगा आगे। **क्रिया मोक्ष की कतरनी....** मोक्ष की कतरनी है। भारी कठिन काम!

ज्ञान के बिना सम्पूर्ण क्रिया.... इसके अपवास और इसके रात्रिभोजनत्याग और... बड़ी धामधूम करे। दस-दस, बीस-बीस लाख के मन्दिर बनावे, उपाश्रय बनावे, बड़ा सेठ होकर घूमे, वह सब बोझा है, कहते हैं, दु:ख का। राग है, वह दु:ख है। आहाहा! **कर्म का बन्ध अज्ञान की दशा में ही होता है,...** देखो! कर्म का बन्ध। राग से भिन्न स्वरूप का भान बिना उस राग की क्रिया में एकत्वबुद्धि है, वही अज्ञान से कर्म का बन्ध अज्ञानदशा में होता है। आहाहा! **जिस प्रकार रेशम का कीड़ा...** रेशम का कीड़ा, **अपने आप ही अपने ऊपर जाल पूरता है।** मुख में से लार निकाल कर शरीर के ऊपर लपेटे। रेशम का कीड़ा।

यह भागलपुर है न, उस ओर चम्पापुर, नहीं? वासुपूज्य भगवान मोक्ष पधारे न, चम्पापुरी, वहाँ उस ओर भागलपुर है। सर्वत्र जा आये हैं न! वहाँ रेशम के कीड़े होते हैं। कितनों को तो ऐसा का ऐसा पाँच सौ, हजार, पाँच हजार को लेकर गर्म पानी में डाल दे, मार डाले और फिर वह पूरे रेशम के डोरे निकले पूरे। तो उसकी क्या कहलाती है वह? ऐरण्डी। उसकी ऐरण्डी ऊँची होती है। और कितने ही जीव काटकर निकल जाये पहले, उन टुकड़ों की जो ऐरण्डी हो, वह साधारण होती है। दो प्रकार की ऐरण्डी है। ऐरण्डी समझते हैं न? भागलपुर (में) होती है न।

कितने ही कीड़े जीवित, उसके ऊपर लिपटा हो स्वयं, परन्तु उसे काटकर निकल जाये। फिर टुकड़े, टुकड़ों को इकट्ठा करके ऐरण्डी बनाये, वह निर्दोष है। कितनों को तो ऐसा का ऐसा जीवित डाले गर्म पानी में। कहते हैं कि ऐरण्डी तो बाद में, परन्तु स्वयं जब लार निकालकर और लार निकालकर शरीर पर लपेटे। **अपने आप ही अपने ऊपर जाल पूरता है। उसी प्रकार अज्ञानी....** भगवान आत्मा राग और पुण्य की क्रिया और शरीर से भिन्न है, उसका भान नहीं, इसलिए राग की क्रिया मेरी, ऐसा मानकर, स्वयं ही अज्ञान खड़ा करके नये कर्म की लार में लिपट जाता है। आहाहा!

गजब बात! साधु हो, नौवें ग्रैवेयक जाये, महाव्रत पाले, चमड़ी उतारकर नमक छिड़के तो क्रोध न करे। तो भी उसे, वे महाव्रत के परिणाम धर्म है, पर की दया पालने का भाव, वह धर्म है—ऐसा जो मिथ्यात्व भाव, वह मिथ्यात्व की लार निकालकर अनन्त कर्म को लपेटता है। आहाहा! काम भारी कठिन।

अपने आप ही शरीर आदि से अहंबुद्धि करके.... देखो, न्याय दिया। शरीर की क्रिया, वह मेरी है और राग के परिणाम हुए, वे मेरे हैं। यह राग है, वह आस्रव है; शरीर, वह अजीव है। दोनों में अहंपना है कि यह मेरा कर्तव्य है। **अहंबुद्धि करके अपने ऊपर अनन्त कर्मों का बन्ध करते हैं।** लो। आहाहा! सूक्ष्म बात है। चैतन्य भगवान तो ज्ञाता-दृष्टा अनन्त ज्ञान का सागर है। उसमें इस राग की क्रिया का निषेध है, स्वभाव में नहीं। तथापि अज्ञानी स्वभाव का भान नहीं होने के कारण, राग की क्रिया स्वयं अनन्त बार करके मानता है कि मेरा मैंने हित किया। उस अज्ञान के कारण उसे राग का अभिमान है। गहरे-गहरे राग, वह मैं हूँ, ऐसा अहंपना है। राग से भिन्न है, उसके अहंपने की खबर नहीं। समझ में आया?

(अहंबुद्धि करके अपने) ऊपर अनन्त कर्मों का बन्ध करते हैं, पर ज्ञानी लोग... सम्यग्दृष्टि श्रेणिक राजा आदि राज में पड़े हों गृहस्थाश्रम में... अरे, भरत चक्रवर्ती भगवान के पुत्र, ९६ हजार स्त्रियाँ, ९६ करोड़ सैनिक, ९६ करोड़ ग्राम। **सम्पत्ति में हर्ष नहीं करते।** वह सम्पत्ति मेरी है, ऐसा मानता (नहीं)। आहाहा! वह तो जगत की चीज़ जड़ की है। मेरी चीज़ तो मेरे पास है। मैं आनन्द और ज्ञानस्वरूपी, वह मेरी सम्पदा है। ऐसे समकिती को अपनी सम्पदा अन्तर में भासित होती है। पर की सम्पदा को अपनी मानता नहीं। आहाहा!

ज्ञानी लोग सम्पत्ति में हर्ष नहीं करते, विपत्ति में विषाद नहीं करते। प्रतिकूलता के गंज हों, असाता के उदय के कारण शरीर में क्षयरोग हो, बाँझ हो, अविवाहित हो, अकेला हो, एकदम काला शरीर हो, पाँच रुपये महीने में पैदा करना भी आता (न हो)। आता अर्थात् (उत्पन्न) होते न हों, ऐसा। आता है किसे? यह सब होशियार लोग हों, वे अधिक पैदा करे या नहीं? लाख-लाख की आमदनी, दो-दो लाख और पाँच-पाँच लाख की आमदनी, होशियारी बिना होता होगा? धूल भी होशियारी नहीं वहाँ। तू

होशियार कैसा ? वह तो पूर्व के पुण्य के रजकण पड़े हों, उसका पाक (उदय) काल आवे तो दिखाई दे कि दो-पाँच करोड़ रुपये धूल आयी। यह माने कि मैं व्यवस्था बराबर बनाये रखता हूँ न। यह मिथ्यात्व का सेवन है। वास्तव में तो वह दुकान बन्द किसने की है ? इसने की है ? वह होनेवाली थी जड़ की। आहाहा! बहुत कठिन काम।

शरीर के रजकण-रजकण की क्रिया भी भिन्न है। वह तो अजीवतत्त्व है। अजीव परमाणु है। उसके द्रव्य, गुण और पर्याय में रहा हुआ तत्त्व है। आत्मा का होकर रहा है वह ? वह तो अजीव होकर रहा है। इसी प्रकार लक्ष्मी अजीव होकर रही है। अजीव होकर जगत के सत्व का तत्त्व अजीव होकर रहा है। उसे अपना माने, वह मिथ्यादृष्टि मूढ़ है, ऐसा कहते हैं। चाहे तो धर्मी नाम धराता हो, सामायिक, प्रौषध और प्रतिक्रमण करता हो और यह सम्पदा मेरी है, (ऐसा माने वह) मूढ़ मिथ्यादृष्टि है। धर्मी को सम्पत्ति में रस नहीं। यह दिखती है, वह चीज़ मेरी नहीं। यह सन्ध्या के रंग पुण्य के कारण खिले हैं। वह पुण्य भी मेरा नहीं और उसका फल भी मेरा नहीं। आहाहा! ऐसी सम्यग्ज्ञान दशा होने पर विपत्ति में विषाद नहीं। अरे! पाप करनेवाले ऐसे और उनका शरीर निरोग, उन्हें यह सब सुविधा और मैं धर्मी, मुझे यह सब असुविधा—ऐसा विकल्प धर्मी को नहीं होता। समझ में आया ? आहाहा!

हमारे एक बार ऐसा हुआ था, नारायणभाई, हमारे थे न नारायणभाई। क्षय रोग हो गया था न! यह दीक्षा ली थी न। फिर सहज मस्तिष्क... हुआ कालाहज है न कालाहज। बींछिया के पास कालाहज है। कालाहज है। .... यह राजकोट के पास पन्द्रह मील। कालाहज है। उसमें एक साधु निकले तुम्हारे वे कानजी मुनि और देवराजजी। और उन्हें जरा मस्तिष्क अस्थिर हो गया नारायणभाई का। हम कालाहज से बींछिया आते थे और वे कालाहज जाते थे। रास्ते में मिल गये। नारायणभाई कहे, हम ऐसे तो भी रोगी और यह ऐसे निरोगी ? यह तो कुछ भान बिना के हैं और ऐसे साधु....

कानजी मुनि और देवराजजी थे गोंडल में.... (संवत्) १९८७ के वर्ष की बात है, ८७। ८६ का चातुर्मास अमरेली था न, वहाँ से ८७ में बींछिया थे, तब की बात है। १३ और २७ = चालीस वर्ष हो गये। चालीस वर्ष पहले की बात है। वे ऐसा बोले थे, हों! कुछ बदला लगता है। अरे, अपने को ऐसे और रोग हो। इन महाराज को धर्म कुछ

खबर नहीं होती... शरीर ऐसा लट्ठ... गोंडल सम्प्रदाय के थे एक कानजी मुनि और एक देवराजजी थे। देवराजजी हैं या नहीं? दोनों गुजर गये। दोनों गुजर गये। यह तो बहुत वर्ष की बात है।

अरे, परन्तु किसे? पाप का उदय हो तो शरीर में रोग होता है, नरक की दशा भी होती है। श्रेणिकराजा अभी नरक में हैं, लो। तीर्थंकरगोत्र बाँधा है। वहाँ से निकलकर पहले तीर्थंकर होंगे। तो भी वे मानते हैं कि मुझे यह, मैं यह हूँ ही नहीं। मैं तो आनन्द और ज्ञान, वह मेरी चीज़ है। नरक अवस्था में मैं हूँ ही नहीं, नारकी मैं हूँ ही नहीं। आहाहा! समझ में आया? मैं नारकी ही नहीं, ऐसा मानते हैं। मैं कर्मवाला ही नहीं, मुझे गति ही नहीं। आहाहा! यह बात है कुछ! ज्ञानानन्दस्वरूप भगवान आत्मा का, उसका जहाँ भान हुआ, वह गति और कर्म-फर्म मेरे हैं ही नहीं। इसलिए प्रतिकूलता में द्वेष नहीं, अनुकूलता में हर्ष नहीं, ऐसा कहते हैं।

अज्ञानी को जरा सी अनुकूलता आवे, आहा! अभी बादशाही है अभी, बहुत व्यवस्थित है। ठीक। लड़के अच्छे काम में चढ़ गये। हमने भी कितने काम किये। अब कुछ अवस्था होने आयी, ६०-६५ वर्ष। परन्तु लड़के व्यवस्थित हो गये और लड़कियाँ भी अच्छे में विवाही गयी हैं। अब हम व्यवस्थित में। धूल में भी नहीं, सुन न अब! बाहर की जड़ की अवस्था में हर्षित होकर तू मानता है, वही मूढ़ है, यहाँ तो कहते हैं। समझ में आया? शान्तिभाई, क्या होगा यह सब? ... ऐसा धर्म होगा? बहुत अन्तर परन्तु यह। अभी लोग मानते हैं, उससे यह तो बहुत अन्तर है। ...भाई! आहाहा!

ज्ञानी लोग सम्पत्ति में हर्ष नहीं करते, विपत्ति में विषाद नहीं करते। सम्पत्ति और विपत्ति को कर्मजनित जानते हैं। धर्मी को तो राग से रहित आत्मा का भान है, इसलिए जितनी राग की सामग्री... कर्म के निमित्त से हुआ राग और कर्म के निमित्त से हुई सामग्री। इस ओर में घातिकर्म के निमित्त से हुआ राग, इस ओर में अघातिकर्म से हुई बाहर की सामग्री—दोनों को जड़ की और पर की मानता है। आहाहा! समझ में आया? धर्मी तो उसे कहते हैं कि जिसे कर्म के निमित्त से हुआ राग-द्वेष की वासना का विकल्प-आस्रव, वह उपाधि मेरी नहीं। मैं उसमें नहीं, वे मेरे नहीं। आहाहा! अघातिकर्म से प्राप्त बादशाही बाहर की। चक्रवर्ती का राज, हम उसमें नहीं, वह मेरा नहीं, हम तो

आत्मा हैं। हमारे में तो ज्ञान और आनन्द भरा हुआ है। यह राग और सम्पदा हमारी है (नहीं)। आहाहा! सम्पदा में पड़ा होने पर भी ऐसा मानता है, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

इसलिए उन्हें संसार में न कोई पदार्थ सम्पत्ति है, न कोई पदार्थ विपत्ति है। धर्मी को बाहर की कोई सम्पदा भी नहीं और कोई विपदा भी नहीं। **वे तो ज्ञानवैराग्य में मस्त रहते हैं।** आहाहा! देखो, दो भाग पड़े। अपना ज्ञान और राग से वैराग्य। उसमें यह समकिती मस्त होता है। आहाहा! है न, दोनों ओर से बात ली न! ज्ञान अर्थात् आत्मज्ञान। पुण्य-पाप के विकल्प से भिन्न ऐसा भान और राग से रहित दशा, वह वैराग्य। यह चौथे गुणस्थान में समकिती को ऐसा होता है। आहाहा!

उनके लिये संसार में अपने आत्मा के सिवाय.... देखो! धर्मी—समकिती को तो संसार में अपने को आत्मा के अतिरिक्त, एक भगवान आत्मा शुद्ध आनन्द सिद्धस्वरूप मेरा, इसके अतिरिक्त **और कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है जिससे वे राग करें।** किसमें राग करे? उसका पदार्थ कोई नहीं न दूसरा। राग आवे, उसका भी राग कहाँ करे? वह उसकी चीज़ ही नहीं न! आहाहा! व्यवहार का राग आवे, वह मेरा नहीं। फिर राग का राग कहाँ से करे? आहाहा! यह आ गया है अपने। शुभ में राग नहीं और अशुभ में द्वेष नहीं। अशुभभाव आवे परन्तु द्वेष नहीं। वह तो एक जगत की चीज़ है, उसका मैं जाननेवाला हूँ। जानने का स्वभाव उसमें मैं हूँ। यह राग और द्वेष के परिणाम में मैं नहीं। आहाहा! समझ में आया?

(कोई पदार्थ ऐसा नहीं) जिससे वे राग करें और न संसार में कोई ऐसा पदार्थ है जिससे वे द्वेष करें। उनकी क्रिया फल की इच्छा रहित होती है। रागादि हो, परन्तु जिसने राग है, उसे अपना स्वरूप नहीं माना। उसे राग का फल आओ, ऐसी इच्छा ही नहीं होती। आहाहा! भारी कठिन काम! यह दया-दान और भगवान की भक्ति, ऐसे परिणाम ज्ञानी को होते हैं, ऐसा व्यवहार से कहा जाता है, परन्तु वास्तव में वह परिणाम भी मेरे (नहीं)। आहाहा! यह तो परिणाम का फल आना। यह पुण्य किया है तो स्वर्ग मिले, पैसा मिले, सुविधा मिले भविष्य में व्यवस्थित—यह इच्छा धर्मी को होती नहीं। आहाहा! मैं तो आनन्द की मूर्ति सच्चिदानन्द प्रभु। **उनकी क्रिया फल की इच्छा रहित होती है।** भाव तो आवे भगवान की पूजा का, भगवान को वन्दन करने का, नामस्मरण

का। है वह शुभराग, परन्तु वह राग ही जहाँ अपने में एकपने मानता नहीं, उसे हेयबुद्धि से मानता है, उसके फल को वह क्यों इच्छे? गजब काम! समझ में आया?

इससे उन्हें कर्मबन्ध नहीं होता। सम्यग्दृष्टि को कर्मबन्धन होता ही नहीं। आहाहा! क्योंकि जिसके स्वभाव में पूर्ण सम्पदा आनन्द और शान्ति की पड़ी है, उसका जहाँ अनुभव और भान और प्रतीति वर्तती है, उसे राग के भाव का स्वामीपना नहीं, धनीपना नहीं, राग का कर्ता नहीं, राग के फल के इच्छता नहीं, परज्ञेयरूप से जानता है (इसलिए) उसे कर्मबन्धन नहीं होता। कर्मबन्धन के कारण भाव—वह भाव ही मेरे नहीं। आहाहा! गजब भाई ऐसा धर्म मार्ग! ऐसा वीतराग का स्वरूप होगा? ऐ माणेकलालजी! तुम्हारे वहाँ था दाहोद में वहाँ? दाहोद न क्या तुम्हारा? दाहोद। भीखाभाई का दूसरा, नहीं? दहेगाम। दोनों में द-द आता है। आहाहा! भगवान वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर तीर्थंकरदेव त्रिलोकनाथ ने कहा हुआ धर्म अलग चीज़ है। जगत को सुनने को मिली नहीं। वीतराग का कहा हुआ तो वीतराग धर्म होगा न। यह राग में धर्म मनावे तो वीतराग कैसे? और जो राग को धर्म माने, वह भी सम्यग्दृष्टि कैसा? वह तो मिथ्यादृष्टि है। आहाहा!

क्षण-क्षण पर असंख्यातगुणी निर्जरा होती है। आहाहा! जिसे चैतन्यस्वरूप भगवान पूर्णानन्दस्वरूप हूँ, ऐसा भान है, उसे तो क्षण-क्षण में रागादि टलता जाता है और कर्म भी गलते जाते हैं। आहाहा! अज्ञानी महाव्रतादि की क्रिया करे और राग को अपना मानता है, क्षण-क्षण में मिथ्यात्व आदि अनन्त संसार बढ़ाता है। कठिन बात! .... आहाहा! बेचारा पंच महाव्रत पाले। महाव्रत (नहीं), राग को पालता है। महाव्रत अर्थात् राग, विकल्प। उसे पालता है, रक्षण करता है और भगवान आत्मा राग रहित, उसका रक्षण छोड़ देता है। ऐसा मार्ग है अनादि का। नया कब था? वीतराग अनादि के हैं और अनादि का यह ही मार्ग कहते आये हैं। महाविदेह में तो त्रिकाल ऐसा का ऐसा वर्तता ही है भगवान की उपस्थिति में। समझ में आया?

परन्तु यह आत्मा क्या चीज़ है, इसकी लोगों को कीमत नहीं। आत्मा अर्थात् बस हो रहा, ... जाओ। वह बहुत जीव होते हैं न, वर्षा आवे तो। वे छोटे-छोटे जीव। वह पल्ला के जीव कहलाते हैं, ऐसा कहते हैं। परन्तु... अन्दर भगवान आत्मा है। तू शरीर को न देख और उसका राग है, उसे न देख और उसका कर्म है, उसे न देख, वह आत्मा

नहीं। उसका आत्मा अन्दर भगवान है, शुद्ध आनन्दकन्द है। वह पल्ला के जीव नहीं, वह परमेश्वर का जीव है। आहाहा! चेतनजी! वह परमेश्वरस्वरूप है। आहाहा! तुझे देखना आता नहीं आत्मा को। शरीर की क्रिया और शरीरवाला आत्मा, वह आत्मा ही नहीं। रागवाला और राग की क्रियावाला, वह आत्मा नहीं। आहाहा!

कहे, नौ तत्त्व है न! बन्ध, पुण्य-पापतत्त्व भिन्न, अजीवतत्त्व भिन्न, आस्रवतत्त्व भिन्न। वरना तो नौ किस प्रकार से सिद्ध होंगे? आहाहा! पुण्य-पाप के विकल्प दोनों आस्रवतत्त्व हैं, नये आवरण के कारण हैं। वह आत्मा के स्वरूप में नहीं। क्योंकि आत्मा आस्रव से रहित है। आहाहा!

मुमुक्षु : कब?

पूज्य गुरुदेवश्री : अनादि से है, परन्तु (सहित) माना है इसने। प्रवीणभाई! यह वकील है न! .... लो, गजब लिखा परन्तु, हों! सब सार लिखा है पूरे अधिकार का।

उन्हें शुभ-अशुभ, इष्ट-अनिष्ट दोनों एक से हैं। आहाहा! यह शुभ-अशुभभाव भी बन्ध का कारण है, ऐसा ज्ञानी जानता है। और शुभ-अशुभ की सामग्रियाँ बाहर अनुकूल-प्रतिकूल ज्ञेय जड़ है। मुझे है नहीं, मुझमें है नहीं, मुझसे आये नहीं। मुझसे आवे तो शान्ति और आनन्द आवे। यह आवे? यह तो पर है। आहाहा! **शुभ-अशुभ, इष्ट-अनिष्ट दोनों एक से हैं।** आहाहा! सातवाँ नरक। ऐसे तो समकिती वहाँ नहीं जाता, परन्तु तीसरे नरक में (तक) जाता है समकिती। वह अनिष्ट भी नहीं मानता। आहाहा! और स्वर्ग में जाये अहमिन्द्र होकर समकिती, उसे इष्ट मानता नहीं। वह पद ही इष्ट नहीं। वह (नरक का) पद अनिष्ट नहीं। आहाहा! मेरा पद तो उससे भिन्न है। उस मेरे पद में राग का पद नहीं, फिर यह पद कहाँ से आया? आहाहा!

अथवा संसार में उन्हें कोई पदार्थ न तो इष्ट है, न अनिष्ट है। धर्मी को जगत के सब पदार्थ ज्ञान में ज्ञेय—परज्ञेयरूप से ज्ञात होते हैं; इष्ट-अनिष्ट है नहीं। अज्ञानी मानता है कि यह मुझे इष्ट है और यह अनिष्ट है। और जो इष्ट हो और वह वापस अनिष्ट हो। प्रिय में प्रिय पुत्र इष्ट मानता हो, लो। परन्तु कुछ फेरफार हो गया। अलग हो जा, निकल जा, तुझे कुछ नहीं दूँगा, ऐसा कहे पिता। प्रवीणभाई को ख्याल है या नहीं? परन्तु ऐ... पच्चीस लाख तुम्हारे पास है। चार लड़कों का चौथा भाग तो दो छह लाख। एक पाई

नहीं देंगे, प्रतिशत भी नहीं। निकल जा। जिसे प्रिय माना था। जाना कि यह तो मेरा विनाशकारी निकला, यह तो कुछ करता नहीं। मुझे मार डालने का भाव आता है। क्योंकि बहुत वर्ष हुए न अब... श्रेणिक राजा को मारने का भाव हुआ न कुणिक को। आहाहा! दुनिया में तो ऐसा ही है बापू! कहते हैं, धर्मी जीव को तो आत्मा मेरा शुद्धानन्द है, वह मेरी चीज़ है। जगत में कोई शुभ-अशुभ, अनिष्ट कुछ मेरे लिये है (नहीं)।

फिर राग-द्वेष किससे करे? अनुकूल कोई नहीं तो राग कैसे करे? प्रतिकूल कोई नहीं तो द्वेष कैसे करे? अस्थिरता का राग आ जाये, वह वस्तु नहीं। वह वस्तु नहीं मुझमें, ऐसा यहाँ तो कहते हैं। समझ में आया? इसका नाम धर्म आत्मदृष्टि कि जिसे आत्मा के अतिरिक्त किसी चीज़ में इष्ट-अनिष्टपना (भासित नहीं होता)। ज्ञेय है, ऐसा भासित होता है; इसलिए फिर वह तो ज्ञान करता है। ऐसे यह ठीक है और यह अठीक है, यह चीज़ में नहीं। तो फिर मान्यता में कहाँ से हो उसे? अज्ञानी मानता है कि यह अनुकूल इतना। वह तो भाग किया उसने। ज्ञेय एक प्रकार से जाननेयोग्य है, मिथ्यादृष्टि ने उसके दो भाग किये। समझ में आया? गजब!

किससे संयोग-वियोग में लाभ-हानि गिनेंगे? धर्मी किसके वियोग से हानि माने और किसके संयोग से लाभ माने? आहाहा! भाई! अपनी पाँच लाख की पूँजी थी और यह पच्चीस लाख की हुई, मानो लाभ। मूढ़ मानता है। यह तो बाहर की जड़ की चीज़ है, वह तुझमें आयी कहाँ से और तूने मानी भी कहाँ से? कहो, समझ में आया? आहाहा! किससे संयोग-वियोग में लाभ-हानि माने, ऐसा कहते हैं। देखो न, भाषा देखो! संयोग और वियोग परचीज़ है। उसमें संयोग हुआ इसलिए लाभ और वियोग हुआ इसलिए नुकसान... एक प्रिय में प्रिय पुत्र, छह महीने के विवाह में तीस वर्ष का राजकुमार जैसा। देखो, पाँच-पच्चीस करोड़ का आसामी हो और दो करोड़ विवाह में खर्च किये हों। (विवाह के) छह महीने में मरे। धर्मी को पुत्र मेरा नहीं, (वहाँ) मरे कौन और छोड़े कौन? आहाहा! कहो, समझ में आया? ऐसे प्रसंग में भी उसे द्वेष नहीं कि यह क्या हुआ? वह तो एक जड़ की क्रिया है, संयोग है। मैं तो उसका जाननेवाला हूँ। प्राणभाई! ऐसी चीज़ है।

बड़ा गृहस्थ हो, तो देखो न लड़के के विवाह में डालते हैं न! भोगीभाई कहते, उनकी पुत्री की पुत्री का विवाह किया न मोरबी दुर्लभजी झबेरी के पुत्र के पुत्र के साथ। गृहस्थ है, बहुत करोड़पति है, बहुत करोड़पति, हों! मोरबी। वे कहते थे कि विवाह में आये लड़केवाले बड़ा सेट लेकर। डेढ़ करोड़ का तो गहना लाये थे। डेढ़ करोड़ का गहना। क्या कहलाता है तुम्हारे? गहना समुर्तु। वह तो बात तो हुई थी इस प्रकार से कि गोदिका में उतरे हुए को हम तो गोदिका। पूनमचन्द गोदिका के यहाँ उतरे हुए। इसलिए वह तो गृहस्थ व्यक्ति है और करोड़पति है। परन्तु उसके सामने पैंतीस लाख का मकान हुआ है, दुर्लभजी की बहू के नाम का... संतोकबा के नाम का अस्पताल। वहाँ पैंतीस लाख का बनाया। वह तो बड़े दो अरबपति हैं। परन्तु कम होगा परन्तु उसे गोदिका ऐसा लगा। भोगीभाई को कहा, दो अरब कहे किसे? यहाँ तो कोई कहता था, उसके और उसके मित्र। हाँ, यह सही कि उसके पुत्र का विवाह आया। डेढ़ करोड़ का गहना लाये थे। इसलिए बहुत करोड़ होंगे।

परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि वह दिये और दिये, वह मेरी क्रिया ही नहीं, ऐसा धर्मी मानता है। आहाहा!

मुमुक्षु : दे सही?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन दे परन्तु किसे दे?

मुमुक्षु : पुत्र की बहू को गहना न चढ़ावे?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन चढ़ावे? वह तो जड़ की क्रिया है। समकिती दे और दे, ऐसा मानता नहीं। आहाहा! अज्ञानी, मैंने ऐसा दिया और मैंने ऐसा दिया। दूसरे की अपेक्षा मैंने मेरे लड़के को अधिक (दिये)। वह लड़का मेरा नहीं, किसी का है। उसका शरीर तो जड़द्रव्य है। उसका आत्मा भी पर आत्मा है। उसमें तेरा कहाँ से हो गया वह? परद्रव्य को अपना मानना, वही महामूढ़ता और अज्ञान है। प्राणभाई! परवस्तु है या नहीं? वह आत्मा पर है या नहीं? कोई तुम्हारा है? वह तो उसका है। और उसका शरीर भी जड़-अजीव का है। वह कहीं तुम्हारा है? वह भी जड़ है, जहाँ वह अजीव है। वह परजगत की चीज़ है यह, अजीवतत्त्व है। उसे अपना मानना, वह मिथ्यादृष्टि है। अजीव को जीव माना। ....अपने को मार डाला अन्दर।

पच्चीस मिथ्यात्व में आता है न? अजीव को जीव... बोलता जाये, पहाड़े बोलता जाये। हाँ, जीव को अजीव माने तो मिथ्यात्व आता है; धर्म को कुधर्म माने... परन्तु धर्म किसे कहा जाता है, इसकी कुछ खबर भी नहीं होती। साधु को कुसाधु माने... परन्तु साधु किसे कहा जाता है, यह खबर है तुझे? आहाहा! उल्टा अर्थ होता है सब भान बिना का। पाँचवें समयसूत्र में भी बोलते हैं।.... पाँचवाँ समयसूत्र आता है न, उसमें आता है।..... मिथ्यात्व छोड़ देता हूँ। परन्तु तुझे मिथ्यात्व की खबर नहीं, क्या छोड़ दे? प्रतिक्रमण में आता है पाँचवाँ सूत्र। णमो चौबीसाय तित्थयेरामि ऋषभाय महावीर पजुसणामी। मिथ्यात्व को छोड़ता हूँ।.... परन्तु भान नहीं होता मिथ्यात्व का और समकित का। पहाड़े बोल रखे। आहाहा!

यह सब अर्थ करते थे, हों! हम सम्प्रदाय में। वह तिथि हो न चौदस-पांखी की सज्झाय की। वहाँ फिर ऐसे अर्थ करते। शास्त्र वंचाये नहीं। यह क्या कहते हैं इसमें? यह क्या कहते हैं, देखो तो सही! (संवत्) १९८० के वर्ष। कितने वर्ष हुए? ४७ हो गये। आठम, पूनम और एकम् सज्झाय वंचाय।

मुमुक्षु : आवश्यक वंचाय।

पूज्य गुरुदेवश्री : आवश्यक वंचाय। शास्त्र न वंचाय। आवश्यक का अर्थ करते थे। सभा बड़ी हो बोटाद में तो हजारों लोग। बापू! यह क्या कहते हैं यह? मिथ्थतं परिणामी। मिथ्यात्व को छोड़ा है। अब मिथ्यात्व खबर नहीं और छोड़ा कहाँ से बोले? झूठ बोले राग में। सम्मतं.... समकित को अंगीकार किया है। पुस्तक में लिखा है कि मैंने समकित अंगीकार किया, बारह व्रत अंगीकार किये। पुस्तक अंगीकार की है जड़ की। आहाहा! संयोग-वियोग में लाभ-हानि कैसे गिनेंगे? आहाहा!

इससे विवेकवान जीव लोगों के देखने में धनी हों, चाहे निर्धन हों,.... देखो! जिसे राग और पर से भिन्न आत्मा का भान सम्यग्दर्शन वर्तता है। ऐसे जीव **लोगों के देखने में...** लोग ऐसा देखे कि यह तो सधन है, अरबोंपति है, यह निर्धन है। कन्या भी मिलती नहीं। देखो, **वे तो आनन्द ही में रहते हैं।** धर्मी तो आनन्द में रहते हैं। आहाहा! कहो, समझ में आया? अपना आनन्दस्वभाव है, त्रिकाली आनन्दस्वभाव है, ऐसा जहाँ अन्तरभान वर्ता, वह तो अपनी दशा में है। वह राग, वह अपनी दशा नहीं और बाहर की

चीज़ अपनी चीज़ नहीं। जिससे पर में है नहीं। पर से उसे दु:ख-सुख की कल्पना भी नहीं होती। आहाहा!

जब उन्होंने पदार्थ का स्वरूप समझ लिया। आस्रव का तत्त्व, आत्मा का तत्त्व और जड़तत्त्व, ऐसा भिन्न-भिन्न जहाँ समझ लिया। **अपने आत्मा को नित्य और निराबाध जान लिया।** मैं तो त्रिकाल हूँ और मेरे स्वरूप को कोई बाधा करे, ऐसा मैं हूँ (नहीं)। त्रिकाल अनादि-अनन्त नित्यानन्द आत्मा मैं हूँ। ऐसा सम्यग्दर्शन अनुभव में भान हुआ, **...तो उनके चित्त में सप्त प्रकार का भय नहीं उपजता।** इसलोकभय और परलोकभय। यह अन्तिम योगफल करते हैं। समकिती को इसलोक का भय और परलोक का भय होता नहीं। यह सब सामग्री जीवित रहूँ, तब तक रहेगी या नहीं? मेरे पुत्र सब बिखर जायेंगे तो? फिर मैं अकेला वृद्ध। बहुएँ-बहुएँ सब कहेंगी, चलो अब। पूरे दिन दुकान में जाओ अब। यहाँ और यहाँ नहीं। यहाँ सब बहुओं को लज्जा (घूँघट) निकालना पड़े। तुम्हारे यहाँ क्या है? परन्तु तुम यहाँ देखो तो वह हो। जाओ दुकान में। हाय, हाय! यह वृद्धावस्था! मेरी जवान अवस्था थी। परन्तु जवान अवस्था भी तेरी नहीं थी और वृद्ध (अवस्था भी) तेरी नहीं, वह तो जड़ की है। आहाहा!

ऐसा बनता है, हों! हाँ, चार-पाँच बहुएँ हों, उनमें बड़बोली हो वह बोल दे। साधारण न बोले बेचारी खानदानी हो। हा... हा... हा... करके कफ निकालते हो और पूरे दिन लड़के को भी वह हो। दुकान में जाओ दुकान में अब। नहीं तो गोदाम में खाट डालो इनकी। घास का गोदाम हो न बाहर गाय-भैंस (बँधे)। यह सब बना हुआ है, हों! हाँ, देखा है। गोदाम में खाट डाले वहाँ इनको अकेला ठीक पड़ेगा, पेशाब करने, दस्त करने को। ऐसा करके वहाँ डाले। वह खेद माने, हाय... हाय! परन्तु वह चीज़ तुझे कहाँ थी तेरी? सुन न! मुफ्त का क्या...? वह गोदाम में डाले तो भी गोदाम की चीज़ में तू कहाँ है? तू तो तुझमें है। आहाहा! यह नरक में डाला, देखो न! मैं कर्म में भी नहीं, वहाँ नरक में डाले कौन? आहाहा! मैं गति में नहीं, गति मुझमें नहीं, मैं गति में नहीं। आहाहा! यह वह कुछ बात है! यह वस्तु का स्वरूप का ऐसा भान अन्तर में हो, उसे कहते हैं, **निराबाध जान लिया है....** आत्मा को कोई विघ्न ही नहीं। अनुकूल-प्रतिकूल चीज़ ही कोई नहीं।

उनके चित्त में सात प्रकार का भय नहीं उपजता और उनका अष्टांग सम्यग्दर्शन निर्मल होता है,... लो। समकित में आता है न! आठ अंग कहे न! नि:शंक, निकांक्ष, निर्विचिकित्सा (आदि)। **जिससे अनन्त कर्मों की निर्जरा होती है,....** लो, अनन्त कर्मों की समकिती को क्षण-क्षण में निर्जरा (होती है), कर्म गल जाते हैं। उपवास न करे तो भी गल जाये, ऐसा कहते हैं। और अज्ञानी अपवास करे तो भी मिथ्यात्व का पोषण क्षण-क्षण में होता है क्योंकि क्रिया मैंने की और राग का स्वरूप मेरा है। आहाहा! गजब बात है! वह अट्ठम अपवास करे और एक पोरसी चढ़ावे तो पच्चीस उपवास का पुण्य। कहो, प्राणभाई! सुना है या नहीं? सुना ही होगा न! तीन उपवास करे न अर्थात् अट्ठम। सवेरे एक पोरसी चढ़ाओ, पच्चीस उपवास का पुण्य। धूल भी नहीं, सुन न! मिथ्यात्व का पोषण है। आहाहा!

यह राग को छोड़ने योग्य है या राग आदरनेयोग्य है, इसकी कुछ खबर नहीं होती। यह क्रिया छूटी हुई है, पर की है। आहार मैंने छोड़ा नहीं, वह तो छूटा हुआ ही है। मुझमें आया नहीं। वहाँ आने का था ही नहीं। उसके बदले मैंने छोड़ा तो अजीव का स्वामी होकर मिथ्यात्व सेवन करता है। आहाहा! कहो, नटुभाई! धर्मी को तो अपने आत्मा के स्वभाव की श्रद्धा, ज्ञान और शान्ति वर्तती है। इसके अतिरिक्त मेरी कोई चीज़ ही नहीं न जगत में। शुभ विकल्प से पुण्य से लेकर कोई भी चीज़ उसके अस्तित्व में उसके कारण से है। मेरे अस्तित्व में वह मेरे कारण से आयी (नहीं)। आहाहा! देखो, यह धर्म का स्वरूप और रूप। इससे उसे कर्म की निर्जरा होती है। यह निर्जरा अधिकार पूरा हुआ। अब बन्ध अधिकार।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

८. बन्ध द्वार

प्रवचन नं. ८७, आषाढ़ शुक्ल ५, रविवार, दिनांक २७-०६-१९७१

बन्ध द्वार काव्य - १, २, ३, ४

समयसार नाटक, बन्ध अधिकार।

★ ★ ★

काव्य - १

प्रतिज्ञा (दोहा)

कही निरजराकी कथा, सिवपथ साधनहार।
अब कछु बंध प्रबंधकौ, कहूं अलप विस्तार।।१।।

शब्दार्थः-सिवपथ=मोक्षमार्ग। अलप=थोड़ा।

अर्थः-मोक्षमार्ग सिद्ध करनेवाले निर्जरा तत्त्व का कथन किया, अब बन्ध का व्याख्यान कुछ विस्तार करके कहता हूँ।।१।।

काव्य-१ पर प्रवचन

कही निरजराकी कथा, सिवपथ साधनहार।
अब कछु बंध प्रबंधकौ, कहूं अलप विस्तार।।१।।

कहते हैं, मोक्षमार्ग सिद्ध करनेवाला निर्जरा तत्त्व का कथन किया। आत्मा पवित्र—शुद्ध है, ऐसा अनुभव होने पर उसे कर्म की और अशुद्धता की निर्जरा होती है। आत्मा शुद्ध चैतन्य... निर्जरा की बात की। कैसी निर्जरा है ? कि **सिवपथ साधनहार...** आत्मा आनन्दस्वरूप, उसका आनन्द का शुद्ध उपयोगरूप अनुभव होना, उसे यहाँ निर्जरा कहा जाता है। **अब कछू बंध प्रबंधकौ....** अब थोड़े से बन्ध का विस्तार, कुछ

अल्प विस्तार करूँ, ऐसा वचनिकाकार कहते हैं। अब अमृतचन्द्राचार्य का मंगलाचरण।

रागोद्गारमहारसेन सकलं कृत्वा प्रमत्तं जगत्,
क्रीडन्तं रसभाव-निर्भर-महा-नाट्येन बन्धं धुनत्।
आनन्दामृतनित्यभोजि सहजावस्थां स्फुटं नाटयद्,
धीरोदार-मनाकुलं निरुपधि-ज्ञानं समुन्मज्जति।।१।।

इसका पद।

★ ★ ★

काव्य - २

मंगलाचरण (सवैया इकतीसा)

मोह मद पाइ जिनि संसारी विकल कीनें,
याहीतैं अजानुबाहु बिरद बिहतु है।
ऐसौ बंध-वीर विकराल महा जाल सम,
ग्यान मंद करै चंद राहु ज्यौं गहतु है।।
ताकौ बल भंजिवेकौं घटमैं प्रगट भयौ,
उद्धत उदार जाकौ उद्दिम महतु है।
सो है समकित सूर आनंद-अंकूर ताहि,
निरखि बनारसी नमो नमो कहतु है।।२।।

शब्दार्थ:-पाई=पिलाकर। विकल=दु:खी। बिरद=नामवरी। अजानुबाहु (आजानुबाहु)=घुटने तक जिसकी लम्बी भुजायें हैं। भेजिवेकौं=नष्ट करने के लिये। उद्धत=बलवान। उदार=महान। नमो नमो (नम: नम:)=नमस्कार नमस्कार।

अर्थ:-जिसने मोह की शराब पिलाकर संसारी जीवों को व्याकुल कर डाला है, जिसकी घुटने तक लम्बी भुजाएँ हैं, ऐसी संसार में प्रसिद्धि है, जो महाजाल के समान है, और जो ज्ञानरूपी चन्द्रमा को प्रभारहित करने के लिये राहु के सदृश है। ऐसे बन्धरूप भयंकर योद्धा का बल नष्ट करने के लिये जो हृदय में उत्पन्न हुआ है, जो बहुत बलवान

महान और पुरुषार्थी है; ऐसे आनन्दमय सम्यक्त्वरूपी योद्धा को पण्डित बनारसीदासजी बार-बार नमस्कार करते हैं।।२।।

काव्य-२ पर प्रवचन

मोह मद पाइ जिनि संसारी विकल कीनें,
याहीतैं अजानुबाहु बिरद बिहतु है।
ऐसौ बंध-वीर विकराल महा जाल सम,
ग्यान मंद करै चंद राहु ज्यौं गहतु है।।
ताकौ बल भंजिवेकौं घटमैं प्रगट भयौ,
उद्धत उदार जाकौ उद्दिम महतु है।
सो है समकित सूर आनंद-अंकूर ताहि,
निरखि बनारसी नमो नमो कहतु है।।२।।

मंगलाचरण करते हैं। कहते हैं कि राग की एकतारूपी जो बन्धभाव... आत्मा अबन्धस्वभावी वस्तु है। उसमें राग का भाग—कोई भी शुभ-अशुभराग, उसकी जो एकताबुद्धि, वह भावबन्ध है। वह भावबन्ध **महा मोह पद पाइ....** मिथ्यात्व की मदिरा इसने पी है। राग, वह मैं हूँ—ऐसी मिथ्यात्व की मदिरा बन्ध ने पी है। समझ में आया? **महा मोह पद पाइ जिनि संसारी विकल कीने....** अज्ञानी प्राणी को पागल बनाया है। विकारीभाव पुण्य और पाप का—वह 'मेरा' ऐसा जो मिथ्यात्वभाव, उस बन्धभाव ने जगत के जीवों को पागल बनाया है। है न! **(जिसने) मोह की शराब पिलाकर संसारी जीवों को व्याकुल कर डाला है।** व्याकुल। पुण्य और पाप के भाव—विभावभाव—विकारभाव—बन्धभाव—यह मैं हूँ, ऐसा जो मिथ्यात्व का अभिप्राय (जिसे है), उसने विपरीत श्रद्धारूपी मिथ्यात्व की मदिरा पी है। जिससे राग मेरा, ऐसा मानता है। समझ में आया?

महा मोह पद पाइ जिनि संसारी विकल कीनें, याहीतैं अजानुबाहु बिरद बिहतु है। कहते हैं कि वह महायोद्धा है। राग का बन्धभाव, वह महायोद्धा है। योद्धा का ऐसा

लक्षण आता है कि बहुत शूरवीर हो, उसके हाथ की लम्बाई (घुटने) तक पहुँचे लम्बा हाथ, कन्धा क्या? यह घुटने। खड़ा हो तो उसका हाथ का भाग यहाँ ऐसे तक पहुँचे। उसे योद्धा का बड़ा योद्धा कहा जाता है। समझ में आया? इसी प्रकार यह 'अजानुबाहु।' यह भी कहते हैं कि मिथ्यात्वरूपी बाहु—हाथ लम्बा हुआ है उसका—बन्ध का। **बिरद बिहतु है...** महामिथ्यात्व को लम्बा करके विस्तार करके और अज्ञान का महायोद्धा प्रसिद्ध हुआ है। चैतन्य भगवान आनन्दस्वरूप है, उसे भूलकर पुण्य और पाप के विकल्प का भावबन्ध, कहते हैं कि वह तो महायोद्धा है, ऐसा उसका बिरुद, उसकी नामावली निकली है बाहर। है न उसमें। नामावली कहते हैं न? नाम निकला, नाम निकाला। नहीं कहते? इसने नाम निकाला। इसी प्रकार भावबन्ध ने नाम निकाला है कि मैं एक योद्धा हूँ अज्ञानरूपी मिथ्यात्व का (योद्धा हूँ)। ऐसी उसकी प्रसिद्धि हुई है।

ग्यान मंद करै... ऐसो बंध-वीर विकराल महाजाल सम... ओहोहो! विकार के परिणाम की एकता की महाजाल रची है भावबन्ध ने। आहाहा! भगवान आत्मा, स्वरूप तो उसका अबन्धस्वरूप है। तथापि वह विकार के परिणाम शुभ और अशुभ, उसकी उसने जाल भावबन्ध ने रची है। **ग्यान मंद करै...**' आत्मा के स्वरूप की विपरीत दृष्टि करता है वह तो। मन्द करे तो ज्ञान की दशा हीन कर डाली है। भावबन्ध ने, 'पुण्य-पाप के विकार की वृत्तियाँ मेरी हैं', ऐसा जो भावबन्ध, उसने आत्मा की दशा को हीन कर डाला है। स्वयं ने, हों! अज्ञानभाव ने। आहाहा!

ग्यान मंद करै चंद राहु ज्यौं गहतु है... चन्द्र को जैसे राहु पकड़ता है, आड़े आता है। इसी प्रकार रागरूपी भावबन्ध चैतन्यरूपी चन्द्र के आड़े आता है। 'राग, वह मैं' ऐसा जो मिथ्यात्वभाव उसे आड़े आता है, चैतन्य के प्रकाश को रोकता है। आहाहा! **ताकौ बल भंजिवेकौ...** अब सुलटी। ऐसा जो भावबन्ध, जिसका नाम प्रसिद्ध है कि मैंने जगत को वश किया है। निगोद से लेकर, जैन का दिगम्बर साधु होकर नौवें ग्रैवेयक गया, उसे भी भावबन्ध ने वश किया है, क्योंकि राग की क्रिया, वह मेरी है— ऐसी उसकी नामावली निकली है, नाम निकाला है उसने। भटकाने में मैं होशियार हूँ। समझ में आया?

ताकौ बल भंजिवेकौ घटमैं प्रगट भयौ... सम्यक् सूर्य। मिथ्यात्वरूपी भावबन्ध

था, वह चैतन्य के स्वभाव को हीन कर दिया दशा में, हों! वस्तु तो वस्तु है। उसके बल को टालने के लिये घट में प्रगट हुआ। उद्धत (अर्थात्) किसी को गिने नहीं। एक आत्मा का आनन्दस्वभाव, उसका जिसे सम्यग्दर्शन में स्वीकार है। सम्यग्दर्शन योद्धा मिथ्यात्वरूपी योद्धा का नाश करने को समर्थ है। आहाहा! **ताकौ बल घटमैं उद्धत।** है न। बलवान, उदार, महान सम्यग्दर्शन अबन्धपरिणाम। रागादि की एकताबुद्धि मिथ्यात्व, वह बन्धपरिणाम। उस बन्धपरिणाम का नाश करने को समकितरूपी सूर्य उगा।

उद्धत उदार जाकौ उद्दिम महतु है... जिसका पुरुषार्थ अनन्तगुना है। उत्पन्न हुआ.... बन्धरूप भयंकर योद्धा का बल। बहुत **बलवान, महान और पुरुषार्थी है।** सम्यग्दर्शनरूपी परिणाम—सूर्य उगा, वह महा पुरुषार्थ है। जिसने अनन्त-अनन्त गुणस्वरूप भगवान आत्मा को जिसने प्रतीति और अनुभव में लिया, ऐसा सम्यग्दर्शनरूपी सूर्य प्रगट हुआ। देखो, यह बन्धभाव है, उसका नाश कैसे हो, यह बात भी साथ में वर्णन करते हैं। आहाहा! एक ही कलश में। पर्याय—रागबुद्धि जहाँ है, वह मिथ्याबुद्धि—मिथ्यात्वबुद्धि है और उसका फल चार गति में भटकने का विस्तार है। उसके बल को नाश करने के लिये भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य द्रव्यस्वभाव, अकेला ज्ञानस्वभाव और आनन्दस्वभाव, ऐसा अनुभव करता हुआ समकितदर्शन, जिसमें महापुरुषार्थ है।

सो है समकित सूर.... यह समकितरूपी सूर्य, **आनन्द-अंकूर ताहि...** '**आनंदामृत**' है न? '**आनंदामृत नित्यभोजि**' सम्यग्दर्शन वह चीज़ है कि जिसे अतीन्द्रिय आनन्द का नित्य भोजन है। मिथ्यात्व-राग की एकता में नित्य दुःख का भोजन है। सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ, कहते हैं, अबन्धस्वभावी भगवान आत्मा का जहाँ अनुभव होकर प्रतीति—अनुभव हुआ। कहते हैं, वह तो '**आनंदामृत नित्यभोजि**'—अतीन्द्रिय आनन्द का नित्य अनुभव करनेवाला है वह। उसका—समकिती का भोजन... आहाहा! सम्यग्दर्शन का आहार अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप के आनन्द का अनुभव, वह उसका भोजन है। कहो, समझ में आया?

है न, '**आनंदामृत नित्यभोजि**' समकित **आनंद-अंकूर ताहि...** आनन्दरूपी अंकुर फूटा। सम्यग्दर्शन हुआ, उसे अतीन्द्रिय आनन्द का अंकुर फूटा। देखो, वहाँ डाला है। अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आना, वह सम्यग्दर्शन का स्वरूप है। मिथ्यात्व का यह

स्वरूप है कि अनन्त आकुलता के दु:ख का वेदन है। आहाहा! समझ में आया? बहुत शब्दार्थ सब नहीं इसमें। सहजावस्था है न? (सहज) अवस्था अर्थात् त्रिकाली वस्तु। त्रिकाली सहजात्मस्वरूप ध्रुव अवस्था 'है', उसका जहाँ अनुभव में स्वीकार हुआ, अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव '**नितभोजि**' है। पद है न इसलिए अमुक-अमुक शैली में बात होती है। '**स्फूटन्नाटयद्**'—यह प्रत्यक्ष आनन्द का अनुभव होकर समकितरूपी सूर्य नाचता है अर्थात् परिणमता है। कहो, चौथे गुणस्थान में यह दशा है।

सम्यग्दर्शन में आत्मा अबद्धस्पृष्ट अनुभव में आया। मिथ्यात्व में राग के बन्धवाला अनुभव में आया, दु:ख का अनुभव। वह राग की एकताबुद्धि की मिथ्यात्वदशा, उसे टालने को स्वभाव की एकतारूपी जो सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ, उसे आनन्द के अनुभव सहित सहज त्रिकाली वस्तु जो है नित्यानन्द प्रभु, उसका अनुभव होकर नित्यानन्द दशा प्रगट हुई। कहो, समझ में आया? मंगलाचरण ऐसा किया है। मांगलिक किया है यह। आत्मा परम शुद्ध आनन्द का धाम, उसे राग के विकल्प की एकता महाघोर मिथ्यात्व बन्धन का भाव है। उस मिथ्यात्व को छेदने के लिये, 'भगवान आत्मा पूर्णानन्द हूँ। बन्धस्वरूप वह मेरा स्वरूप ही नहीं। राग में अटकना और राग की एकता—वह मेरी चीज़ ही नहीं। स्वभाव में अटकना और आना और आनन्द का विकास होना, वह आत्मा का स्वरूप है'—ऐसा सम्यग्दर्शन ने अनुभव किया। गजब भाई!

यहाँ तो सम्यग्दर्शन अर्थात् देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा, नौ तत्त्व की श्रद्धा करो, लो। ऐई जयन्तिभाई! बापू! ऐसा नहीं, भाई! सम्यक् सत्यस्वरूप का अनुभव और प्रतीति हुई, तब जो मिथ्यात्व का भाव था, उससे गुलांट खा गया। पूर्णानन्दस्वरूप भगवान आत्मा सहज अवस्था त्रिकाल शक्तिस्वभाव, उसका—द्रव्य का जहाँ स्वीकार हुआ, अनुभव नित्य का (हुआ तो) नित्य में से अतीन्द्रिय आनन्द का अंकुर आया, वह उसका अनुभव है। अंकुर है न, थोड़ा आया है न! पूर्ण तो केवलज्ञान हो, तब आये न! समझ में आया? कहो, कान्तिभाई! ऐसी समकित की व्याख्या है। आहाहा!

मुमुक्षु : शास्त्र में तो अनेक प्रकार से है? शास्त्र में एक ही प्रकार है?

पूज्य गुरुदेवश्री : एक ही प्रकार है इस वस्तु का, दूसरा प्रकार है ही नहीं। दूसरा प्रकार हो तो मिथ्यात्व का दूसरा प्रकार है। देखो न, कितना (सुन्दर) मंगलाचरण! आहाहा!

यह महिलायें नहीं गातीं विवाह में, कि ऐसा हो उसमें? 'सोना समो रे सूरज उग्यो।' आता है न! इसी प्रकार यहाँ आनन्द समो रे समकित सूरज उग्यो, ऐसा कहते हैं। यह मंगलाचरण करते हैं। गाते हैं या नहीं उसमें? 'वेणला भले वाया रे।' भले सवेरे उगे, ऐसा कहे। ऐसा कहे, भान तो उसे कुछ है नहीं। गानेवाले को कुछ भान नहीं होता। वहाँ लड़कों के विवाह में सवेरे गाये न! वह विवाह-विवाह हो और ठीक कुछ पैसे हों... लड़का हो ठीक... सवेरे गाये 'वेणला भले वाया।' आज का दिन उगा वह उगा। भले उगा, कहते हैं। 'सोना समो सूरज उग्यो रे,' ऐसा कहते हैं न! वहाँ तो धूल भी नहीं, मुफ्त का अज्ञान अन्धकार है। यहाँ तो कहते हैं, जहाँ समकितरूपी सूर्य उगा, वेणला वाया, दिशायें बदल गयी उसकी। उसका सवेरा हुआ वह हुआ, उसके प्रवाह बदल गया। समझ में आया? अज्ञान में जो राग की एकता के परिणाम जो बहते थे, वह समकित में स्वभावी एकता के परिणाम बहने लगे, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

समकित सूर आनंद-अंकुर ताहि, निरखी बनारसी नमो नमो कहतु है। सम्यग्दर्शन होने पर आनन्दरूपी स्वाद जहाँ आया, 'अहो! नमो... नमो'—उसे मेरा नमस्कार है, कहते हैं। ऐसे आनन्द की दशा प्रगट हुई, उसे नमस्कार है। उसमें मेरा झुकाव है, रागादि में मेरा झुकाव नहीं। आहाहा! 'नमो नमो' दो बार कहा है। नमस्कार... नमस्कार। 'नमो मुज नमो मुजने कहुं' आता है न, आनन्दघनजी में आता है। यहाँ तो बन्ध के अधिकार में बन्ध की व्याख्या की। परन्तु बन्ध की व्याख्या (बन्ध) टालने के लिये की है। बन्ध है, इसलिए रखना है और बन्ध है, ऐसा ज्ञात होता है, ऐसा नहीं। है, ऐसा है न यहाँ? परन्तु अब उसे टालने का उपाय? इसके लिये बात करते हैं, कहीं रखने के लिये बात करते हैं वहाँ? टालने का उपाय यह कि भगवान अबन्धस्वरूपी चैतन्यद्रव्य का अनुभव और दृष्टि करना कि जिसमें आनन्द का अंकुर फूटे और दु:ख की दशा जाये और सुख का प्रवाह हो, उसे बन्ध के नाश का उपाय कहा जाता है। आहाहा! कहो, समझ में आया इसमें? ऐसा मार्ग भारी धर्म...., यह कहेंगे।

कर्मचेतना और ज्ञानचेतना। दोनों परिणति अन्दर में गहरे बहती है, लो। उल्टी और सुल्टी। यह उसका स्पष्टीकरण करते हुए कहेंगे। ज्ञानचेतना और कर्मचेतना का वर्णन। यह किया तो वह कि वह बन्धभाव और बन्धभाव को छेदनेवाली ज्ञानचेतना।

अब इसका विशेष स्पष्टीकरण करते हैं। यह तो वह कलश है न, उसका विशेष स्पष्टीकरण है। क्योंकि राग का अनुभव, वह कर्मचेतना है और ज्ञान का अनुभव, वह ज्ञानचेतना है। पहली कही कर्मचेतना, दूसरी कही ज्ञानचेतना। अब उसका स्पष्टीकरण करते हैं। आहाहा! समझ में आया? यह (पहले) कलश का स्पष्टीकरण विशेष है।

★ ★ ★

काव्य - ३

ज्ञानचेतना और कर्मचेतना का वर्णन (सवैया इकतीसा)

जहां परमातम कलाकौ परकास तहां,
धरम धरामैं सत्य सूरजकी धूप है।
जहां सुभ असुभ करमकौ गढ़ास तहां,
मोहके बिलासमैं महा अंधेर कूप है।।
फैली फिरै घटासी घन-घटा बीचि,
चेतनकी चेतना दुहूंधा गुपचूप है।
बुद्धिसौं न गही जाइ बैनसौं न कही जाइ,
पानीकी तरंग जैसैं पानीमैं गुडूप है।।३।।

शब्दार्थः-धरा=भूमि। गढ़ास=सघनता। छटा=बिजली। धन=मेष। दुहूंधा=दोनों ओर, दोनों अवस्थाओं में। बैन=वचन। गुडूप=डूबी।

अर्थः-जहाँ आत्मा में ज्ञान की ज्योति प्रकाशित है, वहाँ धर्मरूपी धरती पर सत्यरूप सूर्य का उजाला है और जहाँ शुभ-अशुभ कर्मों की सघनता है, वहाँ मोह के फैलाव का घोर अन्धकारमय कुआ ही है। इस प्रकार जीव की चेतना दोनों अवस्थाओं में गुपचुप होकर शरीररूपी मेघ-घटा में बिजली के समान फैल रही है, यह बुद्धिग्राह्य नहीं है और न वचनगोचर है, वह तो पानी की तरंग के समान पानी ही में गर्क हो जाती है अर्थात् समा जाती है।।३।।

काव्य-३ पर प्रवचन

जहां परमातम कलाकौ परकास तहां,
धरम धरामैं सत्य सूरजकी धूप है।
जहां सुभ असुभ करमकौ गढ़ास तहां,
मोहके बिलासमैं महा अंधेर कूप है।।
फैली फिरै घटासी घन-घटा बीचि,
चेतनकी चेतना दुहूंधा गुपचूप है।

कर्म राग की एकाग्रता की चेतना, वह कर्मचेतना और स्वभाव की एकाग्रता की चेतना, वह ज्ञानचेतना। **बुद्धिसौ न गही जाई बैनसों न कही जाइ...** कहते हैं कि वह मन से एकदम पकड़ में आये ऐसी (नहीं है)। राग की एकता की कर्मचेतना भी अरूपी है। विकारी परिणति है न सूक्ष्म, वह कहीं मन से पकड़ में आये, ऐसी नहीं है। **बुद्धिसौं न गही जाइ बैनसौं न कही जाइ, पानी की तरंग जैसें पानीमैं गुड़ूप है।** लो, आया। दोनों पर्यायें उल्टी और सुल्टी, उसमें समा जाती है, कहते हैं।

देखो अर्थ। **जहाँ परमातम कलाकौ परकास....** भगवान शुद्ध आनन्दस्वरूप भगवान, ऐसी परमात्मशक्ति—परमात्मस्वरूप का जहाँ कला का प्रकाश, वहाँ तो धर्मरूपी भूमि पर सत्य (रूपी) सूर्य का आताप है। सत्य सूर्य का आताप है उसमें अर्थात् अन्धकार वहाँ नहीं रहता। समझ में आया? **ज्ञान की ज्योति प्रकाशित है, वहाँ धर्मरूपी धरती पर सत्यरूप सूर्य का उजाला है,....** लो। राग—पुण्य का विकल्प है, वह अज्ञान है, उसमें ज्ञान का अंश नहीं। इससे उसकी एकताबुद्धि, वह तो मिथ्यात्व का अन्धकार है, कुँआ है, कहते हैं लो। और उससे भिन्न पड़ा हुआ परमात्मा की कला का प्रकाश अन्दर आया, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होने पर धर्मरूपी पृथ्वी में सत्यरूपी सूर्य का आताप है—धूप है, जिसमें अन्धकार आता नहीं।

जहां सुभ असुभ करमकौ गढ़ास तहां.... आहाहा! जहाँ पुण्य और पाप के शुभ-अशुभभाव, उसकी जहाँ सघनता—एकता ऐसी बुद्धि मिथ्यात्व में है। **मोह के बिलासमैं महा अँधेर कूप है...** शुभ-अशुभ परिणाम की क्रिया महामोहरूपी अन्ध कुँआ

है। समझ में आया? **अंधकूप है...** आता है उसमें पीछे। इन्होंने कहा था न **अंधकूप है...** क्रिया में आता है कहीं। मोक्ष (अधिकार) में कहीं आता है। क्रिया में... उसी और उसी में है। शुभ और अशुभभाव वह तो, कहते हैं कि अन्ध कुँआ है, अन्धकार है। समकित में प्रकाश है और शुभाशुभपरिणाम में अन्धकार है। यह उसमें कहीं है। प्रमादी होकर क्रिया में झुके तो अन्धे में जाये, है न वह? मोक्षमार्ग में कहीं है, पीछे है उसमें। क्रिया की करणी, मुक्ति की कतरनी... उसमें कहीं है। उसमें कहीं होगा।

शुभाशुभ... दो बातें की हैं कि चैतन्य का जहाँ स्वभाव का स्वीकार अनुभव का हुआ, वहाँ तो परमात्मा प्रकाश का प्रकाश है, उजाला है, वहाँ तो निर्मलता है और पुण्य की और पाप की एकता का जहाँ अनुभव है, वहाँ अन्धकार है। कहो, समझ में आया? **मोहके विलासमैं...** स्वरूप की सावधानी छोड़कर राग के विकल्प में सावधानी, पुण्य और पाप के भाव में सावधानी, वह मोह का विलास है। **महा अंधेर कूप...** है, अन्ध कुँआ है वह। आहाहा! घोर अन्धकार कुँआ है। कितना? २८८। इस ओर बस यह। **ज्ञान का उदय होने पर अज्ञानदशा हट जाती है।**

ग्यानभान भासत प्रवान ग्यानवान कहै,
करुना निधान अमलान मेरौ रूप है।
कालसौं अतीत कर्मजालसौं अजीत जोग-
जालसौं अभीत जाकी महिमा अनूप है॥
मोहकौ विलास यह जगतकौ वास मैं तो,
जगतसौ सुन्न पाप पुन्न अंध कूप है।

वह अन्ध कुँआ है। है न नीचे। सर्वविशुद्ध द्वार।

पापकिनी कियौ कौन करै करिहै सु कौन,
क्रियाको विचार सुपिनेकी दौर धूप है॥९२॥

आहाहा! मैंने दया-दान पालन किये थे और मैंने पुण्य किया था। अरे! वह तो स्वप्न है, अज्ञान है, कहते हैं। यह कौन करे? भगवान ज्ञानमूर्ति प्रभु वह विकार के भाव को करे कहाँ? समझ में आया? भारी कठिन! किसने किया था? कौन करे? कहाँ

किया था ? है ही नहीं न मुझमें, कहते हैं। वह तो स्वप्न आ गया। समझ में आया ? इसके पश्चात् आता है न। देखो, क्रिया की निन्दा। २९० में आता है। देखो, इसमें ही आता है इसके बाद,

करनी हित हरनी सदा, मुक्ति वितरनी नांहि।
गनी बंध-पद्धति विषै, सनी महादुखमांहि॥

है ? २९०। **मोक्षमार्ग में क्रिया का निषेध। करनी हित हरनी....** शुभाशुभ परिणाम की क्रिया, वह तो हित की हरनेवाली है। आहाहा ! चिल्लाहट मचाये लोग, हों ! ऐसा चर्चते हैं न ! नहीं, आत्मधर्म में शुभ उपयोग को आस्रव कहा है, ऐसा नहीं। वह भी धर्म का कारण है और धर्म है। है न ? **करनी हित हरनी सदा, मुक्ति वितरनी नांहि।** मुक्ति की देनेवाली नहीं, ऐसा कहते हैं। **गनी बंध-पद्धति....** पुण्य और पाप के परिणाम तो बन्ध की पद्धति में गिने। यहाँ कहा न। यह बन्ध अधिकार चलता है। **सनी महादुखमांहि।** महादुःख से लिप्त है। यह पुण्य और पाप के परिणाम तो दुःख से लिप्त हैं, ऐसा कहते हैं। ऐसा तो स्पष्ट खाता है, परन्तु अब... ! वापस नीचे भी है, देखो !

करनीकी धरनीमैं महा मोह राजा बसै। है न ? 'राग करूँ, पुण्य करूँ'—यह इसमें तो मिथ्यात्वरूपी मोह बसता है। २९० पृष्ठ, हों ! **करनीकी धरनीमैं महा मोह राजा बसै।** देखो ! **क्रिया की भूमि पर मोह महाराजा का निवास है।** राग करनेयोग्य है, राग करनेयोग्य है, (यह मान्यता) महा मिथ्यात्व का मोहविलास है, कहते हैं। आहाहा ! **करनी अग्यानभाव राकिसकी पुरी है।** अज्ञानभाव है न ? राग, वह अज्ञान है। और राक्षस की पुरी है—राक्षस का नगर है वह तो। आहाहा ! आत्मा की शान्ति को खा जाता है। **करनी करम काया पुग्गल की प्रतिछाया, करनी प्रगट माया मिसरी की छुरी है।** 'माया मिश्री की छुरी'। कहो, यह सब क्रिया... क्रिया... कहते हैं न ! बहुत आया है उसमें। कैसा कहलाये कटारिया ? कटारिया कहलाये ? भाई कोटडी। मक्खनलाल ने बहुत लिखा है। 'अन्दर का मतभेद न लिखो। एकदम आचार्य से धर्म, दिगम्बर धर्म सब विरुद्ध है।' आहाहा ! भाई ! यहाँ तो कहते हैं, **करनी करम काया—**कर्म की काया है वह तो, राग का कार्य कर्म का है। आत्मा का है वह ? **पुग्गलकी प्रतिछाया**—यह पुण्य के भाव तो पुद्गल की छाया है। आहाहा !

करनी प्रगट माया मिसरी की छुरी है, करनीके जालमैं उरझि रह्यौ चिदानंद.... अनादि से ज्ञानानन्द प्रभु, वह राग के परिणाम में उलझ रहा है, उलझ रहा है। **करनी की वोट ग्यानभान दुति दुरी है। क्रिया की आड़ ज्ञान-सूर्य के प्रकाश को छुपा देती है।** राग की रुचि में, राग के प्रेम में, राग की एकता में चैतन्यसूर्य छुप जाता है, ढँक जाता है। **आचारज कहै,...** देखो! **आचारज कहै करनीसौ विवहारी जीव, करनी सदैव निहचै सुरूप बुरी है।** बन्धपद्धति है, अन्ध कुँआ है वह। आहाहा! भारी कठिन, भाई! जिसमें धर्म माना हो, उसके अतिरिक्त की तीसरी चीज़ कैसी? और कहते हैं। यह पाप से निवर्तना, वह धर्म, वह व्रत। आहाहा! व्रत के परिणाम हैं, वह विकल्प है, पुण्य है। वह क्रिया अन्ध क्रिया है। उसमें आत्मा कहाँ था राग की क्रिया में? आहाहा! कहते हैं न, **मोह के विलास में महा अंधेर कूप है,....** लो, अपने चलता है उसमें।

फैली फिरै घटासी छटासी घन-घटा बीचि.... आहाहा! **इस प्रकार जीव की चेतना दोनों अवस्थाओं में गुपचुप होकर शरीररूपी मेघघटा में...** शरीररूपी मेघ, उसकी घटा में बिजली की भाँति फैल रही है। उल्टी परिणति राग की और सुल्टी परिणति समकित की—दोनों फैल गयी है। पर्याय की बात है इसमें। पर के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं। समझ में आया? क्या कहते हैं यह? कहते हैं, पुण्य और पाप के परिणाम की चेतना—कर्मचेतना गुपचुप शरीररूपी मेघघटा में बिजली की भाँति फैल रही है। अज्ञानरूपी अन्धकार के शुभाशुभपरिणाम, वे भी शरीररूपी घटा से भिन्न, उसकी आत्मा की पर्याय में बिजली की भाँति परिणम रही है उल्टी।

और ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा... राग से भिन्न पड़ी हुई ज्ञानचेतना—सम्यग्दर्शन, वह भी अन्तर में घटरूपी मेघ की घटा में, मेघ का यह बड़ा दल, उसमें चैतन्य शुद्ध परिणति अन्दर में बिजली की भाँति काम करती है और एक समय की पर्याय गुडूप हो जाती है अन्दर, नयी आती है। विकारी पर्याय भी नयी आती है और जाती है, गुडूप हो जाती है, ऐसा कहते हैं, देखो! यह विकारी पर्याय गुडूप हो जाती है—डूब जाती है—समा जाती है। शब्द में, डूब जाती है, ऐसा होगा। गुडूप = डूब। आहाहा! शरीररूपी घटा घनघोर जलदल, भगवान आत्मा भिन्न। उसके स्वरूप के अनुभव और भान बिना रागरूपी क्रिया का अन्धकार बिजली की भाँति होता है और जाता है, होता है और जाता

है, होता है और जाता है। ऐसी चैतन्य की परिणति धर्म की, शुद्ध चैतन्य की दशा, वह भी होती है और जाती है। निर्मल हुई और गई, और नयी हुई और गई। जैसे यह पानी की तरंगें जैसे पानी में समा जाती है, उसी प्रकार शुद्ध और अशुद्ध परिणति—दोनों आत्मा में समा जाती है।

.....आवे अशुद्ध परिणति गयी कहाँ? है या नहीं?

मुमुक्षु : ऊपर-ऊपर रहती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऊपर-ऊपर नहीं।

मुमुक्षु : गुड़ूप हो गयी....

पूज्य गुरुदेवश्री : गुड़ूप हो गयी। (पर्याय का उत्पाद) हो, तब ऊपर-ऊपर कहलाती है। जाये तब? है न। अशुद्धता गयी और हुई, गयी और हुई, बिजली की चमक की भाँति एकदम। अन्धकार—राग की एकता, परिणमन अन्धकारमय हुआ और गया, हुआ और गया। यह तो शरीर दल में भिन्न वह चीज़ होती है। कर्म के कारण नहीं, पर के कारण नहीं—ऐसा सिद्ध करना है वापस। चैतन्यसूर्य भगवान आत्मा के अज्ञान में—अभान में परिणति में जो विकार की परिणति, मोह अन्धकार का कुँआ होता है और जाता है, होता है और जाता है। बाहर का बाहर रह गया। कर्म और शरीर, वाणी, वह अजीवरूप रह गया। यह तो जीव की पर्याय की बात चलती है। **चेतन की चेतना** ऐसा लेना है न। और कर्म के कारण कुछ है नहीं और जड़ की कुछ बात तो यहाँ है ही नहीं। समझ में आया?

यह कहा न कितना बनारसीदास ने स्पष्ट इतना किया। बड़ा घटा घनघोर बादल हो, उसमें बिजली का चमत्कार दिखायी दे न फडाक... फडाक। उसी प्रकार यह घनघोर जड़, मिट्टी, धूल यह, उसमें भगवान चैतन्य भिन्न। उसकी अज्ञान की राग की क्रियायें अशुद्ध हों और जाये, हों और जाये। यह कहते हैं कि यहाँ तो बुद्धि से पकड़ में नहीं आये, ऐसा कहते हैं। दोनों, हों! अकेली सुल्टी, ऐसा नहीं। बुद्धि से पकड़ में नहीं आये अर्थात् बहुत सूक्ष्म पर्याय है, ऐसा कहना है। समझ में आया? अरे! कहो, स्वयं बनारसीदास ने इस कलश को स्पष्ट करने के लिये लिखा है। बन्ध, वह कर्मचेतना;

समकित, वह ज्ञानचेतना। दो। पहली बात की मंगलाचरण में। भगवान अमृतचन्द्र आचार्य मुनि-सन्त, के (श्लोक का) यह स्पष्टीकरण किया है।

कहते हैं कि जहाँ जिसे पर्यायबुद्धि अर्थात् रागबुद्धि है, वह भी अज्ञान की परिणति आत्मा में ही होती है। वह कहीं कर्म के कारण और कर्म में होती है, ऐसा है (नहीं)। और होवे और जाये, होवे और जाये, ऐसा हुआ करता है। और चैतन्यसूर्य भगवान आत्मा, राग की क्रिया और राग से भिन्न आत्मा है। ऐसे चैतन्य का भान होकर ज्ञानचेतना हुई, वह भी परिणति होवे और जाये। पानी की तरंग जैसे पानी में गुडूप रहे। **पानी की तरंग जैसे पानी में गुडूप है,....** ऐसा लिखा है न! **पानी की तरंग के समान पानी ही में गर्क हो जाती है**—डूब जाती है, अन्दर चली जाती है। कहो, समझ में आया?

यह तो द्रव्य है न वस्तु और पर की अपेक्षा बिना का ऐसा स्वतन्त्र द्रव्य है, चैतन्य भगवान। अब उसका भान नहीं हो तो भी वह राग की एकता की पर्यायबुद्धि में स्वयं ही परिणमता है, अशुद्धरूप से मिथ्यात्वभाव में (परिणमता है) वह कर्मचेतना है। और स्वयं चैतन्यसूर्य का भान होकर ज्ञानचेतना हुई, वह भी परिणति—शुद्ध परिणति है। वह (रागादि) अशुद्ध है, यह शुद्ध है। अशुद्ध को कर्मचेतना कहते हैं और सम्यग्दर्शन में हुई ज्ञानचेतना, उसे ज्ञानचेतना (कहते हैं)। अर्थात् ज्ञान अपने स्वभाव की एकता का परिणमन है। समझ में आया? आहाहा! ऐसा धर्म गजब भाई, प्रभु! सब यह चिल्लाहट मचाते हैं, लो, उसे आस्रव कहते हैं। दया के भाव को, पूजा के भाव को आस्रव कहते हैं। यह क्या कहते हैं? आस्रव का बाप कहते हैं यहाँ तो।

मुमुक्षु : आस्रव ही है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ तो जहर कहते हैं। वह तो छोड़कर अन्यत्र जाना है, इसलिए उसे जहर कहते हैं, ऐसा। परन्तु वर्तमान में जहर है, ऐसा कहते हैं यहाँ तो। आहाहा! सूक्ष्म बात है।

चेतनाकी चेतना दुहूंधा गूपचूप है,.... देखो! भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य आनन्द का धाम, उसे भूलकर अज्ञान की परिणति करे, वह गुपचुप है अन्दर और आत्मा का

भान करके ज्ञानचेतना निर्मल परिणति, वह भी गुपचुप है। है न? **बुद्धिसौं न गही जाइ बैनसौं न कही जाइ।** कुबुद्धि अशुद्ध परिणति कहाँ पकड़ में आती है? ऐसा कहते हैं। समय-समय की धारा, मिथ्यात्व, अज्ञान, राग की एकताबुद्धि का परिणमन समय-समय में है। समय-समय में हो और जाये, हो और जाये। दृष्टि में जब तक राग की एकताबुद्धि है, तब तक तो वह समय-समय में होती और जाती है। पकड़ में आये ऐसा (नहीं)। एक समय का भाव कैसे पकड़ में आये? ऐसी चेतना चेतन की... भगवान आनन्दमूर्ति प्रभु का जहाँ श्रद्धा में स्वीकार हुआ, उसका भान हुआ तो वह ज्ञानचेतना, वह भी अरूपी, विकाररहित निर्मल परिणति एक समय की... एक समय की हुई-गयी, हुई-गयी। उत्पाद-व्यय, उत्पाद-व्यय, ऐसा। कहो, समझ में आया?

पानीकी तरंग जैसे पानीमैं गुडूप है। सामने है न! पुस्तकें तो अब बहुत बाहर आयी है। यह २५०० तो बाहर आये समयसार नाटक। **गुपचुप होकर शरीररूपी मेघ-घटा में बिजली के समान फैल रही है। वह बुद्धिग्राह्य नहीं है, वचनगोचर नहीं है।** गजब! बनारसीदास ने तो पद बनाकर बहुत स्पष्ट किया है।

दूसरा श्लोक अमृतचन्द्र आचार्य का।

न कर्मबहुलं जगन्न चलनात्मकं कर्म वा,
न नैककरणानि वा न चिदचिद्वधो बन्धकृत्।
यदैक्य-मुपयोभूः समुपयाति रागादिभिः,
स एव किल केवलं भवति बन्धहेतुर्नृणाम्।।२।।

केवल यह एक ही बन्ध है, ऐसा कहते हैं, देखो! आहाहा! **कर्मबन्ध का कारण अशुद्ध उपयोग है,....** देखो, आत्मा में राग की अशुद्धदशा, वह त्रिकाली ज्ञायकभूमि में—त्रिकाली चैतन्य आनन्द की भूमि में उस राग की एकता करना, वही भावबन्ध और अशुद्ध उपयोग है। वह बन्ध का कारण है। समझ में आया?

★ ★ ★

काव्य - ४

कर्मबन्ध का कारण अशुद्ध उपयोग है (सवैया इकतीसा)

कर्मजाल-वर्गनासौं जगमैं न बंधै जीव,
बंधै न कदापि मन-वच-काय-जोगसौं।
चेतन अचेतनकी हिंसासौं न बंधै जीव,
बंधै न अलख पंच-विषै-विष-रोगसौं।।
कर्मसौं अबंध सिद्ध जोगसौं अबंध जिन,
हिंसासौं अबंध साधु ग्याता विषै-भोगसौं।
इत्यादिक वस्तुके मिलापसौं न बंधै जीव,
बंधै एक रागादि असुद्ध उपयोगसौं।।४।।

शब्दार्थ:-वर्गना=कर्मपरमाणुओं के समूह को वर्गना कहते हैं। कदापि=कभी भी। अलख=आत्मा। पंच-विषै=पाँच इन्द्रियों के विषय-भोग। असुद्ध उपयोग=जीव की शुभाशुभ परिणति।

अर्थ:-जीव को बंध के कारण न तो कार्माण वर्गणाएँ हैं, न मन-वचन-काय के योग हैं, न चेतन-अचेतन की हिंसा है, और न इन्द्रियों के विषय हैं, केवल राग आदि अशुद्ध उपयोग बन्ध का कारण है। क्योंकि कार्माण वर्गणाओं के रहते हुए भी सिद्ध भगवान अबन्ध रहते हैं, योग[1] होते हुए भी अरहन्त भगवान अबन्ध रहते हैं, हिंसा[2] हो जाने पर भी मुनि महाराज अबन्ध रहते हैं और पंचेन्द्रियों के भोग भोगते हुए भी सम्यग्दृष्टि जीव अबन्ध रहते हैं।

भावार्थ:-कार्माण वर्गणा, योग, हिंसा, इन्द्रिय-विषयभोग ये बन्ध के कारण कहे जाते हैं, परन्तु सिद्धालय में अनन्तानन्त कार्माण पुद्गलवर्गणाएँ भरी हुई हैं, वे रागादि के

१. मनयोग दो-सत मनयोग, अनुभय मनयोग। वचनयोग दो-सत वचनयोग, अनुभय वचनयोग। काययोग तीन-औदारिक काययोग, औदारिक मिश्र काययोग और कार्माण काययोग-ऐसे सात योग सयोगी जिनराज के होते हैं।

२. त्रस स्थावर हिंसा के त्यागी महाव्रती मुनि ईर्या समिति पूर्वक विहार करते हैं और अकस्मात कोई जीव उनके पाँव के नीचे पड़े तथा मर जावे तो प्रमत्तयोग नहीं होने से उन्हें हिंसा का बन्ध नहीं होता।

बिना सिद्ध भगवान से नहीं बँध जातीं; तेरहवें गुणस्थानवर्ती अरहन्त भगवान को मन-वचन-काय के योग रहते हैं परन्तु राग-द्वेष आदि नहीं होते इससे उन्हें कर्मबन्ध नहीं होता; महाव्रती साधुओं से अबुद्धिपूर्वक हिंसा हुआ करती है परन्तु राग-द्वेष नहीं होने से उन्हें बन्ध नहीं है, अव्रतसम्यग्दृष्टि जीव पंचेन्द्रियों के विषय भोगते हैं पर तल्लीनता न होने से उन्हें निर्जरा ही होती है। इससे स्पष्ट है कि कार्माण वर्गणाएँ, योग, हिंसा और सांसारिक विषय बन्ध के कारण नहीं हैं; केवल अशुद्ध उपयोग ही से बन्ध होता है।।४।।

पद-४ पर प्रवचन

कर्मजाल-वर्गनासौं जगमैं न बंधै जीव,
बंधै न कदापि मन-वच-काय-जोगसौं।
चेतन अचेतनकी हिंसासौं न बंधै जीव,
बंधै न अलख पंच-विषै-विष-रोगसौं।।
कर्मसौं अबंध सिद्ध जोगसौं अबंध जिन,

कर्मसौं अबंध सिद्ध.... यह एक नया डाला इसमें, पाठ में यह नहीं। स्पष्ट करने के लिये डाला है। आता है न उस पुण्य-पाप (अधिकार) में। पुण्य-पाप का निषेध (किया) तो शरण किसका? मुनि को शरण किसका? तब उन्होंने लिया, पाँचवें और छठवें गुणस्थान में शरण किसका? ऐसा लिया। देशविरति, मुनि, ऐसा आता है न! स्पष्ट करना हो तो करे न, उसमें क्या है? इसी प्रकार यहाँ....

बंधै न अलख पंच-विषै-विष-रोगसौं।।
कर्मसौं अबंध सिद्ध जोगसौं अबंध जिन,
हिंसासौं अबंध साधु ग्याता विषै-भोगसौं।

यह डाला है न जयचन्द पण्डितजी ने अन्त में। यह समिति का दृष्टान्त दिया है न। मुनि को समिति है न, इसलिए दृष्टान्त दिया है। समकिती को समिति नहीं। बाकी अभ्यन्तर देखे तब तो समकिती, वह भी अबन्ध ही है। लिखा है। इसलिए उसमें से यह थोड़ा स्पष्ट किया है। समझ में आया?

इत्यादिक वस्तुके मिलापसौं न बंधै जीव,
बंधै एक रागादि असुद्ध उपयोगसौं।।

यहाँ निमित्त का तो निषेध किया। **कर्मजाल वर्गनासौं जगमैं न बंधै जीव....** कर्म की वर्गणा है, उसके कारण से जीव नहीं बँधता। यदि उसके कारण से बँधे तो सिद्ध भी बँधना चाहिए। क्योंकि सिद्ध भगवान हैं, वहाँ कर्म की वर्गणा बहुत पड़ी है। कर्म की वर्गणा का जत्था पड़ा है, वह बन्ध का कारण है, ऐसा नहीं।

बंधे न कदापि मन-वच-काय जोगसौं... मन-वचन-काया की क्रिया, योग, वह भी बन्ध का कारण नहीं। **चेतन अचेतनकी हिंसासौं न बंधै जीव....** परजीव का मरना, वह तो पर की क्रिया है। यह कहेंगे। **चेतन अचेतनकी हिंसासौं न बंधै जीव....** यह तो पुद्गल की क्रिया है, ऐसा कहते हैं। चिल्लाहट मचाये न! **बंधै न अलख पंच विषै-विष-रोगसौं....** पाँच इन्द्रिय के विषय का भोग भी बन्ध का कारण नहीं। क्यों? **कर्मसौ अबंध सिद्ध....** कर्म की वर्गणा तो पड़ी है सिद्ध भगवान के (नजदीक), तो भी बन्ध है नहीं। **जोगसौं अबंध जिन....** केवली। योग कम्पन तो है, परन्तु बन्धन है नहीं। **हिंसासौं अबंध साधु....** साधु समिति से चलता है, जीव मर जाये पैर के नीचे, उसे उसका बन्ध नहीं। **हिंसासौं अबंध साधु....** लो। उसे बन्ध होना चाहिए, वह जीव मरता है, उसका बन्ध। भाव में राग की एकता, चैतन्य के स्वभाव में राग (एकमेक मानना), चैतन्य की भूमिका में राग को एकरूप मानना, उपयोग और राग की एकता करना, वह एक ही बन्ध का कारण मिथ्यात्व है।

इसमें बड़ा विवाद। नहीं, जड़ की क्रिया भी बन्ध का कारण है। जड़ की क्रिया भी मोक्ष का कारण है। अरे भगवान! कहाँ बन्ध माना? प्रवचनसार में आता है न! वह तो ज्ञान कराया, भाई! समझ में कैसे आवे? इसलिए देह की क्रिया निमित्त है, उसे भी... आचरण करना इतना व्यवहार में। कथनशैली का आशय न समझे। यह तो अलख के... मार्ग है अन्दर। भगवान अन्तर आनन्दमूर्ति प्रभु, वह अपने आनन्द में रागरूपी दु:ख को एकरूप माने, रागरूपी भाव को एकरूपी अपनी भूमिका में लावे, बस एक ही संसार और मिथ्यात्व और बन्ध है। ऐसे राग को अपनी भूमिका में न लावे और ज्ञानानन्द भूमिका में परिणति करे, बस वही मोक्ष का कारण है।

ग्याता विषै-भोगसौं.... लो! **पंचेन्द्रियों के भोग भोगते हुए भी सम्यग्दृष्टि जीव अबन्ध रहते हैं।** ऐसा कि वहाँ राग का स्वामी नहीं और राग के साथ एकता नहीं। वह तो भिन्न चीज़ हो गयी है। जैसे यह जड़ की क्रिया स्वतन्त्र होती है, वैसे राग की क्रिया स्वतन्त्र हुई। विषय-भोग के समय राग विभावक्रिया स्वतन्त्र (हुई)। विभाव की स्वभाव में एकता तो करता नहीं। जैसे यह देह की क्रिया जैसी भिन्न है, वैसे राग की क्रिया स्वभाव से भिन्न है। समझ में आया? यदि विषयभोग से बन्ध हो तो समकिती को भी बन्ध होना चाहिए, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? .... बन्ध है। अब सुन न, यह तो है वह। वह तो परचीज़ है। (चर्चा) हो गयी है ९५ में। .... की थी। बन्ध नहीं, बन्ध नहीं (कहते हो, परन्तु) राग-द्वेष में गुँथे हुए हो। अब क्या अपेक्षा है, सुन न! वह तो अस्थिरता के अंश को गिनकर (कहा है), परन्तु अस्थिरता स्वभाव में है ही नहीं। स्वभाव के भानवाला अस्थिरतावाला है ही नहीं। वह तो पर है। आहाहा! समझ में आया?

बंधै एक रागादि असुद्ध उपयोगसौं,.... लो। पाठ में यह है। '**यदैक्यमुपयोगभूः**' आत्मा की उपयोगरूपी भूमिका में राग को मिलान करता है, राग को लाता है, एकता करता है। वही मिथ्यात्वभाव, वह अशुद्ध उपयोग ही बन्ध का कारण है। है न, '**यदैक्यमुपयोगभूः समुपयाति रागादिभिः**' राग विकल्प... जो व्रत-दया-दान-व्रत आदि का जो विकल्प है। एक त्रिकाली भगवान उपयोगरूप चैतन्य में उसे लाता है, बस वही मिथ्यात्वभाव है। वही अशुद्ध उपयोग है। मिथ्यादृष्टि को अशुद्ध उपयोग ही होता है। वह बन्ध का कारण है। सम्यग्दृष्टि को विषयभोग के समय भी अशुद्ध उपयोग नहीं, ऐसा कहते हैं। राग है, उससे रहित समकिती का उपयोग अन्तररूप से अन्तरदशा में अन्तर्मुख होकर परिणमता है। बहिर्मुख राग के परिणमन में उसका एकपना नहीं। जैसे शरीर और आत्मा भिन्न, वैसे राग और आत्मा भिन्न। भिन्न-भिन्न से काम भिन्न का हो, ऐसा नहीं हो सकता, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? अशुद्ध उपयोग... इसका भावार्थ कहेंगे विशेष। यह अर्थ तो हो गया, भावार्थ कहेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ८८, आषाढ़ शुक्ल ६, सोमवार, दिनांक २८-०६-१९७१

बन्ध द्वार काव्य - ४, ५, ६

यह समयसार नाटक शास्त्र है। बन्ध अधिकार। यह आत्मा वस्तु है। और भगवान ऐसा कहते हैं, यह चैतन्य आत्मा वस्तु है न, उसमें अनन्त शान्ति-आनन्द आदि शक्तियाँ—गुण भरे हैं। उसके स्वभाव में पुण्य और पाप का राग नहीं। वह आत्मा का स्वभाव शुद्ध और पवित्र है। उसमें जो यह राग के विकल्प हैं पुण्य और पाप का रागभाग, उसे आत्मा के स्वभाव के साथ एकत्व करे, वही मिथ्यात्वभाव है और वहीं बन्ध का कारण है। संसार की वृद्धि का वह कारण है। समझ में आया? यह चलता है, देखो! भावार्थ। आत्मा बाहर के साधन कर्मवर्गणा कर्म के रजकण है न, वह बन्ध के कारण कहलाते हैं परन्तु वास्तव में वे कारण (नहीं हैं)। यह कार्मणवर्गणा पहला शब्द है न भावार्थ में। दूसरा योग। मन, वचन और काया का कम्पन—योग। तीसरा, जीव हिंसा, अजीव की हिंसा हो और चौथा इन्द्रियों के विषय का भोग। यह बन्ध के कारण कहे जाते हैं व्यवहार से।

परन्तु सिद्धालय में अनन्तानन्त कार्मण पुद्गल वर्गणाऐं भरी हुई हैं। कार्मण—परमाणु—रजकण बन्ध के कारण हों तो सिद्ध भगवान जहाँ विराजते हैं, णमो सिद्धाणं, सिद्धालय में—मुक्त में, वहाँ भी कर्म के रजकणों का समूह तो है। यदि वह बन्ध का कारण हो तो उन्हें भी बन्ध होना चाहिए। परन्तु राग की एकता का भाव नहीं, इसलिए उन्हें कार्मणवर्गणा भी बन्ध का निमित्तकारण भी नहीं होता, ऐसा कहते हैं। उपादान में—अन्तर शक्ति के त्रिकाली स्वभाव में—भगवान आत्मा के ज्ञान-आनन्द आदि स्वभाव में राग के विकल्प की विकार की एकता जहाँ नहीं, वहाँ कार्मणवर्गणा हो तो भी बन्ध का कारण नहीं। रामजीभाई! ऐसा है गजब! सिद्धालय में भी अनन्त परमाणु पड़े हैं। **वे रागादि बिना सिद्ध भगवान से नहीं बँध जाती...** राग अर्थात् विकारभाव, पुण्य और पाप की वासना, वह विकृत है, विभाव है, दोषरूप है। चाहे तो शुभराग हो या अशुभ; वह निर्दोष भगवान आत्मा के साथ ऐसे राग को एकत्व जो नहीं करता, उसे कार्मणवर्गणा हो तो भी बन्ध नहीं होता। समझ में आया?

रागादि बिना बन्ध नहीं। तेरहवें गुणस्थानवर्ती अरिहन्त भगवान—सर्वज्ञ परमेश्वर अरिहन्त। पहले सिद्ध लिये, दूसरे अरिहन्त। अरिहन्त भगवान को मन, वचन और काय योग है। **परन्तु राग-द्वेष आदि नहीं होने से इससे उन्हें कर्मबन्ध नहीं होता।** योग तो है भगवान को कम्पन (तो है)। यदि योग बन्ध का कारण हो, तब तो भगवान को योग है। (परन्तु) वास्तव में योग बन्ध का कारण नहीं। वह सब पुद्गल में गिनेंगे आगे। सूक्ष्म बात है। उसका स्वभाव शुद्ध आनन्द है। भगवान आत्मा का स्वभाव—स्वरूप शुद्ध ज्ञान और आनन्द है, उसे छोड़कर कुछ भी विकल्प की—राग की वासना को स्वभाव के साथ मिलावे—एकत्व करे कि जो कुछ वस्तु एकत्व नहीं, वही मिथ्यात्वभाव है और मिथ्यात्वभाव, वही संसार का कारण है।

महाव्रती साधुओं से अबुद्धिपूर्वक हिंसा हुआ करती है। सन्त सच्चे आत्मज्ञानी ध्यानी, आत्मा के आनन्द में रहनेवाले ऐसे साधु हों, उन्हें भी चलते हुए जीव-जन्तु घात हो जाते हैं शरीर से, परन्तु अन्तर ध्यान में समिति है और घात करने का भाव नहीं, तो उन्हें हिंसा नहीं लगती। हिंसा होने पर भी उन्हें हिंसा नहीं लगती, क्योंकि उन्हें हिंसा का भाव नहीं। **परन्तु राग-द्वेष नहीं होने से उन्हें बन्ध नहीं है।**

अब जरा अव्रती सम्यग्दृष्टि जीव। सूक्ष्म बात है न, भाई! वीतरागमार्ग में परमेश्वर के मार्ग में समकिती उसे कहते हैं कि जिसे 'शरीर-वाणी-मन और कर्म से तो मैं भिन्न हूँ, परन्तु पुण्य-पाप के तत्त्व जो आस्रव पुण्य विकार, उससे मैं भिन्न हूँ।' ऐसा जिसे अन्तर में... आनन्द और ज्ञान से अभिन्न हूँ और पुण्य-पाप के राग से भिन्न हूँ। ऐसा अन्तर में आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद में प्रतीति हो, उसे अविरति सम्यग्दृष्टि धर्मी कहा जाता है। समझ में आया? कहते हैं, उसे विषय भोग भोगने पर भी तल्लीनता न होने से (निर्जरा है)। उसे विषय की वासना होती है, परन्तु वासना में सम्यग्दृष्टि को सुखबुद्धि होती नहीं। समझ में आया? आहाहा! भगवान आत्मा शान्त और अनाकुल आनन्द की मूर्ति, उसका अन्दर में जिसे प्रेम और अन्दर प्रयत्न स्वसन्मुख हुआ है, ऐसे धर्मी जीव को, कहते हैं, भले रागादि हो, परन्तु राग के साथ राग की एकता नहीं है।

मुमुक्षु : वासना नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई!

सम्यग्दृष्टि को विषय की वासना का विकल्प होता है। अविरति है न! तथापि वासना के राग से (भिन्न) मैं तो आनन्दस्वरूप अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद की भूमिका में खड़ा, उसे राग के राग का राग नहीं है, राग का राग नहीं है। आहाहा! जैनदर्शन सूक्ष्म है, वीतराग दर्शन सूक्ष्म बात है! अनन्त काल में इसने अनन्त भव किये चौरासी के अवतार, स्वर्ग के अनन्त किये, नरक के अनन्त किये। परन्तु यह सम्यग्दर्शन क्या चीज़ है, इसकी खबर बिना इसने राग के भाव और पुण्य-पाप के किये और वह मेरा कर्तव्य है, ऐसा मानकर स्वभाव के साथ विकार को एकत्व करके मिथ्यात्व का सेवन किया। उसे राग की मन्दता हो तो स्वर्गादि मिले, परन्तु वह कहीं धर्म नहीं। समझ में आया?

अविरति सम्यग्दृष्टि को रागादि में एकता नहीं, ऐसा कहते हैं। तल्लीनता का अर्थ। आत्मा सच्चिदानन्द सिद्धस्वरूप आत्मा है। जैसे सिद्ध भगवान हैं, वैसा ही आत्मा स्वभाव में है। ऐसा जिसे अन्तर में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान प्रगट हुआ, भान में है उसे, कहते हैं, राग का विकल्प हो, तथापि उसके साथ राग में राग का राग नहीं, राग में एकत्वता नहीं, राग का प्रेम नहीं, राग में सुखबुद्धि नहीं। समझ में आया? श्रेणिक राजा। इसी प्रकार भरत चक्रवर्ती। देखो, भगवान के पुत्र ऋषभदेव भगवान के। जिन्हें ९६ हजार स्त्रियाँ थीं। कहते हैं कि परन्तु सम्यग्दृष्टि को स्त्री ही नहीं अन्दर में। आहाहा!

जिसकी अन्तर सम्यग्दर्शन—धर्म की पहली दशा वीतरागभाव जहाँ प्रगट हुआ। 'मैं तो वीतरागस्वरूप शुद्ध चैतन्य हूँ'—ऐसी सम्यग्दृष्टि की वीतरागता जहाँ प्रगट हुई, उसे राग का प्रेम और राग का रस नहीं होता। समझ में आया? आहाहा! कहते हैं, **तल्लीनता न होने से उन्हें निर्जरा ही होती है।** भगवान आत्मा ज्ञान और आनन्दस्वरूप अतीन्द्रिय आनन्द का मैं तो नाथ हूँ, वह राग का नाथ कैसे हो? भले गृहस्थाश्रम में राजपाट दिखाई दे, परन्तु अन्तर में उससे दृष्टि निराली है। कहते हैं कि उसे ऐसी वासना का रागादि हो, तथापि एकत्वबुद्धि नहीं है और राग से भिन्न स्वरूप का परिणमन स्वभाव-सन्मुख हो गया है। आहाहा! इससे उसे कर्म का उदय जो रागादि आवे, वह खिर जाता है, उसे बन्ध का कारण है (नहीं)। आहाहा! गजब बात!

इससे स्पष्ट है कि कार्मणवर्गणा बन्ध का कारण नहीं, मन-वचन और काया, वह बन्ध का कारण नहीं, जीव की हिंसा हो, वह बन्ध का कारण नहीं, यह सांसारिक

विषय बन्ध के कारण नहीं है। **केवल अशुद्ध उपयोग से ही बन्ध होता है।** भगवान आत्मा ज्ञान और दर्शन और आनन्द, उसे भूलकर राग का अशुद्ध उपयोग करता है, अपने स्वरूप में राग को मिलाता है, राग को लाता है, जिसमें नहीं उसे लाता है, बस वह राग का उपयोग, वह अशुद्ध उपयोग, वही मिथ्यात्वभाव, वही बन्ध का कारण है। बन्ध अर्थात् यह संसार में भटकने का कारण है, चौरासी के अवतार में (रुलने का कारण है)। समझ में आया?

अब तीसरा श्लोक। उसका पाँचवाँ पद। नीचे है। तीसरा।

लोक: कर्मततोऽस्तु सोऽस्तु च परिस्पन्दात्मकं कर्म तत्
तान्यस्मिन्करणानि सन्तु चिदचिद्व्यापादनं चास्तु तत्।
रागादी-नुपयोग-भूमि-मनयन् ज्ञानं भवन्केवलं
बन्धं नैव कुतोऽप्युपैत्ययमहो सम्यग्दृगात्मा ध्रुवम्।।३।।

इसका पद है पाँचवाँ। है न? **पुनः**

★ ★ ★

काव्य - ५

पुनः (सवैया इकतीसा)

कर्मजाल-वर्गनाकौ वास लोकाकासमांहि,
मन-वच-कायकौ निवास गति आउमैं।
चेतन अचेतनकी हिंसा वसै पुग्गलमैं,
विषैभोग वरतै उदैके उरझाउमैं।।
रागादिक सुद्धता असुद्धता है अलखकी,
यहै उपादान हेतु बंधके बढ़ाउमैं।
याहीतैं विचच्छन अबंध कह्यौ तिहूं काल,
राग दोष मोह नाहीं सम्यक सुभाउमैं।।५।।

शब्दार्थ:-लोकाकास=जितने आकाश में जीव पुद्गल धर्म अधर्म और काल ये

पाँच द्रव्य पाये जायँ। उपादान हेतु=जो स्वयं कार्य को करे। विचच्छन=सम्यग्दृष्टि। तिहूं काल=भूत भविष्यत वर्तमान।

अर्थ:-कार्माण वर्गणाएँ लोकाकाश में रहती हैं, मन-वचन-काय के योगों की स्थिति, गति और आयु में रहती है, चेतन-अचेतन की हिंसा का अस्तित्व पुद्‌गल में है, इन्द्रियों के विषय-भोग उदय की प्रेरणा से होते हैं; इससे वर्गणा, योग, हिंसा और भोग इन चारों का सद्‌भाव पुद्‌गल सत्ता पर है-आत्मसत्ता पर नहीं है, अत: ये जीव को कर्मबन्ध के कारण नहीं हैं और राग-द्वेष-मोह जीव के स्वरूप को भुला देते हैं, इससे बन्ध की परम्परा में अशुद्ध उपयोग ही अन्तरंग कारण है। सम्यक्त्व भाव में राग-द्वेष-मोह नहीं होते इससे सम्यग्ज्ञानी को सदा बन्ध रहित कहा है।।५।।

काव्य-५ पर प्रवचन

कर्मजाल-वर्गनाकौ वास लोकाकासमांहि,
मन-वच-कायकौ निवास गति आउमैं।
चेतन अचेतनकी हिंसा वसै पुग्गलमैं,
विषैभोग वरतै उदैके उरझाउमैं।।
रागादिक सुद्धता असुद्धता है अलखकी,
यहै उपादान हेतु बंधके बढ़ाउमैं।
याहीतैं विचच्छन अबंध कह्यौ तिहूं काल,
राग दोष मोह नाहीं सम्यक सुभाउमैं।।५।।

इसका अर्थ। **कर्मजाल-वर्गनाकौ वास लोकाकासमांहि...** यह लोक है जगत, इसमें कर्म के रजकण भरे हैं, वे कहीं आत्मा में हैं (नहीं)। आत्मा में तो आनन्द और ज्ञान है, आहाहा! ऐसा कहते हैं। यह कर्म के रजकण जो जड़ हैं... सिद्ध भगवान विराजते हैं, वहाँ भी कर्म के रजकण तो पड़े हैं। ऊपर भगवान विराजते हैं, वहाँ निगोद के जीव भी हैं सिद्ध के पेट में। परन्तु अन्तर में अन्दर राग की एकता छूट कर अन्तर में अकेली वीतरागता रह गयी है, उसे कर्म की वर्गणा लोकाकाश में है, आत्मा में है

(नहीं), इसलिए बन्ध का कारण नहीं है। **मन वचन कायकौ निवास गति आउमैं....** कहते हैं, कम्पन हो मन, वचन और काया में, वह तो गति और आयुष्य में उसकी मर्यादा है, आत्मा में नहीं। आहाहा! है न, **निवास गति आउ....** चार गति... गति, वह विकृतभाव और आयुष्य, वह तो परभाव। उसमें यह मन, वचन और काया योग है, आत्मा में नहीं। आत्मा में नहीं, इसलिए उनसे बन्ध है नहीं।

चेतन अचेतनकी हिंसा बसै पुग्गलमें... शरीर आदि की हिंसा (अर्थात्) जड़ और चैतन्य भिन्न पड़े, वह तो जड़ की क्रिया में होता है, आत्मा में वह क्रिया है नहीं।

मुमुक्षु : शरीर की अपेक्षा से.....

पूज्य गुरुदेवश्री : शरीर जड़ है और शरीर का ऐसा-ऐसा होना या ऐसा होना, वह पुद्‌गल की क्रिया है। आत्मा की कहाँ है? यह बाद में है। निवास काय उसमें वर्तता है। योग वर्तता है, ऐसा। यह हिंसा की बात चलती है। योग है, वह गति, आयु में वर्तता है, ऐसा कहते हैं। आत्मा में नहीं, उसका स्वभाव नहीं। धर्मी ने तो अपना स्वभाव राग से और कम्पन से और आयुष्य से भिन्न जाना है। आत्मा में धर्मी ने—समकिती ने.... आत्मा में तो ज्ञान और आनन्द बसे हुए हैं—रहे हुए हैं। उनसे तो बन्ध है नहीं। यहाँ तो हिंसा की व्याख्या चलती थी। **निवास गति आउमैं....** यहाँ तो **चेतन अचेतनकी हिंसा बसै पुग्गलमैं....** शरीर की क्रिया होती है न ऐसी, वह जड़ की है। वह आत्मा की कहाँ है? वह आत्मा की है ही नहीं, आत्मा में है नहीं शरीर। आहाहा!

विषैभोग वरतै उदैके उरझाउमैं.... विषय की वासना आदि की क्रिया, वह तो कर्म के उदय की है, धर्मी के भाव में वह है (नहीं)। आहाहा! कठिन काम! वीतरागमार्ग को समझना (कठिन है)। यह अनन्त काल में इसे समझा नहीं। समझे बिना इसने सब क्रियायें—दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा अनन्त बार की। 'परन्तु वह राग है और राग की क्रिया मेरी है'—ऐसा जो मिथ्यात्वभाव, वही अनन्त संसार का कारण है, उसकी इसे खबर नहीं। समझ में आया? पीछे अर्थ है इसमें, देखो। **कार्माण वर्गणाएँ लोकाकाश में रहती है, मन-वचन-काया के योगों की स्थिति गति और आयु में रहती है, चेतन-अचेतन की अहिंसा का अस्तित्व पुद्‌गल में है।** शरीर के कारण से है, शरीर का उसमें निमित्त है हिंसा आदि में, वह आत्मा की है (नहीं)।

इन्द्रियों के विषयभोग उदय की प्रेरणा से होते हैं.... स्वभाव से होता नहीं। कठिन काम! कर्म के निमित्त से होता राग, उसे धर्मी अपना नहीं मानता, उसका वह स्वामी है नहीं, वह राग उसका है नहीं। ऐसा आत्मा का भान कि मुझमें राग तो नहीं, कर्म नहीं, परन्तु अल्पज्ञपना भी मेरे त्रिकाल में नहीं। पूर्ण ज्ञान और पूर्ण आनन्द ऐसा जो स्वरूप मुझमें है, उस स्वरूप से तो बन्ध हो नहीं सकता। आहाहा! भारी सूक्ष्म! आया न? **वर्गणा, योग, हिंसा और भोग इन चारों का सद्भाव पुद्गल सत्ता पर है। रागादिक सुद्धता असुद्धता है अलखकी।** वह तो पुद्गल में रहता है, कहते हैं; आत्मा में (नहीं)। यह राग की एकता ऐसी अशुद्धता या राग की एकता छोड़कर स्वभाव की एकता, ऐसी शुद्धता। दोनों इसकी दशा में होते हैं। राग नहीं, हों! राग की एकता। राग का तो इनकार किया पहले। वह तो कर्म का उदय लाता है।

वह राग, चैतन्यस्वरूप में एकत्वबुद्धि राग की, वही मिथ्यात्व, अशुद्ध उपयोग है। वह संसारवृद्धि का भटकने का कारण है और उस राग से रहित, देखो, रागादिक शुद्धता और अशुद्धता, रागादिक से रहित, ऐसी शुद्धता अथवा रागादिक से सहित, ऐसी अशुद्धता, ऐसा। यह अलख की.... यह अलख आत्मा की है। वह इनकार किया था कि राग आत्मा का नहीं, राग है कर्म के उदय का। यहाँ यह कहा कि जो राग—विकृत वृत्ति जो उठे, वह अलख भगवान आत्मा में नहीं। परन्तु अज्ञानी राग की एकता करता है तो उसकी दशा में मिथ्यात्व होता है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? रागादि, शुद्धता-अशुद्धता। 'रागादि' का यह तो शब्द का मिलाया है। अब अलख की।

यहै उपादान हेतु.... यहाँ अशुद्धता कहा.... और इसमें शुद्धता भी ली। छापने में अन्तर है। क्योंकि रागादि शुद्धता कहाँ से आवे? नहीं तो ऐसा लेना चाहिए कि रागादि रहित शुद्धता और रागादि सहित अशुद्धता, वह अलख की है। यहाँ रागादिक की अशुद्धता उसकी है, ऐसा सिद्ध करना है न? इसका अर्थ? पहले तो इनकार करते हैं कि राग नहीं। आत्मा में राग है ही नहीं। राग तो कर्म के उदय की प्रेरणा है, आत्मा में कहाँ है? परन्तु उस राग का एकत्वपना अशुद्धता, वही मिथ्यात्वभाव और मूढ़ता है। और या रागादि रहित आत्मा की शुद्धता, वह आत्मा का स्वभाव है। उसकी दशा में दो भाव है, तीसरा भाव है (नहीं)। कहो, समझ में आया? रागादिक मूढ़ता अशुद्धता है, वह

बराबर है। नहीं तो यह ही बात आती है न पीछे। अशुद्ध और शुद्ध ही इसकी दशा में हैं, इसकी दशा में तीसरी बात (नहीं)।

अशुद्धता अर्थात् क्या? राग को उपयोग में एकाकार करना, वह अशुद्धता और राग से भिन्न आत्मा का भान करना, उसका नाम शुद्धता। उसका यह आत्मा कर्ता है। अज्ञानभाव से राग की एकता में अशुद्धता का कर्ता; भानभाव से आत्मा की शुद्धता का यह कर्ता। इसके परिणमन में यह है, तीसरी चीज़ है नहीं। कहो, समझ में आया?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो अज्ञानभाव से कर्ता है न, अज्ञानभाव से अशुद्धता की एकता का कर्ता यह है, वस्तु की दृष्टि से कर्ता नहीं। ऐई! सर्वविशुद्ध में आया नहीं? जब तक अज्ञान है, तब तक कर्ता मान। भेदज्ञान होने के पश्चात् कर्ता नहीं, ऐसा जान। ऐई! यह तो जैसा हो, वैसा आवे न। समझ में आया? पीछे सर्वविशुद्ध (अधिकार) में बहुत आता है। इसमें क्या कहते हैं उसमें? रागादिक मूढ़ता नहीं। सुधारा है इसमें। है तो ऐसा का ऐसा शब्द इसमें भी। रागादिक शुद्धता। जैसा इसमें है, वैसा ही डाल दिया। सुधारा है। रागादिक शुद्धता अर्थात् मूढ़ता। उसमें सुधारा है लाल अक्षर में। इसमें डाला ऐसा, ऐसा का ऐसा करके डाला।

मुमुक्षु : रागादिक से शुद्धता, वह मूढ़ता।

पूज्य गुरुदेवश्री : रागादिक की मूढ़ता से अशुद्धता, ऐसा। रागपना मेरा है, ऐसी जो मूढ़ता, वह अशुद्धता, वह बन्ध का कारण, ऐसा। उसमें क्या है इसमें? ....बन्ध अधिकार। बन्धद्वार। रागादिक मूढ़ता। लो, इसमें है रूपचन्दजी में। रागादिक मूढ़ता अशुद्धता है अलख की। यह बराबर है। यही उपादान... सिद्ध यह करना है न! बन्ध का उपादानकारण—मूलकारण पुण्य और पाप के राग को अपने में एकत्व करना, वह एक ही मूढ़ता मिथ्यात्वभाव, अशुद्धभाव बन्ध का कारण है। उसने क्या किया है? मूढ़ता। उसमें सुधारा है। बन्ध अधिकार है न। मैं कर्ता.... यह तो उसमें भी आया है। उसमें भी ऐसा कहा है, रागादिक शुद्धता अशुद्धता है। .... तो अपने किया है रूपचन्दजी ने। यह अपने सुधारा है। क्या कहा, समझ में आया इसमें?

भगवान आत्मा तो पवित्र शुद्ध आनन्द का नाथ आनन्दकन्द है, उसका स्वरूप ही यह है। क्योंकि पुण्य-पाप तो आस्रवतत्त्व में जाते हैं तथा कर्म और शरीर तो अजीवतत्त्व में जाते हैं। दो से रहित आत्मा का स्वरूप है। उसके बदले, आस्रव का राग-विकल्प है, उस सहित हूँ, ऐसी जो मूढ़ता, वही अशुद्धता, वही बन्ध का कारण है। कहो, समझ में आया? बाकी दूसरा आता है। दो भाव में है वह। या शुद्ध करे या अशुद्ध करे, बस। तीसरी वस्तु उसमें है ही नहीं। कर्ता-कर्म में आता है। कहो, समझ में आया? '**यहै उपादान हेतु...**' आहाहा! मूल बन्ध का कारण यह। स्वयं कार्य को करे उपादान, लो, इसका अर्थ किया है नीचे। भगवान आत्मा ज्ञान और आनन्द की मूर्ति प्रभु, उसमें जो राग का विकारभाव, उसे एकरूप माने, वह मूढ़ता, वह मिथ्यात्वभाव, वह अशुद्धभाव, वही बन्ध का कारण है, संसार की वृद्धि का कारण है। दर्शनमोह आदि बन्ध का वह कारण है, ऐसा कहते हैं।

हेतु बंधके बढ़ाउमैं,.... ऐसा है न? **याहीतैं विचच्छन अबंध कह्यो तिहूं काल।** यहाँ तो समकिती को निकाल देते हैं। समकिती अबन्ध है। '**विचच्छन**' कहा है न? जैसे शरीर और जड़कर्म आत्मा से पर है, वैसे राग भी पर है। ऐसी जिसकी दृष्टि वस्तु के ऊपर गयी और राग से भिन्न पड़ी, ऐसा जो विचिक्षण धर्मी समकिती **अबंध कह्यो तिहूं काल।** उसे तो अबन्ध कहा है। कहो, समझ में आया? उसे बन्ध नहीं। अबन्ध ऐसा जो आत्मस्वभाव, उसका गुण अबन्ध, द्रव्य अबन्ध और सम्यग्दर्शन हुआ, वह भी अबन्ध है। तब सम्यग्दृष्टि को तीनों काल अबन्ध कहा, ऐसा। **राग दोष मोह नाही सम्यक सुभाउमैं....** लो। यह उसमें कहा था, अज्ञानी को राग-द्वेष-मोह है, उसकी एकता में, उस ज्ञानी को राग-द्वेष-मोह नहीं। समझ में आया? अरे! सम्यग्दर्शन होने पर अविरति सम्यग्दृष्टि... कहना अविरति, भाई! तथापि अविरति से रहित है। समझ में आया? कर्म ही नहीं। आहाहा!

याही तैं विचच्छन—सम्यग्दृष्टि। उसमें है नीचे, देखो। **अतः ये (जीव को) कर्मबन्ध के कारण नहीं है और राग-द्वेष-मोह जीव के स्वरूप को भुला देते हैं, इससे बन्ध की परम्परा में अशुद्ध उपयोग ही अन्तरंग कारण है।** वे सब बाह्य निमित्तकारण। निमित्तकारण कहा न? योग को.... पंचास्तिकाय में। योग बाह्य कारण है। अभ्यन्तरकारण

यह एक ही। **सम्यक्त्वभाव में राग-द्वेष-भाव नहीं होते, इससे सम्यग्ज्ञानी को सदा बन्धरहित कहा है।** आहाहा! बन्ध है जो राग का भावबन्ध, उससे तो आत्मा अबन्ध है, ऐसा भिन्न किया है आत्मा को। सम्यग्दृष्टि ने आत्मा को, राग का भावबन्ध है, उससे भिन्न किया है, तब तो सम्यग्दर्शन हुआ है। आहाहा! समझ में आया? सम्यग्दर्शन में, सम्यग्ज्ञान में, जैसे अजीव कर्म और शरीर का अस्तित्व भिन्न है, वैसे राग का अस्तित्व चैतन्यस्वभाव से भिन्न है। ऐसा जहाँ जाना, वहाँ राग की दृष्टि रही नहीं; स्वभावदृष्टि हुई, इसलिए रागरहित स्वभाव का शुद्ध परिणमन है। रागरहित धर्मी का शुद्ध ही परिणमन है। यह अशुद्ध परिणमन अपना नहीं, वह ज्ञान का ज्ञेय है। समझ में आया?

एक तो कहना अविरति सम्यग्दृष्टि और अविरति में दोषरहित सम्यग्दर्शन है। अविरत (भाव) को अपने में खतौनी नहीं करता। आहाहा! कठिन बात है। स्वरूप ही ऐसा है वहाँ। खबर नहीं, इसलिए दूसरी चीज़ कुछ हो जाये? आस्रव कहा, अविरतभाव आस्रव है। सम्यग्दृष्टि व्यवहार से मुक्त है। व्यवहार से मुक्त है अर्थात् अव्रत के भाव से भी मुक्त है। कहा है या नहीं? भगवान आत्मा, उसकी क्या चीज़ और उसकी महत्ता और महिमा क्या है, उसकी इसे खबर नहीं। इसलिए राग को महत्ता दे देता है, इसका अर्थ कि राग में एकत्व करता है। आहाहा!

मैंने पुण्य किया। मैंने शुभभाव किया, ऐसे शुभ को और पुण्य के भाव को एकपने बनाता है। पाठ में ऐसा है न? '**रागादिनुपयोगभूमिमनयन्।**' लाता नहीं। उसमें ऐसा था कि '**यदैक्यमुपयोगभूः समुपयाति।**' उस ओर। बस, उसमें लाता है, यहाँ लाता नहीं। बस, इतना ही अन्तर सिद्धान्त में। आहाहा! यह वह गजब बात! अज्ञानी को राग के विकल्परूप दया, दान, व्रत, भक्ति आदि राग के परिणाम हों, परन्तु वह राग है। अज्ञानी अपनी आत्मभूमिका में उसे लाता है। जो नहीं, उसे लाता है, इसका नाम मिथ्यात्व और इसका नाम मूढ़ता और बन्ध का कारण। ज्ञानी '**रागादिनुपयोगभूमिमनयन्।**' लाता ही नहीं। आहाहा! कठिन बात! कहो, है न सामने पुस्तक? किस गाथा का अर्थ होता है, कैसे होता है।

ज्ञानं भवेत् केवलं.... बस। वह तो ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान अर्थात् आत्मा शुद्ध, ऐसा। अकेला आत्मा शुद्ध, वह आत्मा भवेत्। उसरूप परिणमन है,

उसे आत्मा कहते हैं। रागरूप परिणमन है, वह आत्मा नहीं, ऐसा कहते हैं। **राग द्वेष मोह नाहीं 'सम्यक्' सुभाउमैं।** भगवान आत्मा के स्वभाव में वह है नहीं। कहते हैं, ऐसा (होने) पर भी स्वच्छन्दी होना, उसे योग्य नहीं है।

मुमुक्षु : स्वच्छन्दी होता ही नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : तथापि चाहे जो हिंसा हुई तो हुई, भोग की वासना चाहे जो करता (हो तो) हुई तो हुई, ऐसी भावना समकिती को नहीं होती। सावधान कराते हैं। ऐसा कहा था, तो भी चाहे जैसे हो, ऐसा नहीं है। शुभ परिणाम में उसे प्रयत्न होना चाहिए, ऐसा कहते हैं। ऐई! भले उसका फल न इच्छे। शुभ के परिणाम को अपने में लावे नहीं, परन्तु शुभ परिणाम का प्रयत्न उसे होता है। समझ में आया? नीचे चौथा श्लोक है न!

तथापि न निरर्गलं चरितु-मिष्यते ज्ञानिनां,
तदायतन-मेव सा किल निरर्गला व्यापृतिः।
अकाम-कृत-कर्म तन्मत-मकारणं ज्ञानिनां,
द्वयं न हि विरुध्यते किमु करोति जानाति च।।१६६।।

इसका पद छठवाँ। **यद्यपि ज्ञानी अबंध है....** धर्मी तो अबन्ध ही है, राग की एकता से छूटा है। राग की एकता जहाँ नहीं, वहाँ राग भिन्न है, वहाँ राग का बन्धन उसे है ही नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! **तो भी पुरुषार्थ करते हैं....** है न? अबन्ध है, तथापि राग के शुभभाव में उसका प्रयत्न है कि अशुभ न हो, उसमें स्वच्छन्दी नहीं हुआ जाता, ऐसा। समझ में आया? आहाहा!

★ ★ ★

काव्य - ६

यद्यपि ज्ञानी अबन्ध हैं तो भी पुरुषार्थ करते हैं (सवैया इकतीसा)

कर्मजाल-जोग हिंसा-भोगसौं न बंधै पै,
तथापि ग्याता उद्दिमी बखान्यौ जिन बैनमैं।
ग्यानदिष्टि देत विषै-भोगनिसौं हेत दोऊ-

क्रिया एक खेत यौं तौ बनै नांहि जैनमैं।।
उदै-बल उद्दिम गहै पै फलकौं न चहै,
निरदै दसा न होइ हिरदैके नैनमैं।
आलस निरुद्दिमकी भूमिका मिथ्यात मांहि,
जहां न संभारै जीव मोह नींद सैनमैं।।६।।

शब्दार्थ:-उद्दिमी=पुरुषार्थी। बखान्यौ=कहा। बैन=वचन। निरदै=कठोर। न सँभारे (न सम्हालै)=असावधान रहे। सैन (शयन)=निद्रा।

अर्थ:-स्वरूप की सम्हाल और भोगों का अनुराग ये दोनों बातें एक साथ ही जैनधर्म में नहीं हो सकतीं, इससे यद्यपि सम्यग्ज्ञानी वर्गणा, योग, हिंसा और भोगों से अबन्ध हैं तो भी उन्हें पुरुषार्थ करने के लिये जिनराज की आज्ञा है। वे शक्ति अनुसार पुरुषार्थ करते हैं, पर फल की अभिलाषा नहीं करते और हृदय में सदा दयाभाव रखते हैं, निर्दय नहीं होते। प्रमाद और पुरुषार्थ हीनता तो मिथ्यात्व दशा ही में होती है जहाँ जीव मोहनिद्रा में अचेत रहता है, सम्यक्त्वभाव में पुरुषार्थ हीनता नहीं है।।६।।

पद-६ पर प्रवचन

कर्मजाल-जोग हिंसा-भोगसौं न बंधे पै,
तथापि ग्याता उद्दिमी बखान्यौ जिन बैनमैं।

स्वभाव सन्मुख का पुरुषार्थ तो है ही, परन्तु स्वच्छन्द का पुरुषार्थ छोड़ने को शुभ में पुरुषार्थ है, ऐसा सिद्ध करते हैं।

ग्यानदिष्टि देत विषै-भोगनिसौं हेत दोऊ -
क्रिया एक खेत यौं तो बनै नांहि जैनमैं॥

लो, यह कवि। क्या कहा? **ग्यानदिष्टि देत....** 'मैं शुद्ध आनन्द हूँ'—ऐसी दृष्टि हो और **विषै-भोगनिसौं हेत...** विषयभोग के राग में प्रेम हो, ऐसा नहीं हो सकता। समझ में आया? **ग्यानदिष्टि देत विषै-भोगनिसौं हेत दोऊ क्रिया एक खेत....** दो क्रिया एक असंख्य प्रदेश में एक (द्रव्य) में दो (विरुद्ध) क्रिया नहीं हो सकती। एक म्यान

में दो तलवारें नहीं हो सकतीं। इसी प्रकार धर्मी को ज्ञान का भी प्रेम है, उसकी दृष्टि ज्ञान पर भी रहे और उसे राग का प्रेम भी हो, ऐसे दोनों नहीं हो सकते। यहाँ तो अकेला राग के एकत्व को संसार बताना है। मिथ्यात्व, वह संसारदायकभाव। लिखा है न बुद्धि, वह .... उसमें।

उदै बल उद्दिम गहै पै फलकौ न चहै.... देखो, है तो शुभभाव, हों! उदयबल की बात है। **उदै बल उद्दिम गहै पै फलकौ न चहै, निरदै दसा न होइ हिरदैको नैनमैं। आलस निरुद्दिमकी भूमिका मिथ्यात मांहि, जहां न संभारै जीव मोह नींद सैनमैं।** पाठ में है न!

कहते हैं, **कर्मजाल-जोग हिंसा-भोगसौं न बंधै....** तो भी ज्ञाता समकिती को अपने स्वभाव का पुरुषार्थ है और शुभभाव में भी उसका पुरुषार्थ होता है, ऐसा कहते हैं। उसके निर्दय परिणाम नहीं होते। '**ग्यानदिष्टी...**' स्वरूप ज्ञानानन्द है, ऐसी भी दृष्टि भी रहे और **भोगनीसौं हेत रहे....** यह विषयसुख में प्रेम रहे—यह दो बातें नहीं हो सकती। धर्मी को आनन्द का भी प्रेम रहे आत्मा का और भोग का अथवा बाहर की चीज़ में उमंगता आवे उसे कुछ देखकर... अनुकूल देखकर हर्ष, अनुकूल देखकर उमंग, ऐसा नहीं हो सकता। समझ में आया?

उदै-बल उद्दिम गहै पै फलकौं न चहै.... राग का भाग आवे, जाने, उसका प्रयत्न भी जरा शुभ में होता है। **फलकौं न चहै....** अर्थात् राग अपना है और वह भाव का कर्तव्य मेरा है, ऐसा नहीं जानता। इसी प्रकार उसका फल कुछ अच्छा आना पुण्यबन्ध का, वह धर्मी को होता नहीं। कहो, समझ में आया? सम्यग्दृष्टि गृहस्थाश्रम में रहा (होने पर भी) उसे राग की एकता टूट गयी है, इसलिए उसे अबन्ध कहा जाता है। तथापि वह अबन्ध स्वच्छन्दी नहीं, ऐसा कहते हैं। कीर्ति का प्रेम हो, भोग का प्रेम हो, अनुकूलता में उत्साह बढ़े और एक ओर कहे कि मेरी ज्ञानदृष्टि आत्मा के ऊपर दृष्टि है, (ऐसा) दोनों हो नहीं सकते। आहाहा! आत्मा आनन्दमूर्ति प्रभु वीतराग तीर्थंकर ने कहा, ऐसी दृष्टि धर्मी को हुई। यह कहे कि हमको यह दृष्टि भी है आत्मा की और यह राग आवे, उसके भोग में, इज्जत में-कीर्ति में हमको उमंगता—उत्साह वीर्य आता है उत्साह का, ऐसे दोनों नहीं हो सकते। आहाहा!

भरत चक्रवर्ती को पहला पुत्र हुआ तो बड़ा महोत्सव किया था। आता है या नहीं ? किसमें ? भरतेशवैभव। पहला-पहला आया न वह ? क्या नाम, भूल गये ? यह जो हो नाम। अर्ककीर्ति—सूर्य की कीर्ति। युद्ध करने गये थे, ...वश करने, कहते हैं, वह सब विकल्प का भी स्वामी नहीं और उसका स्वामी नहीं और उसमें भी नहीं। वह तो पुत्र आया और बड़ा महोत्सव किया।

मुमुक्षु : पुत्र में शुभभाव कैसे हो ?

पूज्य गुरुदेवश्री : शुभभाव अर्थात् उसमें लीनता नहीं।

मुमुक्षु : परन्तु होता है अशुभ।

पूज्य गुरुदेवश्री : भले हो, लीनता नहीं इतनी ही बात है। स्वच्छन्दता नहीं, वह आया तो दिक्कत नहीं, ऐसा नहीं। जानते हैं कि पुरुषार्थ की कमजोरी है। आदरणीय नहीं, हितबुद्धि नहीं, उमंगबुद्धि नहीं।

बाहर में तो प्रेम... जाओ, आठ दिन बड़ा महोत्सव करो, राजकुमार जन्मे हैं। यह तुम्हारा नहीं न ? परन्तु वह तो बाहर का दिखाव अज्ञानी देखे, (इसलिए) उसे लगे, (परन्तु) अन्दर में रूखाश है। 'सम्यग्दृष्टि जीवडो करे कुटुम्ब प्रतिपाल, अन्तरंग से न्यारो रहे ज्यों धाय खिलावे बाल।' यह बात तो सम्प्रदाय में आती है। आती है या नहीं ? सम्प्रदाय में छोटे लड़कों को सिखलाते थे पहले से। पहले से यह तो आता है, लड़कों को... 'सम्यग्दृष्टि जीवडो करे कुटुम्ब प्रतिपाल...' कुटुम्ब को मानो पालता है, ऐसा दिखता है। इसका यह अर्थ है। उसमें कहाँ लिखा है कि कुटुम्ब प्रतिपाल को देखे ? करे कुटुम्ब (प्रतिपाल), ऐसा लिखा है। भाषा क्या हो ? निर्जरा अधिकार में, समकिती इन्द्रियों को भोगे, इन्द्रियों से भोग को भोगे, ऐसा लिखा है, देखो ! यह तो लोग देखते हैं, ऐसा कहा है उन्होंने। ऐई ! आहाहा ! राग का विकल्प उठा, उसमें उसकी स्वच्छन्दता नहीं, इतनी बात। चाहे जो हुआ राग, चाहे जो हो, ऐसा नहीं। उसका उत्साह तो स्वभाव की ओर है।

उदै-बल उद्दिम गहै पै फलकौं न चहै.... पुरुषार्थ करने के लिये जिनराज की आज्ञा है। देखो, है न ? **वे शक्ति अनुसार पुरुषार्थ करते हैं, पर फल की अभिलाषा**

नहीं करते। उसके अशुभ की बात है, हों! शुभ की तो है ही परन्तु... धर्मी को ऐसा शुभभाव... पूर्वक आता है, होता है। परन्तु उसका आश्रय नहीं अथवा उसका स्वामी नहीं और उसके फल को (इच्छता नहीं)। राग बँधा, इसलिए बहुत अच्छा हुआ, ऐसा नहीं। **हृदय में सदा दयाभाव रखते हैं,....** है न? **निरदै दसा न होइ हिरदैके नैनमें....** अन्दर में अकषाय करुणा, अनन्तानुबन्धी का अभाव है, इसलिए करुणा ही वर्तती है।.... वह तो करुणा है। बाहुबली को चक्र मारा न। समकिती थे भरत।.... वह विकल्प का ज्ञाता है। यह तो तलवार की धार बातें हैं, भाई!

धार तरवारनी सोह्यली दोह्यली, चौदमा जिनतणी चरणसेवा,
धार पर नाचता देख बाजीगरा, सेवना धार पर रहे न देवा।

देव भी रह सके नहीं और अज्ञानी भी रह सके नहीं। धर्मी तो उसे कहते हैं, जिसे अपने आनन्द के प्रेम के समक्ष कहीं प्रेम आता ही नहीं। उसे धर्म की पहली दशावाला कहते हैं। आहाहा! कोई महिमा करे और बड़ा माने और ऐसा हो जाये कि आहाहा! मैं कुछ हूँ।

मुमुक्षु : पर से बड़ा माने....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो आान है, मिथ्यादृष्टि है। आठ मद नहीं कहे आठ? पच्चीस दोष वर्णन किये हैं न समकित के। छह अनायतन, कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र (और उनके माननेवाले इन छह) अनायतन को छोड़ता है, आठ मद को छोड़ता है। मद होता ही नहीं। स्वभाव शुद्ध आनन्द का जहाँ अधिकपना (अर्थात् कि) राग से भिन्नता, पर्याय से भी भिन्नता जहाँ भासित हुई... आहाहा!

'णाणसहावाधियं मुणदि आदं।' ३१ (गाथा समयसार)। इसका नाम सम्यग्दर्शन। उसे पर में प्रेम और उत्साह, वह बिल्ली की कमर टूट गयी और चले, ऐसा है। बिल्ली होती है न। एकदम चलती हो परन्तु कमर टूट गयी फिर चले सही ऐसे... ऐसे, परन्तु चलना लंगड़ा हो गया। घिसटती है, पीछे दो पैर घिसटते हैं। इसी प्रकार धर्मी को राग लूला हो गया। राग अपना नहीं, ऐसा भान हो गया। आहाहा! फिर राग घिसटता हुआ थोड़ा पीछे आवे, परन्तु उसका है नहीं। यह तो वीतरागमार्ग है। वीतरागमार्ग में रागपना अपना माने तो वह वीतरागमार्ग रहता नहीं। समझ में आया? आहाहा!

निरदै दसा न होइ हिरदैके नैनमैं,.... लो। चक्र फैंका बाहुबली पर, कहते हैं, परन्तु अन्दर निर्दय नहीं। वह विकल्प आया है, परन्तु उससे ऐसा परिणमा, ऐसा नहीं।

मुमुक्षु : सम्यग्दृष्टि को इतनी भी खबर नहीं होगी कि परिवार में झगड़ा नहीं होता ? खबर नहीं थी, भान नहीं था ?

पूज्य गुरुदेवश्री : सब था। राग का खेल है। रामचन्द्रजी समकिती थे। रामचन्द्रजी। सीता को रावण ले गया, वे ऐसे पर्वत-पर्वत में खोजते हैं। मेरी सीता... मेरी सीता.... ...तथापि वे ज्ञानी हैं। यह भी ज्ञानी है और वह भी ज्ञानी है, दोनों समान हैं। ऐई! सीताजी, लो न। जिन्हें रावण डिगाने आया, परन्तु डिगे नहीं। और जब स्वर्ग में गये, तब रामचन्द्रजी ध्यान में थे, वहाँ से डिगाने आये। यह राग के विकल्प के जाल ऐसे हैं। आहाहा! ऐई!

रामचन्द्रजी ध्यान में—आनन्द में थे। सीताजी स्वर्ग में है। वहाँ से आये। सीताजी के वेश में आये। नहीं तो (अभी) पुरुष है। वहाँ आकर डिगाया। ध्यान छोड़ो, हम यहाँ से देव में इकट्ठे रहेंगे, ऐसी बात हैं। बड़े पुरुष की बड़ी बातें अन्दर होती हैं।

मुमुक्षु : बड़े पुरुष के.... बड़े ही हो न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : .... माप नहीं होता। पुरुषोत्तम पुरुष हैं रामचन्द्रजी। भगवान को स्वीकारा है। और नग्न दिगम्बर मुनि हुए हैं। केवल (ज्ञान) प्राप्त करके मोक्ष पधारे हैं। रामचन्द्रजी केवल (ज्ञान) पाकर मोक्ष पधारे। वीतराग के भक्त थे, समकिती थे। चारित्र अन्तर आनन्द है, नग्नदशा। आहाहा! ऐसी बात है। अन्दर में हृदय में खटकता है राग, उसमें उसे सुखरूप नहीं मानता।

आलस निरूद्रमकी भूमिका मिथ्यात मांहि.... लो! जिसे आत्मा की ओर का पुरुषार्थ नहीं और स्वच्छन्दीरूप से शुभ में भी पुरुषार्थ नहीं, ऐसे आलसी जीव निरुद्यमी भूमिका (अर्थात् कि) मिथ्यात्व में है। समझ में आया ? धर्मी को अपने स्वभाव की ओर का पुरुषार्थ है और स्वच्छन्दी नहीं हो, इसलिए शुभ में भी होता है, ऐसा यहाँ सिद्ध करना है। आहाहा! समकिती हुए, इसलिए अब किसी प्रकार का डर नहीं राग से, ऐसा नहीं है। राग से अन्दर निर्भयता है। अन्दर (राग) है, तथापि स्वच्छन्दता नहीं। चाहे जो

राग आया, चाहे जो विषय ले, ऐसा नहीं होता। उसकी भूमिका की दशा में **निरुदिम आलस...** निरुद्यमी भूमिका तो मिथ्यात्व है। देखो, यहाँ तक कहते हैं। आगे भी कहेंगे कहीं। आता है पीछे।

जे जिय मोह नींदमैं सोवैं। ते आलसी निरुदिम होवैं।
द्रिष्टि खोलि जे जगे प्रवीना। तिनि आलस तजि उद्दिम कीना॥

नौवाँ पद है। यह तो बहुत वर्ष से कहते हैं। आहाहा!

जो जीव मोह नींद में सोवे। ते आलसी निरुदिम होवे।
दृष्टि खोल जे जगे प्रवीना। तिनि आलस तजि उद्दिम कीना॥

जहाँ **आलस निरुद्दिम....** भगवान चैतन्य शुद्ध आत्मा की ओर का प्रयत्न उसे है और उसका घोलन होने पर शुभविकल्प भी उसमें होता है। ऐसी भूमिका में आलस और अनुद्यम... आलस और अनुद्यम होता नहीं। **जहां न संभारै जीव मोह नींद सैनमैं....** जहाँ भगवान आनन्दस्वरूप को याद न करे और अकेले राग में एकाकार हो, वह दशा मिथ्यादृष्टि की है। समझ में आया? **प्रमाद और पुरुषार्थहीनता तो मिथ्यात्वदशा में होती है। जहाँ जीव मोहनिद्रा से अचेत रहता है।** राग की एकता में—मोह में—मूढ़ता में आत्मा की सचेतता जागृतदशा आवृत्त हो जाती है। यह निद्रा, मोहनिद्रा में... **सम्यक्त्वभाव में पुरुषार्थहीनता नहीं।** अपने स्वरूप की रचना का पुरुषार्थ उसे हमेशा होता है। स्वरूप की रचना का पुरुषार्थ। उसमें विकल्प भी उस प्रकार का होता है।

स्वभाव की सन्मुख की घोलन दशा है। स्थिरता न हो, तब उसका विकल्प ऐसा ही होता है। उसे स्वच्छन्द होता नहीं, ऐसा कहते हैं। **जहां न संभारै जीव....** अरे! अपना स्वरूप आनन्द और ज्ञान, उसे याद न करे और राग को याद करे, वह तो मोहनिद्रा के शयन में सो रहा है। मोह की नींद, वह निद्राशयन... शयन... मोह की निद्रा में सो रहा है। भगवान आत्मा रागरहित, पुण्यरहित, पापरहित आनन्दकन्द (है, उसे) याद करता नहीं, स्मरण करता नहीं, समभाव अन्तर दृष्टि करता नहीं। अकेला राग में सावधान होकर मिथ्यानिन्द में सो रहा है, वह मिथ्यादृष्टि है। उसे बन्धन अज्ञान और चौरासी का (भ्रमण) होता है।

देखो, उसमें लिखा है। **हृदय में सदा दयाभाव रखते हैं, निर्दय नहीं होते।** 'दया, शान्ति, समता, क्षमा, सत्य, त्याग, वैराग्य। होय मुमुक्षु घट विषे, सोह सदाय सुजाग्य।' ऐसा भाव राग की मन्दता का होता है। वस्तुस्वरूप वह नहीं। परन्तु उस स्वरूप में स्वच्छन्दता नहीं, इसलिए ऐसा होता है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? तलवार की धार जैसा दुष्कर नहीं, हों, दुःखवाला नहीं। परन्तु उस वीतरागी आज्ञा का स्वरूप राग से रहित जानकर मानना और राग आने पर भी स्वच्छन्द न हो, ऐसी भगवान की आज्ञा है। ऐसे राग से एकत्व मानना, वह भगवान की आज्ञा से विरुद्ध है। राग से—पुण्य से मुझे धर्म होगा... राग का एकत्व माने, वह मिथ्यात्व है। उस मिथ्यात्व की भावनिद्रा में सो रहा है। धर्मी तो उससे भिन्न पड़ा हुआ निरुद्यमी और आलसी नहीं। उद्यमी और अनालसी है, ऐसा कहते हैं। विशेष कहेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ८९, आषाढ़ शुक्ल ७, मंगलवार, दिनांक २९-०६-१९७१
बन्ध द्वार काव्य- ७ से १२

सातवाँ पद है, नहीं? यह बन्ध अधिकार है। राग और स्वभाव की एकता, वह बन्धपना है। अपना स्वभाव शुद्ध चैतन्य आनन्द और ज्ञायक है, उसमें राग और पुण्य-पाप का विकल्प, उसके साथ एकता करना, वह पर्यायदृष्टि है (और) मिथ्यादृष्टि उस बन्धभाव को पाता हुआ नये बन्ध को बढ़ाता है। ज्ञानी राग से भिन्न पड़कर अपना आनन्दस्वभाव, उसमें रहता हुआ राग से भिन्न करता हुआ, नया बन्ध उसे नहीं होता, तथापि उसे कुछ रागादि होते हैं, कर्म के निमित्त से, उसकी जरा बात करते हैं।

★ ★ ★

काव्य - ७

उदय की प्रबलता (दोहा)

जब जाकौ जैसौ उदै, तब सो है तिहि थान।
सकति मरोरै जीवकी, उदै महा बलवान।।७।।

शब्दार्थ:-जाकौ=जिसका। थान=स्थान। उदै (उदय)=कर्मविपाक।

अर्थ:-जब जिस जीव का जैसा उदय होता है, तब वह जीव उसी माफिक वर्तता है। कर्म का उदय बहुत ही प्रबल होता है, वह जीव की शक्तियों को कुचल डालता है और उसे अपने उदय के अनुकूल परिणमाता है।।७।।

काव्य-७ पर प्रवचन

जब जाकौ जैसौ उदै, तब सो है तिहि थान।
सकति मरोरै जीवकी, उदै महा बलवान॥७॥

जिस जीव का जैसा उदय है... उसकी पर्याय में राग की अस्थिरता होती है ज्ञानी को, वह कर्म का उदय है, वह स्वभाव का उदय नहीं। तब उस जीव को उस प्रकार से

उसका स्थान और भाव होता है। ज्ञानी समझता है कि मैं राग (रहित हूँ), स्वभाव सहित और राग रहित हूँ। ऐसा होने पर भी राग की दाह जोर से उसमें अस्थिरता होती है। उस स्थान में वह अस्थिरता ही होती है, कहते हैं। **सकति मरौरे जीवकी....** पुरुषार्थ निर्बल है, इसलिए आत्मा की पर्याय में राग की ओर का खिंचाव—आसक्ति हो जाती है।

मुमुक्षु : आस्रव मरोड़े....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह शक्ति मरोड़े... कहा न! अपना जो स्वभाव है, अपना स्वभाव है, उसे राग में खींचकर अस्थिरता करता है, ऐसा कहते हैं। मरोड़ डालता है। कहो, समझ में आया?

चैतन्यस्वरूप आनन्द का भान होने पर भी धर्मी को राग के अन्दर आसक्ति है, उसमें जीव की पर्याय मरोड़ जाती है—अस्थिर हो जाती है, ऐसा कहते हैं। **उदै महा बलवान....** इस प्रकार से राग का वहाँ जोर है अस्थिरता का, उसका बलवानपना है, ऐसा कहा है।

मुमुक्षु : वह तो कर्म का जोर है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कर्म-फर्म की बात यहाँ है नहीं। **जीव की शक्तियों को कुचल डालता है।** राग की तीव्र आसक्ति हो तो जीव की शान्ति को भी (कचोट डालता है)। धर्मी जीव को भी जरा अशान्ति होती है, ऐसा कहते हैं। इतनी बात है। यह अब दृष्टान्त देते हैं, देखो इसके ऊपर। **उदय की प्रबलता पर दृष्टान्त**। इसके साथ मिलान खाना पड़ेगा न वापस।

★ ★ ★

काव्य - ८

उदय की प्रबलता पर दृष्टान्त (सवैया इकतीसा)

जैसैं गजराज पर्यौ कर्दमकै कुंडबीच,
उद्दिम अहूटै पै न छूटै दुख-दंदसौं।
जैसैं लोह-कंटककी कोरसौं उरझ्यौ मीन,
ऐंचत असाता लहै साता लहै संदसौं।।

जैसैं महाताप सिर वाहिसौं गरास्यौ नर,
तकै निज काज उठि सकै न सुछंदसौं।
तैसैं ग्यानवंत सब जानै न बसाइ कछू,
बंध्यौ फिरै पूरब करम-फल-फंदसौं।।८।।

शब्दार्थः-गजराज=हाथी। कर्दम=कीचड़। कंटक=काँटा। कोर=नोक। उरझ्यो= फँसा हुआ। मीन=मछली। संदसौं=छूटने से।

अर्थः-जिस प्रकार कीचड़ के गड्ढे में पड़ा हुआ हाथी अनेक चेष्टाएँ करने पर भी दुःख से नहीं छूटता, जिस प्रकार लोह-कंटक में फँसी हुई मछली दुःख पाती है-निकल नहीं सकती, जिस प्रकार तेज बुखार और मस्तक-शूल में पड़ा हुआ मनुष्य अपना कार्य करने के लिये स्वाधीनता पूर्वक नहीं उठ सकता, उसी प्रकार सम्यग्ज्ञानी जीव जानते सब हैं परन्तु पूर्वोपार्जित कर्मोदय के फंदे में फँसे होने से उनका कुछ वश नहीं चलता अर्थात् व्रत संयम आदि ग्रहण नहीं कर सकते।।८।।

पद-८ पर प्रवचन

जैसैं गजराज पर्यौ कर्दमकै कुंडबीच,
उद्दिम अहूटै पै न छूटै दुख-दंदसौं।
जैसैं लोह-कंटककी कोरसौं उरझ्यौ मीन,
ऐंचत असाता लहै साता लहै संदसौं॥

यह चेतन चाहिए यहाँ। ऐंचन अर्थात्... जैसे शब्द हैं वैसे डाले। सुधारा नहीं कुछ। देखो, उसमें ऐसा है उसमें, ऐसा डाला है। परन्तु इसमें ऐसा नहीं। चेतन है इसमें। समयसार। रूपचन्दजी। चेतन... शब्द आड़ा-टेढ़ा हो गया इसमें। 'च' चाहिए न पहला। उसके ऊपर 'ऐ' चाहिए, चेतन। 'त' चाहिए, 'न' चाहिए।

चेतन असाता लहै साता लहै संदसौ,
जैसें महाताप सिर वाहिसौं गरास्यौ नर,
तकै निज काठ उठि सकै न सुछंदसौं॥
तैसैं ग्यानवन्त सब जानै न बसाइ कछू

देखो, उसके पर यह दृष्टान्त है। वह उदय बलवान, इसका दृष्टान्त है यह।

तैसैं ग्यानवन्त सब जानै न बसाइ कछू,
बंध्यौ फिरै पूरब करम-फल-फंदसौं॥

मुमुक्षु : एक ओर कहे कि ज्ञानी को बन्ध है नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह फिर अपेक्षा है न। दृष्टि के जोर की अपेक्षा से बन्ध नहीं, परन्तु पर्याय में वह राग का परिणमन है न। एक अपेक्षा से तो द्रव्य अत्यन्त शुद्ध है तो दृष्टि में शुद्ध का ही परिणमन है। परन्तु वापस अशुद्धता है, यह भी प्रसिद्ध करना है न!

मुमुक्षु : वह तो पुद्गल परिणाम?

पूज्य गुरुदेवश्री : पुद्गल परिणाम तो अपेक्षा से कहे, परन्तु वे जीव के हैं। नय में नहीं आया? सैंतालीस नय में। राग का कर्ता और राग का भोक्ता जीव की पर्याय में है, ऐसा जीव जानता है।

मुमुक्षु : वह तो पर का लक्ष्य करे तो...

पूज्य गुरुदेवश्री : बस, हो गया, पर के लक्ष्य से रागरूप होता है। बिल्कुल नहीं न, वहाँ और कहा। ज्ञानदृष्टि में, आंशिक आंशिक जितना विकारी परिणमन है, वह मेरा है, ऐसा ज्ञानी जानता है।

मुमुक्षु : दोनों जानना चाहिए?

पूज्य गुरुदेवश्री : दोनों जानता है।

मुमुक्षु : एक जाने तो क्या दिक्कत?

पूज्य गुरुदेवश्री : एक जाने तो वस्तु की स्थिति नहीं रहती। अबन्ध है, वह बराबर है, वस्तु के स्वभाव की दृष्टि से। परन्तु पर्याय में निर्बलता का जोर है, वह स्वयं के कारण से। वह भी उसे जानना चाहिए। जिसे आत्मा के स्वभाव का जोर नहीं, उसे राग का जोर है, ऐसा कहा है। समझ में आया? यह डाला कर्म में फिर। स्वभाव का उग्र जोर नहीं, इसलिए कर्म के निमित्त में जुड़ गया, इसलिए कर्म का जोर है, ऐसा कहा है। बात ऐसी है। कर्म जड़ हैं बेचारे, वे कुछ करते भी नहीं और वे कहीं खींचते भी नहीं।

वैराग्य में.... पर से भिन्न है, इतना वैराग्य है परन्तु जितनी अस्थिरता हुई, उतना वैराग्य कहाँ है? पूर्ण वैराग्य हो तो केवली हो जाये। वीतराग हो जाये। यह कहते हैं, देखो न!

जैसैं गजराज परयौ कर्दमकै कुंडबीच.... बड़ा हाथी गजराज। पड़ा कर्दम के गड्ढे में। बड़ा खड्डा पड़ा हो, उसमें गिरा। है तो बड़ा हाथी। **उद्दिम अहूटै पै न छूटै दुःख-दंदसौं....** परन्तु कादव में से निकल नहीं सकता। कहो, समझ में आया? इसी प्रकार धर्मी जीव ज्ञानी, ऐसा कहते हैं, आत्मा आनन्द और शुद्ध है—ऐसा भान होने पर भी राग के जोर में पकड़ा जाता है अन्दर, छूट नहीं सकता। है स्वयं के पुरुषार्थ की कचास। परन्तु उस स्वभाव में वह नहीं, इसलिए राग में जुड़ गया, उससे छूटना है परन्तु भूमिका प्रमाण छूट सकता नहीं, ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

बात यह। लो, तब वे कहते हैं न, भगवान का मार्ग अनेकान्त है। परन्तु अनेकान्त, उसमें हो, उसका अनेकान्त हो न? उसमें डाला है। पूज्यपादस्वामी ने व्याकरण में अनेकान्त कहा है। उपादान से होता है, निमित्त से होता है, ऐसा। सबको खटकता है...। गाँव-गाँव में सब भाग पड़ गये अब।

मुमुक्षु : बात सच्ची लगे उसे तो....

पूज्य गुरुदेवश्री : खोटी लगती है उसको। दो भाग पड़ गये। कहे, नहीं। हो निमित्त हो। बनारसीदास ने वहाँ तक कहा, 'उपादान बल जहां तहां नहीं निमित्त को दाव।' हो, किसने इनकार किया है? हो तो क्या? उससे कार्य होता है?

मुमुक्षु : वह न हो तो नहीं होता।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह न हो, परन्तु कहाँ न हो? वह तो निमित्त की सिद्धि करनी हो तो ऐसा कहा जाता है। निमित्त कहाँ नहीं है? किस पर्याय—काल में उसकी स्वतन्त्र (पर्याय के) काल में कहाँ निमित्त नहीं? समझ में आया? ऐसी बात है।

लोगों ने अभी सुनी हुई नहीं, मानी हुई नहीं। इसलिए उपादान-निमित्त के दोहे उठा डाले थे न भाई ने, अजितकुमार। उसकी महिमा की है। अजितकुमार खण्ड-खण्ड बराबर सोनगढ़ को तो तोड़ डालते हैं। अरे भाई! क्या सोनगढ़ का कहाँ था? वह तो उसके वस्तु के स्वरूप का है। बनारसीदास ने नहीं कहा उनका? एक, ऐसा कि

आत्मा को ज्ञानी का उपदेश होता है तो ही काम होता है। समझ में आया? या एक से काम होता है, परन्तु यह तो (कहा कि) दो से काम होता है। दोहा रखा है न? सात दोहे नहीं? बनारसीदास के ४७ दोहे में। नहीं, नहीं, एक से ही होता है, सुन न! होता है। होता है वह क्या? कार्यरूप से कार्य होता है, उसमें वह कार्य करता है? वह अपना कार्य करे या उसके करे? उनके पण्डित ने बनाया हुआ उसे खोटा सिद्ध करना, अब उसका क्या करना? यहाँ कहते हैं कि अपने पुरुषार्थ की कचास है, उसमें राग का जोर है, इतना सिद्ध करना है। समझ में आया? **उद्दिम अहूटै पै न छूटै दु:ख-दंदसौं....** वह हाथी खड्डे में—खड्डे में कर्दम में पड़ा, परन्तु निकल नहीं सकता। आहाहा!

एक वहाँ एक गाय देखी थी पालेज में। एक खड्डा था बड़ा खड्डा, उसमें घास बहुत भरी हुई। वह खाने तो गयी परन्तु अन्दर था पानी। बहुत वर्ष की बात है। उसमें मैं जंगल में निकला। यह दो पैर खवाई गये, वे जल गये वहाँ, पैर का भाग जल गया। वे तोड़ा पहने हो न इतना भाग जल गया। अग्नि में पड़ा रहा पैर। नीचे अग्नि नहीं, ऊपर नहीं। इतने में जहाँ पैर था वहाँ। अब बाहर निकल सके, ऐसा था नहीं। खड्डा बहुत गहरा। वहाँ पालेज में धर्मशाला है। धर्मशाला नहीं? अपने यह... बस के पास खड्डा था बड़ा खड्डा। उसमें घास पड़ा था। अन्दर सुलग उठा। वह बेचारी खाने गयी, परन्तु निकल सके नहीं। हमने देखा था पैर के भाग में, बीच का भाग जल गया। परन्तु निकल कैसे सके? खड्डा गहरा। घास के लोभ में गयी तो सही। देखा था... चार पैर या दो पैर के भाग अन्दर जल गये। वैसे तो जीवित थी। निकल सके नहीं। कहाँ से निकलना रास्ता कहाँ? खड्डा बड़ा। गयी तो सही परन्तु निकल नहीं सकी। जल गयी, लो।

इसी प्रकार धर्मी को अपने स्वभाव का भान है, तथापि राग में एकाकार अस्थिरता हो गयी है। एकाकार नहीं, वैसे तो भिन्न है, परन्तु अस्थिरता हो गयी। छूटना चाहे परन्तु उस भूमिका प्रमाण ऐसी पुरुषार्थ की गति होती नहीं। भूमिका प्रमाण। चौथे गुणस्थान-पाँचवें गुणस्थान में राग से रहित होने का पुरुषार्थ है ही नहीं। समझ में आया? **जैसैं लोह कंटककी कोरसौं उरझ्यौ मीन....** मछली... मछली। लोहे का काँटा डालते हैं न आटा डालकर। आटा डालकर लोहे का काँटा। वहाँ पालेज में देखा था। वहाँ है न वह

तालाब और मुसलमान लोग। अब तो पानी घट गया है। मछली को लोहे का काँटा डालते हों न लोहे का काँटा। और आटा डाले। वह खाने जाये वहाँ काँटा घुस जाये। **लोह कंटकको कोरसौं....** कंटक की कोर **उरझ्यौ...** उसकी अणी घुस जाये। **उरझ्यौ मीन...** एकाकार अन्दर हुआ, हो गया। **फँसी हुई...** फँस गयी।

चेतन असाता लहै... असाता पावे **साता लहै...** छूटे तो साता लहे, परन्तु छूट सके नहीं। **साता लहै संदसौं...** छूटे तो साता पावे, परन्तु छूट सकती नहीं। बन्ध अधिकार है, इसलिए बन्ध का थोड़ा भाव है ज्ञानी को, उसकी बात यहाँ सिद्ध करनी है। समझ में आया? **चेतन असाता लहै...** आहाहा! यह गाय का तब देखा था, अभी अब याद है, हों! ६२ वर्ष हुए होंगे। तोडा पहने हो न उतनी चमड़ी जल गयी... नख... नख... वे सारे। क्योंकि गहरा घुस गया न जरा। ऊपर घास जलती थी। पैर के ऊपर कुछ नहीं वापस मध्य में। जल गया... आहाहा! रात्रि में पड़ी होगी। लोग आये सवेरे, फिर तो बाहर निकाला। वह दृष्टान्त यहाँ लागू पड़ता है, देखो यह।

इसी प्रकार धर्मी जीव आत्मा आनन्द को जाननेवाला होने पर भी **ग्यानवंत सब जानै...** जाने कि यह राग खराब है, नुकसानकारक है, इसमें सुख नहीं। ऐसा होने पर भी, आहाहा! राग में जुड़ता है, छूट नहीं सकता, ऐसा कहते हैं। **जैसैं महाताप सिर वाहिसौं गरास्यो नर....** मनुष्य को बुखार आया। एक सौ पाँच-छह डिग्री। सिर.... सुलाया ऊपर ऐसे। **गरास्यो नर, तकै निज काज उठि सकै न सुछंदसौं....** खाट में से उठ सकता नहीं। देखो न, यह चक्कर आता है न लोगों को, नहीं? चक्कर। उठ नहीं सकता। ऐसे गिर जाता है।

जैसैं महाताप सिर वाहिसौं गरास्यो नर,... लो। **तेज बुखार और मस्तक शूल में पड़ा हुआ अपना कार्य करने के लिये स्वाधीनतापूर्वक नहीं उठ सकता।** यहाँ जरा नीचे आओ यहाँ खाने। उठ नहीं सकता। ऊपर नहीं बैठा जाता, खाट पोची ऐसे-ऐसे है न। पीना हो पानी या चाय, उठ सकता नहीं। सिर फटे... फटे। बुखार आवे और सिर फटता हो, दोनों।

इसी प्रकार ज्ञानी को भान है कि यह हमारा आनन्द है, उसमें से हट जाता हूँ, अस्थिरता में आता हूँ। परन्तु उस भूमिका प्रमाण छोड़ नहीं सकता। **तकै निज काज...**

बुखार और सिर के शूलवाला अपना कार्य **तकै** अर्थात् करना चाहे कि उठूँ, ऐसा करूँ, वैसा करूँ। **तकै निज काज उठि सकै न सुछंदसौ....** परन्तु अपने स्वतन्त्ररूप से उठ नहीं सकता। **तैसै ग्यानवंत सब जानै,...** लो। बन्ध अधिकार में जरा डाला है न? आता है न? ज्ञान परिणमन... आस्रव में नहीं आता? आस्रव है, वह बन्ध का कारण है। यह बड़ा लेख आया है, भाई का—कैलाशचन्दजी का।

वह कहता है, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र बन्ध का भी कारण और मोक्ष का भी कारण—दोनों है। रतनचन्दजी। दूसरा है। बन्ध का कारण सम्यग्दर्शन है ही नहीं। पुरुषार्थसिद्धि उपाय में बहुत स्पष्टीकरण है कि समकिती ही तीर्थंकरगोत्र बाँधे और समकिती मुनि को ही आहारकशरीर होता है। परन्तु वह राग शुभ उपयोग का अपराध है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के कारण से बन्ध है नहीं। वह आता है न? पुरुषार्थसिद्धि उपाय में **मोक्खउपाय।** मोक्ष उपाय है... बन्ध कारण है, वह मोक्ष का उपाय है, ऐसा। परन्तु मोह है, वह वहाँ लागू पड़ता नहीं। यह डाला है भाई कैलाशचन्दजी ने। .....अन्त में ऐसा डालना चाहिए, उसके बदले... मोक्ष का उपाय है, ऐसा कहते हैं। बन्धभाव भी मोक्ष का उपाय है। कहो, ऐसे के ऐसे त्यागी... जहाँ और तहाँ गाथायें हैं। जितने अंश में निर्मलता दर्शन की अर्थात् आंशिक बन्ध नहीं। जितने अंश में राग है, उतने अंश में बन्ध है। पक्ष करके लोगों को....

अब यह समयसार खटका है। ऐई! वाँचा न? अब समयसार, समयसार जहाँ हो वहाँ उठावे। परन्तु तुझे बाधा क्या? यह बनारसीदास नहीं कहते इसमें? घर-घर कथा बखानी। बाधा क्या है तुझे? आत्मा, आत्मा कैसा है? आत्मा क्या है? उसके लिये बात है इसमें। दिक्कत क्या है? नहीं, बन्ध की बात समझाओ। समयसार के जाननेवाले भी, समयसार के वाँचनेवालों को बन्ध की खबर नहीं होती। कुछ खबर नहीं होती, ऐसा लिखा है। समयसारिया भी सब समयसाररूप होते नहीं और मुफ्त की बातें करते हैं, ऐसा लिखा है। आहाहा! उसमें ऐसा लिखते हैं, आत्मा.... वेदान्त में भी आता है और अपने में भी आता है। पद्मनन्दि (आचार्य) १३वाँ बोल। आत्मा सुनना, आत्मा पूछना, आत्मा वाँचना, आत्मा... कितने ग्यारह बोल आते हैं, नहीं? योगसार में। अमितगति (आचार्य कृत)।

और उसमें भी आता है। पद्मनन्दिपंचविंशति में थोड़े आते हैं। उसमें बहुत आते हैं। ग्यारह बोल आते हैं। और उसमें वेदान्त में तो बहुत आता है। आत्मा सुनना, आत्मा वाँचना, आत्मा विचारना, आत्मा पूछना। यह उन्हें खटकता है। अरे भगवान! भले है, परन्तु वह आत्मा की बात है न? ऐसा कहना है। आत्मा अर्थात् समयसार। दिक्कत ऐसी हो उसे आत्मा... ऐसा कि आत्मा अब समयसार... समयसार हो गया अभी। जहाँ हो वहाँ जमाना बदल गया।

ऐसा नहीं था। फिर से शुरु करो। पहले कथानुयोग चाहिए। फिर इन तीनों योग में से चाहे जो एक वाँचे। वह जरा धीमा था। भाई नहीं कहता था? जूनागढ़वाला आया था न बारभाया। बारभाया आये थे वहाँ। 'हमारे तो आधे घण्टे चले कथा, फिर पाव घण्टे चले दूसरा बाद में। कथानुयोग पहला।

मुमुक्षु : श्वेताम्बर में आधे घण्टे कथा ही चले।

पूज्य गुरुदेवश्री : कथा ही चले। फिर कर्ता-कर्म कहे वह चले। ऐसा कहते थे। अब यह चले तो दिक्कत क्या है तुझे?

मुमुक्षु : यह भी कथा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आत्मा की कथा है। क्या है? उसे भी त्याग कितना चाहिए उसे? ऐसा कि आत्मा के लिये दूसरे अनुयोग के ज्ञान का भण्डार इकट्ठा करो तो योगसार, समयसार... डाला है। है न उसमें? सभी आवे, कहाँ से नहीं आता?

यहाँ कहते हैं, **ग्यानवंत सब जानै....** सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जाने सब कि अरे! यह राग नुकसानकारक है। वासना, युद्ध का भाव आवे। राजा का कुँवर हो, राजा हो, लो। आहाहा! दु:खदायक है यह भाव। परन्तु उस भूमिका में अबन्धपरिणाम की पूर्णता तो हुई नहीं। इसलिए ऐसे बन्धभाव उसे होते हैं, ऐसा बतलाते हैं और टालने का पुरुषार्थ करने को कहते हैं।

सब जानै न बसाइ कछू, बंध्यौ फिरै पूरब करम-फल-फंदसौं.... वह कर्म के निमित्त का फल रागादि में जुड़ जाता है। **मोक्षमार्ग में अज्ञानी जीव पुरुषार्थहीन और ज्ञानी पुरुषार्थ होते हैं,...** देखो! गोम्मटसार में कहा है कि अकेला एकान्त पुरुषार्थ, वह

मिथ्यात्व है। यहाँ पुरुषार्थ कहते हैं, मेरा ऐसा कहना है। क्योंकि पुरुषार्थ स्वभाव सन्मुख है, उसमें सब (आ जाता है)। स्वभाव आया। आ जाता है, इकट्ठे हैं, भाई! उसमें भिन्न कहाँ है?

★ ★ ★

काव्य - ९

मोक्षमार्ग में अज्ञानी जीव पुरुषार्थहीन और ज्ञानी पुरुषार्थी होते हैं (चौपाई)

जे जिय मोह नींदमैं सोवैं।
ते आलसी निरुद्दिम होवैं।।
द्रिष्टि खोलि जे जगे प्रवीना।
तिनि आलस तजि उद्दिम कीना।।९।।

शब्दार्थ:-निरुद्दिम=पुरुषार्थहीन। प्रवीना=पंडित।

अर्थ:-जो जीव मिथ्यात्व की निद्रा में सोते रहते हैं, वे मोक्षमार्ग में प्रमादी वा पुरुषार्थहीन होते हैं और जो विद्वान ज्ञाननेत्र उघाड़कर जागृत हुए हैं, वे प्रमाद छोड़कर मोक्षमार्ग में पुरुषार्थ करते हैं।।९।।

काव्य -९ पर प्रवचन

जे जिय मोह नींदमैं सोवैं।
ते आलसी निरुद्दिम होवैं।।
द्रिष्टि खोलि जे जगे प्रवीना।
तिनि आलस तजि उद्दिम कीना।।९।।

जो जीव मिथ्यात्व की निद्रा में सोते रहते हैं.... राग और विकार की एकता में पुरुषार्थ उल्टा करके सोते हैं। **वे मोक्षमार्ग में प्रमादी और पुरुषार्थहीन है।** वह अन्तर्मुख स्वभाव-सन्मुख के पुरुषार्थ से हीन विपरीत है। समझ में आया? वहाँ भी पुरुषार्थ तो

है, परन्तु सुल्टा पुरुषार्थ नहीं, ऐसा कहना है। पुरुषार्थहीन कहा न? पुरुषार्थ तो है उल्टा। सुल्टे पुरुषार्थ से हीन है, ऐसा। समझ में आया? **जे जिय मोह नींदमैं सौवै....** जो जीव... मोह शब्द से मिथ्यात्व, उसका पुरुषार्थ स्वभाव-सन्मुख होता नहीं। **ते आलसी निरुद्दिम हौवै....** आलसी और उद्यमरहित अज्ञानी होता है। लो, यहाँ तो आलसी और निरुद्यमी कहा। पुरुषार्थ स्वभाव-सन्मुख नहीं, इस अपेक्षा से। बाकी है तो उद्यमी। मिथ्यात्वभाव में उद्यमी है। कहाँ उद्यमी नहीं? सुल्टा उद्यमी, वह उद्यम गिनने में आया है। जो वीर्य स्वरूप को रचता है, उसे पुरुषार्थ कहते हैं। राग में एकत्व हो, वह पुरुषार्थ है? इसलिए उसे पुरुषार्थहीन गिना, ऐसा। समझ में आया? आहाहा!

ते आलसी निरुद्दिम हौवै.... जिसे स्वभाव-सन्मुख का पुरुषार्थ नहीं और रागादि विकार की ओर का पुरुषार्थ है। ऐसा जो मिथ्यादृष्टि, स्वभाव-सन्मुख का आलसी और उद्यमरहित है, ऐसा कहते हैं। **द्रिष्टि खोली जे जगे प्रवीना....** धर्मी जीव अन्तर के ज्ञाननेत्र को उघाड़कर, पुरुषार्थ द्वारा सम्यग्ज्ञान को प्राप्त करके जागृत हुए... धर्मी अपने ज्ञानस्वभाव के पुरुषार्थ से जागृत हुआ है। कहो, समझ में आया? कोई ऐसा कहे, भगवान ने देखा तब होगा, उसमें अपना पुरुषार्थ क्या काम करे? वह मिथ्यादृष्टि है, ऐसा यहाँ कहते हैं। समझ में आया? उसकी दृष्टि राग की एकता में पड़ी है। और भगवान ने देखा, वैसा होगा, ऐसा करके पुरुषार्थ खो बैठता है। वे लोग ऐसा कहे, क्रमबद्ध माननेवाले पुरुषार्थ खो बैठते हैं। क्रमबद्ध माननेवाले को ही पुरुषार्थ होता है। समझ में आया? गजब!

यहाँ तो कहते हैं कि अज्ञानी पुरुषार्थहीन है और प्रमादी है। किस अपेक्षा से? अपने स्वभाव का पुरुषार्थ करता नहीं, इस अपेक्षा से प्रमादी, हीन है। बाकी पुरुषार्थ बराबर करता है मिथ्यात्वभाव में। परन्तु वह कहीं पुरुषार्थ है? ऐसा कहते हैं। समझ में आया? मिथ्यात्वभाव का पुरुषार्थ, वह कहीं वीर्य का काम है? वह पुरुषार्थ है? ऐसा कहते हैं। समझ में आया? राग में—विकार में एकताबुद्धि का पुरुषार्थ, वह कहीं पुरुषार्थ है? ऐसा कहते हैं। देखो न, क्या शैली है? क्योंकि पुरुषार्थ तो स्वरूप की रचना करे, उसे पुरुषार्थ कहते हैं। यह तो राग के साथ एकत्व विकार की रचना करे, वह तो पुरुषार्थहीन है। क्या कहते हैं? स्वभाव का जो पुरुषार्थ है, वह है नहीं, ऐसा। समझ में आया? आहाहा!

द्रिष्टि खोली जे जगे प्रवीना.... जिसके ज्ञाननेत्र उघड़कर जागृत हुए हैं। **तिनि आलस तजि उद्दिम कीना,....** लो। वह स्वभाव-सन्मुख का पुरुषार्थ करता हुआ आलस छोड़कर उद्यमवान हुआ है। सम्यग्दृष्टि स्वभाव-सन्मुख के पुरुषार्थ में है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? धर्मी का पुरुषार्थ वीर्य, शुद्धस्वभाव की रचना करे, उसमें उसका वीर्य है। इसलिए धर्मी स्वभाव के पुरुषार्थ में है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? **द्रिष्टि खोली जे जगे प्रवीना....** 'मैं तो ज्ञानस्वरूप शुद्ध आनन्दस्वरूप', ऐसी जहाँ दृष्टि खिली और ज्ञान नेत्र खुले, कहते हैं कि उसे स्वभाव-सन्मुख का आलस और स्वभाव सन्मुख की पुरुषार्थहीनता होती नहीं। ऐसा कहते हैं। **आलस तजि उद्यम कीना,....** लो। उसे तो, मोक्षमार्ग में पुरुषार्थ करते हैं। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में पुरुषार्थ, वही पुरुषार्थ है, ऐसा कहते हैं। मिथ्यात्व और राग में पुरुषार्थ, वह समूल पुरुषार्थहीन कहा है। करता है तो सही बेचारा उस ओर का उल्टा। समझ में आया? शुभराग। लो, यह नौवाँ हुआ।

दसवाँ। **ज्ञानी और अज्ञानी की परिणति पर दृष्टान्त**। दोनों के ऊपर दृष्टान्त देते हैं। आया न उसमें? अज्ञानी और ज्ञानी—दोनों आया न उसमें। उसमें ऐसा था पहला, **जब जाकौ जैसौ उदै**। यह कहकर दृष्टान्त दिया। यह भी दो बात करके उसका दृष्टान्त देते हैं।

★ ★ ★

काव्य - १०

ज्ञानी और अज्ञानी की परिणति पर दृष्टान्त (सवैया इकतीसा)

काच बांधै सिरसौं सुमनि बांधै पाइनिसौं,
जानै न गंवार कैसी मनि कैसौ काच है।
यौंही मूढ़ झूठमैं मगन झूठहीकौं दोरै,
झूठी बात मानै पै न जानै कहा साच है।।
मनिकौं परखि जानै जौंहरी जगत मांहि,
साचकी समुझि ग्यान लोचनकी जाच है।
जहांको जु वासी सो तौ तहांकौ मरम जानै,
जाको जैसौ स्वांग ताकौ ताही रूप नाच है।।१०।।

शब्दार्थ:–सिर=माथा। सुमनि=रत्न। पाइनिसौं=पैरों से। परखि=परीक्षा। लोचन= नेत्र। स्वांग=वेष।

अर्थ:–जिस प्रकार विवेकहीन मनुष्य माथे में काँच और पैर में रत्न पहिनता है, वह काँच और रत्न का मूल्य नहीं समझता, उसी प्रकार मिथ्यात्वी जीव अतत्त्व में मग्न रहता है और अतत्त्व ही को ग्रहण करता है, वह सत्–असत् को नहीं जानता। संसार में हीरा की परीक्षा जौहरी ही जानते हैं, साँच–झूठ की पहिचान मात्र ज्ञानदृष्टि से होती है। जो जिस अवस्था का रहनेवाला है, वह उसी को भली जानता है और जिसका जैसा स्वरूप है, वह वैसी ही परिणति करता है, अर्थात् मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यात्व ही को ही ग्राह्य समझता है और उसे अपनाता है तथा सम्यक्त्वी सम्यक्त्व को ही ग्राह्य जानता है वा उसे अपनाता है।

भावार्थ:–जौहरी मणि को परीक्षा करके लेता है और काँच को काँच जानकर उसकी कदर नहीं करता, पर मूर्ख लोग काँच को हीरा और हीरे को काँच समझकर काँच की कदर और हीरा का अनादर करते हैं, उसी प्रकार सम्यक्त्वी और मिथ्यात्वी का हाल रहता है अर्थात् मिथ्यादृष्टि जीव अतत्त्व ही को तत्त्वश्रद्धान करता है और सम्यक्त्वी जीव पदार्थ का यथार्थ स्वरूप ग्रहण करता है।।१०।।

पद–१० पर प्रवचन

काच बांधै सिरसौं सुमनि बांधि पाइनिसौं,
जाने न गंवार कैसी मनि कैसौ काच है।

यौंही मूढ़ झूठमैं। यहाँ तो मूढ़ कहा। देखो, वह और कहते हैं देखो, अष्टापद में कहीं ऐसा शब्द नहीं मूढ़ और ऐसी भाषा... परन्तु अब भाषा में क्या है? कुन्दकुन्दाचार्य ने मूढ़ (शब्द) बहुत प्रयोग किया है इसमें। पर को जिलाऊँ, पर को मारूँ, पर को उघारूँ, मूढ़ है।

मुमुक्षु : मूढ़ता मिटानी है, इसलिए ऐसा ही कहे न?

पूज्य गुरुदेवश्री : समझण करावे अर्थात् यथार्थ करावे या नहीं? समझ में आया?

काच बांधै सिरसौं सुमनि बांधि पाइनिसौं,
जाने न गंवार कैसी मनि कैसौ काच है।
यौंही मूढ़ झूठमैं मगन झूठहीकौं दौरै,
झूठी बात मानै पै न जानै कहा साच है॥

सत्य क्या है, इसका भान कुछ नहीं। सबमें अपना झूठा डोरा चलावे। धर्म करने के बहाने भी झूठा चलावे। समझ में आया? मान... मान... मान पाने के लिये।

मनिकौं परखि जानै जौंहरी जगत मांहि,
साचकी समुझि ग्यान लोचनकी जाच है।
जहांको जु वासी सो तौ तहांकौ मरम जानै,
जको जैसौ स्वांग ताकौ ताही रूप नाच है॥

लो! गजब कहते हैं बनारसीदास भी। अज्ञानी काँच बाँधे। यह सिर पर काँच बाँधे, पैर में मणि। कहो, बाँधता होगा कोई? यह तो दृष्टान्त है। ऐसे भी होते हैं, पागल होते हैं पागल। **काच बाँधै सिरसौ....** काँच का टुकड़ा हो, उसे रखे सिर पर टोपी में जड़े या पगड़ी में जड़े। और **सुमनि...** उत्तम मणि हो उत्तम ऊँची कीमती, उसे पैर में बाँधे, जूते में डाले। जूते में मणि और यहाँ (सिर पर) काँच, ऐसा कहते हैं। मूल तो ऐसा कहते हैं। आहाहा! **जानै न गंवार...** काँच कैसा और मणि कैसी। किसे कहना काँच और मणि कहना (इसकी) खबर नहीं। ऐसा **मूढ झूठमैं मगन...** आहाहा! अपनी मानी हुई झूठ बात में वह मगन होता है। इस बहाने पूरा कारखाना चलता हो अज्ञानी का। शास्त्र के बहाने भी झूठ चलावे, धर्म के बहाने, संसार के बहाने,... **मूढ झूठमैं मगन...** ऐसा है न? **मिथ्यात्वी जीव अतत्त्व में मगन रहता है**। देखो, ऐसा है।

वास्तविक आत्मा क्या? राग क्या? अजीव क्या? उसके भान बिना, उस स्वभाव में मग्न न रहकर अतत्त्व में मग्न, झूठ में मग्न रहता है। लो, इसमें आया है न, विद्वान। निश्चय तजकर व्यवहार में वर्तन करे, वह विद्वान नहीं, ऐसा कहते हैं। शास्त्र में आवे, व्यवहार को करो, व्यवहार करो, व्यवहार करो। झूठ है, उसमें मग्न रहे। वस्तु अपेक्षा से झूठ है। (व्यवहार) वस्तु (-अस्ति) है। यह भी डाला है इन्होंने। ऐसा कि सब चीज़ है। एक ही आत्मा हो भूतार्थ और दूसरा असत्य हो तो वेदान्त हो जायेगा। आत्मा भी है

और दूसरे छह द्रव्य सत्य है।... जैनसन्देश में डाला, कहो। पहले कौन था? अजितकुमार? नहीं। उसके बदले आया है न दूसरे के बदले।.... कर्म का खिलौना है आत्मा। अखबार में आया था न पहले ... क्यों पण्डितजी? कर्म का खिलौना है न आत्मा? जड़कर्म जैसे नचावे, वैसे नाचे आत्मा।

कर्म बेचारे कौन? वह तो जड़ है। यह तुझमें उनकी नास्ति है और उनमें तेरी नास्ति है। जड़कर्म में तेरी नास्ति है और तुझमें... तुझमें जो नहीं, वह तुझे नुकसान करे? वह उसमें रहा, तुझमें नहीं आया और नुकसान करे, लो। वह स्पर्श भी नहीं करता तथापि उसे अपने अन्दर में एकत्वबुद्धि हो अज्ञानी को, उसके कारण वह निमित्त होता है। मूढ़ता की योग्यता है, उसे निमित्त होता है।

यह समयसार में आता है न, स्त्री को धुनावे उसे। आता है न? यहाँ तो कहते हैं, **मूढ झूठमैं मगन....** पुण्य विकल्प आदि पर (चीज़) वास्तविक तत्त्व नहीं, बस उसमें लीन—मग्न है। **झूठमैं मगन, झूठ ही कौ दौरे....** बात और प्ररूपणा, मान्यता झूठ को सिद्ध करना चाहे। है न? **वह सत्-असत् को नहीं जानता, संसार में हीरा की परीक्षा जौहरी ही जानते हैं।** यहाँ तो यह कहा है। **झूठ ही कौ दौरे।** लो! वह झूठ को लम्बाता है। यह अपनी बात खोटी हो तो भी उसे लम्बाकर सिद्ध करना चाहता है। आहाहा! **झूठी बात मानै पै न जानै कहा साच है....** झूठी बात माने। सच्चा है, उसका भान नहीं होता। **झूठी बात मानै पै न जानै.... साँच-झूठकी पहिचान मात्र ज्ञानदृष्टि से होती है।** अज्ञानी को है नहीं, ऐसा कहते हैं।

मनिकौं परखि जानै जौंहरी जगत मांहि.... मणि को तो झबेरी परख सकता है। आता है न! एक वह हीरा हाथ आया था। उसने माना कि अपने अब कैरोसीन जलाना मिटा। करो प्रकाश रोटी और रोटला के समय रात्रि को। मूर्ख है। कुछ खबर नहीं। उसमें फिर हीरावाला कोई प्रगट हुआ। ऐ... परन्तु यह क्या चीज़ है तेरे यहाँ? हमारे यहाँ हजारों स्वर्णमोहर पड़ी है, ला, दें तुझे। हें! ऐसी यह चीज़! लो। उसे कैरोसीन का लाभ होता था। कैरोसीन नहीं जले, इसलिए इस हीरा को... ऐसे के ऐसे। फिर उसे खबर पड़ी। ओहो! अरे, मैं तो जहाँ था, वहाँ तो ऐसी बहुत चीज़ें थीं। परन्तु यह तो मैं एक ही ले आया।

मनिकौं परखि जानै जौंहरी जगत मांहि, जौंहरी जगत मांहि, साचकी समुझि ग्यान लोचनकी जाच है.... लो। इस सत्य को ज्ञानी समझता है। द्रव्य का स्वरूप सत्य त्रिकाल शुद्ध है। पर्याय भी उसके आश्रय से हो तो शुद्ध है। पर के आश्रय से हो तो अशुद्ध है। ऐसा वास्तविक स्वरूप ज्ञानी जान सकता है, ऐसा कहते हैं। **साचकी समुझि ग्यान लोचनकी जाच है.... जो जिस अवस्था का रहनेवाला है, वह उसी को भली जानता है।** शास्त्र से भी इस बात को सिद्ध करना मिथ्या प्रयास करता है, ऐसा कहते हैं। **साचकी समुझि ग्यान लोचनकी जाच है। जहांको जु वासी सो तौ तहांकौ मरम जानै....** धर्मी जिसका स्वांग, उसके मर्म को जाने। अज्ञानी को उसके मर्म की खबर नहीं। राग आदि में पड़ा एकत्वबुद्धि में, आहाहा! उसे सच्चे लोचन खुले नहीं, खिले नहीं और उल्टी ही बात में सब दौड़ होती है, ऐसा कहते हैं।

जहांको जु वासी सो तौ तहांकौ मरम जानै, जाकौ जैसौ स्वांग ताकौ ताही रूप नाच है.... साहूकार का वेश पहनकर फिर नट की भाँति नाचे? नट नाचे, वह तो उसका स्वाँग हो तत्प्रमाण नाचे। अभी नहीं था? कहीं बाजीगर था। भावनगर था, नहीं? अपने निकले तब, नहीं? एक बाई—लड़की थी जवान बाजीगर। दो बाँस के ऊपर पैर रखे थे। भावनगर, नहीं? सर्कस नहीं, बाजीगर। यह तो बाजीगर और बाई—दो। यह तो रास्ते में सर्कस कहाँ? हम रास्ते में निकले तब। कहाँ था अहमदाबाद? अहमदाबाद में था।

बाई थी बाजीगर की जवान। दो बाँस के ऊपर पैर रखे थे। बाजाणी थी बाजाणी। रास्ते पर थी बाजाणी। दो बाँस के ऊपर पैर, हाथ में लकड़ी। ऐसा करती थी। सीखा हो वह। जवान बाई थी। अहमदाबाद। बाजाणी... बाजाणी। सर्कस नहीं था। उसके खेल वह जान सके। वह कहीं साहूकार खेल कर सके? साहूकार उसके धन्धे का खेल कर सके। उसका मर्म जाने कि ऐसा है तो मैं ऐसा करता हूँ। ऐसा करता हूँ। **जाकौ जैसौ स्वांग ताकौ ताही रूप नाच है,....** लो। आहाहा! **जिसका जैसा स्वरूप है, वह वैसी ही परिणति करता है, अर्थात् मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यात्वही को ग्राह्य समझता है और उसे अपनाता है।** अपना माने। **सम्यक्त्वी सम्यक्त्व को ही ग्राह्य जानता है और उसे अपनाता है।**

भावार्थ— **जौहरी मणि को परीक्षा करके लेता है और कांच को कांच जानकर**

उसकी कदर नहीं करता। काँच की कदर करे नहीं। भले बड़ा हो और बहुत चमकता हो। **पर मूर्ख लोग कांच को हीरा और हीरा को कांच समझकर कांच की कदर और हीरा का अनादर (करते हैं)।** काँच की कदर और हीरा का अनादर। ऐसे, कदर और अनादर। **उसी प्रकार सम्यक्त्वी और मिथ्यात्वी का हाल रहता है। मिथ्यादृष्टि जीव अतत्त्व ही को तत्त्वश्रद्धान करता है।** वास्तविक तत्त्व नहीं, उसे वास्तविक तत्त्व में मिला दे। और वास्तविक तत्त्व हो, उसे खो बैठता है। **सम्यक्त्वी जीव पदार्थ का यथार्थ स्वरूप ग्रहण करता है,....** लो। **जैसी क्रिया तैसा फल।**

★ ★ ★

काव्य - ११

जैसी क्रिया तैसा फल (दोहा)

बंध बढ़ावै अंध ह्वै, ते आलसी अजान।
मुकति हेतु करनी करैं, ते नर उद्दिमवान।।११।।

शब्दार्थ:-अंध=विवेकहीन। आलसी=प्रमादी। अजान (अज्ञान)=अज्ञानी। उद्दिमवान=पुरुषार्थी।

अर्थ:-जो विवेकहीन होकर कर्म की बन्ध-परम्परा बढ़ाते हैं, वे अज्ञानी तथा प्रमादी हैं और जो मोक्ष पाने का प्रयत्न करते हैं, वे पुरुषार्थी हैं।।११।।

काव्य-११ पर प्रवचन

बंध बढ़ावै अंध ह्वै, ते आलसी अजान।
मुकति हेतु करनी करैं, ते नर उद्दिमवान॥११॥

उसे उद्यमवान कहा। बाकी उल्टे पुरुषार्थवालों को उद्यमवान (नहीं कहा), आलसी है। आहाहा! **बंध बढ़ावै....** जो विवेकहीन जीव कर्म की बन्ध की परम्परा बढ़ाता है। आहाहा! वह आलसी है, स्वरूप का आलसी है। वहाँ उद्यमी है, परन्तु वह

उद्यम गिनने में आया नहीं। वह आलसी अजान है। **मुक्ति हेतु करनी करैं....** धर्मी तो राग से छूटने और स्वभाव में एकता की करनी करता है। स्वभाव की एकता की करनी अर्थात् पुरुषार्थ करता है धर्मी। **ते नर उद्दिमवान...** उसे उद्यमवान कहते हैं। उस मिथ्यात्ववाले को उद्यमवान नहीं कहते, उसे आलसी कहते हैं। उद्यम तो बहुत करता है बेचारा। उल्टा-उल्टा पुरुषार्थ, वह पुरुषार्थ का स्वरूप ही नहीं है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! अब श्लोक पाँचवाँ है न नीचे।

जानाति यः स न करोति करोति यस्तु,
जानात्ययं न खलु तत्किल कर्मरागः।
रागं त्वबोध-मय-मध्यवसाय-माहु-
र्मिथ्यादृशः स नियतं स च बन्धहेतुः।।१६७।।

★ ★ ★

काव्य - १२

जबतक ज्ञान है तबतक वैराग्य है (सवैया इकतीसा)

जबलग जीव सुद्धवस्तुकौं विचारै ध्यावै,
तबलग भौगसौं उदासी सरवंग है।
भोगमैं मगन तब ग्यानकी जगन नांहि,
भोग-अभिलाषकी दसा मिथ्यात अंग है।।
तातैं विषै-भोगमैं मगन सो मिथ्याती जीव,
भोगसौं उदास जो समकिती अभंग है।
ऐसी जानि भोगसौं उदास ह्वै मुकति साधै,
यहै मन चंग तौ कठौती मांहि गंग है।।१२।।

शब्दार्थः-उदासी=विरक्ति। सरवंग=बिलकुल। जगन=उदय। अभिलाष=इच्छा। मुकति (मुक्ति)=मोक्ष। चंग (चंगा)=पवित्र। कठौती=काष्ठ का एक बर्तन (काठ की हौदी)।

अर्थः-जब तक जीव का विचार शुद्ध वस्तु में रमता है, तब तक वह भोगों से सर्वथा विरक्त रहता है और जब भोगों में लीन होता है, तब ज्ञान का उदय नहीं रहता, क्योंकि भोगों की इच्छा अज्ञान का रूप है। इससे स्पष्ट है कि जो जीव भोगों में मग्न होता है, वह मिथ्यात्वी है और जो भोगों से विरक्त है, वह सम्यग्दृष्टि है। ऐसा जानकर भोगों से विरक्त होकर मोक्ष का साधन करो! यदि मन पवित्र है तो कठौती के जल में नहाना ही गंगा-स्नान के समान है और यदि मन मिथ्यात्व, विषय-कषाय आदि से मलिन है तो गंगा आदि करोड़ों तीर्थों के स्नान से भी आत्मा में पवित्रता नहीं आती।।१२।।

पद-१२ पर प्रवचन

जबलग जीव सुद्धवस्तुकौं विचारे ध्यावै.... देखो, यहाँ सिद्धान्त क्या सिद्ध करना है? **जबलग जीव सुद्धवस्तु....** भगवान आनन्दस्वरूप और पवित्र भगवान आत्मा का विचार और ध्यान करता है, **तबलग तो भौगसौं उदासी....** विषयवासना से उदास है। आहाहा! आत्मा के पुरुषार्थ में शुद्धवस्तु का जहाँ भोग करता है... धर्मी तो शुद्ध आनन्दस्वरूप वस्तु का भोग करता है। उसे **भौगसौं उदासी सरवंग है....** भोग की कल्पना से भी उसे परम वैराग्य है। आहाहा! समझ में आया? **जबलग जीव सुद्धवस्तुकौं विचारे ध्यावै, तबलग भौगसौं उदासी सरवंग है।** पर में सुखबुद्धि है नहीं। उदास है अन्दर से। 'करे करम सोही करतारा, जो जाने सो जाननहारा।' **भोगमैं मगन तब ज्ञानकी जगन नांहि....** आहाहा! विषयवासना में लीन है, उसे ज्ञान की जागृति है नहीं। अन्धा ज्ञान हो गया है। कहो, समझ में आया?

पहले अस्थिरता की बात की थी। ज्ञानी को... परन्तु ज्ञानी को उस राग में एकता नहीं। ज्ञानी को एकता आत्मा में—स्वभाव में है। इसलिए इन्द्र के इन्द्राणी आदि के भोग से सुख में धर्मी—समकितदृष्टि उदास है। समकितदृष्टि को कहीं पर में सुख का रस आता (नहीं)। आहाहा! ऐसा कहते हैं। **भौगसौं उदासी...** पाँच करोड़ रुपये पैदा हुए, लड़के पाँच अच्छे हुए, बड़े मकान हुए वास्तु और... कहते हैं, आत्मा के भोगी हैं न

समकितीजीव, वह तो पर के भोग से तो उदास है। आहाहा! समझ में आया? मकान का वास्तु... और लड़के का विवाह हो। इकलौता पुत्र, दो-पाँच लाख खर्च करता हो। लोग चारों ओर महिमा... महिमा... आहाहा! उसमें धर्मी तो उदास है। मेरे आनन्द का भोग मेरा मेरे पास है। उस परचीज़ में कहीं सुख है (नहीं)। आहाहा! बीस वर्ष का जवान, छह महीने के विवाह में मर गया हो, उसके पिता मुख देखे। सुखबुद्धि होगी उसमें?

एक व्यक्ति था... भाई का एक इकलौता पुत्र था। अपना तो नहीं था। मर गया फिर कहे एक बार मुझे मुख देखने दो। अर्थी बाँधने से पहले। .... अरेरे! यह लड़का जाता है यह। उसे ऐसे दु:ख का खेद है। देखने पर उसे दु:ख का खेद है। इसी प्रकार ज्ञानी को दुनिया के भोग देखने पर उनसे उसे खेद है, उदास है। समझ में आया? आत्मा के आनन्द के अतिरिक्त अन्यत्र सबसे शून्यता हो गयी है ज्ञानी को, ऐसा कहते हैं। चाहे तो लक्ष्मी की सामग्री हो, स्त्री की सामग्री हो। छियानवें हजार स्त्रियाँ चक्रवर्ती को, लो। आहाहा! श्मशान में जैसे मुर्दा बैठा हो, ऐसा धर्मी को है, कहते हैं। उसे आनन्द के स्वाद के समक्ष पूरी दुनिया के भोग का रस दृष्टि में से उठ गया है। आहाहा!

अज्ञानी भोग में मगन। कुछ प्रशंसा और कुछ अच्छा कहे, अन्दर से गलगलिया हो जाये। राग में लीन है, ऐसा कहते हैं। अज्ञानी राग के भाव में सुखबुद्धि में लीन है। **तब ग्यानकी जगन नांहि...** पर में सुखबुद्धि जहाँ आयी, इससे ज्ञान अन्ध हो गया। उसने जाना नहीं कि सुख मुझमें है। (मानता है कि) पर में से आया। समझ में आया? आहाहा! भूख लगी हो और मीठे साटा ऐसे घी में तले हुए आवे, वहाँ उसे आहा! मूढ़ राग में लीन हो गया है, ऐसा कहते हैं। ज्ञानी ऐसे समय में—प्रसंग में पर से तो उदास है। भोग खाता-पीता दिखाई दे, (परन्तु) वह खाता-पीता है ही नहीं। आहाहा!

भोगमैं मगन तब ग्यानकी जगन नांहि.... भोग में मगन... यह कवि की शब्द (गूँथनी) वापस, ऐसा। **भोगमैं मगन तब ग्यानकी जगन नांहि....** तब ज्ञान चलता नहीं, अन्धा है। आहाहा! शरीर की सुन्दरता, अवयवों की कोमलता, ऐसी देखकर अज्ञानी उसमें लीन हो जाता है। आहाहा! उसे ज्ञान चैतन्य की जागृति है नहीं। उसे सम्यग्दर्शन नहीं, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? **भोग-अभिलाषकी दसा मिथ्यात अंग है,...** देखो। पर में सुखबुद्धि की अभिलाषा, वह तो मिथ्यात्व का अंग है।

भोगों की इच्छा अज्ञान का रूप है। आनन्द की जिसे रुचि नहीं, उसे भोग की वासना की रुचि है। वह अज्ञान का एक भाग है, मिथ्यात्व का ही भाग है, ऐसा कहते हैं यहाँ तो। **तातैं विषै-भोगमैं मगन सो मिथ्याती जीव...** इससे विषय के भोग में, पंचेन्द्रिय के विषयों की ओर के भोग में लीन, वह मिथ्यात्वी जीव है। **भौगसौं उदास सो समकिती अभंग है,....** लो। आहाहा! इन्द्र के इन्द्रासन और इन्द्राणियाँ करोड़ों, उस भोग से समकिती उदास है। आहाहा! समझ में आया? **भौगसौं उदास सो समकिती अभंग है,...** अभंग है, कहते हैं। **ऐसी जानि भोगसौं उदास ह्वै मुक्ति साधै...** धर्मी को तो राग आदि के भोग में कहीं भी उमंगता, उत्साहता (नहीं), उससे उदास है। **उदास ह्वै मुक्ति साधै...** वह स्वरूप को साध रहा है, मुक्ति को साधता है।

यहै मन चंग तौ कठौती मांहि गंग है.... लकड़े की कठौत आती है न? क्या कहलाती है? कथरोट। उसमें पानी डालकर नहाये, गंगा आयी मानो मेरे घर में। मन में जहाँ रागादि और पर के भोग से उदास है, वह स्वयं अन्दर में आत्मा के आनन्द में स्नान करता है, नहाता है। वह गंगा में नहाता है। **यहै मन चंग तौ कठौती मांहि गंग है....** लो। **काष्ठ का एक बर्तन....** पहले यह होता था न यह। रोटी के आटा को काष्ठ में... लकड़ी की थाली। हमारे थी लकड़ी की बड़ी, उसमें बनाते, हों! कहते हैं, जो आत्मा पर से उदास हो गया है, उसे घर में ही आनन्द और पवित्रता गंगा में नहाता है, ऐसा रहता है। अज्ञानी राग में एकाकार होकर आत्मा की गंगा को छोड़ देता है। यह बन्ध का अधिकार है, इसलिए अज्ञान में बन्ध है और ज्ञान में बन्ध नहीं, ऐसा सिद्ध करना है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ९०, आषाढ़ शुक्ल ८, बुधवार, दिनांक ३०-०६-१९७१

बन्ध द्वार काव्य - १३, १४, १५

बन्ध अधिकार। बारहवाँ पद चला है। तेरहवाँ। है न? पृष्ठ १८०। ऊपर क्या कहा? कि धर्मी को विषय-भोग की वासना होती ही नहीं। वह होती ही नहीं। उसे होती नहीं। वह है, वह पर है। क्योंकि धर्मी ने, आत्मा में आनन्द है—ऐसा अनुभव किया है। इसलिए उसे पुण्य-पाप के भाव में या कहीं सुखबुद्धि समकिती को होती ही नहीं। समझ में आया? यह विकल्प आता है, परन्तु उसमें सुखपना मानता नहीं। उसमें मजा है, ऐसा मानता नहीं। यदि राग के मन्दपने में या तीव्रपने में ठीक है, सुखबुद्धि है, ऐसा माने, (तो वह) मिथ्यादृष्टि है, वह जैन नहीं। क्योंकि आत्मा आनन्दस्वरूप है, अतीन्द्रिय आनन्द का स्वभाव पुंज है। उसकी जिसे अन्तर्दृष्टि हुई, उसे विषय—चक्रवर्ती के राज या इन्द्र के इन्द्रासन—उनमें कहीं धर्मी को सुख भासित नहीं होता।

मुमुक्षु : अज्ञानी को होते नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : अज्ञानी मानता है कि पर में सुख है। मानता है, है नहीं। भोग में मजा है। स्त्रियों की अनुकूलता के भोग, पैसा, इज्जत, कीर्ति, शरीर ठीक हो तो मुझे ठीक पड़े—ऐसी मान्यता मिथ्यादृष्टि अज्ञानी की है। समझ में आया? ऊपर कहा था न?

भोग-अभिलाषकी दसा मिथ्यात अंग है।
तातैं-विषै-भोगमैं मगन सो मिथ्याती जीव,
भोगसौं उदास जो समकिती अभंग है।

सम्यग्दर्शन की भूमिका में चौथे गुणस्थान में, आत्मा अखण्ड आनन्द है, ऐसा अन्तर अनुभव हुआ होने के कारण और उसमें प्रतीति हुई है कि सुख तो आत्मा में है। इन्द्र के इन्द्रासनों में, कीर्ति में, स्त्रियों के शरीर की सुन्दरता, कोमलता में कहीं सुख नहीं। वह सुख तो मेरा स्वभाव है। उसे समझाने में चार भाग करते हैं, पुरुषार्थ के। आहाहा! चार पुरुषार्थ दोहा है न? तेरहवाँ।

★ ★ ★

काव्य - १३

चार पुरुषार्थ (दोहा)

धरम अरथ अरु काम सिव, पुरुषारथ चतुरंग।
कुधी कलपना गहि रहै, सुधी गहै सरवंग।।१३।।

शब्दार्थ:-पुरुषारथ=उत्तम पदार्थ। चतुरंग=चार। कुधी=मूर्ख। सुधी=ज्ञानी। सरवंग (सर्वांग)=पूरा।

अर्थ:-धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये पुरुषार्थ के चार अंग हैं। उन्हें दुर्बुद्धि जीव मनचाहे ग्रहण करते हैं और सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव सम्पूर्णतया वास्तविक रूप से अंगीकार करते हैं।।१३।।

काव्य-१३ पर प्रवचन

धरम अरथ अरु काम सिव, पुरुषारथ चतुरंग।
कुधी कलपना गहि रहै, सुधी गहै सरवंग।।१३।।

धर्म, इसका अर्थ बाद में करेंगे। अज्ञानी किसे धर्म मानता है और ज्ञानी किसे धर्म मानता है? अज्ञानी किसे मानता है अर्थ और ज्ञानी किसे मानता है अर्थ? अज्ञानी किसे मानता है काम और ज्ञानी किसे मानता है काम? अज्ञानी किसे मानता है मोक्षमार्ग और ज्ञानी किसे मानता है मोक्षमार्ग? **कुधि**—अज्ञानी **कलपना गहि रहै**। अपनी कल्पना से अनादि का मिथ्यादृष्टि चार के वास्तविक स्वरूप को दूसरे प्रकार से मानता है। **सुधि...** सुधी अर्थात् सम्यग्दृष्टि, सम्यग्ज्ञानी। **गहै सरवंग....** जैसा इन चार का स्वरूप है, वैसा वह मानता है। अब इसकी व्याख्या। **चार पुरुषार्थों पर ज्ञानी और अज्ञानी का विचार।**

★ ★ ★

काव्य - १४

चार पुरुषार्थों पर ज्ञानी और अज्ञानी का विचार

(सवैया इकतीसा)

कुलकौ आचार ताहि मूरख धरम कहै,
पंडित धरम कहै वस्तुके सुभाउकौं।
खेहकौ खजानौं ताहि अग्यानी अरथ कहै,
ग्यानी कहै अरथ दरब-दरसाउकौं।।
दंपतिकौ भोग ताहि दुरबुद्धी काम कहै,
सुधी काम कहै अभिलाष चित चाउकौं।
इंद्रलोक थानकौं अजान लोग कहैं मोख,
सुधी मोख कहै एक बंधके अभाउकौं।।१४।।

शब्दार्थ:-खेह=मिट्टी। (दंपति)=पुरुष-स्त्री। दुरबुद्धि=मूर्ख। सुधी=ज्ञानी। इन्द्रलोक=स्वर्ग।

अर्थ:-अज्ञानी लोग कुलपद्धति-स्नान चौका आदि को धर्म कहते हैं और पण्डित लोग वस्तुस्वभाव को धर्म कहते हैं। अज्ञानी लोग मिट्टी के ढ़ेर सोने-चाँदी आदि को द्रव्य कहते हैं, परन्तु ज्ञानी लोग तत्त्व-अवलोकन को द्रव्य कहते हैं। अज्ञानी लोग पुरुष-स्त्री के विषयभोग को काम कहते हैं, ज्ञानी आत्मा की निस्पृहता को काम कहते हैं। अज्ञानी स्वर्गलोक को वैकुंठ (मोक्ष) कहते हैं, पर ज्ञानी लोग कर्मबन्धन नष्ट होने को मोक्ष कहते हैं।।१४।।

काव्य-१४ पर प्रवचन

कुलकौ आचार ताहि मूरख धरम कहै,
पंडित धरम कहै वस्तुके सुभाउकौं।
खेहकौ खजानौं ताहि अग्यानी अरथ कहै,
ग्यानी कहै अरथ दरब-दरसाउकौं।।

दंपतिकौ भोग ताहि दुरबुद्धी काम कहै,
सुधी काम कहै अभिलाष चित चाउकौं।
इंद्रलोक थानकौं अजान लोग कहैं मोख,
सुधी मोख कहै एक बंधके अभाउकौं।।१४।।

क्या कहते हैं ? **कुल को आचार ताहि मुरख धरम कहै....** अपने कुल की विधि प्रमाण आचरण करता हो—दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, इस कुल पद्धति की रीति को धर्म कहता है अज्ञानी। समझ में आया ? वह तो बाह्य पद्धति है, वह धर्म नहीं। आहाहा ! दया, दान, व्रत, तप, पूजा, यात्रा—ऐसा जो कुल का—सम्प्रदाय का आचार है, उसे वह अज्ञानी धर्म मानता है। वह धर्म नहीं है। उसमें राग की मन्दता हो तो पुण्य है। राग की मन्दता हो, वह शर्त। न हो और ऐसा का ऐसा अकेली बाह्य (क्रिया) करे और अन्दर तीव्र राग अभिलाषा हो, तब तो उसे पुण्य भी नहीं है।

कुल को आचार ताहि मुरख धरम कहै,... अज्ञानी। **पंडित धरम कहै वस्तुके सुभाउकौं....** भगवान आत्मा आनन्द और शुद्धस्वरूपी प्रभु है। उसका स्वभाव का साधन होकर जो निर्मल वीतरागी आनन्द आदि दशा प्रगट होती है, उस वस्तु के स्वभाव को समकिती धर्म कहता है। समझ में आया ? पण्डित शब्द से (आशय है) ज्ञानी। वस्तुस्वभाव को धर्म... भगवान आत्मा वस्तु है, पदार्थ है। उसका स्वभाव आनन्द और ज्ञान और शान्ति है। उसे—शान्ति और आनन्द (स्वभाव) को साधकर जिसे आनन्द और शान्ति, स्वच्छता, वीतरागता, निर्मलता प्रगट हो गयी है, वह वस्तु का स्वभाव है, उसे धर्म कहते हैं। समझ में आया ?

यह तो सम्प्रदाय और कुल में परम्परा से जो मिला हो, उसका आचरण करना, इसका नाम अज्ञानी धर्म मानता है।

मुमुक्षु : बाप-दादा ने किया हो, वह नहीं करना ?

पूज्य गुरुदेवश्री : बाप-दादा ने किया, उसका प्रश्न कहाँ है ? उन्होंने किया, वह उनके घर में रहा। सत्य क्या है, ऐसा इसने समझना चाहिए। बाप-दादा ने अच्छा किया, धर्म किया हो तो ?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : कितने ही कहे न, बाप-दादा का कुल छोड़ दिया तुमने। ऐसा कितने ही कहते हैं। बाप-दादा क्या करते थे, यह खबर है तुझे? बाप-दादा की परम्परा में मिला हो, यह व्रत करना और दया पालना और पूजा करना, यह सामायिक, प्रौषध, प्रतिक्रमण, उसके माने हुए करना, वह तो सब राग की मन्दता है। वह कहीं धरम-बरम नहीं। समझ में आया?

अज्ञानी लोग—मूर्ख अपनी परम्परा का आचार... अज्ञानी बहुत आगे जाये तो नहाना और धोना और शरीर साफ रखना और स्नान करना—यह धर्म। धूल में भी धर्म नहीं।

मुमुक्षु : चौका का धर्म।

पूज्य गुरुदेवश्री : चौका किया। चौका अर्थात् स्नान। वह यहाँ बात नहीं। यह स्नान चौका अर्थात् शरीर की शुद्धता की बात है। यह बात अभी यहाँ नहीं। साधु के लिये यह चौका बनाते हैं न दिगम्बर में? साधु के लिये बनावे, वह तो मार्ग ही अत्यन्त विपरीत है। आज साधु को आहार देना है, इसलिए आज बनाओ पानी (पानी प्रासुक करो)। यह आमरस, पूड़ी, ढींकणा। यह तो लेनेवाला भी मिथ्यादृष्टि और देनेवाला भी मिथ्यादृष्टि है। समझ में आया?

इसका तो मुझे बहुत अनुभव है न सम्प्रदाय में। हमारे हीराजी महाराज थे, उनकी क्रिया बहुत कड़क क्रिया। दृष्टि मिथ्यात्व, कुछ भान नहीं। परन्तु आहार की क्रिया (बहुत कड़क)। हीराजी महाराज थे। माणेकचन्दजी थे, उनका तो सब समझने जैसा बिना ठिकाने का। परन्तु इनकी तो कषाय मन्द थी। आहार की क्रिया हीराजी महाराज की बहुत सख्त क्रिया सख्त। पानी की एक बूँद कलश में पड़ी हो ठण्डा और... रायचन्द गाँधी जैसा बड़ा घर है वहाँ बोटाद में गृहस्थ व्यक्ति। पचास-पचास लोग जीमते हों वहाँ। क्या कहलाता है? वह रुई का धन्धा रुई... रुई... कैसा कहलाये? बिनशा। बिनशा का बड़ा धन्धा उसके घर में। परन्तु आहार लेने जाये....

हमने सब ऐसा किया था पहले सब, हों! वरना वह गाँव में बड़ा घर। पचास-

पचास लोग जीमे। अधमण–अधमण, मण–मण आम का रस हो। लड्डू चूरमे पचास–सौ–दो सौ पड़े हों थाल भरे हुए। परन्तु आहार देने उठे और पानी का कलश तो खाली हो, परन्तु पानी की बूँद अन्दर पड़ी हो और आहार देनेवाली बाई उठे। उजमबा अभी जीवित है वृद्धा। यदि साड़ी छू जाये उसे, यह नहीं चलता। परन्तु वह तो बाह्य की क्रिया है। वह कहीं वस्तु है? समझ में आया? यह तो दृष्टान्त। हमारी क्रिया ऐसी सख्त थी, उस समय भी वह। परन्तु यह तो सब बाहर की कुलाचार की क्रिया थी।

संवत् १९७७ में भावनगर गये, ७७ में। पहले भावनगर गये ७७ में... चिल्लाहट मचाये। तीन सौ घर। आहार लेने जायें, वहाँ तीस–तीस, पच्चीस–पच्चीस घर हों पूरे, तब मुश्किल से आहार हो। हरिभाई के बड़े भाई थे। बड़े भाई सेठ थे, वे अमरचन्द। घर–घर में ९६ दोष का पम्पलेट छापकर दिया। यदि महाराज के लिये कुछ भी किया हुआ हो तो महाराज लेंगे नहीं, गर्भ में गलना पड़ेगा, ऐसा कहे वापस। कठोर था कठोर। (संवत्) १९७७ की बात है। पहले–पहले गये थे। उन लोगों का सब बिना ठिकाने का सब बरवाळा के साधु का। अमेचन्दजी और... उन सबको देखा था हमने। पम्पलेट छपाया घर–घर में (दिया)। महाराज आये हैं, अपने उमराला के महाराज हैं। यदि कुछ भी पानी में जरा सा अधिक पानी डाला, चावल बनावे उसमें चिमटी (भर) चावल डाले तो दोष लगेगा, गर्भ में गलना पड़ेगा। ऐसी सख्त (क्रिया) थी। परन्तु वह सब कुल की क्रिया थी। वास्तविक धर्म की क्रिया नहीं थी। गुरु करते ऐसा किया हुआ।

अज्ञानी लोग कुलपद्धति को धर्म कहते हैं।

मुमुक्षु : कुल में गुरु की पद्धति आयी?

पूज्य गुरुदेवश्री : गुरु पद्धति आ गयी न। वे ऐसा करते थे, हम भी करते थे।

मुमुक्षु : यह कुल।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कुल है न। **पण्डित लोग वस्तुस्वभाव को धर्म कहते हैं।** आहाहा! देखो, सम्यग्दृष्टि तो अपना स्वभाव अतीन्द्रिय आनन्द, ऐसे अतीन्द्रिय आनन्द को प्रगट (करना), वह वस्तु का स्वभाव है। अतीन्द्रिय आनन्द भगवान आत्मा का स्वभाव है। उस अतीन्द्रिय आनन्द को प्रगट किया है, उसे समकिती धर्म कहते हैं।

वीतरागीदशा को धर्म कहते हैं। समझ में आया ? कठिन बात भारी जगत को ! वीतराग का मार्ग परम सत्य है (परन्तु) जगत को दूसरे प्रकार से परोसा गया है। उन्होंने कहा था। वह तो बहुत लोग थे न जयपुर में। तीन-तीन हजार लोग और पूरा हॉल पाँच लाख का हॉल खचाखच भरा हुआ। फिर कहा, देखो, समाज के पास धर्म दूसरे प्रकार से परोसा गया है, धर्म दूसरे प्रकार से है। वहाँ थे न... ज्येष्ठ शुक्ल ग्यारस से वहाँ थे। बारस को बाहर आये न अहमदाबाद। ज्येष्ठ शुक्ल ग्यारस। भीम ग्यारस वहाँ की थी।

यह विशाल शोभायात्रा पचास-साठ हजार लोग रथयात्रा में। बाहर में होता था, ऐसा कहा भाई ! (किया) यह कहे, यह कौन करे उसे ? करे कौन उसे ? वह तो होनेवाला हो, वह हुआ। वह भी कहीं बाहर की प्रभावना नहीं। आहाहा ! बाहर की प्रभावना तो जो कुछ शुभराग आया, उसे बाह्य प्रभावना कहा जाता है। वह भी पुण्यबन्धन का कारण है। आहाहा ! अन्तर की प्रभावना तो आत्मा आनन्दस्वरूप प्रगट है, उसकी भावना से एकाग्रता होना और शान्ति और स्वच्छता की दशा व्यक्त-प्रगट होना, उसे सच्ची प्रभावना वीतराग कहते हैं। आहाहा ! समझ में आया ? परन्तु दुनिया तो ऐसा जाने कि आहाहा ! पूरा गाँव डोल गया था। २१ तो हाथी। तुम थे या नहीं ? पहले दो दिन... प्रेमचन्दजी और खेमराज न, नहीं ? भाई तो थे जतीशभाई, नहीं ? थोड़ा देखकर चले गये थे। ... पच्चीस हजार व्यक्ति खचाखच।

रथ था बड़ा ऊँचा और उसके ऊपर मैं बैठा था। भगवान थे, उनके सारथी रूप से मैं बैठा था रथ में। भाई ने तीन हजार में (बोली) ली थी। गोदिका ने तीन हजार में सारथीरूप से बोली ली थी। मशीन के घोड़े थे, वे घोड़े नहीं। प्लास्टिक के, मशीन से चले। ऊँचा अजमेर से आया था। वह ग्यारस, ज्येष्ठ शुक्ल ग्यारस, शुक्रवार। परन्तु वह सब बाहर की क्रिया, वह धर्म नहीं। वह तो कुल के आचार की परम्परा का वर्तन है। उसमें शुभभाव हो, वह भी धर्म नहीं। शुभभाव पुण्य है। आहाहा ! क्योंकि पुण्य, वह कोई वस्तु का स्वभाव नहीं। यहाँ तो वस्तु का स्वभाव... भगवान आत्मा वस्तु, (इसलिए) उसमें बसी हुई शक्तियाँ, वस्तु—उसमें बसी हुई शक्तियाँ ज्ञान, आनन्द, शान्ति, प्रभुता, स्वच्छता, जीवत्व, चिति, दृशि, ज्ञान, सुख, वीर्य, प्रभुत्व, विभुत्व इत्यादि। ऐसी जो शक्तियाँ—गुण का पिण्ड प्रभु, उसकी शक्ति में से स्वभाव-सन्मुख होकर जो प्रगट हो, उसे धर्मी धर्म स्वीकारता है। समझ में आया ?

खेहकौं खजानौं ताहि अग्यानी अरथ कहै.... यह पाँच-पचास, लाख, करोड़ रुपये धूल मिले धूल। सब राख है। ऐई!

मुमुक्षु : यहाँ लिखा है मिट्टी का ढ़ेर।

पूज्य गुरुदेवश्री : दूसरा क्या है? मिट्टी का ढ़ेर है। सोना-चाँदी के बहने। आहाहा! यह स्वयं शरीर ही मिट्टी का पिण्ड है, जड़ का—धूल का। लक्ष्मी खेह का खजाना—राख का खजाना है सब। आहाहा! दुनिया उसे द्रव्य कहती है। हमको यह द्रव्य मिला। धूल भी नहीं मिला, सुन न ...! वह द्रव्य तो द्रव्य में रहा है। लक्ष्मी आदि तो अजीव होकर रही है। वह तेरी होकर रही है? गुणवन्तभाई! कैसे होगा यह? लक्ष्मी है, वह लक्ष्मी अजीव होकर रही है या लक्ष्मी जीव होकर रही है? अजीव खेह का—राख का—धूल का खजाना है वह तो। ... परन्तु ऐसे को सामने बैठने को मिले कुर्सी! धूल का धनी।

मुमुक्षु : पुण्य की कीमत है?

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी कीमत नहीं, अज्ञानी चाटता है। आहाहा! धर्मी जीव तो... अज्ञानी लोग मिट्टी के ढ़ेर सोना-चाँदी आदि को द्रव्य कहते हैं। आहाहा!

यह भाई हैं न अपने दीपचन्दजी सेठिया के मामाभाई। वहाँ सरदारशहर। बहुत वर्ष पहले दस करोड़ रुपये पड़े हैं उनके पास। दस करोड़। दस करोड़ के मात्र हरा, सोना, चाँदी, माणेक पड़े हैं। अभी तो उसकी कीमत पच्चीस-तीस करोड़ रुपये हो गयी है। दीपचन्दजी कहते थे। परन्तु ऐसा है कि... बहुत अधिक पैसा। यह कहीं निकालने की बात नहीं। तेरापंथी है। स्थानकवासी के तेरापंथी में से। पैसे खर्च करना, उसे पाप माने। दया, दान के लिये पैसा खर्च करना, वह पाप है (ऐसा माने)। पैसा बहुत दस करोड़ तो कितने वर्ष से है। अभी तो ऐसा का ऐसा पड़ा है सोना, गहने, रतन और सब ढ़ेर पड़े हैं। खेह (राख) का खजाना है धूल का। आहाहा! धूल तो मिट्टी है न!

धर्मी जीव **ग्यानी कहै अरथ दरव-दरसाउकौं...** समकिती तो द्रव्य वस्तु जो भिन्न-भिन्न है, उसे जाने, उसको अर्थ कहते हैं। आत्मा राग से भिन्न है। कर्म रजकण भिन्न-भिन्न है। प्रत्येक द्रव्य, छह द्रव्य भगवान ने—तीर्थंकर ने जो छह द्रव्य देखे, वह

प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने अस्तित्व में रहे हुए हैं। भिन्न-भिन्न रहे हैं। आहाहा! समझ में आया? कर्म के साथ आत्मा एक हुआ नहीं। कर्म आत्मा के साथ एक हुए नहीं। कर्म का एक रजकण दूसरे रजकण से एक हुआ नहीं। यह शरीर के रजकण हैं अनन्त परमाणु मिट्टी, अनन्त से यह बना हुआ है। एक-एक रजकण दूसरे रजकणरूप नहीं है। प्रत्येक रजकण और प्रत्येक आत्मा भिन्न-भिन्न है, इसका नाम द्रव्य का अवलोकन कहा जाता है।

अज्ञानी उस पैसे-धूल का अवलोकन करके मानता है मूढ़। यह पाँच-पचास लाख, करोड़.... अभी तो करोड़, दो, पाँच करोड़वाले बहुत दिखते हैं धूल के। यहाँ तो सिर पर पड़े डण्डा। पैसेवाले के सिर पर डण्डा पड़े। परन्तु पैसे थे कब तेरे? सुन न! पैसेवाला अर्थात् जड़वाला? पैसा तो जड़ है। तू जड़वाला है? अज्ञानी उस राख के ढ़ेर को अर्थ मानता है। धर्मी तो आत्मा द्रव्य को भिन्न-भिन्न देखे, उसे अर्थ कहते हैं। आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : पूर्व-पश्चिम का....

पूज्य गुरुदेवश्री : पूर्व-पश्चिम का तुम्हारे तो सब अनुभव हो गया है, चिमनभाई को। भरना पड़ा था दो-तीन लाख का कुछ, नहीं? क्या था कुछ.... और कुछ घट गया और कुछ निपट गया। आहाहा! धूल में भी नहीं बापू! भाई! वह जगत की चीज़ है, वह तेरी कहाँ है? आहाहा!

यहाँ तो शरीर मेरा माने, वह मूढ़ और मिथ्यादृष्टि है क्योंकि वह तो अजीव है। वह जीव का अजीव है? इस जीव का यह अजीव है? अजीव का अजीव है। आहाहा! यह जीव का अजीव मानना और जीव की लक्ष्मी... जीव को लक्ष्मी 'मेरी' मानना, मिथ्यादृष्टि मूढ़ है।

मुमुक्षु : भले मूढ़ रहा परन्तु पैसादार तो है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : पैसादार ही नहीं, ममतावाला है। पैसे में घुस गया है वह? पैसा उसके पास आ गया है? पैसा तो पैसे में रहा है। यह कहे, मुझे आये। यह ममता उसके पास आयी है, ममतावाला है।

मुमुक्षु : पैसादार नहीं, ऐसा न?

पूज्य गुरुदेवश्री : पैसादार कोई है ही नहीं। पैसादार कैसा? आहाहा! कहीं जड़ का स्वामी है? वह परवस्तु जगत की स्वतन्त्र चीज़ है। आहाहा!

मुमुक्षु : विभूति....

पूज्य गुरुदेवश्री : विभूति—राख। विभूति अर्थात् भूति। भूति अर्थात् राख। यह तो आता है न। धूल में भी नहीं, सुन न!

तेरा भगवान आत्मा शरीर-कर्म से भिन्न और राग से भिन्न, ऐसा अवलोकन करना, उसे अर्थ कहा जाता है। समझ में आया? आहाहा! वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ इन्द्रों के समक्ष ऐसा फरमाते थे प्रभु। तो इन्द्र तो महा वैभववाला। पहला सौधर्म देवलोक स्वर्ग के इन्द्र बत्तीस लाख विमान। ईशान के अट्ठाईस लाख विमान। एक-एक विमान में कितनों में असंख्य देव। कितने ही छोटे हैं, असंख्य देव। कहते हैं कि वह खेह (राख) का खजाना है। वह आत्मा का है? आहाहा!

इन्द्र के इन्द्रासन, चक्रवर्ती की विभूतियाँ, लो। भरत की छियानवें (हजार) स्त्रियाँ, छियानवें करोड़ सैनिक। वे तो पर हैं। आहाहा! भगवान! वह चीज़ तुझमें कहाँ आ गयी? और तू कहाँ उस चीज़ में प्रविष्ट हो गया है कि तेरी हो? वह चीज़ कहाँ तुझमें प्रविष्ट हो गयी है कि तेरी हो? आहाहा! अज्ञानी उसे खजाना मानता है। ज्ञानी आत्म पदार्थ को और प्रत्येक पदार्थ को—द्रव्य को भिन्न-भिन्न अवलोकता है, उसे अर्थ मानता है। समझ में आया? इसलिए किसी का कोई द्रव्य नहीं। वह कहा न खेह? प्रत्येक द्रव्य अपना-अपना है। भगवान आनन्द का नाथ प्रभु चैतन्यस्वभावी सनाथ, वह मेरा द्रव्य, उसे यहाँ अर्थ कहा (जाता है)।

दंपतिको भोग ताहि दुरबुद्धि काम कहै... मूढ़ जीव स्त्रियों के भोग को काम कहता है। मूढ़ है, कहते हैं....। क्या तू स्त्रियों का भोग ले सकता है? वह तो जड़ है। स्त्री का शरीर तो जड़ है। तू जड़ को अनुभव कर सकता है? उसमें राग हो उसे तू अनुभव करता है। आहाहा! दम्पति का भोग—पति-पत्नी दो रमे, उसे अज्ञानी दुर्बुद्धि काम कहता है। मूढ़ जीव उसे भोग कहता है। आहाहा!

सुधी काम कहै अभिलाष चित चाउकौं... धर्मी जीव **आत्मा की निस्पृहता को काम कहते हैं।** इच्छा जहाँ नहीं, निस्पृहता वही उसकी भावना है और वह उसे काम कहा जाता है। आहाहा! कहो, जहाँ राग की भी अभिलाषा नहीं। धर्मी को तो आत्मा आनन्दस्वरूप प्रभु की स्पृहा है, दूसरी कोई स्पृहा नहीं। उसकी इस स्पृहा को निस्पृही कहा जाता है। यह निस्पृही, वह काम है। धर्मी का वह काम है, ऐसा कहते हैं। गजब बनारसीदास! यह बन्ध अधिकार है न! इसलिए अज्ञानी आचार को धर्म कहता है, वह तो बन्ध है। उसे धर्म कहते हैं, वह तो बन्ध के भाव हैं। द्रव्य, वस्तु, लक्ष्मी आदि, वह तो जड़ है। 'वे मेरे' यह मान्यता तो बन्ध है। उसे तू लक्ष्मी कहे? ऐसा कहते हैं।

दम्पति का भोग... धूल का भी भोग नहीं वहाँ। आहाहा! प्रभु आत्मा अपने आनन्द को भूलकर मिथ्यादृष्टि दम्पति का भोग... भोग में मुझे ठीक है, उसे वह काम कहता है। समझ में आया? तब कहे, चक्रवर्ती छह खण्ड का धनी समकिती है न? उसे तो छियानवें हजार स्त्रियाँ हैं न? नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! उसके स्वरूप की दृष्टि में वे स्त्रियाँ और राग मेरा है ही नहीं। उसकी भावना तो निस्पृह अन्दर दृष्टि की है। समझ में आया? दृष्टि का बड़ा अन्तर है। आहाहा! **ज्ञानी तत्त्व अवलोकन को द्रव्य कहते हैं।** अज्ञानी स्त्री के विषय को भोग-काम कहता है। ज्ञानी आत्मा की निस्पृहता, वीतरागता को काम कहता है। यह उसका काम, उसका यह कार्य है। (**मुमुक्षु :** निष्काम, उसे काम कहते हैं?)

इंद्रलोक थानकौं अजान लोग कहैं मोख... यह बैकुण्ठ... बैकुण्ठ है न! क्योंकि बैकुण्ठ अर्थात् मोक्ष। स्वर्ग में अर्थात् मोक्ष। वह धूल भी मोक्ष नहीं। आहाहा! भूतडा लोक में से आया हो और कुछ ख्याल आ गया हो। व्यन्तर के कमरे और यह सब रतन के, मणिरत्न के होते हैं। अज्ञानी को तो ऐसा लगे कि ओहोहो! मैं तो बैकुण्ठ में था और यहाँ से मरकर बैकुण्ठ में जाऊँगा। तेरा बैकुण्ठ भूतड़ा का (व्यन्तर का)। समझ में आया? आहाहा! अज्ञानी यह लोक... **थानकौं अजान लोग कहैं मोख...** ऐसा कहा न?

इंद्रलोक थानकौं अजान लोग कहैं मोख... ऐसा। देखो न, कितनों को हो जाता है न! अन्दर कुछ थोड़ा ख्याल आ गया हो पूर्व भव का। वह पूर्व भव में कोई देव हो। समझ में आया? और देव में व्यन्तर और भवनपति में भी समृद्धि ऋद्धि बहुत है।

अकेले मणिरत्न के कमरे हैं। कोई पूर्व में पुण्य किया हो तो उसमें होता है, उसमें ख्याल आ गया हो तो कहे, आहाहा! हम तो बैकुण्ठ में से आये हैं और मरकर बैकुण्ठ में वहीं के वहीं जानेवाले हैं। वह भूतड़ा-बूतड़ा का हिलता हो, आये बेचारे... अज्ञानी उसे मोक्ष कहता है। आहाहा! धूल के देव, उसे मोक्ष कहता है। इन सेठियों की अपेक्षा उनके बँगले... बँगले ऊँचे हों। यह धूल कम हो, वहाँ धूल अधिक हो।

मुमुक्षु : जाति अलग होती है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : जाति अलग का क्या होता था वहाँ? होली और होली है वहाँ। आहाहा! हजारों इन्द्राणियाँ, असंख्य विमान, उन सब चीज़ों को ऐसा देखे, आहाहा! यह तो मुक्ति है।

यहाँ ऐसा कहते हैं न कि यहाँ हमारे साधु को लड्डू दोगे तो वहाँ बैकुण्ठ में तुम्हें लड्डू मिलेंगे। कहो, और वहाँ अभी लड्डू रखना है। ऐसे के ऐसे। वहाँ भगवान के पास सेवा करोगे और हमारे साधु को आहार-पानी, लड्डू जिमाओगे तो वहाँ लड्डू मिलेंगे। अभी तो देह रखना है, लड्डू खाना है, यह उसका बैकुण्ठ। मूर्ख का बैकुण्ठ ऐसा होता है। समझ में आया? वे नहीं कहते थे एक अभी? स्वामीनारायण के साधु हुए न भाई बड़े ठाठ-बाठ से। वे भाई वहाँ बात करते थे छोटाभाई। परन्तु वह तो स्त्री-पुत्रवाला। अभी का स्त्री-पुत्रवाला हो। हमको खबर है न!

(संवत्) १९८१ में गढडा में चातुर्मास था न, ८१ में। १९ और २७ = ४६ वर्ष हुए।

मुमुक्षु : वह तो उनके परिवार का....

पूज्य गुरुदेवश्री : उनके परिवार का था, हमने तो उसे देखा हुआ है न। यह वण्डा है न गढडा का, हम वहाँ उतरे हुए और सामने उसके आचार्य थे। सामने बीच में छोटी गली। महाजन का वण्डा है न गढडा नहीं अपने? अपना मन्दिर हुआ न अभी, नहीं? मुहूर्त हुआ, उसके पास। वहाँ चातुर्मास था ८१ में चार महीने। ८१ के वर्ष में गढडा। बहुत वर्ष हो गये। वहाँ उसके आचार्य आये हुए। सामने थे और ऐसा दिखाई दे। बड़ा वकील था बड़ा। प्राय: जयनारायण... उसके साथ स्त्री और पुत्र। स्त्री को

बहूजी महाराज कहे, बेटी को बेटी महाराज कहे, बेटा को बेटा महाराज कहे। गजब है न! ऐसी भ्रमणा सूझती है तुझे। वह मरकर मोक्ष जायेगा, ऐसा। कैसा मोक्ष?

पर ज्ञानी लोग कर्मबन्धन को नष्ट होने को मोक्ष कहते हैं,.... देखो! है न? **सुधी मोख कहै एक बंधके अभाउकौं....** रागादि का बन्धन पूर्ण छूट जाना, अकेली आनन्ददशा पूर्ण रहना, उसका नाम मोक्ष है। राग का पूर्ण छूट जाना और पूर्ण वीतराग और पूर्ण आनन्द की पर्याय का प्रगट रहना। इसका नाम मोक्ष है। समझ में आया? अज्ञानी और ज्ञानी में ऐसा अन्तर है, कहते हैं। **आत्मा में ही चार पुरुषार्थ हैं।** अब चारों (पुरुषार्थ) आत्मा में घटित करते हैं। स्वयं बनारसीदास ने किया है। कलश के बिना बहुत डाला है।

★ ★ ★

काव्य - १५

आत्मा ही में चारों पुरुषार्थ हैं (सवैया इकतीसा)

धरमकौ साधन जु वस्तुकौ सुभाउ साधै,
अरथकौ साधन विलेछ दर्व षटमैं।
यहै काम-साधन जु संग्रहै निरासपद,
सहज सरूप मोख सुद्धता प्रगटमैं।।
अंतरकी द्रिष्टिसौं निरंतर विलोकै बुध,
धरम अरथ काम मोख निज घटमैं।
साधन आराधनकी सौंज रहै जाके संग,
भूल्यौ फिरै मूरख मिथ्यातकी अलटमैं।।१५।।

शब्दार्थ:-विलेछ=भिन्न भिन्न ग्रहण करना। संग्रहै=ग्रहण करे। निरासपद=निस्पृहता। सौंज=सामग्री। अलट=भ्रम।

अर्थ:-वस्तुस्वभाव का यथार्थ जानना अर्थ-पुरुषार्थ की सिद्धि करना है, छह द्रव्यों का भिन्न-भिन्न जानना अर्थ-पुरुषार्थ ही साधना है, निस्पृहता का ग्रहण करना,

काम–पुरुषार्थ की सिद्धि करना है और आत्मस्वरूप की शुद्धता प्रगट करना मोक्ष–पुरुषार्थ की सिद्धि करना है ऐसे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष – इन चारों पुरुषार्थों को सम्यग्दृष्टि जीव अपने हृदय में सदा अन्तर्दृष्टि से देखते हैं और मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यात्व के भ्रम में पड़कर चारों पुरुषार्थों की साधक और आराधक सामग्री पास में रहते हुए भी उन्हें नहीं देखता और बाहर खोजता फिरता है।।१५।।

काव्य-१५ पर प्रवचन

धरमकौ साधन जु वस्तुकौ सुभाउ साधै,
अरथकौ साधन विलेछ दर्व षटमैं।
यहै काम–साधन जु संग्रहै निरासपद,
सहज सरूप मोख सुद्धता प्रगटमैं।।
अंतरकी द्रिष्टिसौं निरंतर विलोकै बुध,
धरम अरथ काम मोख निज घटमैं।
साधन आराधनकी सौंज रहै जाके संग,
भूल्यौ फिरै मूरख मिथ्यातकी अलटमैं।।१५।।

देखो! काम कहा है न? निरासपद संग्रहै, ऐसा। यह कार्य। अलट अर्थात् भ्रम। इसका अर्थ। **धरमकौ साधन जु वस्तुकौ सुभाउ साधै...** मनुष्य कहते हैं न कि भाई! यह साधन क्या? धर्म का साधन क्या? तुम धर्म तो कहते हो कि ऐसा... ऐसा... ऐसा... परन्तु उसका साधन? वह साधन, वस्तु का स्वभाव है, वह उसका साधन है। आहाहा! आनन्दकन्द प्रभु में करण—साधन नाम का अनादि का गुण है। वह वस्तु के स्वभाव को—साध्य को साधे, उसका नाम धर्म है। स्वभाव साधे, लो। आहाहा! यह साधन कहा, साधन। **वस्तु का स्वभाव को यथार्थ जानना अर्थ-पुरुषार्थ की सिद्धि करना है।** लो। धर्म के पुरुषार्थ की सिद्धि अन्तर में वास्तविक वर्तमान ज्ञान से पूरे पदार्थ भगवान आत्मा को जानना—अनुभव करना, इसका नाम धर्म का साधन कहा जाता है। आहाहा! यह लोग कहहते हैं यह दया, दान, व्रत पालन करो, वह सब साधन है। फिर साध्य

प्रगट होगा। निश्चय (प्रगट होगा)। अररर! ऐसे मार डाला बेचारे को। क्रिया कष्ट करे, दु:खी हो, पाप बाँधे और माने कि हमारे धर्म होता है।

धरमकौ साधन जु वस्तुकौ सुभाउ साधै.... भगवान आत्मा का स्वभाव तो आनन्द ज्ञान और शान्ति है। उसे जो साधे और अन्तर में लीनता करे, उसका नाम धर्म है। **अरथकौ साधन विलेछ दर्व षटमैं,...** लो। **छह द्रव्यों का भिन्न भिन्न जानना अर्थ-पुरुषार्थ की साधना है।** भिन्न-भिन्न.... भगवान आत्मा राग से भिन्न, परमाणु परमाणु से भिन्न, परमाणु आत्मा से भिन्न। छहों द्रव्यों को भिन्न-भिन्न जानना, वह अर्थ की सिद्धि है। क्योंकि वस्तु का स्वरूप ऐसा है, ऐसा कहते हैं। अर्थ अर्थात् द्रव्य। वस्तु का स्वभाव स्वतन्त्र है। कोई किसी को नुकसान करता नहीं, कोई किसी को लाभ देता नहीं। कहो, यह कर्म का उदय हमको नुकसान करता है। कहते हैं कि तुझे अर्थ को देखना आता नहीं। ऐसा धर्म का स्वरूप, अर्थ का स्वरूप है ही नहीं। कर्म का उदय आवे तो अपने को राग और विकार होता है, कर्म घटे तो अपने को लाभ होता है। वह द्रव्य को देखना ही नहीं आया, कहते हैं। अज्ञानी मूढ़ है। समझ में आया?

अरथकौ साधन विलेछ.... षट् द्रव्य में प्रत्येक का लक्षण भिन्न-भिन्न है। छहों द्रव्य भिन्न-भिन्न अपने स्वतन्त्र सहाय से काम कर रहे हैं। उन्हें पर की सहायता या विघ्न है नहीं। ऐसा जो अन्तर में साधन, उसे अर्थ का साधन कहा जाता है। अर्थ अर्थात् पदार्थ। पदार्थ का साधन वह है। क्या कहा, समझ में आया? एक वस्तु अत्यन्त पर से भिन्न है, ऐसा साधन करना, वह अर्थसाधन है। उसने अर्थ को साधा है। अर्थ कहो, पदार्थ कहो। **अरथकौ साधन विलेछ दर्व षटमैं....** भिन्न-भिन्न पुरुषार्थ को साधना। **जानना, भिन्न-भिन्न जानना अर्थ-पुरुषार्थ की साधना है।** राग से और कर्म से भगवान आत्मा को भिन्न देखना—जानना, वह अर्थ की सिद्धि है, वह पदार्थ की साबिती है। अरे, गजब काम!

यहै काम-साधन जु संग्रहै निरासपद.... भोग को लोग काम कहते हैं, मूढ़ जीव (कहते हैं)। धर्मी समकिती निरासपद को ग्रहते हैं। आशारहित विकारीरहित वीतरागस्वरूप आत्मा स्वयं, वह निरासपद है, उसे संग्रहते हैं, उसे पकड़ते और अनुभव करते हैं। उसे काम का साधन कहा जाता है। **सहज सरूप मोख सुद्धता प्रगटमैं...**

भगवान आत्मा सहजात्मस्वरूप की प्रगट दशा पूर्ण शुद्धता होना, उसे धर्मी मोक्ष कहते हैं। समझ में आया? **सहज सरूप मोख सुद्धता प्रगटमैं...** सहज स्वाभाविक स्वरूप और शुद्धता प्रगट, उसका नाम मोक्ष है। सहज स्वभाव प्रगट हुआ और पूर्ण शुद्धता प्रगट हुई, उसका नाम मोक्ष है।

अंतरकी द्रिष्टिसौं निरंतर विलौके बुध... सम्यग्दृष्टि—ज्ञानी जीव अन्तर से आत्मा में ऐसे चार भाव को देखता है। सब चार अन्तर आत्मा में है, बाहर में है (नहीं)। धर्म का साधन भी आत्मा में, अन्तरंग अर्थ का साधन भी आत्मा में, निस्पृहता को संग्रहना, वह भी आत्मा में और मोक्ष पूर्ण पर्याय की निर्मलता होना, वह भी आत्मा में। उस आत्मा के अन्दर में चार साधन है। अन्तर घट में है, वह बाहर में है (नहीं)। आहाहा! **अंतरकी द्रिष्टिसौं निरंतर विलौके बुध...** वापस ऐसा। धर्मी तो निरन्तर अपने द्रव्यस्वभाव को पर से भिन्न देखता है। समझ में आया? सदा। सम्यग्दृष्टि जीव राग के विकल्प से भी आत्मा को भिन्न देखता है। आहाहा! यह चारों ही बोल आत्मा में घटित होते हैं, बाहर में है नहीं।

धरम अरथ काम मोख निज घटमैं.... देखो! आत्मा के घट में इन चारों को देखता है। **साधन आराधनकी सौंज रहै जाके संग...** क्या कहते हैं? इन चारों ही पुरुषार्थ की साधक और आराधक सामग्री तो पास में—अन्दर में रहती है, बाहर में है नहीं। यह शरीर साधन है और यह पुण्य के परिणाम साधन है, यह बात सत्य नहीं है, ऐसा कहते हैं। **साधन आराधनकी सौंज....** अर्थात् सामग्री। **रहै जाके संग...** आत्मा में अन्दर पड़ी है सब साधन-सामग्री। यह पुण्य के परिणाम और निमित्त शरीर-वाणी, वह कोई साधन-फाधन नहीं। लो, अपना पुरुषार्थ चार में अन्दर में समाये, उसका नाम साधन है। अन्दर में संग में पड़ा है, अन्दर संग में है। यह तो मन्दिर, आगम का आधार है अभी तो (ऐसा अज्ञानी कहते हैं)।

मुमुक्षु : आधार ही कहाँ है?

पूज्य गुरुदेवश्री : जगत को मार डाला। आगम और मूर्ति दोनों। कहते हैं न हमारे।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, जिनागम और जिनमूर्ति, भव्य जीव को आधार। धूल भी नहीं आधार। यहाँ तो कहते हैं।

मुमुक्षु : भव्य जीव को तो आत्मा का आधार है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो शुभभाव होता है, तब उसमें लक्ष्य जाता है, इतनी निमित्त की मर्यादा है, परन्तु वह वास्तव में शुभभाव, वह साधन नहीं, परन्तु बीच में आये बिना रहता नहीं। हेयबुद्धि से आता है। आहाहा! मार्ग की समझण सच्ची श्रद्धा महाकठिन लोगों को। बाहर में ऐसे फँसा दिया है, निवृत्त नहीं होता। उपधान में देखो न, एक दिन में कितने? सौ खमासमणा। बेचारे वृद्ध हो तो उठ-बैठ कर-करके (मर जाये)। सौ खमासमणा तो दे भगवान को।... क्रिया मोह-राग की और यह पर की और जड़ की। उससे भिन्न पड़कर उसमें (-आत्मा में) एकाग्र होना, वह धर्म की क्रिया है। अरे, भारी कठिन लगे लोगों को, हों!

बड़े-बड़े नाम धराये हो न ऐसे, पाँच-पाँच लाख के मन्दिर, दस लाख के मन्दिर, हमने धर्म के साधन किये। धूल भी नहीं साधन, सुन न! यहाँ तो कहते हैं, साधन और आराधना की सामग्री तो तेरे पास पड़ी है, ऐसा कहते हैं। तब तू कौन? यह ज्ञान, आनन्द और शान्ति, वह आत्मा। राग आत्मा है? बाहर की क्रिया आत्मा है? आहाहा! **चारों पुरुषार्थ की,....** देखो, **साधक और आराधक सामग्री पास में रहते हुए भी उन्हें नहीं देखता।** बाहर देखेगा...। मन्दिर से कुछ मिलेगा, भगवान की मूर्ति से मिलेगा, भगवान के समवसरण में दर्शन करेंगे तो उससे कुछ मिलेगा। कल से अष्टाह्निका आती है। नन्दीश्वर द्वीप पूजा। नन्दीश्वर द्वीप में है न बावन जिनालय? आठवें द्वीप में शाश्वत् मन्दिर हैं। शाश्वत् मूर्तियाँ होती हैं। परन्तु वह तो उसकी ओर का झुकाव, वह शुभभाव है। ऐसा व्यवहार बीच में होता है, परन्तु वह साधन है, ऐसा नहीं, भगवान! ऐसा नहीं। (बीच में) आवे तो वह साधन क्यों नहीं? परन्तु आवे, राग की मन्दता आती है। आहाहा!

इन्द्र—समकिती (भी) जहाँ नन्दीश्वर द्वीप में जाते हैं, लो, शकेन्द्र। बावन जिनालय हैं। मणिरत्न की प्रतिमायें हैं आठवें (नन्दीश्वर) द्वीप में। वह तो इन सबमें है, बत्तीस सूत्र में भी है। परन्तु वे लोग कहे, यह तो यक्ष की मूर्ति है। ऐसा कहते हैं। यक्ष

की मूर्ति को इन्द्र माने ? तीर्थंकर भगवान की मूर्ति है। उसकी पूजा आदि का भाव, वह शुभ-पुण्य है; धर्म नहीं। आहाहा! कहो, वजुभाई! कल से शुरु होता है न ? वजुभाई के घर से होता है, कोई कहता था। अपने को कुछ बहुत खबर नहीं। चन्दुभाई कहे कुछ सुना हो ऐसा। आहाहा! कल है न गुरुवार से ? गुरु से गुरुवार आठ दिन। होता है, वह क्रिया तो पर की है। उसमें भाव होता है, वह शुभ है। बस, इतनी मर्यादा है। इससे आगे ले जाये तो अन्दर मिलान नहीं खाता।

यहाँ तो कहते हैं न, क्या कहा ? देखो! कहते हैं कि तेरा साधन और आराधन की सामग्री तो तेरे पास है। ऐसा कहा न! **रहै जाकै संग...** सामग्री पास में रहती है। अन्दर में है भगवान। वह राग में भी नहीं और पर में भी नहीं। आहाहा! गजब बात! तब कहे, किसलिए करते हो ? करे कौन ? करे कौन, वह तो उस समय होनेवाला हो, वह होता है। यह भाव है अन्दर राग की मन्दता का, वह शुभभाव है, बस इतना। उसमें कोई वहाँ गये न... वह भी शुभभाव, वह साधन नहीं, ऐसा यहाँ तो सिद्ध करना है। तेरे पास में साधन और आराधन है, ऐसा कहना है न ? राग कहाँ इसके पास में है ?

मुमुक्षु : वह तो बाहर है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो बाहर है। आहाहा! वस्तु यह है। वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। भगवान ने किया नहीं, कहा है कि ऐसा है। मान, पहिचान और जान।

साधन आराधन की सौंज... सौंज अर्थात् सामग्री, **रहै जाके संग....** आहाहा! **साधक और आराधक सामग्री पास में रहते हुए भी उन्हें नहीं देखता।** आहाहा! पूर्ण आनन्द और पूर्ण ज्ञान और उसमें साधक नाम का गुण भी इकट्ठा पड़ा है। उसका साधन और उसका आराधन, वह वीतरागी दशा, वह तेरे संग में तुझमें है। रागादि से समकिती तो मुक्त है। राग हो परन्तु अन्तर्दृष्टि में धर्मी तो राग से मुक्त है। आहाहा! ले, राग साधन (नहीं) और आराधन की सामग्री नहीं, ऐसा कहते हैं। भारी कठिन काम लगे लोगों को, हों! वस्तु तो ऐसी है। कहीं दूसरा कुछ करने जायेगा तो घर खोयेगा। साधन-आराधन की सामग्री... है न ? **साधक और आराधक सामग्री पास में रहते... मिथ्यात्व के भ्रम में पड़कर... उन्हें नहीं देखता और बाहर खोजता फिरता है।**

सम्मेदशिखर में से समकित होगा, शत्रुंजय के सिद्धगिरि के दर्शन से समकित

होगा, ऐसा अज्ञानी बाहर से खोजता है। ऐई! अन्तर में शोध, शोध, वहाँ सब साधन पड़े हैं। वह बीच में आता है, वह तो जाननेयोग्य है, वह वास्तव में साधन नहीं। व्यवहार साधन की उपमा उसे दी है। कषाय की मन्दता को व्यवहार साधन... व्यवहार साधन अर्थात् नहीं है, उसे कहना, उसका नाम व्यवहार साधन। व्यवहार अन्यथा कहता है ..., (परन्तु) ऐसा माने तो मिथ्यात्व है, ऐसा कहते हैं। व्यवहार राग की मन्दता को साधन कहा। व्यवहार नहीं। यदि ऐसा ही मान ले कि वह साधन है तो मिथ्यात्व है। कहा नहीं व्यवहार के बोल में? मोक्षमार्गप्रकाशक (में कहा है)। व्यवहारनय अन्यथा कहता है। एक के कारण में मिलाकर बात करे, किसी में मिलाकर (कहता है, परन्तु) ऐसा ही माने तो वह मिथ्यात्व है।

मुमुक्षु : भगवान ने कहा, वह मानना नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : कहा, क्या कहा है? भगवान ने ऐसा कहा कि वह राग है। ऐसा कहा है।

मुमुक्षु : परन्तु कारण कहा है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : कारण कहा, वह व्यवहार से कहा है। कहा अर्थात्? परन्तु किस नय से कहा है?

मुमुक्षु : उसका क्या काम है?

पूज्य गुरुदेवश्री : नय का काम न हो तो डूबे। ऐ चेतनजी! यह तो व्यवहारसाधन, व्यवहारकारण (आता है), परन्तु व्यवहारनय से अन्यथा कहा है। नहीं है, उसे साधन कहा है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : बतलावे नहीं वह व्यवहार? अन्दर व्यवहार आता है, ऐसा ज्ञानी बतलाते हैं। परन्तु वह साधन है नहीं। अरे, अरे! कठिन काम, भाई! यह तो आया न ११वीं गाथा में, नहीं आया? व्यवहार निमित्त साधन को हस्तावलम्ब जानकर भगवान ने जैनशास्त्र में बहुत उपदेश किया है, परन्तु उसका फल संसार है। (समयसार) ११वीं गाथा (के भावार्थ में आया है)।

मुमुक्षु : साधन कहा न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : कहा न, उसका फल संसार। संसार के फल का साधन कहा।

मुमुक्षु : परन्तु साधन कहा न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : संसार के फल का साधन कहा। चेतनजी !

मुमुक्षु : नहीं चला....

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं चला ? महाविदेह में चलता है।

वीतराग त्रिलोकनाथ परमात्मा सर्वज्ञ ने जो कहा और वह इसके न्याय में बैठ जाये, ऐसा है। यह उसमें कोई गड़बड़ रहे, ऐसा कुछ है नहीं। आहाहा ! मोक्षमार्गप्रकाशक में तो स्पष्ट कहा है। व्यवहारनय कहता है, ऐसा यदि माने, वह तो मिथ्यात्व है, ऐसा वहाँ तो कहा है। ऐ पण्डितजी ! ऐसा कहा है या नहीं ? व्यवहारनय कहता है, ऐसा माने तो मिथ्यात्व है, ऐसा कहा। क्योंकि कोई निमित्त की अपेक्षा आदि से उसे अन्यथा कहता है। ऐसा कैसे कहे ? परन्तु वह व्यवहारनय के लक्षण ही ऐसे हैं।

मुमुक्षु : भगवान के कथन में आया ?

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान के कथन में ऐसा आवे।

मुमुक्षु : दूसरे लोग कहें तो ऐसे लेखन .... भगवान ने....

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान ने कहा, वह किस अपेक्षा से कहा है ? किस नय का कथन है ? वह नय सच्चा है या उपचारित है ?

मुमुक्षु : भगवान तो सच्चा ही कहे।

पूज्य गुरुदेवश्री : विवाद उठा न। बड़े लेख बहुत आते हैं। यह व्यवहार को अभूतार्थ कहते हैं। अब सुन न ! अभूतार्थ का अर्थ वस्तु है। राग वस्तु नहीं ? पर्याय भी वस्तु नहीं ? है, बस, है इतना जानना। परन्तु वह साधन है, ऐसा जो कहा है, वह अन्यथा व्यवहारनय से कहा है।

यहाँ तो कहा न कि साधन—आराधन की सामग्री तो तेरे पास है। राग उसके पास है ? उसका स्वभाव है ? वह तो बाहर है। आहाहा ! एक ओर ऐसा माने, कहे और

फिर बड़ी रथयात्रा निकलावे, ऐसा और लोग कहते हैं। कौन निकलावे? सुन न, भाई!

मुमुक्षु : शास्त्र में लिखा है, रथयात्रा निकलवाना....

पूज्य गुरुदेवश्री : निकलवाना क्या? वह तो भाषा व्यवहार का अन्यथा कथन है। निकलावे कौन? निकाले कौन? वह परमाणु की और उस जीव की उस समय में जो पर्याय होनेवाली हो, वहाँ होती है। दूसरा कौन कर सकता है? समझ में आया? **भूल्यौ फिरै मूरख मिथ्यात्वकी अटलमैं,....** लो। यह अन्दर में साधन और आराधन अन्दर में—आत्मा में पड़ा है शुद्धता में, हों! उसके बदले मूढ़ मिथ्यादृष्टि बाहर में भ्रमणा से घूमता है मूर्ख। यहाँ से मिलेगा, यहाँ से धर्म मिलेगा, यहाँ से समकित होगा। आहाहा! बहुत सरस बात की है। बस, अब कलश आयेगा। यह तो बन्ध के अधिकार में... कलश आयेगा।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ९१, आषाढ़ शुक्ल ९, गुरुवार, दिनांक ०१-०७-१९७१

बन्ध द्वार पद १६, १७, १८

यह समयसार नाटक, बन्ध अधिकार है। छठवाँ कलश। १८२ पृष्ठ है न, नीचे छठवाँ कलश है। क्या अधिकार है? यह बन्ध है। अज्ञानी को विपरीत अभिप्राय से क्षण-क्षण में मिथ्यात्वादि आठ कर्मों का कठोर बन्ध पड़ता है। अज्ञानी को पड़ता है। ज्ञानी को भान है, इसलिए उसे बन्ध नहीं पड़ता, यह वर्णन है।

सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीय-
कर्मोदयान्मरणजीवितदु:खसौख्यम्।
अज्ञानमेतदिह यत्तु पर: परस्य,
कुर्यात्पुमान्मरणजीवितदु:खसौख्यम्।।६।।

इसका पद्य। **वस्तु का सत्यस्वरूप और मूर्ख का विचार**

★ ★ ★

काव्य - १६

वस्तु का सत्यस्वरूप और मूर्ख का विचार (सवैया इकतीसा)

तिहूँ लोकमांहि तिहूँ काल सब जीवनिकौ,
पूरब करम उदै आइ रस देतु है।
कोउ दीरघाउ धरै कौउ अलपाउ मरै,
कौउ दुखी कोउ सुखी कोउ समचेतु है।।
याहिमैं जिवायौ याहि मारौ याहि सुखी करौ,
याहि दु:खी करौ ऐसे मूढ़ मान लेतु है।
याही अहंबुद्धिसौं न विनसै भरम भूल,
यहै मिथ्या धरम करम-बंध हेतु है।।१६।।

शब्दार्थः-दीरघाउ (दीर्घायु)=अधिक उमर। अलपाउ (अल्पायु)=छोटी उमर। जिवायौ=जिलाया। मूढ़=मिथ्यादृष्टि। हेतु=कारण।

अर्थः-तीन लोक और तीनों काल में जगत के सब जीवों को पूर्व उपार्जित कर्म उदय में आकर फल देता है, जिससे कोई अधिक आयु पाते हैं कोई छोटी उम्र में मरते हैं, कोई दुःखी होते हैं, कोई सुखी होते हैं और कोई साधारण स्थिति में रहते हैं। इस पर मिथ्यात्वी ऐसा मानने लगता है कि मैंने इसे जिलाया है, इसे मारा, इसे सुखी किया, इसे दुःखी किया है। इसी अहंबुद्धि से अज्ञान का परदा नहीं हटका और यही मिथ्याभाव है, जो कर्मबन्ध का कारण है।।१६।।

काव्य-१६ पर प्रवचन

तिहूँ लोकमांहि तिहूँ काल सब जीवनिकौ,
पूरब करम उदै आइ रस देतु है।
कोउ दीरघाउ धरै कौउ अलपाउ मरै,
कौउ दुखी कोउ सुखी कोउ समचेतु है।।
याहिमैं जिवायौ याहि मारौ याहि सुखी करौ,
याहि दुःखी करौ ऐसे मूढ़ मान लेतु है।
याही अहंबुद्धिसौं न विनसै भरम भूल,
यहै मिथ्या धरम करम-बंध हेतु है।।१६।।

तीन लोक में और तीन काल में... यह बात सिद्ध करते हैं। इस जगत में तीन लोक—चाहे तो अधोलोक हो, मध्य (लोक) हो या ऊर्ध्व (लोक) हो और तीन काल तथा सर्व जीव—इस प्रकार पूरी बात तीन ली। तीन काल में, तीन लोक में और सर्व जीव। आहाहा! **तिहूँ लोकमांहि तिहूँ काल सह जीवनिकौ, पूरब करम उदै आइ रस देतु है।** इसने जो पूर्व में कर्म बाँधे हों, ऐसा इसे संयोग और आयुष्य आदि की स्थिति होती है। विकार हो, उसकी यहाँ बात नहीं है। पूर्व में कर्म बाँधा हो, तत्प्रमाण विकार होता है, ऐसी बात यहाँ नहीं है। परन्तु पूर्व में इसने जैसा कर्म बाँधा हो... **पूरब करम**

उदै आइ... उदय आये। उसे **आइ रस देतु है।** कर्म रस—फल देते हैं।

कोउ दीरघाउ.... किसी का आयुष्य दीर्घ हो, वह भी पूर्व के आयुष्य (बन्ध के) कारण से है। पूर्व में इसने यदि (दीर्घ) आयुष्य बाँधा हो तो उसकी दीर्घ आयु रहे, जिस प्रमाण बाँधा हो, तत्प्रमाण। **कोउ अलपाउ...** अल्प काल में मरे। परन्तु जितना आयुष्य इसने बाँधा हो, उस प्रमाण इसकी अल्प आयु होती है। **कोउ दुखी कोउ सुखी...** कोई दुःखी अर्थात् प्रतिकूल संयोग कितनों को होते हैं और किसी को अनुकूल संयोग, वे पूर्व के प्रारब्ध के कारण से है। सुख-दुःख हो, उसकी बात नहीं है। यहाँ तो बाहर की सामग्री मिले धूल आदि की, उसकी बात है। है न? **कोउ दीरघाउ धरै, कोउ अलपाउ मरै....** पूर्व का आयुष्य बाँधा हुआ हो, तत्प्रमाण होता है।

कोउ दुखी... कोई प्रतिकूल संयोग इसे मिले, परन्तु वह पूर्व के असाता के उदय का योग हो, तत्प्रमाण मिलते हैं। **कोउ सुखी** अर्थात् दुनिया को अनुकूल। यह पैसा-बैसा, शत्रु, पुत्र, धूल आदि कहलाती है न, वह सब अनुकूल। वह किसी को पूर्व के कर्म का उदय ऐसा हो, वैसा मिले। **कोउ समचेतु...** कोई मनुष्य साधारण स्थिति में हो। प्रतिकूलता बहुत नहीं और अनुकूलता (भी बहुत नहीं), साधारण स्थिति में (हो)। किसी पूर्व के कर्म का ऐसा भाग-रस है, तत्प्रमाण इसकी स्थिति बनती है। **याही मैं जिवायौ...** परन्तु अज्ञानी उसमें अहंकार, मिथ्यात्व करता है। मैंने इन बालकों को जिलाया, गौशाला के पशुओं को मैंने जिलाया, इस जीव को मैंने बचाया, प्राणरक्षा की—यह (मान्यता) मिथ्यात्वभाव है। दया कौन, किसकी दया करे? कौन करे? ऐ, कान्तिभाई! क्या है यह?

मैंने पर की प्राणरक्षा की। प्राण दस—पाँच इन्द्रियाँ, मन, वचन और काया (मिलकर) आठ तथा आयुष्य और श्वास। उसकी मैंने रक्षा की पर की—पशु की, बालक की, गरीबों की, ऐसा जो मानता है, वह मूढ़ मिथ्यादृष्टि है। है न? मैंने जिलाया, उसके प्राण की मैंने रक्षा की तो वह जिया। मैं उसकी सम्हाल करनेवाला हूँ तो वह जिया, वरना तो मर जाता। मूढ़ ऐसा मानता है। बराबर होगा?

मुमुक्षु : जीवो और जीने दो, भगवान ने कहा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कोई कहता नहीं, भगवान ने कहा ही नहीं। दुनिया लेकर बैठी

है। भगवान का सन्देश—जीवो और जीने दो, ऐसा बहुत शोर मचाते हैं यह लोग। यहाँ तो कहे, पर को जिला सकता हूँ, यह मान्यता ही मिथ्यादृष्टि मूढ़ की है। आहाहा! समझ में आया?

मैंने जिलाया। उसे जिलाया, रक्षण किया। वह पानी में गिर गया था और रखा था, बच गया, मैंने बचाया। मकोड़े पड़े हों, लो न, पानी में, मैंने बचाया। मूढ़ है, कहते हैं। बचावे कहाँ? भाव-विकल्प था। बाकी बचा सके? वह तो पर की क्रिया है। वीतराग का मार्ग ऐसा है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता, ऐसा वीतराग का अनादि वस्तु का स्वरूप ऐसा है। अधिक कहेंगे। समझ में आया? कोई किसी का सहायक नहीं, भाई! जिला सका। मैंने उसे मारा, मैंने उसकी हिंसा की। मूढ़ है। उसकी आयुष्य की स्थिति इतनी थी तो देह छूट गयी। उसके बदले मैंने उसे मारा, यह (मान्यता) मिथ्यात्वभाव, अज्ञानभाव, पापभाव है। उसकी तो खबर नहीं होती और यह प्राणी की रक्षा करना, वह धर्म। आहाहा! (ऐसा मानकर) चल निकले हैं। समझ में आया?

अहिंसा... ऐसा कहते थे हमारे। भगवान ने अहिंसा कही। किसी प्राणी को मारना नहीं, दया पालना, ऐसा परम धर्म भगवान ने कहा है। भगवान यहाँ इनकार करते हैं, ऐसा मैंने नहीं कहा।

मुमुक्षु : तो क्या बैठे रहना?

पूज्य गुरुदेवश्री : बैठे रहे, यह राग है तो राग आयेगा। परन्तु राग के कारण पर को जिला सकता है (ऐसा है नहीं)। यह माँ-बाप लड़कों को पालते हैं या नहीं? हमने बड़ा किया, सुमनभाई को तो इन्होंने बहुत पैसा खर्च करके पढ़ाकर बढ़ा किया, लो। है या नहीं? अमेरिका भेजा। वह तो फिर कुचे मरने (गया), ऐसा भाई कहते हैं। परन्तु ऐसा पढ़ाया-गुनाया, पैसा खर्च करके। होशियार तो किया होगा या नहीं? शिक्षा दी। धूल भी दी नहीं, यहाँ ऐसा कहते हैं। कौन किसको शिक्षा दे? मूर्ख है, ऐसा कहते हैं, यहाँ तो। शिक्षा दी न! यह जीतु-बीतु को दी होगी या नहीं? पुस्तकें जाँचे किसी की? कौन जाँचे? यहाँ तो भगवान की यह बात है। आहाहा!

भाई! एक तत्त्व है, वह दूसरे तत्त्व को क्या... यह पाठ है, देखो न! **यत्तु परः परस्य**। है न? पर, पर को कुछ भी जिला सके, मार सके... अरे, सुखी करूँ अर्थात्...

अन्दर संस्कृत में है '**परः परस्य।**' आहाहा! बहुत स्पष्ट बात है। एक जीव दूसरे जीव को प्रतिकूल संयोग दे सके। मूढ़ है, कहते हैं। कौन दे? बहुत असाता का उदय हो और प्रतिकूल संयोग के रजकण उसे मिले। यह कहे कि मैंन उसे जहर दिया, जीव मर गया। मैंने ऐसे दिया, अपच्य आहार दिया, इसलिए उसे रोग हुआ। मूढ़ है। आहाहा! समझ में आया? और मैंने सुखी किया। देखो, मैंने उसे आहार दिया, पानी दिया, दवा दी, पैर दबाये। यह तो वह सुमनभाई आकर पैर दबा जाये। ऐई! किसके पैर? किसके पैर? पैर तो मिट्टी-धूल के हैं। वह तो पुद्गल के हैं, पैर आत्मा के हैं? दूसरा पैर दबावे ऐसे, यह मान्यता ही झूठी है, कहते हैं। वजुभाई! कष्ट-वेदना हो तो बहुत दबावे। आहाहा!

एक यह अँगुली हिले, वह जड़ के कारण से हिलती है। आत्मा के कारण से हिले, यह मान्यता मूढ़ मिथ्यादृष्टि की है। वीतराग के तत्त्व को समझता नहीं। आहाहा! गजब पूरी दुनिया से निराली (बात है)! मैंने जिलाया, प्राणरक्षा की। मैंने मारा, उसने हिंसा कर डाली। ऐ, परन्तु तू एक दूसरा तत्त्व, दूसरे तत्त्व की तू हिंसा कर सके, यह सामर्थ्य तुझमें है? इसी प्रकार दूसरे तत्त्व की तू दया पालन कर सके और बचा सके... समझ में आया? (श्वेताम्बर) तेरापंथी ऐसा कहते हैं कि पर को बचाना, ऐसा मानना, वह मिथ्यात्व है। परन्तु वे दूसरी बात कहते हैं। उन्हें खबर नहीं कि यह बचा नहीं सकता। इस बात की उन्हें खबर ही नहीं। समझ में आया? पर को बचाने के भाव, वह पाप है, ऐसा (वे) कहते हैं। ऐसा नहीं है। उसे बचा सकता हूँ, यह मान्यता झूठी है परन्तु बचाने का जो भाव है, वह पुण्यभाव है। यह तो बड़ा अन्तर है। समझ में आया?

बचा सकता हूँ, ऐसा माने, वह तो परद्रव्य की क्रिया मैं कर सकता हूँ—(ऐसा) माना है, वह मिथ्यात्वभाव है। परन्तु पर को मैं बचाता हूँ, ऐसा उसका दया का भाव, वह भाव कहीं पाप नहीं है; भाव, पुण्य है। धर्म भी नहीं। पर जीव को बचाने का भाव, वह धर्म भी नहीं, पाप भी नहीं, (वह भाव) पुण्य है। समझ में आया? आहाहा! तत्त्व की खबर नहीं होती, हो गये साधु और हम दया पालते हैं। छह काय की दया के पालनेवाले, ऐसा लिखे। संवत्सरी आवे न, संवत्सरी। छह काय के रक्षक, छह काय के ग्वाल। संवत्सरी आवे न। खमतखामणा में लिखे न। एक-दूसरे को क्षमा करावे तब लिखे। ... यह रक्षा कर सकता नहीं, (इसलिए नहीं) रक्षना, ऐसा भाव नहीं है।

निर्बलता के कारण जीव को न मारूँ ऐसा विकल्प उठता है। परन्तु मार सकता हूँ, जिला सकता हूँ—यह धर्मी मानता नहीं। और माने, वह मूढ़ मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! जगत से भारी फेरफारवाली बात!

यह मन्दिर बनाऊँ, उपाश्रय बनाऊँ, पुस्तक बनाऊँ, लो, अक्षरों का तरजुमो—अनुवाद करूँ। वह जड़ की पर्याय करूँ, यह मूढ़ की मान्यता है। यहाँ तो ऐसी बात है। ऐ सुमनभाई! बहुत अन्तर। यह तो वीतराग सर्वज्ञ से सिद्ध हुई बातें हैं। एक तत्त्व स्वयं ही अपने द्रव्य-गुण-पर्यायरूप से रहा हुआ है। प्रत्येक तत्त्व स्वयं अपने द्रव्य में अर्थात् शक्तिवान में, उसका गुण अर्थात् शक्ति में और वर्तमान हालत में—द्रव्य-गुण-पर्याय में प्रत्येक तत्त्व है, उसे दूसरा तत्त्व करे क्या? आहाहा! यह व्यापार-व्यापार का धन्धा तो बुद्धिवाला ध्यान से कर सकता है या नहीं? धूल भी करता नहीं। वह तो अभिमान करे, मिथ्यात्व सेवन करे। बराबर व्यवस्थापूर्वक काम लेते हैं, दुकान की पेढ़ी पर मैं बैठा होऊँ, तब ग्राहक-ब्राहक व्यवस्थित आवे और इस बड़बोले नौकर को बैठाया हो तब दो दिन में कुछ किया नहीं। पावर चढ़े मिथ्यात्व का। अज्ञानी, ... सुन न!

पर का—रजकण का धन्धा, रजकण देने-लेने की क्रिया क्या आत्मा कर सकता है? आहाहा! कठिन काम, बापू! तीन लोक, तीन काल में सर्व जीव को... यह एकेन्द्रिय जीव को मैंने बचाया, इतने बचाये... यह तो कसाईखाने जाते थे, इतने पैसे देकर मैंने बचाये। यह भाव है, वह शुभ है, परन्तु मैं बचा सकता हूँ, उसे मैं बचा सकता हूँ, यह मान्यता मिथ्यात्व है। कठिन काम है। कहो, समझ में आया? उसे नौ तत्त्व की श्रद्धा का ठिकाना नहीं। एक तत्त्व दूसरे तत्त्व का कुछ भी बिगाड़े, सुधारे—ऐसी मान्यता मिथ्यादर्शन शल्य है। आहाहा! तब अब माँ-पिता को पालना या नहीं? ऐ कान्तिभाई! उसे सिर पर आकर पड़ा है। इनकी माँ—वृद्ध घर में है। नौकरी छोड़ देनी पड़ी। सेवा (करने के लिये) जाना पड़े वहाँ। थोड़ा समय यहाँ रहे, फिर वहाँ जाये। एक बाई, एक आदमी—दो रखे हैं नहीं? दो रखे हैं न? रख सकता है?

मुमुक्षु : रखे हैं, ऐसा कहा, फिर रख सकता है, ऐसा प्रश्न कहाँ उठे?

पूज्य गुरुदेवश्री : (रखे) यह बात ही झूठी है। रखे कौन? परद्रव्य को रखे और रहे, यह बात ही एकदम झूठी है। आहाहा!

यह वीतरागमार्ग है, बापू! यह तो वस्तु की स्वतन्त्रता, वस्तु का स्वतन्त्रस्वरूप है। किसी तत्त्व की कोई दशा दूसरा करे, (ऐसा) तीन काल—तीन लोक में सर्व जीव में कहीं होता नहीं। एकेन्द्रिय हो, दो इन्द्रिय हो, तीन इन्द्रिय हो, चार इन्द्रिय हो, पंचेन्द्रिय हो। आता है न, मिच्छामि पडिक्कमणा में। ईरीया, वतीया, विसिया... ऐसा भाव—विकल्प किया हो, उसकी बात है। पर का कर सकता है, ऐसा नहीं है। तत्सूत्री में आता नहीं? ताव कायं, ठाणेणं... वहाँ तक इस शरीर को मैं रखूँ। रख सकता है? उसमें आता है। ताव कायं जाणणं मोणणं अपाणं... पूरा आत्मा वोसराया। भान कुछ नहीं होता। आहाहा! तत्सूत्री में आवे न? भाई!... वह कोई विकल्प था, उसका विचार करके वापस मुड़ता है। पर का कर सकता हूँ, काया को ऐसे रख सकता हूँ (ऐसा नहीं)। यह (काया) तो जड़ है। पर को ऐसे रख सकता हूँ, ऐसे कायोत्सर्ग में। मूढ़ है, कहते हैं।

अजीव की पर्याय जीव करे, उसने अजीव को जीव माना। ऐसा बोले कि अजीव को जीव माने तो मिथ्यात्व; जीव को अजीव माने... यह बोलते हैं न? मिथ्यात्व के पच्चीस (प्रकार) आते हैं। श्वेताम्बर में दस आते हैं। उसमें पच्चीस आते हैं। जीव को अजीव माने तो मिथ्यात्व। भाईसाहब पहाड़े बोल जायें, अर्थ की कुछ खबर नहीं होती। आहाहा! मैंने उसे दु:खी किया अर्थात् प्रतिकूल संयोग दिये, ऐसा। कितनी ही महिलायें ऐसी होती है न सास, बहू को जल्दी उठाकर कहा हो, गेहूँ दल डालना दस सेर। उसमें बैठी हो और कुछ झोंका खाया हो न। सासु ऐसी कठोर हो और वह गेहूँ ऐसे रखने जाये न वहाँ अग्नि का एक रखे नीचे। यह बनता है, हों! यह सब बना हुआ है। गेहूँ का वह होता है न। है, यह सब गाँवों में है। सासु हो कड़क। हाथ डालने जाये वहाँ अंगारा रखे। अंगारा-अंगारा।

बना है, गाँव में बना है। महिलायें ऐसी होती हैं बिना भान की, अक्लरहित। सेठ की सेठानी बड़ी कहलाती हो (परन्तु हो) सब मूर्ख के सरदार। परन्तु पूर्व के पुण्य के कारण बाहर में बड़े गृहस्थ के घर के कहलाते हों, हो तो सब मूर्ख के सरदार। सुमनभाई! यह छोटी उम्र में देखा हुआ, सुना हुआ है, हों! बहुत सब सुना हुआ है। महिलायें ऐसी कड़क हों कि (अंगारा) नीचे रख दे। ऐसे जहाँ.... नींद उड़ जाये। तो

क्या तूने किया कुछ? वह तो उसका असाता का उदय था तो संयोग आया। वह अग्नि रखकर उसका हाथ जला, इस बात में दम नहीं है। आहाहा!

गुणवन्तभाई! क्या होगा ऐसा यह सब? व्यापार-ब्यापार करते हो न तुम धन्धा-बन्धा। भगवान ऐसा कहते हैं कि भाई! तू दूसरे की प्राणरक्षा करे, यह तेरी मान्यता मूढ़, मिथ्यात्व, महापाप बाँधता है। पर को मैं मार सकता हूँ, ऐसी तेरी मान्यता प्रभु! तुझे बहुत नुकसान करती है। इसी प्रकार दूसरे को अनुकूल संयोग दे दूँ—आहार, पानी, क्षुधा हो उसे हलुवा, प्यास हो उसे मौसम्बी। प्राण गले में थे और उसे बचाया, लो। ऐसा नहीं कहते लोग? धूल भी बचाया नहीं, सुन न अब! वह तो उसके पूर्व के पुण्य के योग से ऐसी सामग्री आनेवाली थी, उसके कर्म के कारण से। तूने दी है, ऐसा माना, मिथ्यात्व के महापाप के (कारण) आत्मा (का घात होता है)। यहाँ अभी कहेंगे।

आत्महतो भवन्ति.... वह आत्मा की हिंसा करनेवाला है। आहाहा! गजब बात है। **याहि दुखी करौ ऐसे मूढ मान लेतु है...** है न? मूढ़ मानता है। आहाहा! मिथ्यादृष्टि मूढ़ की व्याख्या यह। जिसे तत्त्व की दृष्टि की खबर नहीं। सम्यग्दर्शन क्या? आत्मा क्या? भान नहीं। वे जीव आत्मा को पर का कर्ता (मानकर) अभिमान करते हैं। आहाहा! साधु नाम धरावे और ऐसा माने तो वह मिथ्यादृष्टि मूढ़ है। समझ में आया? हम उपदेश देकर बहुत जीवों को (खंखेराबीये)। हमारे पास पैसा नहीं, ऐसा कहते हैं। परन्तु हम उपदेश देकर खंखेराबीये रुपया दान देने के लिये। मूढ़ है, कहते हैं। उपदेश तो जड़ की भाषा है। भाषा तूने की है? वह तो जड़ की अवस्था है और उपदेश से वह पैसा निकालता है? वह तो पैसा वहाँ निकलने का था, उसके कारण से निकलते हैं। ऐसा उपदेश देकर ऐसा करते हैं। वह एक थे न भाई वहाँ जोरावर (नगर) में। क्या? मणिभाई कोठारी।

(संवत्) १९९० में तुम गये थे। तब तो बहुत था न बढ़वाण में हजारों लोग। जोरावर (नगर) गये, वहाँ उनकी ओर से कितने ही लोग। उनकी ओर से ढ़ेर था। ९० के वर्ष में। परिवर्तन तो (संवत्) १९९१ में किया न। ९० में अभी... मणिभाई कोठारी जोरावरनगर में थे। बहुत उपदेश। पहले तो व्याख्यान में सब... हम दुनिया को ऐसी शैली से बात करते हैं कि महिलायें भी ऐसा कि गहने हाथ में से छोड़ देती हैं। ऐसा

उपदेश देते हैं। तुम्हारा कुछ हक है या नहीं कुछ घर में? या पकाकर खिलाना, इतना ही हक है? तुम कुछ स्वतन्त्र कर सकती हो या नहीं? स्वतन्त्र कुछ नहीं कर सकती? छोड़ो। हाथ में की सोने की चूड़ियाँ दान में निकलवा देते हैं। दान हो न... मूढ़ है,... सुन! उपदेश की भाषा जड़ की है। ऐ रतिभाई! पहिचानते हो या नहीं? मणिभाई कोठारी। ९० में गये न तब। उपाश्रय में समाये नहीं इतने लोग आते थे तब तो। छाप बड़ी थी न! मुँहपत्ती बदलकर यह मूर्ति आ गयी, वहाँ हाय... हाय... आहाहा!

पहले जरा सा उससे बोला गया था, हों, भाई! बहुत बिजली और सब पड़ा। वह पूरा पाण्डाल फट गया। १०-१२ हजार रुपये का नुकसान हुआ था। दो-तीन दिन पहले। मैं नीचे उतरा वहाँ वे आये। आज तो बड़ा नुकसान हुआ। बड़ा शब्द नहीं प्रयोग किया था। बहुत ऐसी कुछ भाषा प्रयोग की थी। आज तो बहुत नुकसान हुआ। यह उस उल्टे अर्थ में। लोगों को ऐसा हो गया.... यह चौथे दिन की बात है। पाण्डाल बड़ा ऊँचा... फट गया, दो टुकड़े हो गये। इतनी हवा। और अग्नि कुछ सुलगी... फिर बाद में सब व्यवस्थित हो गया। पैसे का तो ठीक... परन्तु उस समय बोल गये थे, हों! मैं नीचे उतरा दिशा को जाने के लिये... आज तो बहुत नुकसान हुआ। जगत की चीज़ है। बननेवाला हो वह... फटने का हो उसके काल में वह फटता ही है। हवा का निमित्त और फटने की क्रिया तो स्वयं से हुई है। हवा से भी हुई नहीं। यह बात जगत के साथ (मिलान नहीं खाती)। परन्तु जरा बोल गये थे, नहीं? खबर है? नुकसान बहुत आया... जगत की चीज़ है, वह रखने से रहती नहीं और टालने से टलती नहीं। उसके अवसर में रहना हो वह रहे और उसके अवसर में जाना हो तो जाये। आत्मा कहीं पर का कर सके तीन काल में, यह बात है नहीं। आहाहा! समझ में आया?

याहि दुखी करौ ऐसे मूढ मान लेतु है, याही अहंबुद्धिसौ न विनसै भरम भूल... अज्ञानी को अहंपना (है कि) उसे जिलाऊँ, उसे मारा, उसे प्रतिकूल संयोग दिये, उसे अनुकूल संयोग मैंने आहार, पानी, वस्त्र, सर्दी में वस्त्र दिये। काँपता था, मर जाता था। अब बच गया, लो। मोटर-बोटर में बेचारा कपड़ा लेकर जाये, गाँव में देने जाये, बहुत सर्दी हो उस समय (देने जाये)। परन्तु वह क्रिया पर की, जड़ की, जड़ की होने के काल में होती है। तुझसे हुई है और मैंने उसे वस्त्र दिये, यह मान्यता ही अज्ञानी की मूढ़

और मिथ्यात्व है। आहाहा! मोहनभाई! इस वस्त्र को मैं सिलता हूँ, कहते हैं, मिथ्यात्वभाव है। ऐसा कहते हैं। वह जड़ की क्रिया है, उसे आत्मा कर नहीं सकता। मोहनभाई ने तो बहुत किया है न। मशीन को बराबर ऐसे-ऐसे पैर से नीचे हिलावे न मशीन। यहाँ कहते हैं, उस मशीन को हिला सकता नहीं। वस्त्र में यह डोरा व्यवस्थित ऐसे रखे फट... फट... फट... फट... फट। वह सब जड़ की क्रिया जड़ के काल में होती है। (उसे) आत्मा कर नहीं सकता। आहाहा! भारी कठिन काम! गुणवन्तभाई! बराबर होगा यह ?

अहंबुद्धिसौ न विनसै भरम भूल... यह क्या कहते हैं ? उसका मैं कर सकता हूँ, दु:खी कर सकता हूँ अर्थात् प्रतिकूल संयोग दो सकता हूँ, अनुकूल दे सकता हूँ, प्राणरक्षा कर सकता हूँ, प्राणघात कर सकता हूँ—ऐसा जो मिथ्यात्वभाव, उसे भ्रम न विनसे। भ्रमणा में। भ्रमणा हो गयी, उसे भ्रमणा हो गयी। परन्तु मैं था और यह बचा न! मैंने हाथ दिया और टिका न, मैंने वस्त्र दिये तो ऐसा हुआ न, नहीं तो मर जाता। मैंने वस्त्र दिया, आहार दिया और बच गया, पानी दिया और बच गया, नहीं तो तड़पता होता। परन्तु उसके आयुष्य प्रमाण वह बचा और उसे मिलनेवाला था वह उसके कारण से, कर्म के कारण से। मिला है (वह) तेरे कारण से नहीं। आहाहा! गजब बात यह तो भाई! दुनिया से (अलग)।

साधु बेचारे मूढ़ होकर मर गये उसी और उसी में। हमने यह किया, हमने यह किया। दो-पाँच लाख इकट्ठे किये समझा-समझाकर। उसमें से फिर ऐसे बड़ा उपाश्रय बनाया, स्वाध्यायमन्दिर बनाया, यह सब बनाया। धूल भी नहीं बनाया, सुन न! ऐई! कैसे होगा इसमें ? यह परमागम (मन्दिर) कौन बनाता है ? ईंटें। क्या कहा ? ईंटें बनाती है। एक-एक रजकण जगत का स्वतन्त्र अजीवतत्त्व है। उस अजीवतत्त्व की जिस क्षेत्र में, जिस काल में, जो अवस्था होनेवाली है, उस काल में ही होगी। दूसरे से हो और दूसरा उसे रोक सके, यह बात तीन काल में सच्ची है (नहीं)। मिथ्याश्रद्धा में उलझकर मर गया है अनादि का। वर्तन तो इसने बहुत किये, महाव्रत पालन किये और धूल पालन किया और इस प्रकार... राग मन्द हो तो दिखाई दे। (परन्तु) श्रद्धा में बड़ा शून्य। आहाहा! **यहै मिथ्या धरम करम-बंध हेतु....** लो। यह तो मिथ्याधर्म है, कहते हैं तेरा। आहाहा! गजब बात है न! यह छठवें श्लोक की बात हुई। सातवाँ इस ओर है। **इसी**

अहंबुद्धि से अज्ञान का परदा नहीं हटता और यही मिथ्याभाव है जो कर्मबन्ध का कारण है। आहाहा! भगवान आत्मा तो ज्ञानस्वरूप है। सुल्टा पड़े तो यह हो उसे जाने, उल्टा पड़े तो होवे उसका अहंकार करे कि मुझसे हुआ। बस, इसके अतिरिक्त का दूसरा कुछ कर (नहीं) सकता। सातवाँ श्लोक—कलश नीचे।

अज्ञानमेतदधिगम्य परात्परस्य,
पश्यन्ति ये मरणजीवितदु:खसौख्यम्।
कर्माण्यहङ्कृतिरसेन चिकीर्षवस्ते,
मिथ्यादृशो नियतमात्महनो भवन्ति।।७।।

★ ★ ★

काव्य - १७

पुन: (सवैया इकतीसा)

जहांलौं जगतके निवासी जीव जगतमैं,
सबै असहाउ कोऊ काहूकौ न धनी है।
जैसी जैसी पूरब करम-सत्ता बांधी जिन,
तैसी उदैमैं अवस्था आइ बनी है।।
एतेपरि जो कोउ कहै कि मैं जिवाऊं मारूं,
इत्यादि अनेक विकलप बात घनी है।
सो तौ अहंबुद्धिसौं विकल भयौ तिहूं काल,
डोलै निज आतम सकति तिन हनी है।।१७।।

शब्दार्थ:-असहाइ=निराधार। धनी=रक्षक। अवस्था=हालत। घनी=बहुतसी। विकल=बैचेन। डौलै=फिरता है। तिहूँ काल=सदैव। हनी=नष्ट की।

अर्थ:-जब तक संसारी जीवों का जन्म-मरणरूप संसार है, तब तक वे असहाय हैं - कोई किसी का रक्षक नहीं है। जिसने पूर्वकाल में जैसी कर्मसत्ता बाँधी है, उदय में उसकी वैसी ही दशा हो जाती है। ऐसा होने पर भी जो कोई कहता है कि मैं पालता

हूँ, मैं मारता हूँ इत्यादि अनेक प्रकार की कल्पनाएँ करता है, सो वह इसी अहंबुद्धि से व्याकुल होकर सदा भटकता फिरता है और अपनी आत्मशक्ति का घात करता है।।१७।।

काव्य-१७ पर प्रवचन

पुनः उसका श्लोक। **जहांलौ जगतके निवासी जीव जगतमैं, सबै असहाइ कोऊ काहूकौ न धनी है।** किसी का कोई धनी नहीं। तो यह पत्नी का पति उसका धनी है या नहीं? अब हाथ पकड़ा है तो आजीवन पालन करेगा, ऐसा बोलना पड़ता है। वह मुसलमान ऐसा बोले, हों! मुसलमान को वह नहीं होता है न? हाँ, वह भाषा है। .... यह तुमको पालन करेगा। फिर ऐसे कहना है। ऐसा कुछ है। पानी का मढुडी लाकर देगा, ऐसा कहे वापस, हों! यह विवाह करते समय मुसलमान ऐसा बोले। कबूल? कहे, हाँ। फलाना सुना था। साथ में हमारे मुसलमान थे। यह अभी.... है न वह मुसलमान की जगह है। उस ओर है न कमरे जैसा। क्या कहलाता है? कुआँ... कुआँ। डंकी। वह मुसलमान की जगह है। कमरा है, वहाँ हमारे मामा की जमीन थी। ब्राह्मण रहते थे जन्मस्थान में, हों! अभी नया लिया, वह हमारे मामा का है। इक्कीस हजार की आयी न। दस्तावेज हो गया है। कल कहते थे। आहाहा! गजब काम भाई यह तो।

कौन किसका ले? कौन किसे दे?

मुमुक्षु : किया हुआ पानी में गया न?

पूज्य गुरुदेवश्री : पानी में कहाँ गया? जैसा है वैसा रहा। सबके कारण से सब हुआ। मुफ्त का बीच में मानकर बैठता है कि मेरे कारण से यह हुआ, मूढ़ है। निमित्त क्या करे परन्तु? निमित्त तो कब कहलाता है? (कार्य) होवे तब उस काल में हो, तब कार्यकाल हो तो वह है, बस वह निमित्त। निमित्त करे क्या? जिस द्रव्य की या जिस परमाणु की जो पर्याय, उसका कार्यकाल हो, उस समय ही वह होती है।

मुमुक्षु : निमित्त...

पूज्य गुरुदेवश्री : निमित्त हो। किसने इनकार किया है? होवे तो वह दूसरी चीज़ है। उससे कार्य हुआ है? आहाहा!

यह सरौता से सुपाड़ी टूटती नहीं, ऐसा कहते हैं यहाँ। क्योंकि सुपाड़ी के रजकण भिन्न और सरौता के भिन्न। वे पुद्गल भिन्न, यह पुद्गल भिन्न। यह एक पुद्गल दूसरे के टुकड़े करे, ऐसा नहीं होता। वह माने कि मैंने बराबर व्यवस्थित (किये)। होशियार व्यक्ति को कहे। वह चूरा करना हो न सुपाड़ी का व्यवस्थित बारीक। वह व्यवस्थित रीति से कातरे। वह मूर्ख अभिमान करे कि मैंने किया। समझ में आया? यह महिलायें अच्छी पूरणपोली बनावे, लो। बहुत होशियार हो, उसका हाथ हो हल्का, उसके हाथ से अच्छा ही होता है, ऐसा लोग कहते हैं। सच्ची बात होगी यह? पर का पर करे कौन? आहाहा! मिथ्यादृष्टि अभिमान करता है। हमारे हाथ से तो सब अच्छा ही होता है, ऐसा। ढोकला अच्छे हो पोचा, पुडला अच्छे हों। व्यवस्थित न हो तो वापस ऐसा भी कहे, भाई! यह तो रसोई है। और ऐसा कहे। तब एक समय कहे न कि रसोई है, वह उसके कारण से होती है। पहले से कह न! तुझसे कुछ होता (नहीं)। आहाहा!

जहांलौ जगतके निवासी जीव जगतमैं
सबै असहाइ कोउ काहूकौ न धनी है।
जैसी जैसी पूरब करम-सत्ता बांधी जिन,
तैसी उदैमें अवस्था आइ बनी है।
एतेपरि जो कोउ कहै कि मैं जिवाऊँ मारुं,
इत्यादि अनेक विकलप बात घनी है।

बात तो बहुत है, कहते हैं। एक बात इतनी की, परन्तु इसके अतिरिक्त सर्वत्र जहाँ-तहाँ ऐसा करूँ और वैसा करूँ और पानी भर दूँ और पानी व्यवस्थित कर दूँ और ऐसा करूँ और आहार कर दूँ और रोटियाँ बना दूँ, बहियाँ लिख दूँ, व्यवस्थित कर दूँ—सब बातों का मिथ्यात्वभाव है। वह जड़ की क्रिया मुझसे बने, यह मान्यता ही मिथ्यात्व और विकल्प का भाव है। '**विकल्पक: कर्ता**।' आता है न! पर का कार्य कर नहीं सकता। आता है न कर्ता-कर्म अधिकार में? '**विकल्पक: कर्ता**' विकल्प उसका कर्म है। अज्ञानी पर का कार्य करे, यह बात तीन काल में नहीं। मात्र उस समय विकल्प उठावे, वह उसका कर्म—कार्य है और वह उसका कर्ता, बस। आहाहा!

वस्तु की सीमा, आता है न निर्जरा अधिकार में? प्रत्येक वस्तु अपनी सीमा में

है। कोई किसी का कुछ करता नहीं। आहाहा! सीमा नहीं आती कहीं टीका में? प्रत्येक वस्तु की सीमा है (अर्थात् कि) अपने-अपने में है, ऐसा करके (बात है)। नहीं, यह तो उसमें आता है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह समाप्ति, वह और अलग। वह तो १०८। यह तो इसमें—समयसार में आता है कहीं टीका में (आता है)। आयुष्य बचा सके नहीं। टीका में है। है या नहीं? कहीं है अन्दर। अपने-अपने में सब है। कोई किसी को संक्रमित नहीं होती। यह तो १०३ (गाथा)। कोई द्रव्य और किसी गुण की पर्याय किसी में संक्रमित नहीं होती, ऐसा ही उस वस्तु का स्वभाव है। आता है न यह? प्रवचनसार में तो आता है, इन गाथाओं में कहीं आता है। बन्ध में भी कहीं आता है, हों! कहीं है अवश्य। कहीं होगा।

'द्रव्य-गुण में निजरस से ही अनादि से वर्तती है। वास्तव में अचलित वस्तुस्थिति की मर्यादा को तोड़ना अशक्य होने से (अपने द्रव्य-गुण में ही वर्तती है)। लो। परन्तु द्रव्यान्तर या गुणान्तररूप से संक्रमण को प्राप्त नहीं होती। द्रव्यान्तर-गुणान्तररूप से संक्रमित नहीं होती हुई वह अन्य वस्तु को कैसे परिणमा सकती है?' १०३ में है। अपनी-अपनी सीमा में काम करती है। अपना द्रव्य सत्, गुण सत् और पर्याय सत्। पर्याय भी सत् है, परमाणु की हो या आत्मा की हो, उस-उस पर्याय में पर का प्रवेश नहीं, इसलिए पर उसका कुछ कर नहीं सकता। आहाहा! गजब भाई यह तो कठिन! जगत अहंकार... परन्तु वह दूसरे क्या कहते हैं? बचा सके, परन्तु अहं नहीं करना, अहंकार नहीं करना। यह और इसका अर्थ ऐसा करते हैं रतनचन्दजी। अहं करना (ऐसा) आया न। अहं नहीं करना। परन्तु कर सकता ही नहीं। आहाहा!

उसमें आता है न, करना अवश्य परन्तु अनासक्तिभाव से करना। कहते हैं न एक लौकिक का। काम करना परन्तु अनासक्तियोग से करना। यही खोटी बात है, यहाँ कहते हैं। पर का कर सकता हूँ, मान्यता ही तेरी आसक्ति और मिथ्यात्वभाव है। आहाहा! अनासक्तियोग चलता है न यह? गीता का तो बहुत चलता है सब बाहर में। सुना है न सबका बहुत। अनासक्तियोग। बात ही झूठी है। अनासक्तियोग अर्थात् करना, किया जा सकता है और अनासक्ति रखना, (यह) बात ही झूठी है। आहाहा! अनासक्तियोग आता

है या नहीं? **एतेपरि जो कोऊ कहै कि मैं जिवाऊं मारुं, इत्यादि अनेक विकल्प... सो तौ अहंबुद्धिसौं विकल भयो तिहूँ काल....** विकल हुआ बेचैन। मूढ़ है, कहते हैं। **डोलै निज आतम सकति तिन हनी है,...** लो।

जहांलौ जगतके निवासी.... जब तक जगत में—लोक में प्राणी है, **जीव जगतमैं सबै असहाइ....** आहाहा! देह की स्थिति पूरी होने आये, डॉक्टर-बॉक्टर बुलावे। पैसा दे। परन्तु धूल भी कुछ कर सकता नहीं। आहाहा! ऐसे अकेला... लिया हो। जड़ का भी कर सकता नहीं तो फिर पर का कौन करे और पर तुझे कौन वहाँ बचा दे? आहाहा! **सबै असहाइ....** जीव की बात ली है न यहाँ। जीव जगत में, ऐसा लेना है न। जीव की बात है न। **सबे असहाइ....** एकेन्द्रिय से लेकर अनन्त आत्मायें... निगोद में अनन्त जीव आलू की, शक्करकन्द की एक कणी में। आलू क्या? मूली, लहसुन, प्याज, सूरणकन्द। एक टुकड़े में असंख्य शरीर और एक शरीर में अनन्त जीव। कहते हैं, किसी जीव को कोई जीव कुछ कर सकता नहीं, (भले) एक शरीर में इकट्ठे रहे। आहाहा! एक जीव निकलकर राजा हो और एक जीव मरकर वापस वहीं का वहीं निगोद में जाये। कौन किसे सहाय? आहाहा!

जैसी-जैसी पूरब करम-सत्ता.... कोई किसी का धनी नहीं। धनी है किसी का? कहलाता है न नृपति, करोड़पति, लखपति। ऐसी सब भाषा तो बहुत बोली जाती है। उद्योगपति। धूल भी नहीं, सुन न अब! पागल के सब लक्षण हैं। उद्योगपति बहुत पैसा कमाये न। उद्योगपति ने ऐसा उद्योग किया। उसके पिता कुछ छोड़कर नहीं गये थे और स्वयं ने बाहुबल से दो-पाँच करोड़ इकट्ठे किये। कुछ रख नहीं गये थे। यह तो अपने आप रजकण (परिणमते हैं। तेरे) साथ आते हैं यहाँ? वह तो उसकी पूँजी उसके कारण से रहती है। उसके कारण से आवे और उसके कारण से जायेंगे। तेरे कारण से आये और तेरे लिये आये हैं? तेरे होकर रहे हैं वे? यह तो तत्त्व तत्त्व भिन्न है, उसमें दूसरे तत्त्व का कुछ भी कर सकूँ, यह मान्यता महामिथ्यात्व और अनन्त संसार को बाँधने का कारण है। आहाहा!

जैसी-जैसी पूरब करम-सत्ता बांधी जिन, तैसी उदैमैं अवस्था आइ बनी है। यह संयोग की बात है, हों! कर्म का उदय आवे, इसलिए जीव को विकार करना ही पड़े,

यह प्रश्न यहाँ है नहीं। **एतेपरि जो कोउ कहै कि मैं जिवाऊं मारुं।** भाई! मैंने उसे बराबर रखा अभी तक, बड़ा किया, लो। पाल पोसकर बड़ा किया। धूल भी किया नहीं। माँ-बाप मर गये, अकेला था। छोटी उम्र से मैंने पाल-पोसकर बड़ा किया। अब उसे शक्ति आयी है तो अलग होता है। अब अलग ही था, किया था कब तूने? सुन न! अनेक विकल्प बात बहुत है, कहते हैं। बहुत बातें हैं, कहते हैं। आहाहा!

एक आँख फोड़ सकूँ पर की, आँख दे तो उसे देखता कर सकूँ। अभी आँख का दान नहीं देते? चक्षुदान। मरे तब। बैंक बनाया है। वह मरता हुआ कह जाये कि मेरी आँखें ले लेना। ऐ... परन्तु आँखें तेरी कहाँ हैं? वह तो जड़ की है। आहाहा! ऐसे यह अभिमान। ऐसे मरे फिर जाये कहाँ? नीचे। मेरी आँखें ले लेना। चक्षुदान। परन्तु चक्षु जड़ के परमाणु हैं। तेरी आँख कहाँ से आयी? तेरा प्राण कहाँ था वह? आहाहा! बहुत काम (कठिन)। विपरीत मान्यता मिथ्यात्व ने अनादि से घर किया है। और उसे टाले बिना और समझे बिना दूसरा करे, वह सब बिना एक के शून्य है।

इत्यादि अनेक विकलप बात घनी है.... कहते हैं। कितना कहे? ऐसा कहते हैं। **सो तो अहंबुद्धिसौ विकल भयौं तिहूँ काल....** जहाँ-जहाँ जाये वहाँ विकल बेचैन मूढ़ होकर घूमता है। बेचैन—भानरहित। मैंने ऐसा किया, मैंने ऐसा किया-मैंने ऐसा किया। धीरे-धीरे पैसे बढ़ते गये, ऐसी मैंने दुकान बढ़ायी, नौकर बढ़ाये, ऐसा किया और पूरा गाँव निभता है। मिलमालिक हो न वह। हम बहुत लोगों को निभाते हैं। निभते हैं, उसके लिये यह हम करते हैं। धूल भी निभाता नहीं, सुन न .... धूल! वह तो उसके आयुष्य और उसके पुण्य का उदय हो, उतना उसे आनेवाला (हो, वह आता है) और आवे तो भी उसके आत्मा को क्या है? परन्तु यह तो संयोग की बात है अभी। वह कहता था न, हम सात हजार लोगों को निभाते हैं। अकेला धन्धा करते हैं? सात हजार लोग निभते हैं। तुझसे निभते होंगे? आहाहा! पागल के गाँव कहीं अलग होते हैं? पागल के गाँव इकट्ठे होते होंगे? आहाहा!

वीतराग परमेश्वर त्रिलोकनाथ छह द्रव्य कहते हैं। भगवान के ज्ञान में छह द्रव्य आये हैं। छह में जाति से छह, संख्या से अनन्त। अनन्त आत्मायें, अनन्त परमाणु, असंख्य कालाणु, एक धर्मास्तिकाय, एक अधर्मास्तिकाय और एक आकाश। वस्तु यह

ही है अनादि। उसमें कोई द्रव्य किसी द्रव्य को कुछ करे, यह तीन काल में होता नहीं। आहाहा! **विकल भयौ तिहूँ काल, डोलै निज आतम सकति तिन हनी है...** आहाहा! मैंने इसे जिलाया, प्राणरक्षा की। कहते हैं कि यह माननेवाला आत्मा के स्वभाव का घात करता है, आत्मा की हिंसा करता है। फिर कोई नहीं बचावे किसी को। बचाता था कब (कि) वह न बचावे? आहाहा! दुनिया से तो उल्टा है भाई!

बोले सही प्रतिक्रमण में २५ मिथ्यात्व में। धर्म को अधर्म माने तो मिथ्यात्व, अधर्म को धर्म माने तो मिथ्यात्व, कुसाधु को.... आता है न? कुसाधु को साधु माने तो मिथ्यात्व, साधु को कुसाधु माने तो मिथ्यात्व, अमार्ग को मार्ग माने तो मिथ्यात्व, मार्ग को कुमार्ग.... अर्थ की कुछ खबर नहीं होती। पाँचवें संवरसूत्र में बोले। यह साधु नाम धरानेवाले... नाम धरानेवाले, साधु कहाँ थे? .....यही झूठी बात बोले। मैंने असंयम छोड़ दिया है। ऐ, परन्तु मियित्व का भान नहीं, वहाँ असंयम कहाँ छोड़ा है? .... आता है या नहीं? पाठ में .... आहाहा! कुमार्ग को छोड़ा है और मार्ग को ग्रहण किया है। ऐ... परन्तु मार्ग-कुमार्ग की खबर नहीं और तू क्या बोलता है यह? आहाहा! शाम-सवेरे झूठ बोले और महाव्रत नाम धरावे। आहाहा!

डोलै निज आतमसकति तिन हनी है... आहाहा! मैंने कितने शिष्य बनाये, कितना मैंने धर्म का उद्धार किया। ऐ, परन्तु पर का बना सके, वह तेरे हाथ का अधिकार है? ऐसा माननेवाले आत्मा की हिंसा करते हैं, ऐसा कहते हैं। इस मिथ्यात्वभाव से आत्मा को घात डालते हैं, ऐसा कहते हैं। है न पाठ में, देखो न! '**आत्महनो भवन्ति**' संस्कृत में है। '**हनो भवन्ति।**' आहाहा! पर की प्राणरक्षा तो कर सकता नहीं, परन्तु मानता है कि करता हूँ, वहाँ आत्मा की हिंसा होती है। आहाहा! कठिन ही काम जगत के साथ खड़े रहना अलग-थलग। **आतम सकति तिन हनी है....** शक्ति अर्थात् पर्याय, हों! त्रिकाली गुण नहीं। शक्ति अर्थात् उसकी अवस्था में—पर्याय में पर को घात करता हूँ, पर की रक्षा करता हूँ, यह मैंने अनुकूल दिया। यह मैंने प्रतिकूल दिया—ऐसी जो मान्यता, वह आत्मा के सम्यग्दर्शन की हिंसा करता है, मिथ्यादर्शन को पोसता है। आहाहा!

ऐसा कहकर यह कहते हैं कि पर को घात नहीं सकता, परन्तु घात सकता हूँ इस

मान्यता में तू घाता जाता है। ऐसा कहते हैं। आहाहा! शान्तिभाई! पर की प्राणरक्षा कर सकता नहीं, परन्त प्राणरक्षा करूँ, इस मान्यता में ही तेरे आत्मा की हिंसा होती है। आहाहा! लोगों को दिक्कत होती है। भगवान ने दया धर्म कहा है। परन्तु कौनसी दया? आत्मा में राग और द्वेष की उत्पत्ति न होना और शान्ति स्वभाव की उत्पत्ति होना, इसका नाम भगवान दया कहते हैं। इस दया का भान नहीं होता और पर की दया करने चल निकले। कर सकता नहीं, उसे करने निकले। आहाहा! कठिन काम! यह तो इसने आत्मशक्ति हनी है—नष्ट की है नष्ट।

अहंबुद्धि से व्याकुल होकर सदा भटकता फिरता है... मैंने इसका किया। जीवमण्डली, दया जीवमण्डली, फलाना के प्रमुख। उसका मैं प्रमुख हूँ। यह सब ऐसे काम हम करते हैं, पैसा-पैसा उगाहकर। अरे भाई! पर के काम कौन करे बापू? पैसा कौन उगाहे और पैसा कौन ले और दे? आहाहा! दुनिया के साथ तो कुछ मिलान खा सके, ऐसा नहीं है। **अपनी आत्मशक्ति का घात करता है....** लो। अपनी शक्ति का घात करता है। यह तो पाठ में श्लोक थे न, उसका अर्थ किया। अब स्वयं बनारसीदास जरा (कहते हैं)। उत्तम पुरुष, मध्यम पुरुष, अधमाधम और अधम पुरुष—चार। उत्तम पुरुष, मध्यम पुरुष, अधम पुरुष और अधमाधम जीवों का स्वभाव। चार के स्वभाव का वर्णन करते हैं। यह बनारसीदास ने स्वतन्त्र बनाया है, ऐसा कहलाये न! बनावे कौन? विकल्प था। भाषा तो ऐसी ही बोली जाये न! भाषा बोले, वैसा मान ले। आता है न? '**व्यवहारमासिदेण।**' सर्वविशुद्ध में नहीं आता? (गाथा ३२४)। भाषा से ऐसा माने, मूढ़ है। भाषा तो व्यवहार की भाषा है।

★ ★ ★

काव्य - १८

उत्तम, मध्यम, अधम और अधमाधम जीवों का स्वभाव (सवैया इकतीसा)

उत्तम पुरुषकी दसा ज्यौं किसमिस दाख,
बाहिज अभिंतर विरागी मृद अंग है।

मध्यम पुरुष नारिअरकीसी भांति लियैं,
बाहिज कठिन होय कोमल तरंग है।।
अधम पुरुष बदरीफल समान जाकैं,
बाहिरसैं दीखै नरमाई दिल संग है।
अधमसैं अधम पुरुष पूंगीफल सम,
अंतरंग बाहिज कठोर सरवंग है।।१८।।

शब्दार्थ:-अभिंतर=भीतर। बदरीफल=बैर। नरमाई=कोमलता। दिल=हृदय। संग= पत्थर। पूंगीफल=सुपारी।

अर्थ:-उत्तम मनुष्य का स्वभाव अन्तरंग और बाह्य में किशमिश दाख के समान कोमल (दयालु) रहता है। मध्यम पुरुष का स्वभाव नारियल के समान बाहर तो कड़ा (अभिमानी) और अन्तरंग में कोमल रहता है। अधम पुरुष का स्वभाव बैर फल के समान बाहर से कोमल पर अंतरंग में कठोर रहता है और अधमाधम पुरुष का स्वभाव सुपारी के समान अंतरंग और बाह्य सर्वांग कठोर रहता है।।१८।।

पद-१८ पर प्रवचन

उत्तम पुरुष की दशा तो किसमिस / द्राक्ष जैसी होती है। अन्दर में भी कोमल और बाह्य में भी कोमल। आहाहा! द्राक्ष है न द्राक्ष। द्राक्ष है, वह कोमल होता है। उसी प्रकार धर्मी जीव का (हृदय)... दया की अपेक्षा से बात है। करुणा है सब प्राणियों पर। हृदय कोमल है और बाहर में भी कोमलता है, ऐसा कहते हैं। किसमिस द्राक्ष की भाँति। कोमल अर्थात् कषाय का, मिथ्यात्व का और कषाय का अभाव है, ऐसा कहते हैं। ऐसा करूँ। मैं करूँ ऐसा उसे अन्दर होता नहीं, ऐसा कहते हैं। उसके बाद यह बात ली है न! मैंने यह काम किये, मैंने ऐसा काम किया, ऐसा उसे होता नहीं। अन्दर में भी होता नहीं और बाहर में भी ऐसा अभिमान होता नहीं। आहाहा! **उत्तम पुरुषकी दसा ज्यों किसमिस दाख....** किसमिस। वह तो किसमिस कहते हैं न।

बाहिज अभितंर विरागी,.... देखा! राग से भी ज्ञानी तो भिन्न है। पर से तो भिन्न

है। सम्यग्दृष्टि तो राग से भी भिन्न वैरागी है, ऐसा कहते हैं। पर का करना, वह तो उसे है नहीं, परन्तु राग जो आया, उससे भिन्न है धर्मी तो, ऐसा कहते हैं। मृदु, वैरागी और मृदु अंग है। कोमल है, ऐसा कहते हैं। दयालु। **मध्यम पुरुष नारीअरकीसी भांति लिये....** नारियल बाहर में कठोर होता है और अन्दर में कोमल। खोपरा कोमल होता है और काचली कठोर होती है। आहाहा! मध्यम पुरुष बाहर में कठोर जैसे लगे, परन्तु अन्दर में हो कोमलता। समझ में आया? **बाहिज कठिन होय कोमल तरंग है....** ऐसा है न? बाहर तो कड़क अभिमानी, अन्तर में कोमल रहे। ऐसी एक स्थिति होती है, ऐसा उसका वर्णन करते हैं। विशेष कहेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ९२, आषाढ़ शुक्ल ९, शुक्रवार, दिनांक ०२-०७-१९७१
बन्ध द्वार काव्य - १८, १९, २०

समयसार नाटक, बन्ध अधिकार। बनारसीदास चार प्रकार के पुरुषों का वर्णन करते हैं। एक उत्तम पुरुष, एक मध्यम, अधम और अधमाधम। चार का संक्षिप्त में स्वभाव लेकर एक के बाद एक का भिन्न चलेगा।

उत्तम पुरुष की दशा तो किसमिस / द्राक्ष जैसी है। अन्दर में भी वीतरागता है और बाह्य में भी शान्ति है। कषाय के वश नहीं। अन्तर भेदज्ञान है, तदुपरान्त कषाय की बहुत मन्दता है, उसे यहाँ उत्तम पुरुष कहते हैं। **बाहिज अभिअंतर विरागी...** वैरागी मृदु है—कोमल है। अन्तर में अकषायभाव बहुत है, इसलिए वह मृदु—कोमल है।

मध्यम पुरुष नारिअरकिसी भांति.... नारियल का गोला ऊपर बाहर काचली कठोर, परन्तु खोपरा पोचा होता है। इसी प्रकार मध्यम पुरुष है ज्ञानी। **बाहिज कठिन...** कषाय के वश (करने में) कितनी ही देरी होती है। **कोमल तरंग...** अन्दर में तो राग और पर से विरक्त है। राग की क्रिया से... शरीर की क्रिया तो जड़ ही है। परन्तु दया-दान के विकल्प के तरंग से भी वह भिन्न है। कोमल तरंग, ज्ञान की तरंग है। चैतन्य भगवान आत्मा राग के विकल्प से भिन्न है, ऐसी विरक्त दशा है। बाहर में जरा कषाय के भाग के आधीन है। ठग का दृष्टान्त देंगे, ठग का दृष्टान्त देंगे।

अधम पुरुष बदरीफल समान जाकै... बोर... बोर... बाहर से पोचा होता है और अन्दर की गुठली कठोर। इसी प्रकार कितने ही अज्ञानी बाहर में कषाय की मन्दता की क्रिया पुण्य की हो, अन्दर में राग की एकता की कठोरता है। समझ में आया? बदरीफल। **बाहिरसै दीखै नरमाई...** कषाय मन्द लगे, त्यागी दिखायी दे, परन्तु **दिल संग है...** हृदय में पत्थर जैसा है। आहाहा! संग अर्थात् पत्थर। राग और विकार की एकता में पत्थर जैसा है, कहते हैं। आहाहा! देखो, बन्ध अधिकार का वर्णन।

अधमसैं अधम पुरुष पूंगीफल समान... सुपारी... सुपारी... बाहर से भी कठोर और अन्दर से भी कठोर। **अंतरंग बाहिज कठोर सरवंग है...** अधमाधम। धर्मी जीव—ज्ञानी या सज्जन को देख सके नहीं। वह अशुभभाव की तीव्रतावाला लिया है। उसमें

दृष्टि मिथ्या है, परन्तु कुछ शुभ में बाह्य में कषाय मन्द है, ऐसा लिया है। पहले में तो अन्तर बाह्य, दोनों... कहते हैं अब देखो। **उत्तम पुरुषका स्वभाव...** धर्मी सम्यग्दृष्टि ज्ञानी और बाह्य में भी कषाय की बहुत मन्दता, उसकी व्याख्या करते हैं।

★ ★ ★

काव्य - १९

उत्तम पुरुष का स्वभाव (सवैया इकतीसा)

कीचसौ कनक जाकै नीचसौ नरेस पद,
मीचसी मिताई गरुवाई जाकै गारसी।
जहरसी जोग-जाति कहरसी करामाति,
हहरसी हौस पुदगल-छबि छारसी।।
जालसौ जग-विलास भालसौ भुवन वास,
कालसौ कुटुंब काज लोक-लाज लारसी।
सीठसौ सुजसु जानै बीठसौ वखत मानै,
ऐसी जाकी रीति ताहि वंदत बनारसी।।१९।।

शब्दार्थः-मीच=मृत्यु। मिताई=मित्रता। गरुवाई=बड़प्पन। गार (गाल)=गाली। जोग-जाति=योग की क्रियाएँ। कहर=दुःख। हहर=अनर्थ। हौस=हविस-महत्त्वाकांक्षा। पुद्गल-छवि=शरीर की कान्ति। छार=भस्म। भाल=वाणपर लगी हुई लोहे की नोंक। लार=मुख की राल। सीठ=नाक का मैल। बीठ=विष्टा। वखत=भाग्योदय।

अर्थः-कंचन को कीचड़ के समान, राज्यपद को नितान्त तुच्छ, लोगों की मित्रता को मृत्यु के समान, प्रशंसा को गाली के समान, योग की क्रियाओं को जहर के समान, मंत्रादि करामात को दुःख के समान, लौकिक उन्नति को अनर्थ के समान, शरीर की कान्ति को राख के समान, संसार की माया को जंजाल के समान, घर के निवास को बाण की नोंक के समान, कुटुम्ब के कार्य को काल के समान, लोकलाज को लार के समान, सुयश को नाक के मैल समान और भाग्योदय को विष्टा के समान

जानता है (वह उत्तम पुरुष है); उसे पण्डित बनारसीदासजी नमस्कार करते हैं।।१९।।

भावार्थ यह है कि ज्ञानी जीव सांसारिक अभ्युदय को एक आपत्ति ही समझते हैं।

काव्य-१९ पर प्रवचन

कीचसौ कनक जाकै नीचसौ नरेस पद,
मीचसी मिताई गरुवाई जाकै गारसी।
जहरसी जोग-जाति कहरसी करामाति,
हहरसी हौस पुदगल-छबि छारसी।।
जालसौ जग-विलास भालसौ भुवन वास,
कालसौ कुटुंब काज लोक-लाज लारसी।
सीठसौ सुजसु जानै बीठसौ वखत मानै,
ऐसी जाकी रीति ताहि वंदत बनारसी।।१९।।

उत्तम पुरुष—धर्मात्मा—सम्यग्दृष्टि—राग में, पुण्य में धर्म नहीं माननेवाले... समझ में आया? और अन्तर में राग से भिन्न पड़े हुए भेदज्ञानी जीव, **कीचसौं कनक जाकै...** स्वर्ण तो उन्हें कादव जैसा लगता है, कहते हैं।

मुमुक्षु : कादव लगे तो डाल दे।

पूज्य गुरुदेवश्री : डाल कौन दे, ले कौन? परचीज़ को डाले कौन और ले कौन? वह तो जड़ चीज़ है। उनकी दृष्टि में कादव जैसा सोना दिखता है। हीरा और माणेक हो घर में करोड़ों, (धर्मी के लिये) कादव है, मिट्टी है। आहाहा! यह समुच्चय बात है न यहाँ तो। समुच्चय बात है न! **कीचसौं कनक जाकै...** कनक शब्द से पूरी वस्तु सब—सोना, चाँदी, घर, मकान आदि, वह कादव जैसा लगता है।

राज्यपद को नितान्त तुच्छ—नीच, नीच। राज्यपद हो समकिती ज्ञानी को या राज्य छोड़ा हो, परन्तु उसे दुनिया का राज देखकर उसे हल्के में हल्की चीज़ में बैठा है, ऐसा उसे लगता है। वह मानो राज्य में ऊँचा बैठा है, ऐसा दूसरों को लगता है। ओहोहो! पाँच-पाँच करोड़ की आमदनी, पचास-पचास हाथी घर में झूले। यह कहे कि राज्य सो

नीच—तुच्छ, ऐसा। नितान्त तुच्छ अर्थात् हल्की चीज़, हल्की चीज़ है वह। आहाहा! आत्मा आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा है, उसका जहाँ अन्तर में भान वर्तता है और उसके अतिरिक्त विशेष कषाय की मन्दता है जिसे, बहुत कषाय घट गयी है। आहाहा! वह राज को नीच—हल्का पद, हल्का पद मानता है।

मीचसी मिताई.... दूसरे के साथ मैत्री करना, वह मृत्यु जैसा लगे। क्योंकि परद्रव्य का संग राग की उत्पत्ति करनेवाला है। आहाहा! समझ में आया? **लोगों की मित्रता...** भाई! उसे मित्र होना चाहिए, चलो। गृहस्थ व्यक्ति हो... मित्र और मित्रता... ऐसा है, ऐसा है। अरे, मित्रता तो मृत्यु जैसी है। वापस उसे बुलाना और उसे रखना और उसे सम्हालना। मृत्यु है। आहाहा! जलसा-बलसा उड़े वहाँ जाना पड़े। मित्रता बाँधे तब ऐसा हो। ऐ माणेकलालभाई! इसलिए दुनिया के साथ मैत्री बाँधना, उसे मृत्यु होने के बराबर दिखता है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! देखो तो सही! कितना वैराग्य है! दृष्टि में तो है। मेरे स्वद्रव्य के अतिरिक्त परद्रव्य का संग—मैत्री करना, वह मृत्यु जैसा लगता है, कहते हैं।

मित्रता को मृत्यु के समान,... लो। समकिती चक्रवर्ती को तो इन्द्र मित्र होते हैं। कहो है नहीं, है या नहीं? कहते हो, ऐसा नहीं, है। चक्रवर्ती, भरत चक्रवर्ती इत्यादि हीरा के सिंहासन पर बैठे हों। समकिती है, ज्ञानी है। अन्तर भान है कि यह राग और यह (मेरी) चीज़। एकावतारी इन्द्र साथ में बैठे सिंहासन में, उनके मित्र हैं। परन्तु अन्तर में विशेष कषाय की मन्दतावाले को मित्रपना तो मृत्यु जैसा दिखता है। अरे! यह तो संग सम्हालना पड़ेगा। इसे मित्र करें तो इसे बनाये रखना पड़ेगा, मृत्यु जैसा लगता है, कहते हैं। हिम्मतभाई!

यह थोड़े से अच्छे मित्र हों तो काम आवे अच्छे-बुरे में। सारे—नरसे अर्थात्? सारा अर्थात् विवाह-बिवाह हो, उसमें लोग इकट्ठे हों। नरसुं (बुरा) हो तो रोने में इकट्ठे हों। अकेले दो-चार व्यक्ति मित्र हों, उसकी अपेक्षा पचास-पच्चीस मित्र रखे हों तो श्मशान में अधिक आवे। पुत्र मर गया हो, पुत्री मर गयी हो तो शोभा तो दिखे। बड़ा झुण्ड निकले। हाँ, कितनों को ऐसा होता है। अपना लड़का मर गया। ५००-१०००-१५००-२००० श्मशान में। अपनी भी इज्जत ऐसी रहनी चाहिए कि बाद में कुछ पाँच-

पच्चीस हजार, पाँच-पच्चीस सौ भले परन्तु अधिक आना चाहिए। परन्तु किसके पास? ...सुन न अब! (वह) मुर्दा हो गया, अब क्या है तुझे? आहाहा!

गरुवाई जाकै गारसी... धर्मी पुरुष की बात है न।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : तो भी नहीं। यह तो पहले कहा न, परद्रव्य के संग में ही राग होता है। आत्मा अन्दर आनन्दस्वरूप, अतीन्द्रिय आनन्द का पिण्ड सागर आत्मा है। ऐसे अन्तर के अतीन्द्रिय आनन्द के स्वादिया ऐसे धर्मात्मा को जगत के प्राणी से मैत्री करना, वह तो मृत्यु जैसा लगता है। चिमनभाई! तुम्हारे जैसे बहुत मित्र खोजे। बड़बोले व्यक्ति हैं, यह वह सामने बैठे तो ठीक पड़े। बाबूभाई को सब सामने बहुत रखते हैं। यह प्रशंसा की बाबूभाई की कि कोई भी काम करना हो तो सौंपो, इन्हें सौंपा हो तो काम पार (पड़ जाता है)। ऐसा लिखा है बाबूभाई के लिये। बोलते बहुत हैं। बहुत मित्र होने जाये इनके। चिमनभाई! तुम्हारी अपेक्षा भी बहुत बोलते हैं। तुम्हारे मुम्बई में, उन्हें और यहाँ बढ़े। मित्र होने जाये सब।

पत्रिका में आया है। बाबूभाई को कोई भी काम सौंपा हो, कहना पड़े और उसे पैसे का काम सौंपा हो... क्या कहलाता है? यह बोली... बोली। ऐई! क्या कहलाता है? बोली, उछामणी। बोली कहने के पश्चात् महिमा करे। ऐसी महिमा करे। परन्तु यह भाव तो... लोगों के मन में... 'पाँच मिनिट में निपटाना है, शीघ्रता करो। बाहर (रथयात्रा) तैयार है। पाँच लाख में यह सब काम है, शीघ्रता करो, नहीं तो दे देंगे।' बोली में फट... फट दे देवे। ऐई! ऐसी छाप है उनकी उसमें, पूरे उत्तर (गुजरात में) बड़ी (छाप है)। वरना उम्र तो चालीस वर्ष है। बहुत छाप है बाहर में। व्याख्यान करने बैठे, लोग अधिक हों। दस हजार लोग इकट्ठे हों, दस-दस हजार। आज तो बाबूभाई का प्रवचन है, ऐसा कहे। ऐई! बहुत मित्र इकट्ठे हों, लो। बोलना न आवे, उसके पास कौन जाये? अब मित्र, कहते हैं कि गालियाँ हैं सब। यह गरवाई गालियाँ। बड़ा पद।

प्रशंसा को गाली के समान.... आहाहा! तुम तो बड़े, ओहोहो! हमारे संघ में तो तुम प्रमुख, तुम्हारे जैसा कोई नहीं, ऐसी बात करे, वहाँ वह फूल जाये। धर्मी कहते हैं

कि प्रशंसा, वह तो गाली है। मेरी प्रशंसा तुझे क्या खबर? आहाहा! अभिनन्दन की पूँछ दे और इतने बड़े। प्रसन्न... प्रसन्न हो जाये एक-दूसरे देनेवाले-लेनेवाले खचाखच राग में तुम्हारे... आहाहा! धर्मी, उत्तम पुरुष उस प्रशंसा को—महिमा को... महिमा लेना। महिमा को तो गाली समान मानता है। गाली है यह तो, कहे। आहाहा! जगत से उल्टा है न सब। दुनिया कुछ पड़ी है और वस्तु कहीं अलग है। अखण्ड आनन्द की मैत्री जिसे हुई है, आहाहा! उसे पर के साथ महिमा का क्या काम है? मैत्री का क्या काम है?

जहरसी जोग-जाती... कहते हैं, **योग की क्रियाओं को जहर के समान...** योग की क्रिया। ऐसे योग करे तो ऐसा होगा और ढींकणा करे तो ऐसा होगा। अब धूल में भी नहीं योग में, सुन न! और योग तो आत्मा के आनन्द के साथ जोड़ना, वह योग है। बाहर की ऐसी योगक्रिया करोगे तो निरोगता हो जायेगी, ऐसे योग साधोगे तो तुमको वचनसिद्धि होगी। आहाहा! ऐसी क्रिया को धर्मी तो कैसी मानता है? जहर जैसी मानता है, लो। आहाहा! अरे, शुभभाव को जहर जैसा मानता है तो फिर दूसरी (बात ही कहाँ है?) यहाँ तो ऐसा कहते हैं। है न योग की जाति, वह पुण्यपरिणाम शुभभाव हो, उसे धर्मी जहर मानता है। आहाहा!

जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, उसे भी धर्मी जहर मानता है। बापू! बात क्या है? यह राग है वह तो। जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, वह तो शुभराग है। धर्म से बन्धन होगा? तीर्थंकरप्रकृति, वह शुभभाव का कारण है। शुभभाव अर्थात् जहर-दुःख है। आहाहा! दुनिया तो ऐसे प्रसन्न-प्रसन्न हो जाती है, तीर्थंकर का नाम पड़े वहाँ। उत्तम पुरुष की दशा में शुभभाव तो जहर जैसा दिखायी देता है, ऐसा कहते हैं। है न? **योग की क्रियाओं को जहर के समान।** योग अर्थात् मन्त्र आदि करामात और रसायन आदि सिद्ध करना। ऐसा होगा तो लोहे का सोना होगा, उसका करूँगा तो ऐसा होगा। धूल भी नहीं उसमें, सुन न! ऐसी सब रसायन की प्राप्ति हो, वह तो सब क्रियाकाण्ड....

मंत्रादि करामात को दुःख के समान... लो। मन्त्र... मन्त्र... वह अभी आये थे। एक व्यक्ति ने कहा न अन्त में। नहीं वह मन्त्र लेकर? मोहनलाल बड़जात्या। उनका पुत्र फिर वहाँ जाये अरविन्द। उसके पास तीन करोड़ रुपये हैं। अरविन्द के पास जाये। जैन वस्तु क्या, वह सुनने को नहीं मिले। जैन में जन्मा और कहे, श्रद्धा नहीं। भान नहीं

होता। वह और कहे एक बार कि मैं तो कहे समकिती हूँ, महाराज, हों! मेरा पुत्र... अन्त में मन्त्र की पुस्तकें लेकर आये वहाँ गोदिका के घर में। इसमें यह मन्त्र है और इसमें यह मन्त्र है... मैं मन्त्र का कुछ जानता नहीं। आत्मा के मन्त्र के अतिरिक्त यह सब कुछ जानता नहीं। यही सीखनेयोग्य है कि देखो यह वाला मन्त्र। अब कहा, यह क्या तुम्हारी दृष्टि यह हुई? मैं तो तुमको मभम रखता था।

उसका पुत्र तीन करोड़ रुपये। उसका पिता। फिर वह अरविन्द में घुस गया। है न वहाँ अरविन्द, क्या कहलाता है वह? पोंडीचेरी। धूल में भी नहीं वहाँ। एक है बाई माताजी कहलाये। छह महीने में बोले और जवाब दे। ओहोहो! धूल भी नहीं, सब भ्रमणा है। वीतराग सर्वज्ञ मार्ग के अतिरिक्त सब भ्रमणा के मार्ग हैं। समझ में आया? धर्मी जीव करामाती को तो.... कैसा कहा? दुःख... दुःख... मन्त्र साधो और ऐसा करो और ऐसा करो। निरोग शरीर हो जायेगा, ऐसा करोगे तो ऐसा होगा और ऐसा करोगे तो.... अब धूल भी नहीं, सुन न! शरीर का तो साता का उदय होगा तो ऐसा रहेगा। तेरी करामात करने जा तो....

यहाँ एक व्यक्ति कहता था। हमारे गाँव में था नरसी। यहाँ एक कोई था मास्टर। आया तब हों, इतने में। वहाँ रहते थे... क्या कहलाता है? मेघ ब्रदर्स। सामने आगे रहता था एक। वह कहे, महाराज! मैंने बहुत मन्त्र साधे हैं। अब तो ऐसा लगता है कि ऐसे बैल को काटे। क्या किया गप्प मारी सब, कहा। क्या मन्त्र कहाँ थे? .... ऐसे के ऐसे। आये थे वे मास्टर यहाँ। अन्दर में ऐसा कि बैल को काटे ऐसी चोट लगती है। होगा ऐसा कुछ। गाँव का टेलर था एक नरसी टेलर। उसका यहाँ रिश्तेदार था, वह भी कुछ सीखा था। उसमें उसे कुछ रोग हो गया। ऐसे के ऐसे... मुफ्त में। ऐसा जाप करे तो ऐसा होता है, यह आहार ले तो ऐसा होता है। सब अज्ञानी की भ्रमणाएँ हैं। कहते हैं, ऐसे करामाती को तो दुःखरूप मानता है।

हहरसी हौस, लो। **लौकिक उन्नति को अनर्थ के समान...** ओहोहो! बापू! तुम्हारे आठ-आठ पुत्र, तीन-तीन स्त्रियाँ, अच्छे घर की बहुएँ लड़कों के घर में और ऐसे महान पाँच-दस लाख के, पूँजी पाँच-पचास लाख की। तुमने बहुत उन्नति की, हों! धूल भी नहीं उन्नति। अब वहाँ कहाँ धूल थी उन्नति? धर्मी जीव उत्तम पुरुष उन्नति को तो अनर्थ

समान मानता है। यह तो बहुत फेरफार है, दुनिया से बहुत अलग। उन्नति... लौकिक उन्नति की बात है न! पैसा, इज्जत, बुद्धि, ओहो! ऐसे लड़के का विवाह करे और पाँच-पाँच, दस-दस लाख के खर्च और बैण्डबाजा और वह क्या कहलाता है? चाँदी के उसमें डाले न ऐसे-ऐसे इत्र... क्या कहा जाता है उसे? इत्रदानी। इत्रदानी अर्थात् इत्र देनेवाली, ऐसा। वह चाँदी के होते हैं न, ऐसे छिड़के। आहाहा! क्या परन्तु तुमने क्या विवाह मनाया। मान को मनाया है, सुन न अब ....!

धर्मी को बाहर की उन्नति अनर्थ लगती है। कहो, हिम्मतभाई! क्या होगा यह ... ऐसा सब अन्तर? आहाहा! आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द की मूर्ति प्रभु, ऐसा जहाँ अन्तरभान है, उसे आनन्द की वृद्धि हो, वह उसकी उन्नति है। आहाहा! यहाँ कहते हैं न! देखो! तुम्हारे पिता कुछ छोड़कर नहीं गये थे और यह तुमने सब बाहुबल से इकट्ठा किया। बहुत उन्नति की। तुम उद्योगपति हुए। यह उद्योगपति पूरे हिन्दुस्तान में २५-५० अच्छे बड़े होंगे। उसमें तुम फलाने नम्बर पर आते हो, ऐसा कहे। ऐसा कहते हैं कि वे सब गिनतीवाले, हों! वह है न शान्तिलाल खुशाल। लोग कहते हैं, फलाना कितना नम्बर है। सब बड़े लोगों में फलाना नम्बर है। जहर के परखा में पहले नम्बर में है। वह कहे, दूसरे नम्बर में है। आहाहा! अरे प्रभु! तू आनन्द के धाम का तेरा स्वरूप प्रभु, उसका जिसे भान नहीं, वह सब बाहर की उन्नति को अर्थकारक मानते हैं। आहाहा!

पश्चात् **पुद्गल छवि छारसी...** इस शरीर की सुन्दरता कान्ति राख के समान है। आहाहा! राख के पिण्ड हैं यह सब। **पुद्गल छवि...** यह शरीर तो जड़ की छवि है। रूपवान हो या सुन्दर हो या यह हो, वह सब राख का पिण्ड है। आहाहा! कोई कहता था न कि फलाने का फोटो आया है। ऐसा कौन कोई कहता था। निहालभाई का दामाद, नहीं? अभी विवाह किया निहालभाई ने। कोई कहता था, छवि ऐसे राजकुमार जैसी है, राजा जैसी है। ऐसी मूँछें और.... कोई कहता था। वह याद नहीं आता। कोई कहता था, तुम्हारा लड़का कहता था? कोई कहता था। यहाँ याद किसे रहता है? बहुत लोग आते हैं।

उसमें होगा अपने विवाह हुआ न। छह लाख खर्च किये लड़की के विवाह में। चन्दुभाई के भाई की पुत्री। लो न, चन्दुभाई यह तुम्हारे ब्रह्मचारी। यह उनके भाई रहे।

उनके पिता यह। उनके बड़े भाई का पुत्र। छह लाख खर्च किये पुत्री के विवाह में। यह किसने इनकार किया। एक व्यक्ति कोई कहता था। अखबार में ऐसा आया है, ऐसी मूँछें। एक मूँछोंवाला नहीं था अपने वहाँ? जयपुर में। सामने बैठता था। ऐसे मूँछें रखी हुई। हाथ में लकड़ी, बैठता साथ में सुनने। सुनता। दिगम्बर है। ऐसी सब मूँछ और बाल किये हुए, ऐसे-वैसे। हाय... हाय! मुर्दे को शृंगारना है। आहाहा! **पुद्गल छवि छारसी...** कहो, पुद्गल की कान्ति, वह तो राख के समान है।

जालसौ जग विलास,... लो। **संसार की माया को जंजाल के समान...** है। आहाहा! आड़तिया बढ़े, दुकान बढ़ी, ऐसा हुआ। फलाना बढ़ा। जंजाल माया, जंजाल बढ़ी, जंजाल बढ़ी, ऐसा धर्मी मानता है। आहाहा! भाषण दे। आगे बढ़े हो न, पैसेवाले हुए हों। यहाँ दे... क्या कहलाता है वह? गुरुकुल में। बड़े-बड़े लोग हों न, भावनगर से आये हों। हम ऐसे बढ़े और हम ऐसे बढ़े, हम ऐसे बढ़े। वे भी आये थे भाई पट्टणी, प्रभाशंकर पट्टणी, भावनगर के दीवान आये थे न अपने व्याख्यान सुनने। व्याख्यान सुना, परन्तु वापस गड़बड़ करे सब। (संवत्) १९९३ में। श्रावण कृष्ण अमावस्या को आये थे गुरुकुल में। सब आये थे बड़े-बड़े अमलदार अधिकारी भावनगर के। हम ऐसे बढ़े थे। लड़के अकेले डांडिया लेकर नहीं बढ़ोगे। फलाना करके, ऐसा करके (बढ़ोगे) मारी (गप्प)... धूल भी बढ़े नहीं। कौन बढ़े, सुन न....! आहाहा!

परन्तु उसमें क्या हो गया? बड़े विष्टा के ढ़ेर पर बैठा। ऊँचा विष्टा का ढ़ेर करके बैठा, वह ऊँचा हुआ? कुत्ते को बैठावे... नहीं? नयी खाट बनावे न, नयी खाट काथी का और कुत्ते को बैठाया पहले। क्योंकि यदि हम बैठेंगे और मर जायेंगे तो? काथी है इसलिए। खाट कहलाये न.... हमारे गाँव में—उमराला में सब था। सर्वत्र था गाँव में। नयी काथी की खाट हो, तब पहले मनुष्य नहीं सोवे। बीच में रोटी डाले तो कुत्ता (खाने आवे)। ऐसे उस ओर रखे तो खा जाये, ऐसा भी नहीं। बीच में रखे तो कुत्ता अन्दर जाकर खाये। मध्य में जाकर खाये। बाद में ही खाट का प्रयोग हो। कहो, कुत्ता उससे बड़ा। मूर्खता के (गाँव) कहीं अलग होंगे? यह सब मूर्खों के गाँव सब ही। मोहनभाई! ऐसा है सब। आहाहा! बापू! तेरा स्वरूप चिदानन्द प्रभु है न, भाई! उसकी तुझे प्रतीति नहीं, उसका तुझे भरोसा नहीं, उसकी कीमत नहीं और इस जगत की चीज़ की कीमत

करने गया, हैरान हो गया तू। आहाहा! **कुटुम्ब के कार्य को काल के समान।**

घर के निवास को बाण की नोंक के समान,... लो। **भावसो भुवनवास....** हो न भाला, उसकी अणी हो न। यह घर में रहना, वह उसे अणी जैसा लगता है। बँगले बनाये हों पाँच-दस लाख के। भाई! उसका उत्साह है अन्दर, आहाहा! ४०-४० लाख के बँगले। लो, गोवा में है। शान्तिभाई को ४० लाख के। दो दस-दस लाख के थे, वे अब छोटे पड़े, इसलिए एक चालीस लाख का (बनाया) और वास्तु करे तब धामधूम लगे कैसा! श्मशान के लड्डू जैसा लगे या नहीं? ज्ञानी को, ऐसा कहता हूँ। अज्ञानी को तो मानो आहाहा! धूल में भी नहीं, सुन न! भगवान आत्मा में वास कर न, यह वास्तु है। यह वास्तु। आहाहा! **भावसो भुवनवास,** है न? यह घर में रहना... यह तो क्या कहलाता है? भाला। उस भाला की अणी। भाला की अणी के ऊपर रहना, वह (घर में) रहने (के समान है), ऐसा कहते हैं।

कालसौ कुटुंब-काज.... लो, ठीक। परिवार के कार्य को काल समान मानता है। आहाहा! कुटुम्ब-बुटुम्ब होता है, यह सब देखो न। ...है बाह्य, समकिती है, कषाय मन्द है... परिवार है आजू-बाजू है, परन्तु काल समान... परिवार के कार्य काल समान। आहाहा! इतना काम। लड़के का विवाह करना है और उसमें पाँच लाख खर्च करना है, पहरामणी करनी है, चाँदी के थाल में सवा सेर बर्फी जाति के पाँच सौ घरों में देनी है। यह परिवार का कार्य तुम्हें करना पड़ेगा। तुम गाँव में बड़े हो तुम घर में (बड़े हो)। आहाहा! धर्मी को तो काल जैसा लगता है।

हाँ, सामने बैठावे या नहीं तुमको—चिमनभाई को? चिमनभाई तुम बड़े हो, पड़ो इसमें। हाँ, परन्तु उसमें बड़े वे हैं। तीन भाईयों में बड़े वे हैं। उसे पूछकर करे न। भाई ऐसा ही कहे न! तुम ही करो, वापस ऐसा कहे। तुम ही करना, जाओ, मुझे पूछना नहीं। कनुभाई! ऐसा होता है न? ऐसा है। बुलावे, भाई को भाई बुलावे और फिर कहे, 'देखो भाई! यह काम तुम्हें सम्हालना है। मैं समझता नहीं, मुझे पूछना नहीं।' ठीक, भाई चलो। ऐ हिम्मतभाई! परन्तु छोटा भी कहे। अब तो बड़ा छोटे को कहे। छोटा होशियार हो, बड़ा उसे कहे, 'देखो भाई! यह काम तुम्हें सम्हालना है। मेरी बुद्धि बहुत पहुँचती नहीं।' धर्मी आत्मा के आनन्द का रसिया, उसे परिवार के काम काल जैसे

लगते हैं। आहाहा! पूरी बात बदल गयी है न! **कालसौ कुटुंब-काज....**

लोक-लाज लारसी... लोकलाज वह लार समान है। आहाहा! लार... लार... यह मुख की लार होती है न! तुम्हारी लाज बहुत बढ़ी, हों लोक में। लार बढ़ी है, धूल भी नहीं, सुन न! लोकलाज में आत्मा को क्या है? गिरवी रखी जाये ऐसी है? कि तुम्हारी बहुत इज्जत थी तो अब मरकर जाओगे तो अब गिरवी रखो इसे। यहाँ तो पूर्व के पुण्य का उदय हो तो मिले इसे। धर्मी को लोकलाज, आहाहा! लार के समान। मुख की लार... लार... लार लड़के-बालक ले, बड़े लें? छोटे बालक हों न, उसे लार निकले। वह वापस ग्रहण कर ले, छोटा लड़का हो न, ऐसे चूसे। बड़ा ले? इसी प्रकार अज्ञानी को लोकलाज अच्छी लगती है। तुम्हारी इज्जत बहुत बढ़ी, हों! ओहोहो! तुम्हारे पिता से भी सवाये जगे। और कोई कहे, वहाँ वह प्रसन्न-प्रसन्न हो जाये। मूर्ख है न, मूर्ख बड़ा। ऐ... परन्तु आत्मा के अन्दर भान बिना तेरे बाहर की (लोक) लाज कहाँ गिरवी रखी जाये ऐसी है? आहाहा!

मुमुक्षु : अकेली आकुलता।

पूज्य गुरुदेवश्री : अकेली दुःख है दुःख सब।

रामजीभाई की वकालत की इज्जत बहुत थी। लो, अभी बहुत है, कहते हैं। सलाह लेने आवे। 'सलाह कैसे दी? चलो। कैद में।' भाई चलो। महीने कैद में गये थे। .... अहमदाबादवाला वकील। रामजीभाई के समय में तो रामजीभाई की तूती बोलती थी। हमको भी कहते कि ऐसा करना, ऐसा करना, ऐसा करना। यहाँ आये थे, हों! फिर आ गये थे।... परन्तु बाहर की इज्जत क्या वहाँ गिरवी रखी जाये? अन्तर की इज्जत बढ़े अन्दर में चैतन्य शान्ति, आहाहा! यह तो सब आकुलता का कारण है। बड़ी डिग्री, गणाधिपति, आचार्य। पूँछ लगी है? भान तो नहीं अन्दर का तुझे?

सुयश को नाक के मैल समान,... लो। लोकलाज बहुत आयी। वह यश बढ़ा, यश। इज्जत बहुत आवे, उसे नाक के मैल समान जाने। नाक का मैल निकाल ही डालना पड़े ऐसा करके ऐसे। मैल को चूसता था हमारे... दृष्टान्त नहीं दिया था? हमारे गाँव में था सुन्दरजी भावसार। सुन्दरजी रूपा। भावसार स्थानकवासी जैन। यह तो सत्तर वर्ष पहले की बात है। १०-११ वर्ष की उम्र थी। सुन्दरजी रूपा। यह उन जीवाभाई का

मकान है न जीवाभाई.... अपने.... जीवाभाई के सामने। वह वहाँ ही रहता है। मकान था। सुन्दरजी, उसके पिता रूपा। सुन्दरजी रूपा। वह फुरसत में हो तो गूँगा निकालकर मुँह में ले दाँत में और जीभ उसे छुआवे। ऐ, परन्तु तू क्या करता है सुन्दरिया? 'भाई, मुझे आदत पड़ गयी है, हों!' ऐसा कहे। और आधा घण्टा हो कि जहाँ आड़ी-टेढ़ी नजर हो, वहाँ दूसरा निकाले। आहाहा!

यह तो नाक के स्वाद जैसा है, कहते हैं, दुनिया का यश। (यश) है दुनिया में। आहाहा! यश तो जानगरा, ऐसा दुनिया बोलती है। बोलती है या नहीं? यश तो जानगरा। जानगरा अर्थात् जीव को जान (प्राण) जाये परन्तु यश कहाँ से मिले? ऐसा कहते हैं। ऐई! सुना है या नहीं? यश तो जानगरा है। जानगरा का अर्थ कि जीव भले जाये परन्तु यश मिले कहीं से?

मुमुक्षु : यश तो रहेगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, ऐसा है। धूल में तेरे ढ़ेर रहेंगे, सुन न! आहाहा! **सुयश को नाक के मैल समान, बीठसौ वखत मानै...** अभी तो तुम्हारा समय है, भाई! लड़के कमाऊँ, लड़कियाँ अच्छे घर में विवाही, तुम्हारे आड़तिया भी बड़े, तुम्हारा समय है। भाई! अभी तुम्हारे भाग्य का उदय है। कहते हैं कि उसे विष्टा समान मानता है। धर्मी भाग्य के उदय को विष्टा समान मानता है।

यह विवाद उठता है न, उस पुण्य को विष्टा कहने में।

मुमुक्षु : काग वीट, कौवे की विष्टा।

पूज्य गुरुदेवश्री : काग वीट समान, यह तो कहा था न वह। सम्यग्दृष्टि जीव। 'चक्रवर्ती की सम्पदा, इन्द्र सरीखे भोग, कागवीट सम मानत है, सम्यग्दृष्टि लोग।' कौवे की विष्टा कुछ काम नहीं आती। ऐसी कौवे की विष्टा है। यह श्लोक है—इन्दौर में है। काँच के उसमें, काँच का मन्दिर है न बाजार में सेठ का, सर हुकमीचन्द का। काँच का मन्दिर, बड़ा दिगम्बर मन्दिर (उसमें लिखा है), कागवीट सम मानत है। धर्मी जीव अपने आनन्द के प्रेम में, आहाहा! भाग्योदय को—पुण्य के उदय को तो कौवे की विष्टा जैसा मानते हैं। आहाहा! है न अन्दर?

बीठसौ वखत मानै, ऐसी जाकी रीति ताहि वंदत बनारसी... आहाहा! ऐसी

जिसकी दशा, बनारसीदास कहते हैं, उसे मैं वन्दन करता हूँ। **भावार्थ यह है कि ज्ञानी जीव सांसारिक अभ्युदय को एक आपत्ति ही समझते हैं,...** लो। संक्षिप्त में कहा। धर्मी जीव आत्मा के आनन्द के अनुभवी, उसे धर्मी कहते हैं, उसे समकिती कहते हैं। आहाहा! वह ज्ञानी धर्मात्मा सांसारिक अभ्युदय—संसार की शोभायें—इज्जत, कीर्ति और पूजा आदि आपत्ति समझते हैं। आपत्ति है, भाई! आहाहा! दुनिया जिसे सम्पत्ति माने, उसे ज्ञानी आपत्ति मानता है। विचारभेद है। उसकी मान्यता में अन्तर है। अज्ञानी को, आत्मा क्या चीज़ है? आत्मा में क्या स्वभाव है? आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द की मूर्ति, उसकी खबर बिना बाहर का अभ्युदय अर्थात् बाहर की ऋद्धि। अभ्युदय—बाहर की ऋद्धि। 'ऋद्धि, सिद्धि, वृद्धि दिशै घट में प्रगट सदा' आता है न? धर्मी को तो ऋद्धि-सिद्धि आत्मा में दिखते है। बाहर में ऋद्धि, सिद्धि कहाँ धूल की थी? आहाहा!

छह खण्ड के राज (के स्वामी) भरत चक्रवर्ती भी भाग्योदय-पुण्य को विष्टा समान मानते है। आहाहा! अभी आया था न उसमें, नहीं? सन्मति सन्देश में। सर्वार्थसिद्धि का देव नहीं ऐसा बैठा है ऐसा? आया था या नहीं? मुख—मुख में। सर्वार्थसिद्धि का देव। मुनि थे आत्मध्यानी, ज्ञानी। परन्तु पुण्य रह गया, इसलिए स्वर्ग—सर्वार्थसिद्धि में जाना पड़ा। उसमें लिखा है ऐसा। 'अरे! मैंने पुण्य का अपराध किया, यह स्वर्ग में आना पड़ा। स्वर्ग की जेल में आना पड़ा।' 'इसकी अपेक्षा श्रावकपना अच्छा' और एक व्यक्ति कहे। यह किसने कहा तुझे? ऐसा कि श्रावक जो आत्मज्ञानी हो, उसे देवलोक में थोड़ी स्थिति आवे। और मुनि जो आत्मध्यानी-ज्ञानी हों, उन्हें स्वर्गलोक में दीर्घ स्थिति हो। परन्तु उससे क्या? वह तो बाहर की चीज़ है। जल्दी-देरी का प्रश्न कहाँ है? राग से भिन्न पड़कर मुक्तदशा देखी आत्मा की, मुक्त ही है सदा। आहाहा!

'**मुक्तएव**' आया था न सवेरे। नहीं आया था कलश में? '**मुक्तएव**' इस शरीर के रजकण तो जड़ हैं, इससे तू भिन्न-मुक्त है। भिन्न कहो, मुक्त कहो। और अन्दर दया, दान, व्रत के परिणाम राग आस्रव है, उससे आत्मा भिन्न है। भिन्न कहो या मुक्त कहो। ऐसा मुक्तस्वरूप भगवान आत्मा, उसका जहाँ अन्तर भान और राग की बहुत दशा घट गयी है, उसे यह संसारी शोभायें, संसारी पदवियाँ और संसारी के सब भाव आपत्ति समान दिखते हैं, लो। मध्यम पुरुष का स्वभाव अब। अब उससे कुछ एक हल्का। है ज्ञानी।

★ ★ ★

काव्य - २०

मध्यम पुरुष का स्वभाव (सवैया इकतीसा)

जैसैं कोऊ सुभट सुभाइ ठग-मूर खाइ,
चेरा भयौ ठगनीके घेरामैं रहतु है।
ठगौरी उतरि गइ तबै ताहि सुधि भई,
पर्यौ परवस नाना संकट सहतु है।।
तैसेही अनादिकौ मिथ्याती जीव जगतमैं,
डोलै आठौं जाम विसराम न गहतु है।
ग्यानकला भासी भयौ अंतर उदासी पै,
तथापि उदै व्याधिसौं समाधि न लहतु है।।२०।।

शब्दार्थ:-मूर=मूल या जड़ी। चेरा=चेला। जाम=पहर। विराम=चैन। व्याधि= आपत्ति। समाधि=स्थिरता।

अर्थ:-जैसे किसी सज्जन को कोई ठग ठगमूली खिला देवे तो वह मनुष्य ठगों का दास बन जाता है और उन ठगों की आज्ञा में चलता है। परन्तु जब उस बूटी का असर मिट जाता है और उसे होश आता है, तब ठगों को भला नहीं जानता हुआ भी उनके आधीन रहकर अनेक प्रकार के कष्ट सहता है। उसी प्रकार अनादि काल का मिथ्यात्वी जीव संसार में सदैव भटकता फिरता है और चैन नहीं पाता। परन्तु जब ज्ञानज्योति का विकास होता है, तब अन्तरंग में यद्यपि विरक्तभाव रहता है तो भी कर्म-उदय की प्रबलता के कारण शांति नहीं पाता। (ऐसा मध्यम पुरुष है)।।२०।।

काव्य-२० पर प्रवचन

जैसैं कोऊ सुभट सुभाइ ठग-मूर खाइ,
चेरा भयौ ठगनीके घेरामैं रहतु है।
ठगौरी उतरि गइ तबै ताहि सुधि भई,
पर्यौ परवस नाना संकट सहतु है।।

तैसेही अनादिकौ मिथ्याती जीव जगतमैं,
डोलै आठौं जाम विसराम न गहतु है।

चैतन्य भगवान राग रहित चीज़ जहाँ देखी और जानी, **ग्यानकला भासी भयौ अंतर उदासी पै, तथापि उदै व्याधिसौ समाधि न लहतु है।** आहाहा! परन्तु राग की ऐसी अस्थिरता है, इसलिए स्थिरता घटी नहीं, ऐसा कहते हैं। पहलेवाले को तो स्थिरता अधिक है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? व्याधि की तरह लगता है। क्या कहते हैं?

जैसे कोउ सुभट... किसी सज्जन को कोई ठग ठगमूली खिला देवे... यह मुम्बई में बहुत बनता है। कुछ दे, फिर उसे ही देखे। बस, उसी और उसी के पीछे जाये, जब तक वह नशा उतरे तब तक। बनता है न। लड़की का आया था न अखबार में? ऐसा तो... नहीं कहा था परन्तु दूसरे को कहता था। बाबा हो, सुँघावे, फिर ले जाये घर में, हाथ काट डाले, पैर काट डाले। माँगने के लिये नहीं करते कलकत्ता में? .... लोग देखे, इसलिए दया आवे, इसलिए (पैसा) दे। एक-एक गली में पचास-पचास रुपये। फिर उसमें हो सब पुलिस, उसके अमलदार, डॉक्टर सबका हिस्सा, भागीदार हो। पैसा बहुत कमाये।

किसी का लड़का लेकर सुँघाकर फिर पैर काट डाले, हाथ काट डाले। लकड़ी की छोटी गाड़ी हाँके सामने और पैसा दे, फिर बेचारा देखकर, आहाहा! ऐसा दुःख है। ऐसा खास करते हैं, हों! धन्धा है कलकत्ता में। आहाहा! लड़की का हुआ था न। माँ और बेटी साथ में रहते थे मुम्बई में। .... ले गये। घर जाकर आँखें फोड़ डाली। .... बारह महीने में लड़की की माँ ऐसे निकली। उसमें उसने उस बाई की आवाज सुनी लड़की की। 'अरे, यह तो मेरी लड़की।' .... आहाहा! ऐसी ठगमूली... ठगमूली समझे न, जड़ी-बूटी आदि होती है। ठगमूली हो न, जबरदस्ती खिलावे।

चेरा भयौ ठगनीके घेरामें रहतु है,... लो। चेरा अर्थात् चेला हो गया। यह बाबा बहुत करते हैं कितने ही तो। टोडा में रहते हैं, नहीं? टोडा में। भाई को खबर नहीं। लड़कों को ले गये टोडा में। वापस आया वह। घूमते-घूमते और कितने ही वर्ष में आया टोडा में। उसकी स्त्री-पुत्र.... उसे घर की खबर..... यह मेरा घर है, यह मेरे भाई

हैं। खबर पड़ी दूसरे को.... ... था टोडा का। उसे छोटी उम्र में ले गये। फिर उसे वहाँ बड़ा किया, विवाह किया.... भाईयों को खबर पड़ी इसलिए आये। चल न भाई वापस। अब मुझे क्या काम है? साठ वर्ष हुए। वहाँ स्त्री-पुत्र है।

सूँघाते हैं। यह रेल में होता है रेल में। सोया हो और सूँघा दे। कहते हैं कि **जैसे किसी सज्जन को कोई ठगमूली खिला देवे तो वह मनुष्य ठगों का दास बन जाता है।** ठग का दास होता है। आहाहा! **चेरा भयौ ठगनीके घेरामैं....** उसके घेरे में रहता है। **ठगौरी उतरी गई तबै ताहि सुधि भई...** यह तो दृष्टान्त है, हों! जहाँ उतर गया प्रेम, तब तक रहा। **पर्‍यौ परवस**। जाना कि अरे! मुझे यह ले गये थे... **नाना संकट सहतु है...** परवश करना पड़ता है। क्या करे? यह तो दृष्टान्त हुआ।

अब **तैसेही अनादिको मिथ्याती जीव जगतमैं...** भ्रमणा में ठगा गया है अनादि से। आहाहा! **अनादिको मिथ्याती जीव जगतमैं...** लो। **अनादि काल का मिथ्यात्वी जीव संसार में भटकता फिरता है।** मिथ्यात्वरूपी ठग ने उसे ठगा है। आहाहा! यह शरीर अच्छा है और शरीर मेरा है और पुण्य के भाव मेरे और पाप के भाव मेरे, और स्त्री मेरी, मकान मेरा और देश मेरा.... मिथ्यात्व से ठगा गया है। **डोलै आठौ जाम विसराम न गहतु है....** आठों याम अर्थात् रात और दिन। मिथ्यात्व में बस भ्रमणा... भ्रमणा... भ्रमणा... भ्रमणा... जहाँ-जहाँ आयुष्य रहे, वहाँ गाँव मेरा। हमारा जन्म गाँव? वह गाम कब तेरा था? सुन न ...! मेरे माँ-पिता, मेरा परिवार, यह मेरी स्त्री, यह मेरे पुत्र। मिथ्यात्व में अज्ञान में चैन नहीं पड़ता। विश्राम नहीं मिलता इसे।

ग्यानकला भासी.... वह ठग का दृष्टान्त दिया। **ग्यानकला भासी भयौ अंतर उदासी,...** भान हुआ कि अरे! मैं तो आत्मा हूँ। मैं तो ज्ञान और आनन्द का धाम आत्मा हूँ। ऐसे ठग की मिथ्यात्व की विद्या उतर गयी। तथापि **उदै व्याधिसौ समाधि न लहतुं है...** परन्तु उसे कर्म के उदय में जोर है अन्दर। अनुदय का जोर कहलाये न! उसमें जुड़ जाता है न! आहाहा! भेदज्ञान है। मध्यम पुरुष की बात है यह। राग और दया-दान के विकल्प से भी भिन्न। एक कहे कि छुट्टा, एक कहे कि मुक्त। ऐसा भान होने पर भी, उदय की व्याधि, लो। **कर्म—उदय की प्रबलता से कारण शांति नहीं पाता।** स्थिरता जो चाहिए, वह नहीं होती। पुरुषार्थ की कमी बहुत है, ऐसा कहते हैं। समाधि अन्तर

(में) चाहिए विशेष शान्ति, वह विशेष शान्ति पाता नहीं। ठग के उसमें रहना पड़ता है उसे। राग के वश कितनी ही परिणति है धर्मी को, उसे यहाँ मध्यम पुरुष कहा जाता है।

उसको (उत्तम पुरुष को) शान्ति अधिक थी। यह जरा कर्म के उदय के अन्दर परवश हो जाता है। अन्तर में उससे (राग से) भिन्न का भान होने पर भी पराधीन हो जाता है, उसे मध्यम पुरुष कहा जाता है। बन्ध अधिकार है न? अबन्ध के भाव में जुड़ता है, इससे प्रसन्नता है। ठग में... ठग की विद्या निकल गयी, परन्तु ठग में रहना पड़ता है, आस्रव में रहना पड़ता है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? पुण्य-पाप के भाव आस्रव हैं, उनसे भिन्न ज्ञानपना है। इतनी पुरुषार्थ की तीव्रता नहीं, इसलिए उसे पुण्य-पाप के आस्रव में रहना पड़ता है, अस्थिरता की अपेक्षा से। ऐसे तो पुण्य-पाप के राग से भिन्न ज्ञानकला भासी, ऐसा तो कहा। **भयौ अंतर उदासी...** अन्तर में तो राग के भाव से भी उदास है। यह नहीं, यह नहीं। आहाहा! वह अन्दर में उदय का भाग आवे, वह जुड़े परवश होकर, जिसके कारण स्थिरता, शान्ति नहीं, उसे यहाँ मध्यम पुरुष कहा जाता है।

अब अधमपुरुष। यह तो मिथ्यादृष्टि। ऐसे कषाय की मन्दता में, पुण्य में धर्म माननेवाला। दया, दान, व्रत, पूजा, भक्ति, वह हमारा धर्म, ऐसा अज्ञानी मानता है। वह अधमपुरुष है। मिथ्यादृष्टि अधम है। चौथे में फिर अधमा-अधम अकेला अशुभभाववाला लेंगे। मिथ्यादृष्टि तो है परन्तु अशुभभाव। यह मिथ्यादृष्टि है परन्तु जरा शुभभाव... मिथ्यात्व मान्यता। व्रत पालना, भक्ति करना, पूजा करना, दया-दान करना, बस, अपने को यह आवश्यक धर्म। देखो, अभी यह सब चलता है। यह चलता है या नहीं? अपने तो बस राग की मन्दता का भाव करे ने शुभभाव, बस है। यह पुण्यभाव है और इसे छोड़नेयोग्य है और धर्म दूसरी चीज़ है, ऐसी सिरपच्ची में कौन पड़े? सब चलता है या नहीं? विशेष आयेगा। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ९३, आषाढ़ शुक्ल १०, शनिवार, दिनांक ०३-०७-१९७१

बन्ध द्वार काव्य - २१ से २४

यह समयसार नाटक, बन्ध अधिकार। अधम पुरुष का स्वभाव। अधम पुरुष अर्थात् यहाँ मिथ्यादृष्टि कहा है। उसका स्वभाव कैसा है, यह कहते हैं।

★ ★ ★

काव्य - २१

अधम पुरुष का स्वभाव (सवैया इकतीसा)

जैसैं रंक पुरुषकैं भायैं कानी कौड़ी धन,
उलुवाके भायैं जैसैं संझा ही विहान है।
कूकरुके भायैं ज्यौं पिडोर जिरवानी मठा,
सुकरुके भाये ज्यौं पुरीष पकवान है।।
बायसके भायैं जैसैं नींबकी निंबोरी दाख,
बालकके भायैं दंत-कथा ज्यों पुरान है।
हिंसकके भायैं जैसैं हिंसामैं धरम तैसैं,
मूरखके भायैं सुभबंध निरवान है।।२१।।

शब्दार्थ:-रंक=गरीब। भावैं=प्रिय लगै। कानी=फूटी। उलुवा=उल्लू। विहान= सवेरा। कूकरु=कुत्ता। पिड़ोर=बमन। सूकरु=सूअर। पुरीष=विष्टा। बायस=कौवा। दंत-कथा=लौकिक वार्ता। निरवान=मोक्ष।

अर्थ:-जिस प्रकार गरीब मनुष्य को एक फूटी कौड़ी भी बड़ी सम्पत्ति के समान प्रिय लगती है, उल्लू को संध्या ही प्रभात के समान इष्ट होती है, कुत्ते को वमन ही दही के समान रुचिकर होता है, कौवे को नीम की निबोरी दाख के समान प्रिय होती है, बच्चे को लौकिक वार्ताएँ (गप्पें) ही शास्त्रवत् रोचक होती हैं, हिंसक मनुष्य को हिंसा ही में धर्म दिखता है; उसी प्रकार मूर्ख को पुण्यबंध ही मोक्ष के समान प्रिय लगता है (ऐसा अधम पुरुष होता है)।।२१।।

काव्य-२१ पर प्रवचन

जैसैं रंक पुरुषकैं भायैं कानी कौड़ी धन,
उलुवाके भायैं जैसैं संझा ही विहान है।
कूकरुके भायैं ज्यौं पिडोर जिरवानी मठा,
सुकरुके भाये ज्यौं पुरीष पकवान है।।
बायसके भायैं जैसैं नींबकी निंबोरी दाख,
बालकके भायैं दंत-कथा ज्यों पुरान है।
हिंसकके भायैं जैसैं हिंसामैं धरम तैसैं,
मूरखके भायैं सुभबंध निरवान है।।२१।।

देखो, यहाँ डाला है। क्या कहते हैं? रंक पुरुष को एक कौड़ी मिले कौड़ी। यह कौड़ी नहीं? तो वह मानो अपने महा (धनवान), ओहोहो! यह लड़के छोटे थे और कौड़ी खेलते थे। एक कौड़ी जीते तो ऐसे प्रसन्न-प्रसन्न हो जाये। कौड़ी होती है न, कौड़ी। उसमें वापस दाणी हो कुछ क्या कहलाता है वह? शीश डाला हुआ। सबको दे, वे फौजदार हों न। किसी लड़के को खबर होगी नहीं? वह कौड़ी... कौड़ी होती है न। यह तो फूटी कौड़ी वापस यहाँ तो लेना है, काणी कौड़ी। एक काणी कौड़ी मिले तो उसे ऐसा हो जाये, आहाहा! **रंक पुरुषकैं भायैं कानी कौड़ी धन,...** यह सब उपमा देते हैं, हों!

उलुवाके भायैं जैसैं संझा ही विहान है। उल्लू—घुवड, उल्लू। उसे शाम पड़े तो मानो सवेरा हुआ। उसे रात्रि में उड़ना हो, एक-दूसरे को जाना-आना हो।

मुमुक्षु : आँख खुले न!

पूज्य गुरुदेवश्री : आँख खुले। शाम पड़े तब उसे सवेरा हुआ। उल्लू होता है न उल्लू—घुवड़। वह होता है, वह क्या कहलाता है, उल्टा लटके? चमगादड़, चमगादड़ नहीं। बपैया। इतनी-इतनी बड़ी हमारे उमराला में बहुत होती है। बहुत बपैया होती है। बपैया-बपैया। बपैया बड़ी-बड़ी इतनी होती है। यहाँ मैंने तो हजारों देखी है न। वहाँ

अपने बहुत थी, नहीं ? मूड़बिद्री, आवास के पास। इतनी वृक्ष के ऊपर लटके ऐसे। उसे शाम पड़े तब सवेरा हुआ कहलाये, क्योंकि उसकी आँखें खुले, शाम पड़े और घूमे फिर। और बाजकोपल (पक्षी)। इन तीनों को—उल्लू, बपैया और बाजकोपल (जैसा पक्षी)।

जैसैं संझा ही विहान है। शाम पड़े तो मानो सवेरा हुआ। यह चोर को ऐसा होता है। रात्रि में चोरी करने जाना हो तो शाम पड़े.... ऐसे चोर हो कितने ही, फौजदार जिस पर वहम हो, उसे पकड़े। एक बजे हाजिर होना। रात्रि में हाजिर हो जाये, फिर जाये चोरी करने, फिर जाये। सवेरे हाजिर हो जाये गाँव में। हाँ, बहुत चोरी कर जाये। यह है न बहुत। रात पड़े ७ या ११ (बजे) फौजदार के पास जा आवे, 'मैं यहाँ हूँ।' वहाँ से जाकर चोरी करने जाये। ऐसे रात्रि हो तो मानो सवेरा हुआ। ऐसी उपमा देंगे यहाँ। इसी प्रकार अज्ञानी को यह पुण्य, दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा के भाव हों, वह बन्ध का कारण है। परन्तु अज्ञानी मोक्ष मानता है, ऐसा दृष्टान्त दिया है। समझ में आया ? दृष्टान्त तो समझाया है। ऐई, लड़कों ! समझ में आया या नहीं ? क्या कहा ? यह रंक को कौड़ी मिले तो मानो पैसे मिले, ऐसा माने, देखो !

इसी प्रकार अज्ञानी को यह पुण्यभाव करे कुछ दया का, व्रत का, भक्ति का, पूजा का और दान का, आहाहा ! हो गया (धर्म)। यहाँ तो शुभ बन्ध की बात। बन्ध अधिकार है न ! शुभभाव हुआ बन्ध, पुण्य हो तो निर्वाण हो जायेगा अपने, जाओ। मूर्ख है, कहते हैं। आहाहा ! देखो, यह बनारसीदास ने इस जैन सम्प्रदाय में रहे होने पर भी (जो) मिथ्यादृष्टि मूढ़ हैं, वे शुभभाव में बन्ध है, उसे धर्म और निर्वाण मानते हैं।

मुमुक्षु : बन्ध को मोक्ष मानते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो मोक्ष का ही कारण है, यह कहते हैं हमारे। पुण्य है, फिर यह वैकुण्ठ, स्वर्ग में जाऊँगा और वहाँ से भगवान के पास जाऊँगा और वहाँ से मोक्ष होगा। धूल भी नहीं होगा, सुन न ! समझ में आया ?

उलुवाके भायैं जैसैं संझा ही विहान है। कूकरुके भायैं ज्यौं पिडोर जिरवानी मठा,... यह कुत्ते को मनुष्य का वमन, वमन है न, ऐसा दही जैसा लगे। दही की भाँति चाटे। श्रीखण्ड खाये न श्रीखण्ड लोग। ऐसा वह वमन। मनुष्य को एकसाथ वमन हो

जाये, उसे—वमन को कुत्ता चाटता है। इसी प्रकार अज्ञानी, यह तो सब उपमा वहाँ दी हुई है। वे दो तो ज्ञानी थे। अज्ञानी भी व्रत पाले, अपवास करे, समझ में आया? पूजा, भक्ति करे और यह अष्टाह्निका मनावे। ऐई! उसमें पुण्य हो और माने धर्म, ऐसा कहते हैं। कहो, समझ में आया? कहो, चिमनभाई! मूढ़ जीव शुभ बन्ध का कारण, उसे मोक्ष का कारण मानता है।

सुकरुके भायैं ज्यौं पुरीष पकवान है। और सुअर को विष्टा, वह पकवान। सुअर-सुअर, भूंड-भूंड, मनुष्य की विष्टा खाये, बहुत चाटे। धोलेरा में सुअर बहुत धोलेरा में। चारों ओर सुअर विष्टा चारों ओर घूमा ही करता हो। एक बार वहाँ गये थे। अभी भी सुअर थे कहीं, नहीं? जयपुर में सुअर बहुत, जयपुर में भी थे। जहाँ-तहाँ विष्टा हो चाटा ही करे। समझ में आया? सुअर को तो वह विष्टा, (मानो) वह पकवान है। मानो गर्म लसलसता हलुआ मिला उसे, ऐसा। उसने अर्थ कुछ दूसरा किया था, '**जिरवानी**' का अर्थ। यह जिरवानी शब्द है न! जिरवानी—मठ्ठा, ऐसा कुछ दूसरा किया था उसमें कुछ। परन्तु ऐसा मतलब दही या ऐसा हो न, चाटे। आहाहा!

इसी प्रकार अज्ञानी व्रत, नियम, तप के परिणाम शुभ हैं, उन्हें वह अज्ञानी धर्म मानता है और मुक्ति का कारण मानता है। आहाहा! गुणवन्तभाई! यह सब यही चलता है अभी तो। कहो, समझते हैं या नहीं? है उसमें अन्दर लिखा है? देखो, शुभभाव को निर्वाण माने तो मूढ़ है, अधम है, ऐसा कहते हैं। अपवास किये, तपस्यायें कीं और उसमें पुण्य बँधा, धूल भी धर्म नहीं। वहाँ कहाँ धर्म था ऐसे में? धर्म तो राग से भिन्न पड़कर आत्मा का आश्रय लेकर पवित्रता प्रगट की, वह धर्म है। अरे, गजब बातें! समझ में आया?

देखो न, वहाँ गये थे न उस आदर्शनगर। पहले गये थे। तीन से चार व्याख्यान था। रविवार का दिन था। लोग बहुत थे। पाँच-छह हजार लोग थे। उसमें वे लोग भक्ति करते, सब पूरा मण्डल, हों! परन्तु उछल-उछलकर लड़के छोटे-छोटे बड़े-बड़े कूदे मानो अन्दर में। मानो क्या होगा ऐसा? मैं भी बैठा तो था। लिखा था, महाराज की उपस्थिति में ऐसी भक्ति हुई। परन्तु जल्दी वहाँ जाना पड़े न। ऐसे ३ से ४ (बजे) व्याख्यान था। तुम थे? नहीं थे, कहाँ गये थे तब? बस उस दिन। अपने में यह बात हुई

थी। जल्दी किसलिए जाये? वह कमरा मिले, जगह मिले। महिलाओं में भी ऐसा सीखी हैं महिलायें। पहले साथ में जाते, साथ में घूमते। क्या कहलाता है? यात्रा में। पहले कमरा ले लेवे और ताला लगा दे अर्थात् दूसरे का हक नहीं। यह यात्रा करने निकले हैं। कुछ ठिकाना नहीं होता, परिणाम का ठिकाना नहीं होता।

ऐई! उसके कमरा ले लेवे। और आये थे अपने साथ थे एक-दो व्यक्ति। एक गुजर गये और एक है यहाँ। नाम नहीं दिया जाता। वे साथ में जाये पहले-पहले। घोड़ागाड़ी लेकर जाये और फिर जगह रोक ले। ऐसे लोग साथ में बहुत थे न तब यात्रा में ५००-१००० लोग तब थे। सुदर्शन सेठ पटना, पटना क्या कहलाता है? पटना में गये थे न तब ५०० लोग साथ में और ५०० स्पेशल आये थे। एक हजार लोग आये थे। (संवत्) २०१३ के वर्ष में। इसलिए वे सामने जा-जाकर जगह रोक ले। यह यात्रा करने निकले। कुछ विवेक-भान नहीं होता। समझ में आया? यह मानो इसमें से मुक्ति होगी।

कितने ही तो भगवान के पहले दर्शन दौड़कर करें तो अपनी मुक्ति शीघ्र होगी। शीघ्र उठकर ऐसे कि चरणों के दर्शन करें, पहले दर्शन करें। स्वामीनारायण में पहले उठकर पानी को जगावे। जगावे अर्थात् नहाये, ऐसा। पड़ा हो न पानी। गढडा में ऐसा था। हमने सब देखा हुआ है। गढडा में चातुर्मास था और पहले उठकर नहा ले। पानी पड़ा हो और जगाये, बहुत धर्म होता है। धूल भी नहीं, सुन न ....! आहाहा! अज्ञानी इस पुण्य की क्रिया में मोक्ष मानता है। बन्ध को मोक्ष मानता है, ऐसा यहाँ लेना है न यहाँ तो। बन्ध अधिकार है। आहाहा! उसे आत्मा का धर्म क्या है? कैसे होता है? वीतराग क्या कहते हैं? इसकी खबर नहीं।

बायसके भायैं जैसैं नींबकी निंबोरी दाख,... यह कौवे को तो मानो वह निंबोली मिले। क्या कहलाती है? यह निंबोली, निंबोली, मीठी द्राक्ष जैसी लगे। द्राक्ष.... निंबोली उसे द्राक्ष। अपना यह नीम है न, यह देखो, इसकी मीठी नीम बहुत होती है। क्या कहलाती है? निंबोली। यह नीम है न। तपसी का पुत्र था। पुत्र का पुत्र, वह कहता है, यह तपसी! कहाँ सुनता है? एक लड़का था न प्रभुभाई का? वह कहे, गजब मीठी द्राक्ष जैसी है, कहे। कल एक कहता था। हसमुखभाई है न। शशी तोड़कर खाता था। महिलायें कहे, भारी मीठी यहाँ की नीम। कौवे को निंबोली द्राक्ष जैसी लगती है। चाहे

जैसी मीठी, परन्तु निंबोली न? वह कहीं द्राक्ष है? आहाहा!

इसी प्रकार अज्ञानी को व्रत, नियम, तप, भक्ति और पूजा के भाव—यह सब शुभ बन्ध का कारण है, उसे वह निर्वाण का कारण मानता है। भारी कठिन काम, भाई! ऐई! सम्मेदशिखर के पहले चरण के दर्शन करे, उसे धर्म का बहुत लाभ होता है। ऐसा होगा? ऐई, वजुभाई! तो किसलिए जाना परन्तु मुफ्त में?

मुमुक्षु : आप ले गये थे।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो ऐसा बहुमान का भाव होता है, इतना। परन्तु वह है शुभभाव। वह शुभभाव तो भक्ति का शुभभाव है। यह श्रवण का शुभभाव नहीं यह? सुनने में क्या है? शुभभाव है। धर्म है यह? वाँचन देना, वाँचन, वह भी शुभभाव है, विकल्प है। होता है, यह अलग बात है और वह धर्म का कारण और उससे धर्म होता है, यह बात अलग है। आहाहा! समझ में आया?

जोर ही दे देवे सब। कौन जाने ऐसा.... करते थे, मानो क्या होगा? कहा, परन्तु क्या है इसमें? भक्ति भगवान की मानो, भगवान दे देवे, ऐसा नहीं कुछ। तेरा भाव हो शुभ, उसका पुण्य बँधे। यहाँ गाये न यह शत्रुंजय। भक्ति करे, गाते हैं न, सुना है न? 'शिवपद हमको देना रे महाराज, शिवपद हमको देना।' भगवान कहते हैं, तेरा शिवपद मेरे पास नहीं, ले।

मुमुक्षु : बोलते हैं परन्तु जवाब नहीं देते।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसका अर्थ ही कि यहाँ बोलते हैं और जवाब नहीं देते। इसका अर्थ कि तेरे पास है, हमारे पास मुफ्त का क्या करने आया है? वाह अरे, अरे! गजब! ऐ हिम्मतभाई! क्या करना इसमें? आवे, करे और कहे, यह बन्ध का कारण है और मोक्ष का कारण तथा धर्म नहीं।

मुमुक्षु : ....छोड़ देते होंगे तो....

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु छोड़ना, इसकी व्याख्या क्या? पहले दृष्टि में छोड़े, तब छोड़ा कहलाये। यह विकल्प टले, यह तो शुद्ध उपयोग हो, तब जाये। आहाहा! कहते हैं, कौवे को तो निंबोली द्राक्ष जैसी लगे, द्राक्ष-द्राक्ष। इसी प्रकार अज्ञानी को शुभभाव

मुक्ति का कारण और मोक्ष लगता है। यह तो समझने जैसी बात है। बराबर दृष्टान्त दिये हैं। लड़कों को समझ में आये ऐसे हैं। **बालकके भायैं दंत-कथा ज्यों पुरान है।** बालक को तो पुराण—भगवान की कथा हो, त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव यहाँ जन्मे, मोक्ष पाये, यह बड़ी महापुराण कथा। बालक को तो एक चिड़िया लायी चावल का दाना और चिड़ा लाया खिचड़ी और मूँग का दाना। उसकी बनायी खिचड़ी, फिर उसे कुम्हार को दिया और उसने दिया फलाना-ढींकणा। ऐई! लम्बी-लम्बी बात नहीं? यह दन्तकथा, इसे वह पुराण मानता है। मानो भगवान की बात होगी यह, ऐसा। समझ में आया? गप्पगोला हो, ऐसा शब्द है कहीं। गप्प, लिखा है और यह लिखा है, देखो, **बच्चे को लौकिक वार्ताएँ (गप्पें) ही शास्त्रवत रोचक होती है।** पुराण शब्द से शास्त्र जैसी बात, ऐसा। ऐसा अर्थ किया, इन्होंने पुराण का अर्थ।

हिंसकके भायैं जैसैं हिंसामैं धरम.... हिंसक प्राणी को तो प्राणी एकेन्द्रियादि मरे, पंचेन्द्रिय मरे, जंगल में बकरा मारे और हो धर्म। मूढ़ है, कहते हैं ....। आहाहा! **हिंसकके भायैं जैसैं हिंसामैं धरम तैसैं, मूरखके भायैं सुभबंध निरवान है।** यह मूर्ख को तो इस पुण्य परिणाम में जिसे मुक्ति मानता है। आहाहा! गजब बात की है। यह सब दृष्टान्त तो पढ़े। एक रंक पुरुष का कौड़ी का, उल्लू का सवेरे का, कुत्ते का वमन का, है न? और सुअर को विष्टा का, कौवे को द्राक्ष का, बालक को दन्तकथा का, यह हिंसक को हिंसा धर्म में।

इसी प्रकार **मूरखके भायैं सुभबंध निरवान है।** मूर्ख मिथ्यादृष्टि मूढ़ जीव, यह पुण्य परिणाम करे, उसे ऐसा लगता है कि आहाहा! हमको तो कोई मोक्ष हो गया। एक बार यात्रा कर आयें, आषाढ़ शुक्ल पूनम की, कार्तिक पूनम की, भगवान को खबर। पूर्व में ९९ बार भगवान ऋषभदेव यहाँ आये थे। एक बार जा आयें तो अपना कल्याण हो जायेगा। धूल भी नहीं होगा, सुन न अब! ऐई! अरे, गजब! सिद्धगिरि... सिद्धगिरि हो गयी। सिद्धगिरि नहीं, उस काशी में करवत ले, वैसे यहाँ सिद्धगिरि में मरे तो समाधिमरण हो। मूर्ख है, कहते हैं ....! वहाँ पत्थर का पथ, वह तो पत्थर है। और भगवान की मूर्ति, वह भी पत्थर है। आकर्षण किसे था? वह तो शुभभाव में निमित्त है। शुभभाव करे पुण्य का, उसे वह निमित्त कहा जाता है। उससे कुछ शुभ होता नहीं।

भाई ने कहा नहीं, मोक्षमार्गप्रकाशक में? ऐ, तुम बहुत भक्ति में पड़े रहोगे, होगा तो तुम्हारे परिणाम का फल, उसमें कहीं भगवान कुछ दे नहीं देते। इसकी अपेक्षा चरणानुयोग या उसके विचार में रहे तो परिणाम बहुत शुभ होंगे। परन्तु यह उसे बैठता नहीं। परन्तु वहाँ रुके तो शुभभाव तो होगा, शुद्ध भले न आवे। क्या कहते हैं यह? समझ में आया? यह ऐसा शल्य होता है जैन में रहे हुए को। वह यहाँ बात करते हैं। भाव हो, वह नामस्मरण का, स्वाध्याय करने का, वाँचन का भाव तो हो। परन्तु उस भाव में... अपने स्वाध्याय... अभी आया था। कोई कहता था। निर्जरा होती है, कहे। किसी ने लिखा था। उपदेश करने से निर्जरा होती है। आया अवश्य था... निर्जरा होती है। कुछ था सही। निर्जरा होती है। धूल भी निर्जरा नहीं। निर्दोष आहार खाये तो निर्जरा होती है, फलाना हो तो निर्जरा होती है। धूल भी निर्जरा नहीं होती। ऐसी की ऐसी विपरीतता घुस गयी है न!

मुमुक्षु : शास्त्र में आवे।

पूज्य गुरुदेवश्री : आवे, किस अपेक्षा से आवे? वह तो अन्दर स्व का लक्ष्य है और शुभ विकल्प परसन्मुख का है। उस समय स्व के लक्ष्य का जितना जोर है, उतनी निर्जरा होती है, ऐसी बात है। पर के लक्ष्य से विकल्प, उसमें से निर्जरा कैसे होती थी? आहाहा! कहो, समझ में आया इसमें?

सुभबंध निरवान... बस, लो। आहाहा! निर्जरा कहो, धर्म कहो, निर्वाण कहो, सब एक ही है न! धूल भी नहीं संवर, निर्जरा। ऐसा करे तो ऐसा हो, ढींकणा करे तो ऐसा हो, अपवास करे तो निर्जरा हो। मानते हैं न यह लोग अठ्ठम। अठ्ठम किया हो, उसमें यदि पोरशी चढ़ावे, पच्चीस अपवास का फल मिले। आता नहीं? सुना है या नहीं? धूल भी नहीं, सुन न ...! वह तो राग की मन्दता का शुभभाव यदि किया हो तो पुण्य है। आत्मा का स्वभाव क्या है, उसका आश्रय किया नहीं और पर के आश्रय से धरम-बरम होता नहीं। एक श्लोक कहा, लो। **ऐसा अधम पुरुष होता है,...** लो। **मूर्ख को पुण्यबन्ध ही मोक्ष के समान प्रिय लगता है।** अज्ञानी को पुण्य का बन्ध तो मानो मोक्ष जैसा लगता है। आहाहा! ऐसे हैं मूर्ख, कहते हैं ....!

मोक्ष का कारण धर्म तो कोई राग और विकल्प से भिन्न पड़कर चैतन्यस्वरूप

का, आनन्द का स्वाद लेकर भान हो और प्रतीति हो, उसे धर्म कहते हैं। यह धर्म कहीं बाहर से होता होगा? शत्रुंजय से और सम्मेदशिखर से? समझ में आया? तथापि वह भाव होता अवश्य है भक्तिवन्त को होता है, अशुभ से बचने के लिये और उस काल में उस प्रकार का ही भाव होता है। शुभभाव के असंख्य प्रकार हैं। उस धर्मी जीव को भी आत्मा के आश्रय से लाभ होता है, ऐसी मान्यता होने पर भी, पूर्ण वीतराग नहीं, उसे ऐसा शुभभाव आता है। परन्तु वह मानता है कि यह शुभभाव बन्ध का कारण है। आहाहा! कहो, समझ में आया? अज्ञानी उसे धर्म—मोक्ष का कारण मानता है, बस इतना अन्तर है। दृष्टि में बड़ी विपरीतता। इसलिए उसे यहाँ मूर्ख कहा है। **मूरखके भायैं सुभबंध निरवान है,...**

लो। अब, अधमाअधम पुरुष। अब मिथ्यादृष्टि तो है, परन्तु द्वेषी—सत् का द्वेषी, असज्जन। यह तो उसकी मान्यता में अन्तर है। यह तो जिसे सज्जनता भी नहीं। **अधमाधम पुरुष का स्वभाव।**

★ ★ ★

काव्य - २२

अधमाधम पुरुष का स्वभाव (सवैया इकतीसा)

कुंजरकौं देखि जैसैं रोस करि भूंसै स्वान,
रोस करै निर्धन विलोकि धनवंतकौं।
रैनके जगैय्याकौं विलोकि चोर रोस करै,
मिथ्यामती रोस करै सुनत सिद्धंतकौं।।
हंसकौं विलोकि जैसैं काग मन रोस करै,
अभिमानी रोस करै देखत महंतकौं।
सुकविकौं देखि ज्यौं कुकवि मन रोस करै,
त्यौं ही दुरजन रोस करै देखि संतकौं।।२२।।

शब्दार्थः-कुंजर=हाथी। रोष (रोष)=गुस्सा। स्वान=कुत्ता। विलोकि=देखकर।

काग=कौआ। दुरजन=अधम से भी अधम।

अर्थ:-जिस प्रकार कुत्ता हाथी को देखने पर क्रोधित होकर भोंकता है, धनाढ्य पुरुष को देखकर निर्धन मनुष्य क्रोधित होता है, रात में जागनेवाले को देखकर चोर क्रोधित होता है, सच्चा शास्त्र सुनकर मिथ्यात्वी जीव क्रोधित होता है, हंस को देखकर कौवा क्रोधित होता है, महापुरुष को देखकर घमण्डी मनुष्य क्रोध करता है, सुकवि को देखकर कुकवि के मन में क्रोध आता है; उसी प्रकार सत्पुरुष को देखकर अधमाधम पुरुष क्रोधित होता है।।२२।।

काव्य-२२ पर प्रवचन

कुंजरकौं देखि जैसैं रोस करि भूंसै स्वान,
रोस करै निर्धन विलोकि धनवंतकौं।
रैनके जगैय्याकौं विलोकि चोर रोस करै,
मिथ्यामती रोस करै सुनत सिद्धंतकौं।।
हंसकौं विलोकि जैसैं काग मन रोस करै,
अभिमानी रोस करै देखत महंतकौं।
सुकविकौं देखि ज्यौं कुकवि मन रोस करै,
त्यौं ही दुरजन रोस करै देखि संतकौं।।२२।।

योगफल यहाँ है। आहाहा! **कुंजरकौ देखि,...** हाथी को देखकर कुत्ता भौंकता है। हाथी जाता हो न हाथी, (कुत्ते से) सहन नहीं होता। ओय...! यह इतना बड़ा यह। हाथी को देखकर, कुंजर को देखकर, कुंजर अर्थात् हाथी। **रोस करि भूसैं श्वान।** वह कुत्ता भौंकता है पीछे। उसे—हाथी को कुछ खबर नहीं और हो तो भी उसके सामने देखता नहीं। परन्तु यह ... सहन नहीं होता इसे। इतना बड़ा हाथी और ओहोहो! उस पर राजा बैठे। लो, कुत्ता भौंकता है। ऐसा उसका स्वभाव है। इसी प्रकार दुर्जन का स्वभाव धर्मी—सन्त-ज्ञानी अपने से अधिक लगे, दूसरे को मान मिले, उसे देखकर रोष करता है, द्वेष करता है। समझ में आया?

रोस करै निर्धन विलोकी धनवंतकौ। पैसेदार को देखकर गरीब व्यक्ति रोष करता है। यह सब पैसेवाले हो गये, फलाना हो गया। एक गाँव में हम थे, उसके परिवार में सब करोड़पति थे। यह स्वयं साधारण व्यक्ति। फिर घर में आकर ऐं... ऐं... किया करता दबकर। यह ऐसा है, है ऐसा है, है ऐसा है। सहन नहीं होता। एक परिवार के मनुष्य। ब्राह्मण थे। दूसरे करोड़पति थे और स्वयं साधारण। उसके साथ कुछ मिलान नहीं खाया हो वहाँ से। वह आकर उसके घर के पास... भाई! तुझे सहन नहीं होता तेरे परिवार का सुल्टा। आहाहा!

रोस करै निर्धन विलोकी धनवंतकौ। रैन के जगैय्याकौ विलोकि चोर रोष करै। रात्रि में व्यक्ति जगे, चोर उसके ऊपर द्वेष करता है। यह जगता है, हमारे घुसना कैसे इसमें? चोरी कैसे करना? कुलबुलाता हो, जागता हो, बोलता हो, चोर लोग रोष—द्वेष करे, द्वेष करे। सब दृष्टान्त ठीक रचे हैं। **मिथ्यामती रोस करै सुनत सिद्धंतकौ।** सच्चे सिद्धान्त। राग से धर्म नहीं होता, स्वभाव से धर्म होता है। ऐसे सिद्धान्त जो सत्य हैं, उसे सुनकर वह (रोष करे)। ऐसे धर्म की बातें करते हैं...। व्यवहार का तो लोप हो जाता है, ऐसा करके रोष करे बाहर आकर। अधमाअधम, यह तो कहा न मिथ्यादृष्टि है और द्वेष करता है। यह तो बात आयी चार प्रकार से इसे। पहले से चार किये। कहो, समझ में आया?

मिथ्यामती रोस करै सुनत सिद्धंतकौ,... लो। सच्चे शास्त्र सुनकर... सत्य सिद्धान्त सुनाई दे कि ऐसा हाय... हाय? ऐसी बात हो यह तो विनाश कर डालते हैं। व्यवहार का तो (खो कर डालते हैं)। व्यवहार से धर्म होता नहीं, निश्चय से धर्म होता है। कहे, निश्चय के करनेवाले कितने होते हैं? व्यवहार से धर्म होता है। यह कहते हैं कि समकित ऐसा होता है। समकित-बमकित अभी होता नहीं। अभी तो यह होता है, बस, ऐसा कहता है। अभी तो व्रत पालना, अपवास करना, तप करना और मरकर सूखना, वह धर्म। और यह समकित की बड़ी बातें करे कि समकित ऐसा होता है। यह तो पुण्य और पाप के राग से भिन्न एक समय की पर्याय का भी जहाँ आदर नहीं। ऐसा परमात्मा अपना निज स्वभाव, उसकी दृष्टि होने पर, उसका आश्रय करने से समकित होता है, यह धर्म है। इसके अतिरिक्त ऐसे बाहर के आश्रय से धर्म नहीं। पुस्तक लेकर, लो।

किसकी है? ऐई, लड़कों! ले लो, किसकी है? यहाँ अभी पढ़ने का हो या सुनने का हो? कहो, समझ में आया? क्या कहा?

मिथ्यामती रोस करै सुनत सिद्धंतकौ,... सच्चे सिद्धान्त सुनने पर....

मुमुक्षु : व्यवहार का लोप हो जाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : पुण्य से तीन काल में धर्म नहीं होता। व्रत, नियम, भक्ति, पूजा और सम्मेदशिखर की यात्रा, उससे धर्म नहीं होता। हाय-हाय! यह तो ... कुकर्म करते हैं। समझ में आया? ऐसे सत्य सिद्धान्त सुनकर द्वेष करे। नहीं, ऐसा नहीं होता। अपने तो व्यवहार करना, निभाना और आत्मा का कल्याण करना, इसका नाम भगवान का धर्म है। भगवान का अनेकान्त धर्म है। अकेला एकान्त निश्चय—आत्मा के आश्रय से धर्म होता है, आत्मा के आश्रय से धर्म होता है। यह अकेला शून्य है। पर के आश्रय से धर्म तीन काल में नहीं होता। तीन लोक के नाथ साक्षात् तीर्थंकर समवसरण में विराजते हों। यह उनकी भक्ति करे तो भी शुभभाव है। समझ में आया? होवे, वह अलग बात है, परन्तु उससे धर्म होता है, इस बात में एक प्रतिशत भी सत्यता नहीं है। अरे, अरे! भारी कठिन काम!

यहाँ तो कहे, आगम और मूर्ति, दोनों भव्य जीव को आधार है। अब ऐसा यह सुने। पहले गये थे न जब यहाँ शत्रुंजय। पहले (यात्रा) की थी (संवत्) १९९५, नहीं? १९९५, मोतीशिखर की धर्मशाला में उतरे थे। उस ओर मकान है वहाँ। एक लींबड़ी का गृहस्थ था। वह साथ में उतरा हुआ था साथ में। छोटी उम्र का ३०-४० (वर्ष की उम्र) होगी। वह फिर ऐसे साथ में रखे न, उसमें फूल रखे, डिब्बे में एक फूल रखे। इसलिए.... और हमारे पास शाम को आकर बैठा, सुनने आया। यह बात की कि भगवान को फूल चढ़ाना, भगवान को यह करना, वह धर्म नहीं। शुभभाव है, पुण्य है। स्थानकवासी कहते हैं, ऐसा भी नहीं और उस शुभभाव को धर्म माने, ऐसा भी नहीं। दोनों बातें झूठी हैं। फिर भड़का, हों! तब तुम नहीं थे। १९९५ में।

एक लींबड़ी का था। वह भी साथ में उतरा हुआ ऐसे और शाम को निवृत्त होकर बैठे और यह बात निकली। देख भाई! भगवान की भक्ति, पूजा आदि है, वह तो पुण्यभाव है। राग की मन्दता करे तो, बाकी वहाँ ऐसा मान ले कि हम ऐसे फूल चढ़ाते

जायें फलाना को। यत्न से फूल लेना। परन्तु अब यत्न से ले तो फूल तो जीव को छुएगा (मरेंगे) ही वे। समझ में आया? ऐसा करता जाये। डोरी बाँधे न ऐसे। फिर ऐसे फूल हो उसमें, फूल भी ऐसे लिये हों और नीचे पड़ा हुआ न ले। ऊपर से तोड़कर उसमें डाले, फिर भगवान को चढ़ावे। उसे वह मानो कि अपने को धर्म होगा। राग की मन्दता हो, शुभ है, पुण्यभाव होता है। परन्तु उसे धर्म माने और उससे जन्म-मरण टलेंगे। धूल भी नहीं टलेंगे। कहो, हिम्मतभाई! तुम्हारे प्रेमचन्दभाई थे, वे तो कहे, अब यात्रा-बात्रा कर ली, इसलिए अब दिक्कत नहीं। ऐई! ऐसा कहते थे या नहीं? प्रेमचन्दभाई, ऐसा कहते थे वे, अब दिक्कत नहीं, अब धर्म नहीं, ऐसा कहे तो। तब कहते थे पहले वहाँ कहाँ.... ? इसने निर्णय नहीं किया हो। आहाहा!

मिथ्यामती रोस करै सुनत सिद्धंतकौ,... मूल तो यह दुर्जन को रोष करे देख सन्त को, ऐसा उतारना है। यह तो सब दृष्टान्त है। आहाहा! **हंसकौ विलोकि जैसैं काग मन रोस करै,...** हंस को देखकर कौआ। यह ... बड़ा। हंस का आया है इसमें बड़ा। वह आया था न रशिया का। नहीं रशिया का आया था न? उसमें उड़ते हंस डाले थे। बाहर, बाहर पुस्तक के ऊपर, हंस उड़ते हुए। वहाँ हंस बहुत होंगे। यहाँ भेजते हैं न गुजराती में रशिया, रशिया का। वह सब साम्यवाद मूढ़ जैसा साम्यवाद। किसका साम्यवाद ... ? सबके पैसे समान करना। धूल भी समान नहीं होते। सिद्ध हो, तब समान होते हैं। वीतरागीदशा और पूर्ण हो, वे समान होते हैं। यहाँ कहाँ से साम्यवाद लाना?

यहाँ कहते हैं, **मिथ्यामती रोस करै सुनत सिद्धंतकौ....** बहुत सरस बात है, हों! परम सत्य सिद्धान्त अर्थात् परम सत्य। सच्चा शास्त्र, ऐसा है न अर्थ में, देखो न! सच्चा सिद्धान्त। वीतरागी वाणी, उसमें वीतरागता भरी हुई है और वीतरागता आत्मा के आश्रय से प्रगट होती है। पर से प्रगट नहीं होती। ऐसा सिद्धान्त का सत्य स्वरूप है। परम्परा से तो मोक्ष जाये या नहीं? ऐसा वापस और कहते हैं। धूल भी नहीं होगा, सुन, तेरी दृष्टि खोटी है। समकिती जानता है कि शुभभाव है, वह बन्ध का कारण है। परन्तु मुझे अशुभ से बचने को उस काल में वह भाव आता है, ऐसा जानता है। वह धर्म का कारण और धर्म शुभभाव को मानता नहीं। उसे शुभभाव टलकर शुद्ध होगा, इसलिए परम्परा समकिती के लिये कहा जाता है। अज्ञानी को परम्परा तो अनर्थ का कारण कहा है। नहीं

कहा? बारह (भावना) में, बारहभावना में। कुन्दकुन्दाचार्य ने, शब्दार्थ में भी है, यह तो बाहर मूलपाठ में। आस्रव (भावना) बारह भावना में है। कुन्दकुन्दाचार्य का है।

मिथ्यादृष्टि का शुभभाव तो अनर्थ का कारण है। क्योंकि उसे उसकी रुचि है, उसे वह सर्वस्व कल्याण का कारण मानता है। वहाँ तो अनर्थ की परम्परा खड़ी होती है। आहाहा! मार्ग ऐसा है, बापू! वीतरागस्वभाव का धर्म तो वीतरागभव से होता है। राग से होता है? वीतराग का धर्म वीतरागभाव से होता है। वीतरागभाव तो स्व का आश्रय करे तो होता है। पर का आश्रय करे और वीतरागता आवे? आहाहा! समझ में आया? परन्तु कहते हैं, अज्ञानी ऐसा रोष करता है। **हंसकौ विलोकी काग मन रोस करै**। कौआ हंस को देखकर रोष करता है। यह सफेद...। यह देखो न, हम भी पक्षी हैं, वह भी पक्षी है। भाई! इतना अधिक किसका गर्व करे? ऐसे हंस मोती चुगे, और हम माँस चुगें।

ऐसे हंस उड़ाये हैं न। आया है न। कल नहीं? कल आया था। कोई भेजता है। उसमें यहाँ मुफ्त, किसी ने कहा होगा। कोई कहता था। बसन्तभाई और रामजीभाई को दोनों को भेजता है। कौन कहता था? बसन्तभाई, कोई कहता था। चन्दुभाई कहते थे। कोई होगा चाहे जो। किसी ने नाम दिया। उसमें है उसमें। है न वह रशियन का अखबार-अखबार। अभी आया होगा। कल ही कल आया वह, हों! उसमें वे हंस हैं, देखो, उड़ते हंस, है? कल का है यह? कल ही आया है न। कहीं डाला होगा। यह सब हंस है। यह हंस का बच्चा है। वह हंस। सफेद हंस डाले हैं। कीमती मोती चुगे, हों! ऐसे हंस को देखकर कौआ रोष करता है।

इसी प्रकार अज्ञानी सच्चे सन्त धर्मी धर्मात्मा को देखकर रोष करता है। ऐसे के ऐसे धर्मी पके। लोगों को भरमाते हैं और कहते हैं, हम सन्त साधु हैं, हम धर्मी हैं। इस प्रकार अज्ञानी दुर्जन रोष करता है। **अभिमानी रोस कहै देखत महंतकौ**। अपने से बड़े गुण में देखे, रोष करे अभिमानी। बड़े हो गये अब तुम, यहाँ हम तो पुराने व्यक्ति साठ-साठ वर्ष के हैं। आज के निकले तुम हो गये धर्मी बड़े-बड़े ज्ञानी। इस प्रकार अज्ञानी रोष करता है। **सुकविकौ देखि ज्यौ कुकवि मन रोस करै,...** लो! सच्चा कवि हो अच्छा, बनारसीदास जैसा। लिखा है न, **सुकवि कुकवि,** लिखा है बनारसीदास ने

पीछे। कुकवि ऐसे होते हैं। शरीर की महिमा करे, केले के स्तम्भ जैसे यह पैर हैं, नाक ऐसा है और धूल। मनुष्य की महिमा क्या करे? **कुकवि,** ऐसा लिखा है, हों! अपने समयसार नाटक में। यह है और यह क्या है यह? यह ही है, पीछे है, देखो कहीं। है या नहीं कहीं? ४१५ पृष्ठ। इस ओर है। हाँ, यह देखो यह। ४१५। **ऐसे मूढ़ कुकवि कुधी, गहै मृषा मग दौर।** वाणी, व्याख्या, उसमें सब बहुत उपदेशित किया है।

रहै मगन अभिमानमैं, कहैं औरकी और॥१६॥

वस्तु सरुप लखै नहीं, बाहिज द्रिष्टि प्रवांन,
मृषा विलास विलाकिकैं, करै मृषा गुन गान॥१७॥

मांसकी गरंथि कुच कंचन-कलस कहैं। यह तो कंचन के कलश जैसे हैं, स्त्री के स्तन। हड्डियाँ माँस है। उसमें जब सड़ान होती है, तब पीड़ा का पार नहीं होता उसे। अकेला माँस का भाग है। हड्डियाँ नहीं और उसमें पीड़ा हो। सड़ता है अन्दर, बहुत सड़े। उसमें भी क्षय हो जाये, कैंसर हो जाये। आहाहा! परन्तु कुकवि उसकी महिमा करे कि, **कहैं मुख चंद जो सलेषमाको धरु।** मुख तो चन्द्रमा जैसा है। परन्तु अकेला श्लेष्म है, उसमें जीवांत पड़ेगी..., सुन न! जीव पड़े थे जबड़ा में एक बार। जीव पड़े थे ऐसे फिरे तो जीव पड़े नीचे। बहुत समय की बात है। सुना था। उसे खबर होगी, भूल गये वे।

एक बार जीव पड़े थे न इनके दाँत में? ऐसे जहाँ किया वहाँ ईयल निकली थी। बहुत वर्ष की बात है, उसे खबर है। **हाड़के दसन आहि हीरा मोरी कहै ताहि,...** ठीक। हड्डी के दाँत होते हैं न, उसे हीरा-मोती कहे। मोती जैसे दाँत हैं इसके। दाँत तो हड्डियाँ हैं। ऐसा कहते हैं न? **मांसके अधर औठ कहै बिंबफरु है।** लाल, क्या कहलाये? होठ होते हैं न लाल। उपमा देते हैं। लाल मूँगा (रत्न)। चिरौंजी जैसी। कुकवि महिमा करे, कहते हैं...। मूर्ख है, ऐसे। है न? **मांसके अधर औठ कहै बिंबफरु...** बिम्बफल, देखो! बिम्ब होंठ बिम्ब जैसे हैं, ऐसे लाल।

हाड़ दंड भुजा कहैं कौंलनाल कामधुजा,
हाड़हीकै थंभा जंघा कहैं रंभातरु है।

यह तो केले के (स्तम्भ) हड्डियाँ हैं यह तो बापू। आहाहा!

योंहीं झूठी जुगति बनावैं और कहावैं कवि।
येतेपर कहै हमैं सारदाको वरु है॥१८॥

हम शारदा के.... ऐसी कथायें लिखे, स्त्री के शरीर की और पुरुष के शरीर की। ... हड्डियाँ हैं, धूल है। आहाहा! है न?

मिथ्यावंत कुकवि जे प्रानी।
मिथ्या तिनकी भाषित वानी॥
मिथ्यामती सुकवि जो होई।
वचन प्रवांन करै सब कोई॥१९॥

भले, कहते हैं, मिथ्या श्रद्धा होती है उसकी, परन्तु सच्चा बोले और सच्चा लिखे तो वचन प्रमाण करे। शास्त्र से मिलता है ऐसा। ऐसा कहते हैं, हों! परन्तु खोटी दृष्टि और खोटे लेख, वह कवि कुकवि है, ऐसा कहते हैं। मिथ्यामति है जरा दृष्टि खोटी... परन्तु कुकवि यदि कोई वचन प्रमाण और शास्त्र प्रमाण बात हो तो जरा प्रमाण करे, ऐसा कहते हैं।

सुकविकौं देखि ज्यौं कुकवि मन रोस करै,
त्यौं ही दुरजन रोस करै देखि संतकौ

सत्पुरुष को देखकर अधमाधम पुरुष क्रोधित होता है। अब उसी और उसी की अधिक बात लेते हैं। बन्ध अधिकार है न। ऐसे बन्ध के भाववाले जीव होते हैं, ऐसा कहते हैं।

★ ★ ★

काव्य - २३

पुनः (सवैया इकतीसा)

सरलकौं सठ कहै वकताकौं धीठ कहै,
विनै करै तासौं कहै धनकौ अधीन है।

छमीकौं निबल कहै दमीकौं अदत्ति कहै,
मधुर वचन बौलै तासौं कहै दीन है।।
धरमीकौं दंभी निसप्रेहीकौं गुमानी कहै,
तिसना घटावै तासौं कहै भागहीन है।
जहां साधुगुन देखै तिन्हकौं लगावै दोष,
ऐसौ कछु दुर्जनकौ हिरदौ मलीन है।।२३।।

शब्दार्थ:-सरल=सीधा। सठ=मूर्ख। वक्ता=बोलने में चतुर। बिनै (विनय)=नम्रता। छमी=क्षमा देनेवाला। दमी=संयमी। अदत्ति=कंजूस। दीन=गरीब। दंभी=ढोंगी। निसप्रेही (निस्पृही)=इच्छारहित। तिसना (तृष्णा)=लोभ। साधुगुन=सद्गुण।

अर्थ:-अधमाधम मनुष्य, सरल चित्त मनुष्य से मूर्ख कहता है, जो बात-चीत में चतुर होवे उसे धीठ कहता है, विनयवान को धन के आश्रित बतलाता है, क्षमावान को कमजोर कहता है, संयमी को [1]कृपण कहता है, मधुभाषी को गरीब कहता है, धर्मात्मा को ढोंगी कहता है, निस्पृही को घमण्डी कहता है, सन्तोषी को भाग्यहीन कहता है अर्थात् जहाँ सद्गुण देखता है, वहाँ दोष लगाता है। दुर्जन का हृदय ऐसा ही मलीन होता है।।२३।।

काव्य-२३ पर प्रवचन

सरलकौं सठ कहै वकताकौं धीठ कहै,
विनै करै तासौं कहै धनकौ अधीन है।
छमीकौं निबल कहै दमीकौं अदत्ति कहै,
मधुर वचन बौलै तासौं कहै दीन है।।
धरमीकौं दंभी निसप्रेहीकौं गुमानी कहै,
तिसना घटावै तासौं कहै भागहीन है।

१. जो पान तम्बाकू आदि व्यसन नहीं करते अथवा अनावश्यक शृंगार चटक-भटक नहीं करते उनसे अज्ञानी लोग कंजूस - कृपण आदि कहते हैं।

जहां साधुगुन देखै तिन्हकौं लगावै दोष,
ऐसौ कछु दुर्जनकौ हिरदौ मलीन है।।२३।।

आहाहा! सरल चित्त हो सरल। तो कहे, यह तो मूर्ख है, ... भान कहाँ है? ऐसा कहे। समझ में आया? आहाहा! एक बार कहा था न वहाँ वे हमारे माल लेने गये थे मुम्बई, पालेज से। बहुत पाँच-छह मण का वजन होगा। एक टिकिट का पौन मण वजन था और पौन मण भार था तब, हों! अब क्या हुआ, खबर नहीं। अब पच्चीस किलो है तब पौन मण था। हम दो व्यक्ति थे और पाँच-छह मण वजन। कहा, परन्तु अपने क्या इसमें दो-चार.... फिर क्या कहलाये? पास। दो पैसे का पास लेकर अन्दर आयेगा, वह हट जायेगा और अपने को पालेज उतरना है। अपने पालेज में तो सब परिचित हैं। परन्तु ऐसी चोरी (नहीं होती)। तब कहे ऐसा, यह भगत तो ऐसा ही है। बापू, अपने को तो सुहाता नहीं।

दो टिकिट में छह मण वजन, डेढ़ मण के बदले। वहाँ तो अपने पालेज में परिचित हों, पोर्टर-बोर्टर सब। मास्टर सब परिचित हों। चाहे जहाँ से उतारें, कोई हमको कुछ बोले नहीं। हमको जानते हैं न। परन्तु यहाँ यह चोरी करता है। अब एक व्यक्ति था आणन्द का। भारी ठग, भारी ठग। मजाक करे। गधे को क्या खबर पड़े ऐसी? ऐसा ही माल लिया जाये। ठीक, कहा, ऐसी चोरियाँ करके .... ठग। वे सब अपने को बड़ा होशियार माने।

मुमुक्षु : लौकिक चतुर कहलाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : लौकिक मूर्ख कहलाये।

सरलकौं सठ कहे वकताकौ धीठ कहैं। वचन में होशियार हो व्यक्ति। 'यह तो धीठ है', ऐसा कहकर सहन नहीं हो सकता। सच्ची बात का वक्तव्य, ऐसा कहे। **छमीकौं निर्बल कहे। विनै करै तासौ कहे धनकौ अधीन है।** विनय से बोले और विनय से कहे (तो माने) कि 'हं, इसे कुछ पैसे चाहिए लगते हैं।' ऐसे अज्ञानी (होते हैं)। विनय करे न, उसे वह धन के आधीन मानता है। **विनयवान को धन के आश्रित बतलाता है।** उसे वह नरमाई से सब बोलता है और पैसा चाहिए है इसे, ऐसा। **बातचीत में चतुर होवे उसे धीठ कहता है।**

छमीकौ निर्बल कहै। क्षमावान को कमजोर कहता है। शान्ति रखता है 'अब इसमें जोर कहाँ है ? तेजहीन है', ऐसा कहे। क्षमा रखे। 'आता कहाँ है ? दूसरे को घात करना आना चाहिए, सबको हताश करना चाहिए, दूसरे का अपमान करना चाहिए। वह तो यह मौन करके बैठे।' क्षमा रखे उसे दुर्जन निर्बल कहता है। **दमीकौ अदत्ति कहै,...** लो। **जो पान तम्बाकू आदि व्यसन नहीं करते अथवा अनावश्यक शृंगार चटक-मटक नहीं करते,...** अनावश्यक, नीचे है न, **उसे अज्ञानी जीव कंजूस-कृपण कहते हैं।** यह तो कृपण है, नहीं नागरवेल का पान खाता, नहीं.... वह कहे, भाई! व्यर्थ का कारण बिना.... नागरवेल का पान तो मुख में होना ही चाहिए, लाल होंठ के लिये।

अज्ञानी पान-तम्बाकू आदि व्यसन नहीं करते। अनावश्यक शृंगार चटक-मटक... यहाँ अँगेली में सोने की वेढ और लटकन करते हैं न यहाँ सब शृंगार। ऐसा न करे उसे (कहे), यह कंजूस है। अज्ञानी ऐसे अधमाअधम पुरुष, ऐसे को कंजूस ठहराते हैं, ऐसा कहते हैं। **मधुर वचन बोलै तासौं कहै दीन है।** मीठे वचन बोले तो भी 'यह तो .... वीर्यहीन है।' **मधुभाषी को गरीब कहे,....** लो। और धर्मी को दंभी, लो। **धर्मात्मा को ढोंगी कहे।** धर्म करने निकले, लो। अभी यह करने का हो जवान अवस्था में ? ... ढोंगी है, कहते हैं। ऐसा करके ढोंगी बनाता है। **निसप्रेहीकौं गुमानी कहै।** निस्पृही हो, यह आवे और कोई आदर-बादर न करे तो, यह तो अभिमानी व्यक्ति है, परन्तु वह तो निस्पृही हो। यह आवे तो आदर और न आवे तो भी अनादर नहीं। परन्तु वे आवे और आये तो भी सामने भी देखता नहीं। .... अभिमानी लगता है। यह वह हो वैराग्य में।

निसप्रेहीकौं गुमानी—अभिमानी। **तिसना घटावै तासौं कहै भागहीन है,...** कहो। **संतोषी को भाग्यहीन कहे।** सन्तोष रखे। थोड़ा खाने-पीने की... में सन्तोषी। 'यह तो .... भाग्यहीन है। भाग्यहीन को क्या मिले खाने का अच्छा ? हमारे तो देखो, यह सब श्रीखण्ड, पूड़ियाँ और वैश्यायें नाचे, ऐसे साधन। हम भाग्यवान हैं, यह तो भाग्यहीन है।' ले! समझ में आया ? सन्तोषी को भाग्यहीन कहता है, **जहा साधुगुन देखै तिन्हकौ लगावै दोष।** आहाहा! जहाँ सच्चे **सद्‌गुण देखते हैं,....** लो। **सद्‌गुण देखता है, वहाँ दोष लगाता है। दुर्जन का हृदय ऐसा ही मलीन होता है।** दुर्जन का हृदय ऐसा होता है, लो। यह बन्ध अधिकार में बनारसीदास ने स्वयं डाला है। अब कलश है। अमृतचन्द्र

आचार्य का कलश है। आठवाँ है न?

मिथ्यादृष्टेः स एवास्य बन्धहेतुर्विपर्ययात्।
य एवाध्यवसायोऽयमज्ञानात्माऽस्य दृश्यते।।८।।

★ ★ ★

काव्य - २४

मिथ्यादृष्टि की अहंबुद्धि का वर्णन (चौपाई)

मैं करता मैं कीन्ही कैसी।
अब यौं करौं कहौ जो ऐसी।।
ए विपरीत भाव है जामैं।
सौ बरतै मिथ्यात दसामैं।।२४।।

अर्थः-मैं कहता हूँ मैंने यह कैसा काम किया (जो दूसरों से नहीं बन सकता), अब भी मैं जैसा कहता हूँ वैसा ही करूँगा। जिसमें ऐसे अहंकाररूप विपरीतभाव होते हैं, वह मिथ्यादृष्टि होता है।।२४।।

काव्य-२४ पर प्रवचन

मिथ्यादृष्टि की अहंबुद्धि का वर्णन

मैं करता मैं कीन्ही कैसी।
अब यौं करौं कहौ जो ऐसी।।
ए विपरीत भाव है जामैं।
सौ बरतै मिथ्यात दसामैं।।२४।।

मैं कर्ता हूँ, मैंने यह काम किया। गाँव का काम, फलाने का काम, देखो, मैं अन्दर सामने था न, तो यह सब काम हुए। ऐसे पर के काम का अभिमान मिथ्यादृष्टि करता है। पर का कर्ता हो सकता नहीं, तो भी हमने किये। उसे जिलाया। और मैं बहुत

पापी था, उस समय के लिये मार डाला। ऐसा अभिमान—अहंकार अज्ञानी करते हैं। किसी को मार सकता नहीं और बचा सकता नहीं। आहाहा! **मैं करता। मैं कहता हूँ, मैंने यह कैसा काम किया (जो दूसरों से नहीं बन सकता)...** ऐसा कहे। मुझसे काम हो, ऐसा दूसरे से होता नहीं। वाह! किसका काम करता है तू? सुन न!

बहुत से लोगों को निभाते हैं। यह मिल मालिक होते हैं न! 'हम बहुतों को निभाते हैं। हमारे.... तुम मुफ्त में वीर्यहीन... पाप, पाप देखते हो हमारे उसमें। हम कितनों को निभाते हैं।' ऐसे पर के कर्ता के अभिमानी अज्ञानी होते हैं। आहाहा! मिथ्यादृष्टि पर का अभिमान करता है, ऐसा कहते हैं। **अब यौं करौं कहौ जो ऐसी। अब भी मैं जैसा कहता हूँ, वैसा ही करूँगा।** इस प्रकार इन्होंने ऐसा डाला है। **अब यौं करौ।** अभी और ऐसा करेंगे, फलाना करेंगे, ऐसा करेंगे। दो-पाँच वर्ष में तो दुकान को सुधारकर व्यक्ति को—नौकर-बौकर को (जिम्मेदारी) करके एकदम सुधार कर देंगे। मैं यदि सामने बैठा तो सब काम ऐसे करेंगे। मूढ़ है, अब कहीं रजकण बदलना, वह तेरी सामर्थ्य नहीं। आहाहा!

कहो, गुणवन्तभाई! व्यापारी होशियार हो तो अन्तर पड़ता है न, कितना काम करे, लो। कुछ नहीं करे? कैसी यह दुकान तुम्हारी नहीं चलती? दवायें-बवायें सब। परन्तु माणेकलालभाई और सुरेन्द्रभाई सब इकट्ठे थे वहाँ। यहाँ बैठे चलती है या नहीं वहाँ? आज हम हैं दुकान में तब व्यवस्था बराबर चलती है। यह भोंट जैसा उस नानोभाई को बैठायें, वह सब उल्टा करे। यह अज्ञानी लोग मूढ़। ऐ, चिमनभाई! परन्तु चिमनभाई सामने हों तो काम दूसरे ही प्रकार को हों, लो वहाँ। चूना की थैलियाँ लावे। ऐसे.... नहीं ऐसा कुछ है न चूना का? चूना का धन्धा है। गिरधरभाई को कहे, उसे उस प्रमाण करे। चिमनभाई जैसा कर सके वे? धूल भी करता नहीं, चिमनभाई वह करे नहीं। गिरधरभाई वह करे नहीं, आहाहा! बापू! पर के रजकण में लेने-देने की क्रियायें तुझसे तीन काल में नहीं होती। आहाहा!

अब यौं करौं कहौ जो ऐसी। 'कहोगे' ऐसा करेंगे हम तो। किये बिना रहनेवाले नहीं। फलानी जगह... पागल हो तुम। हम बोलते हैं, हमारा नहीं बदलेगा, हम इसी प्रमाण करेंगे। अच्छी जगह कन्या का विवाह करेंगे। दो-पाँच लाख खर्च करेंगे। और

ऐसा विवाह करेंगे कि दुनिया न करे, ऐसा करेंगे।' मर जायेगा अब, सुन न! पर के लेने-देने के काम कौन करे? भाई! तेरा काम नहीं तुझे। यह मदिरा पीकर (चढ़) गयी है। मदिरा पी है तूने—मिथ्यात्व की मदिरा। आहाहा!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तीन काल में नहीं, यह बात तो पहले की है। यह भी ढ़िंढोरा पीटकर। यह कहाँ गुप्त रखा है यहाँ? परलक्ष्य से धर्म होता नहीं, परन्तु पर का कर्ता हो सकता नहीं, उसकी यहाँ बात चलती है। समझ में आया?

हम ऐसे थे और अच्छी प्रतिमा लाये और मन्दिर, देखो, देखरेख के नीचे मैं था। मन्दिर कैसा हुआ? धूल भी हुआ नहीं, सुन न! वह तो उसके कारण से हुआ। तू कर्ता है उसका?

मुमुक्षु : कोई काम नहीं करेगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन करता है? वह नहीं करेगा। आहाहा! हम उगाही को जाते हैं तो, फट... फट... ग्राहक देते हैं, लो। तू तेजहीन जैसा गया तो दो हजार ले आया पूरे दिन का और हम पचास हजार ले आये। होती है न उगाही? होशियार जाकर मोटर लेकर घूमे। हमको देखकर फट... फट... देने लगे। यह हमारी होशियारी है। ऐ, प्रवीणभाई!

मुमुक्षु : अन्तर तो पड़ता है ऐसा।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी नहीं पड़ता। ऐसा कि चिमनभाई में अन्तर पड़े और हमारे में अन्तर पड़े, ऐसा। चिमनभाई वहाँ ऐसे कमाये, इतना कमाये। धूल भी नहीं कमाते।

ए विपरीत भाव है जामैं,.... किसी भी रजकण के काम, पर आत्मा के, पर शरीर के, जड़ के मैं करूँ और मैं कहूँगा, ऐसा करेगा। मूढ़ है। आहाहा! **ए विपरीत भाव है जामैं, सो बरतै मिथ्यात दसामै।** हम पाठशालायें चलायेंगे, हम यह करेंगे। पैसे में हम सामने जाकर पैसा व्यवस्थित उगाही करेंगे। हम जायेंगे वहाँ ऐसा करेंगे। कौन करे बापू? एक पाई के रजकण भी जहाँ जानेवाले हों वहाँ जाते हैं और रहने के हों वहाँ

रहते हैं। यह तेरा कर्तापने होगा, यह तीन काल में है (नहीं)। यह मानता है कि मैं करूँ तो यह होता है, वह मिथ्यादृष्टि है।

जिसमें ऐसे अहंकाररूपे विपरीतभाव होते हैं वह मिथ्यादृष्टि होता है। यहाँ तो उस अहंकार का अर्थ 'मैं करता हूँ', ऐसा अहंकार हों! यह। ऐसा कि करे और अहंकार नहीं करना। करना, वही अहंकार है। मैं इसका कर सकता हूँ। तुम वहाँ थे, छोटा आनेवाला था और बड़ा आया। खबर है न प्लेन। वहाँ नौकर थे न। छोटा प्लेन आनेवाला था मुम्बई का। जो आनेवाला था और भावनगर से आनेवाला था, नहीं? भावनगर से छोटा प्लेन आयेगा। यह कहे, नहीं छोटा नहीं, बड़ा लाओ। वाह! बड़ा आया दिल्ली से।

मुमुक्षु : वह आनेवाला ही था।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐई, हिम्मतभाई! वह तो आनेवाला था, (वह आया)। गजब भाई कठोर, भारी कठोर पहेली! परन्तु इन्होंने लिखा था तुरन्त ही, हों! तुम्हारे तार से। 'महाराज यहाँ आते हैं। छोटा नहीं, बड़ा प्लेन लाओ।' आया था। यहाँ तो मुम्बई से तो एक घण्टे में यहाँ। यह किया जा सकता होगा या नहीं? इन्होंने लिखा और कहा, इसलिए आया या नहीं? उस पर का कर्ता मैं हूँ, ऐसा माननेवाला मूढ़ और मिथ्यादृष्टि है। वह आत्मा तो ज्ञाता-दृष्टा है। यह बात, लो।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ९४, आषाढ़ शुक्ल ११, रविवार, दिनांक ०४-०७-१९७१

बन्ध द्वार काव्य - २५ से २७

पहले आया था, उसका जरा स्पष्ट करते हैं, उसके साथ।

★ ★ ★

काव्य - २५

पुनः – (दोहा)

अहंबुद्धि मिथ्यादसा, धरै सो मिथ्यावंत।
विकल भयौ संसारमैं, करै विलाप अनंत।।२५।।

अर्थ:-अहंकार का भाव मिथ्यात्व है, यह भाव जिस जीव में होता है, वह मिथ्यात्वी है। मिथ्यात्वी संसार में दु:खी हुआ भटकता है और अनेक प्रकार के विलाप करता है।।२५।।

काव्य-२५ पर प्रवचन

अहंबुद्धि मिथ्यादसा, धरै सो मिथ्यावंत।
विकल भयौ संसारमैं, करै विलाप अनंत।।२५।।

क्या कहते हैं? अहंबुद्धि। अज्ञानी अनादि से... जरा आगे आओ, जगह है पीछे... आज रविवार है न, लड़के आये हैं न। लड़के न हो तो तब तो अधिक.... यह तो बोर्डिंग के हैं न! क्या कहते हैं? जिसकी दृष्टि में मिथ्यात्व—उल्टी मान्यता है, जिसे मिथ्यादर्शन शल्य कहते हैं। वह जीव जहाँ हो, वहाँ मैं शरीर का करूँ, देश का करूँ, जाति का करूँ, दूसरे की दया पालन कर दूँ, दूसरे की हिंसा कर सकूँ, दूसरे को सुविधा दे सकूँ, दूसरे को असुविधा दूँ—ऐसा मिथ्यादृष्टि को पर का अहंकार वर्तता है। समझ में आया? **अहंबुद्धि मिथ्यादसा....** आत्मा अपने ज्ञानानन्दस्वभाव को करे, रचे, बनावे,

परन्तु इसके अतिरिक्त इस शरीर का हिलना, चलना, बोलना 'वह मैं करता हूँ' यह मान्यता मिथ्यादृष्टि अज्ञानी की है। समझ में आया?

अहंबुद्धि मिथ्यादसा.... अपने स्वरूप को छोड़कर जहाँ-तहाँ अहंपना—यह दया, दान, व्रत के परिणाम, यह राग, उसे भी मैं करूँ—ऐसी जो कर्तापने की बुद्धि, वह मिथ्यादृष्टि की बुद्धि है। समझ में आया? **अहंबुद्धि मिथ्यादसा धरै सो मिथ्यावंत...** ऐसी मान्यता रखे, वह मिथ्या दृष्टिवाला है। आहाहा! **विकल भयौ संसारमैं...** अनादि से मूर्ख विकल हुआ है। पागल हुआ मूर्ख, ऐसा कहते हैं। **मिथ्यात्वी संसार में दुखी हुआ भटकता है।** पर का कुछ कर सकूँ, अपने आत्मा के अतिरिक्त दूसरे आत्मा को जिला सकूँ, मार सकूँ, सुखी कर सकूँ, दुःखी कर सकूँ, यह मन्दिर बना सकूँ, पुस्तक बना सकूँ, वाणी बोल सकूँ, शरीर का सदुपयोग कर सकूँ—यह सब मिथ्यादृष्टि का मिथ्यात्वभाव है। प्रवीणभाई! ऐसा है।

विकल भयौ संसारमैं... मूर्ख दुःखी होकर यह सब भाव मानता है। मानता है, हों! व्यापार बराबर कर सकता हूँ। जयन्तीभाई! दुकान की गद्दी पर बैठा हो तो बराबर ग्राहकों को सम्हाल सकता हूँ। क्या होगा इसमें दास? नहीं? यह मिल के सब लोग, नौकरों को... आहाहा! भाई! तू आत्मा है। तेरे अस्तित्व में तेरा उल्टा-सुल्टा कर सकता है परन्तु जहाँ तेरा अस्तित्व पर में नहीं, उसके अस्तित्व में मैं ऐसा करूँ और वैसा करूँ और मैं ऐसा कर दूँ... ऐ चिमनभाई! यह सब तुम बड़े कार्यवाहक कहलाते हो, नहीं? कहते हैं कि, आत्मा का आनन्दस्वभाव, ज्ञानस्वभाव का कर्ता हो, वह तो सम्यग्ज्ञानी और सम्यग्दृष्टि है। परन्तु इसके अतिरिक्त शरीर का, वाणी का, परिवार का, कमाना, व्यापार-धन्धा, बाहर के कामों की व्यवस्था बराबर कर सकता हूँ, व्यवस्थित कर सकता हूँ, पतंग हाथ में रखकर सब काम करूँ... कैसे होगा इसमें? यह मशीन बराबर कर सकूँ, कहो, नौकरों को व्यवस्थित सम्हालना। समझाकर भी उन्हें व्यवस्थित कर सकूँ—यह सब मान्यता मिथ्यादृष्टि अजैन की है।

मुमुक्षु : अजैन हो गया?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह अजैन हुआ, वह जैन नहीं रहा। जैन तो उसे कहते हैं कि जो आत्मा के अतिरिक्त पर का कर्ता नहीं, पर का अहंकार नहीं (कि) मैं कर सकता

हूँ। तथा अन्दर दया, दान, व्रत के, पूजा के भाव आवे, उनका भी मैं कर्ता नहीं, वह तो विकार है। आहाहा! मैं उस विकार का जाननेवाला, ऐसे जानने-देखने के परिणाम को उपचार-व्यवहार से करूँ। समझ में आया? इसके अतिरिक्त दूसरे का कर दूँ, राग का करूँ, दया के परिणाम करूँ, यह मेरा कर्तव्य है (ऐसा मानता है), वह जैन नहीं। वह मिथ्यात्व से जीता गया है। वह मिथ्यात्व को जीतनेवाला नहीं। समझ में आया? यह इन्द्रियाँ हैं मिट्टी—जड़, उनसे विषय भोगकर मैं सुखी होऊँ, मूढ़ है। वह तो जड़-मिट्टी है। उससे विषय क्या भोगे? उसे राग आता है। राग आवे उसमें (सुख) मानता।

यह कुत्ते का दृष्टान्त देंगे। दृष्टान्त आयेगा। अभी नहीं, बाद के (पद में) आयेगा। कुत्ते का दृष्टान्त है उसमें, नहीं? कितना? ३०वाँ। ओहो! आगे गया। तीसवें में है। **जैसे कोउ कुकर छुअित सूके हाड़ चाबै...** सूखी हड्डी हो, उसे **हाडनिकी कौर चहुं ओर चुभैं मुखमैं....** वह हड्डी की अणी उसके दाँत में अन्दर में जबड़े में घुसे, खून निकले। मूर्ख मानता है कि यह खून वहाँ से आता है। आहाहा! हड्डी में से आता है। इसी प्रकार मूढ़ मिथ्यादृष्टि जीव स्त्री को भोगते हुए, दाल-भात खाते हुए, हलुवा खाते हुए, कीर्ति सुनते हुए, उसमें उसे मजा आता है, ऐसा जो रागभाव, (उसमें) अपना चित्त वहाँ एकाग्र होता है। वह एकाग्र होकर मानता है कि उसमें मुझे सुख-मजा होता है। वह कहीं पर से नहीं आता। आहाहा!

इस शरीर को भोगना... यह तो मिट्टी जड़ है। उसे क्या भोगे? आत्मा तो अरूपी है। परन्तु वह शरीर के भोगने की ऐसी क्रिया के काल में, उसका चित्त वहाँ एकाग्र होता है। एकाग्र होता है अर्थात् जैसे खून कुत्ते के मुख में से निकलता है, उसी प्रकार इसे एकाग्रता में राग होता है, उसमें यह मानता है कि यह मजा मुझे यहाँ से आता है। यह माँस का मैथुन, यह हड्डियों का मैथुन करने से उससे मुझे मजा आता है। ऐसी मिथ्यादृष्टि की दृष्टि मिथ्यात्व है। कहो, समझ में आया? वह जैन नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

भगवान! तेरा आनन्द तो तुझमें है न! यहाँ बन्ध अधिकार है न! तेरा सुखस्वरूप तो प्रभु आत्मा स्वयं त्रिकाली आनन्द का नाथ है। उस आनन्द में एकाग्रता हो, उसे आनन्द आवे और उसे जैन और उसे धर्मी कहा जाता है। परन्तु राग में एकाग्र होकर

उसमें से मुझे मजा आता है और उस राग का कर्तव्य हमारा कर्तव्य है, हमारा फर्ज है। यह स्त्री से विवाह किया तो यह स्त्री का हाथ पकड़ा तो इसे हमें निभाना चाहिए, परिवार को निभाना चाहिए, जाति को कार्यवाहकरूप से सब कार्य पर के करना चाहिए—ऐसा जो मानता है, वह मिथ्यादृष्टि महामिथ्यात्व का पाप करता है। अरे, अरे! क्या होगा इसमें चिमनभाई? यह चूना की थैलियाँ-बैलियाँ लावे, नहीं? अच्छी अच्छी। आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं, **विकल भयौ संसारमैं, करै विलाप अनंत...** यह जहाँ हो वहाँ विलाप अभिमान करके, आहाहा! साधु नाम धरावे तो उसे ऐसा कि हमने इतनी पुस्तकें बनायीं, इतने श्लोक बनाये और जगत को हमने इतने को समझाया, वह सब मिथ्यात्वभाव है। कहो, समझ में आया? कौन बनावे पुस्तक? रजकण की क्रिया कौन करे? और कौन किसे समझावे? आहाहा! बात, यह बात है न! भाषा का कार्य करते हुए इसे ऐसा लगता है कि मैं दूसरे को समझा दूँ। अरे भगवान! भाषा जड़ है न! आहाहा! कहते हैं कि अज्ञानी अनादि का **विकल भयौ संसारमैं,...** दु:खी हुआ, ऐसा कहते हैं।

करै विलाप अनंत... जहाँ-तहाँ पोरो करे पोरो। यह तो अपनी काठियावाड़ी सादी भाषा है। सेठ के ऐसे काम किये, जीन के ऐसे किये, मिल के ऐसे किये, लड़के का विवाह किया। परन्तु किस प्रकार ऐसा हम दूसरे न करें, ऐसा विवाह किया। पाँच-पच्चीस हजार खर्च किये, परन्तु अब उसके बाद के लड़कों को कन्या शीघ्र मिले, इस प्रकार से व्यवस्थित काम किया है हमने, लो। मूढ़ है, कहते हैं ...। क्या होगा इसमें? लड़की का विवाह किया, पाँच-पच्चीस हजार खर्च किये, इस प्रकार से शोभा (की) कि बाद के लड़कों को अच्छी कन्या मिलेगी। मूढ़ है, सुन न अब! यह कार्य ही तेरे नहीं। उसके कारण दूसरा तुझे लड़की-कन्या दे और यह करे, ऐसा विलाप हर्ष में अज्ञानी ने मूढ़ होकर पर के काम का बोझा सिर पर उठाया है। आहाहा! कहो, कान्तिभाई! क्या होगा यह? .... ऐसा वीतराग का मार्ग होगा?

फिर यह तो हो गया कि किसी का करना नहीं तब। अब फिर यह तो स्वार्थी हो गया।

मुमुक्षु : स्वार्थी ही है न अनादि का।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु किसी का कर कौन सकता है ? जगत की चीज़ आत्मायें और परमाणु स्वतन्त्र पदार्थ है और उस पदार्थ की वर्तमान अवस्था के कार्य बिना का वह पदार्थ होता नहीं। तो उसका कार्य दूसरा करे, (कैसे बने ?) हमने मन्दिर बनाये, सोने के बनाये, फलाना किया, चाँदी के फूल डालकर भगवान की पूजा की। अरे... अरे गजब ! चाँदी के फूल तो जड़ हैं। उस जड़ को तू ऐसे डाल सकता है ?

मुमुक्षु : पंगु बनावे।

पूज्य गुरुदेवश्री : पर के लिये पंगु ही है। तीन काल का जाननेवाला है। पंगु अर्थात् तीन काल का जाननेवाला-देखनेवाला है। आहाहा ! शान्तिभाई ! गजब काम भाई ऐसा ! दुनिया की अभिमानी की दशा से तो सब उल्टा है। **मूढ मनुष्य विषयों से विरक्त नहीं होता।** इसका २६वाँ पद। यह जो ऊपर कहा न, वह नीचे कलश का अर्थ है। नौ है न, नौ नीचे।

'**अनेनाध्यवसायेन निष्फलेन विमोहित:**' इसका है यह, भाई ! ऊपर जो कहा न यह। '**तत्किश्चनापि नैवास्ति नात्मात्मानं करोति यत्।**' इतना सब अन्दर स्पष्टीकरण नहीं, परन्तु उसका अर्थ सामान्य में डाल दिया। '**अनेनाध्यवसायेन**' यह तो दूसरा कहते हैं। यह तो मात्र विषय में विरक्त नहीं, ऐसी शैली है। परन्तु इस श्लोक का अर्थ सातवें में गया। शब्दार्थ करें इसका। देखो नीचे है न। '**अनेनाध्यवसायेन निष्फलेन विमोहित:**' अज्ञानी पर के कार्य को करूँ, ऐसे अध्यवसान के कारण निष्फल... निष्फल विमोहित—मुफ्त का मोह करता है। समझ में आया ? और लड़कों को बराबर सिखाऊँ, पढ़ाऊँ, पढ़ाऊँ, होशियार करूँ। मूढ़ है, ... ! कहते हैं, मुफ्त का मूढ़ है। पर का कौर करे ? पर के काम तुझसे होते हैं, यह तीन काल में नहीं। उसका तुझे अभिमान होता है, वही मिथ्यात्व का, महा सात व्यसन के पाप से भी वह पाप बड़ा है। समझ में आया ?

'**तत्किंचनापि नैवास्ति...**' क्या कहते हैं ? जगत में ऐसी कोई चीज़ नहीं रही अब उसे कि यह मेरा, मेरा, मेरा किये बिना, मान्यता बिना रहा हो, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? अनादि की अज्ञानी की मान्यता ऐसी है। उसका मैंने किया, उसका मैंने किया, उसका मैंने किया, हम गौशाला चलाते हैं। पैसा हमारा। और गृहस्थ पैसेवाले हों, वे कहीं धर्म में मदद कर सके, उसके कारण धर्म टिके। गरीब से टिके ?

अरे भगवान! पैसा ही कहाँ तेरा है कि तू पैसेवाला हो गया? क्या हुआ तुझे? पैसेवाला, वही अजीववाला, यह मान्यता ही अजीव के अहंकार में है स्वयं। आहाहा! मैं पैसेवाला, मैं पुत्रवाला, मैं स्त्रीवाला, हमारे अच्छी स्त्री। यह 'वाला' इतने अधिक वाला लगे हैं इसे। अज्ञान से ऐसा मूढ़, कोई चीज़ जगत में बाकी रही नहीं कि जिसे यह स्वयं अपना न मानता हो, ऐसा कहते हैं यहाँ। श्लोक में यह है। समझ में आया? आहाहा!

मैं शरीर को बराबर बनाये रखता हूँ, पथ्य आहार ले न (तो) रोग न हो। बराबर होगा? कौन पथ्य आहार ले? कहना किसे? वह तो जड़ है। आहार लेने से शरीर की निरोगता रहे इस प्रकार से, यह मूढ़ की मान्यता है। भारी काम जगत से उल्टा भारी! आहाहा! यह तो मुफ्त की एकत्वबुद्धि करता है, ऐसा कहते हैं। एक आँख की पलक घुमाने की सामर्थ्य आत्मा में नहीं है। आँख की पलक वह अनन्त रजकणों का जड़ का पिण्ड है। उसका ऐसे फिरना, वह जड़ के कारण से है, आत्मा के कारण से नहीं। परन्तु जगत के मूढ़ ने एक बात बाकी रखी नहीं कि प्रत्येक का मेरा कार्य, यह मेरा कार्य, यह मेरा कार्य। आहाहा! कहो, देवशीभाई! ध्यान रखकर मकान चुनाते होंगे या नहीं व्यवस्थित? लो, यह तो अब बैठे रहे, परन्तु पहले तो करते थे न! मान्यता का अन्तर। मान्यता से करे। आहाहा! ऐई तंबोली! यह सब मशीन-बशीन का कौन करे? भाई करते होंगे न!

मुमुक्षु : मशीन का काम मशीन करे।

पूज्य गुरुदेवश्री : बापू! तेरे तत्त्व के अतिरिक्त, तेरे द्रव्य के अतिरिक्त, दूसरे द्रव्यों की अस्ति तो उसके कारण से है, उसकी दशा का होना तो उसके कारण से है, तथापि तूने कोई परवस्तु बाकी नहीं रखी अपनी (है ऐसा) मान्यता करने में। सब जगत की चीजों का मैं कर्ता। आहाहा! उसका विशेष अब... **मूढ मनुष्य विषयों से विरक्त नहीं होता।** समकित विषयों से विरक्त है। सम्यग्दृष्टि आत्मा के आनन्दस्वरूप का अनुभव करनेवाला, यह ९६ हजार स्त्रियाँ भोगे तो भी विषय से विरक्त है।

मुमुक्षु : पर का करे नहीं और भोगे, यह आया कहाँ से?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह भाषा आवे न, उपभोग करे इन्द्रिय से। ऐई! वजुभाई ने तो

बहुत किया इंजीनियर का काम। इंजीनियर कहलाये न, क्या कहलाये यह? इंजीनियर। बड़े बाँध। बाँध देखने गये थे न, नहीं?

मुमुक्षु : दामोदर बाँध।

पूज्य गुरुदेवश्री : दामोदर कुण्डी। वे साथ में थे, हम गये थे न जब वहाँ।

धूल भी करता नहीं, भाई! तेरा स्वरूप तो जगत के अनन्त पदार्थों को तुझमें रहकर उसे जानने की ज्ञानपर्याय तुझसे होती है, उस ज्ञान का कर्ता तू है। आहाहा! समझ में आया? तीन लोक के नाथ तीर्थंकरदेव की भक्ति का जो भाव, उसका कर्ता हो, वह भी मिथ्यादृष्टि है, कहते हैं।

मुमुक्षु : कल अधम कह दिया।

पूज्य गुरुदेवश्री : अधम में डाल दिया था कल, कल आया था न? शुभबन्ध निर्वाण, नहीं आया था? रंक पुरुष को वह कौड़ी बड़ा धन लगे। यह २१वाँ था। रंक को एक फूटी कौड़ी मिले, आहाहा! **उलुवाके भायैं जैसै संझा ही विहान है...** उल्लू को शाम पड़े तो मानो सवेरा हुआ। उल्लू-उल्लू समझ में आता है? घुवड़। शाम पड़ी तो (उसके लिये) सवेरा हुआ। ऐसा मूर्ख। क्योंकि रात्रि में उड़ सकता है, वह (सवेरे) उड़ नहीं सकता।

कूकरुके भायै ज्यौं पिडोर जिखानी मठा... कुत्ते को वमन ऐसे दही जैसा लगे। वमन... वमन... वह कुत्ता श्रीखण्ड की भाँति खाता है वमन को। **सूकरुके भायैं ज्यों पुरीष पकवान हैं....** सुअर को तो विष्टा, वह पकवान लगे। आहाहा! **बायसके भायैं जैसै नींबकी निंबोरी दाख...** कौवे को निंबोली द्राक्ष जैसी लगे। अपने यह नीम भी ऐसा है, हों! बहुत मीठा लगे। बहुत ऐसे के ऐसे खाये। तोड़ते हों सामने। किसे इनकार करना। लड़कियाँ उछल-उछलकर... यह निंबोली है न अपने, नहीं? बहुत मीठी, (ऐसा) सब कहते हैं। गोंद जैसी लगे। धूल भी नहीं अब। यहाँ कौवे को निंबोली द्राक्ष जैसी दिखाई दे। यह बालक को दन्तकथा, भगवान की कथा जैसी दिखाई दे। तीर्थंकर परमात्मा की कथा... उसे अज्ञानी—बालक को ऐसी दन्तकथा वह तो भगवान की कथा (जैसी लगती है)।

हिंसकके भायैं जैसैं हिंसामैं धरम, मूरखने भायै सुभबंध निरवान... यह मूर्ख को वह पुण्यभाव हो—दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, उसे मूर्ख निर्वाण का कारण मानता है। कहो, जयन्तीभाई! इसमें गुप्त रखा है कुछ? है या नहीं अन्दर? **मूरखने भायै सुभबंध निरवान...** बस, एक पुण्य हुआ। भगवान की पूजा की आज तो, दान दिया, दया पालन की, व्रत पालन किये, अपवास किये, ऊनोदर किया, रसपरित्याग किया। उसमें राग की मन्दता हो तो पुण्य है, उसे वह धर्म मानता है। वह तो निर्वाण का कारण है, वह हमारा निर्वाण है। उसमें ही निर्वाण हमारा, जाओ। यह मूर्ख की मान्यता है। कहो, समझ में आया? भाई! मार्ग यह तो वीतराग परमेश्वर का मार्ग दुनिया से कोई अलग प्रकार का है।

सुभबंध निरवान... है। उसे तो पुण्य के भाव होते हैं, पुण्यबन्ध होता है। बस, अपने तो कल्याण हो गया। धूल भी कल्याण नहीं, सुन न! भटकने के रास्ते हैं सब। आहाहा! आत्मा भगवान सच्चिदानन्द प्रभु आत्मा सिद्धस्वरूप के सन्मुख देखकर उसके आश्रय से जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान हो, वह धर्म है। बाकी तीन लोक के नाथ समवसरण में विराजे, उनकी भक्ति का भाव भी राग, पुण्य है। उससे कल्याण होता है, ऐसा माने, वह मूर्ख मिथ्यादृष्टि है। कहो, समझ में आया? शशीभाई! दृष्टान्त भी ऐसे दिये हैं न सब! अब २६वाँ (पद)।

समकित.... कोई कहे, भाई! यह समकिती थे, ज्ञानी थे श्रेणिक राजा, भरत चक्रवर्ती। उन्हें तो स्त्रियाँ थीं, राज था, विषय का भोग था। कहे, नहीं। तुझे खबर नहीं। धर्मी को विषय का भोग होता ही नहीं। आहाहा! वे धर्मी सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा को आत्मा आनन्दस्वरूप है, ऐसा जिसने आनन्द का स्वाद लिया है, उसे विषय के भोग का विकल्प काले नाग जैसा उसे दिखाई देता है। आहाहा! दुःख लगता है। समझ में आया? सम्यग्दृष्टि चक्रवर्ती की ९६ हजार स्त्रियाँ। दुनिया देखती है कि इसका विवाह हुआ और वर था और इसने यह किया, फलाना किया और ढींकणा किया। बापू! तुझे खबर नहीं। धर्मी जीव उसे कहते हैं कि जिसे अपने आनन्द के स्वभाव के अतिरिक्त पुण्य-पाप के परिणाम में या कहीं उसे आनन्द भासित नहीं होता। आहाहा! ऐसी बहुत सूक्ष्म बात है, हों! इसलिए समकिती विषय से विरक्त है। वह विषय की विकल्प की

दशा होने पर भी और देह की क्रिया के संग में भासता होने पर भी, समकिती क्रिया और राग से भिन्न है। आहाहा! अज्ञानी को विषयसुख में (सुख) बुद्धि दिखती है, ऐसे मूढ़ पुरुष की व्याख्या की बात है यह। आहाहा!

★ ★ ★

काव्य - २६

मूढ़ मनुष्य विषयों से विरक्त नहीं होते (सवैया इकतीसा)

रविकै उदोत अस्त होत दिन दिन प्रति,
अंजुलिकै जीवन ज्यौं जीवन घटतु है।
कालकै ग्रसत छिन छिन होत छीन तन,
आरेके चलत मानौ काठ सौ कटतु है।।
ऐते परि मूरख न खौजै परमारथकौं,
स्वारथकै हेतु भ्रम भारत ठटतु है।
लगौ फिरै लोगनिसौं पग्यौ परै जोगनिसौं,
विषैरस भोगनिसौं नेकु न हटतु है।।२६।।

शब्दार्थः-जीवन=जिन्दगी। जीवन=पानी। आरा=करौंत। परमारथ (परमार्थ)= मोक्ष। स्वारथ (स्वार्थ)=खुदगरजी। लोगनि=लौकिक-परवस्तु। पग्यौ=लीन। नेकु= किंचित् भी।

अर्थः-जिस प्रकार अंजुलि का पानी क्रमशः घटता है, उसी प्रकार सूर्य का उदय-अस्त होता है और प्रतिदिन जिन्दगी घटती है। जिस प्रकार करौंत खींचने से काठ कटता है, उसी प्रकार काल शरीर को क्षण-क्षण पर क्षीण करता है। इतने पर भी अज्ञानी जीव मोक्षमार्ग की खोज नहीं करता और लौकिक स्वार्थ के लिये अज्ञान का बोझा उठाता है, शरीर आदि परवस्तुओं से प्रीति करता है, मन-वचन-काय के योगों में अहंबुद्धि करता है और सांसारिक विषय-भोगों से किंचित् भी विरक्त नहीं होता।।२६।।

काव्य-२६ पर प्रवचन

रविकै उदोत अस्त होत दिन दिन प्रति,
अंजुलिकै जीवन ज्यौं जीवन घटतु है।
कालकै ग्रसत छिन छिन होत छीन तन,
आरेके चलत मानौ काठ सौ कटतु है।।
ऐते परि मूरख न खौजै परमारथकौं,
स्वारथकै हेतु भ्रम भारत ठटतु है।
लगौ फिरै लोगनिसौं पग्यौ परै जोगनिसौं,
विषैरस भोगनिसौं नेकु न हटतु है।।२६।।

नेकु न हटतु है.... कहते हैं, अज्ञानी किंचित्‌मात्र भी... दृष्टान्त देते हैं। **रविके उदोत अस्त दिन दिन प्रति...** सूर्य उगे और अस्त हो। **अंजुलिकै जीवन ज्यौं जीवन घटतु हैं...** जैसे अंजुली में पानी हो, वह ऐसे गल जाता है, वैसे जीवन चला जाता है। अज्ञानी, परमार्थ आत्मा आनन्दस्वरूप है, उसे खोजता नहीं। समझ में आया? अंजुली के (पानी की) भाँति जीवन चला जाता है। आहाहा! जितना आयुष्य लेकर आया, वह आयुष्य घटता जाता है, ऐसा। देह के छूटने के सन्मुख जाता है, तथापि वह आत्मा—यह मैं कौन हूँ, यह दया, दान, व्रत के विकल्प से भिन्न कौन है—उसे खोजने की दरकार करता नहीं। आहाहा! समझ में आया? **कालकैं ग्रसत छिन छिन होत छीन तन...** शरीर की जवानी चली गयी। क्षण-क्षण में अवस्था बदलती जाती है। तन अर्थात् शरीर। **छिन होत...** जीर्ण होता जाता है क्षण-क्षण में, जैसे-जैसे काल (नजदीक) आता जाता है, तथापि परमार्थ ऐसा मेरा भगवान आत्मा आनन्दस्वरूप, उसे शोधने—खोजने की दरकार करता नहीं। समझ में आया?

आरेके चलत मानौ सौ कटतु हैं... लकड़ी में करवत रखे और कटती है, उसी प्रकार आयुष्य टूटता जाता है, समाप्त होता जाता है। आहाहा! **ऐते परि मूरख न खोजै परमारथकौ...** ऐसा-ऐसा वर्तने पर भी 'मैं चैतन्य कौन हूँ, मुझमें क्या स्वभाव है, मैं

किस भाव से रहित हूँ और किस स्वभाव से सहित हूँ'—उसे वह खोजता नहीं। **ऐते परि मूरख न खोजै परमारथकौ...** अहो! आयुष्य चला जाता है। क्षण-क्षण में शरीर में जीर्णता आती जाती है। **स्वारथकै हेतु...** यह दुनिया के लौकिक कार्य के लिये **भ्रम भारत...** भ्रमणा का बोझा उठाया है सब। यह मुझे इतने मेरे लड़के को पोषण के लिये चाहिए, ऐसा पढ़ाने के लिये चाहिए, पुत्रियों को इतने ठिकाने लगाना, ऐसे लौकिक कार्य में अज्ञानी मूढ़ ने बड़ा बोझा उठाया है मिथ्यात्व का। आहाहा! 'यह तो बाबा हो तो ऐसा हो' ऐसा हमारे एक कहता है। नारद है न वह अमृतलाल जरीयावाला (वह कहता है)। परन्तु बाबा ही है, सुन न! कहाँ तुझमें शरीर, वाणी है? उसके बिना का तू है।

यहाँ तो राग बिना की चीज़ आत्मा है, और पर बिना की चीज़ तो है। विकल्प जो उठे दया-दान, उस बिना की चीज़ आत्मा है। वह तो विकार है, आस्रव है। आस्रववाला तत्त्व है? आस्रववाला तत्त्व आत्मा को मानना, वह तो मिथ्यात्वभाव है। आहाहा! समझ में आया? अज्ञानी स्वार्थ में लौकिक कार्य यह करना और वह करना ऐसा... है न? उसमें लिखा है। **लौकिक-स्वार्थ के लिये...** यह कमाने का धन्धा, या स्त्री को प्रसन्न रखने का, लड़के को प्रसन्न रखने का, सेठ को प्रसन्न रखने का, राजा को प्रसन्न रखने का, समधि-बमधि को प्रसन्न रखने का... अज्ञानी की जिन्दगी ऐसी की ऐसी चली जाती है। जगत को भला बताने के लिये काम करता है, कहते हैं। श्रीमद् ने कहा है न, 'जगत मुझे कैसे अच्छा कहे, जगत कैसे मुझे बड़ा कहे, जगत कैसे मुझे दूसरे से विशिष्ट-विचिक्षण कहे।' उद्योगपति। उद्योग करके इतना धन्धा पाँच करोड़ इकट्ठे किये। लोग लिखे उद्योगपति, उसने ऐसा किया। उद्योग—जड़ का पति! मूर्ख है। ऐसे लौकिक कार्य में फँसकर अज्ञानी ने **भ्रम भारत...** भ्रमण का बड़ा पहाड़ उठाया है, कहते हैं। समझ में आया? आहाहा! कठिन काम भाई ऐसा!

लगौ फिरै लोगनिसौ... और लोग... लोग जो हल्का हो उसे साथ में लगन लगावे। मित्र हो, सगे-सम्बन्धी हों, उनके साथ लगा रहे। वहीं की वहीं उसकी प्रीति और रुचि अज्ञानी की। अरे भगवान आत्मा! मैं कौन हूँ? कहाँ हूँ? साधु नाम धरावे तो भी वहीं का वहीं शिष्य बनाना, यह करना, पैसा उगाहना और पैसा इकट्ठा करना। सब होली है, कहते हैं। आहाहा! एक साधु था। वह उसके शिष्य ने पैर छूकर पचास रुपये

रखे होंगे। दूसरा शिष्य आया। दूसरा पीछे आया उसका गुरु। गुरु को पचास रखे। गुरु को खबर थी कि मेरे शिष्य ने इसने पचास रखे हैं। 'ऐ, मैं तो उसका गुरु हूँ। सौ रख, पचास नहीं।' यह सब बना हुआ है, हों! नाम, ठाम नहीं दिया जाता। 'वहाँ फलाना मेरा शिष्य है, उसे तुम दस दस करते पचास रुपये के नोट रखे थे, मुझे खबर है। तुम दर्शन करने आये। पचास मुझे रखे। मैं तो उसका गुरु हूँ, सौ रख।' देखो, यह साधु।.... हैरान होकर बेचारे... परन्तु पैसे का क्या काम है तुझे? समझ में आया? आहाहा!

लगौ फिरै लोगनिसौ... ऐसे अनुकूल हो न सेठिया और पैसेवाले और इज्जतवाले, उनके पीछे-पीछे घूमा करे। कुछ अपने को पैसा देंगे और ऐसा करेंगे। मूर्ख है, कहते हैं, ...। आहाहा! **पग्यौ परै जोगनिसौं...** जो मन, वचन की क्रिया में चिपटा रहे लवलीन। यह मन, वचन और काया—यह तीन। उसकी क्रिया तो जड़ की है। उसमें लवलीन रहे अज्ञानी मूर्ख, ऐसा कहते हैं। है न अर्थ में? शरीर आदि परवस्तु में प्रीति करे, ऐसा कहते हैं। **मन-वचन-काय के योगों में अहंबुद्धि करता है।** देखो है न? यहाँ मन है, यह वाणी है और शरीर है, वह तो जड़ मिट्टी है। उसकी क्रिया का करनेवाला मैं हूँ। बराबर मैंने योग की क्रिया की है। आहाहा!

यह उपधान करते हैं न वहाँ देखो न! सौ-सौ खमासणा ले। चेतनजी को खबर होगी। अपने को कुछ खबर नहीं होती। सौ खमासणा लेना पड़े प्रतिदिन भगवान के निकट। मजदूरी कर-करके मार डाले बेचारे को। देह की क्रिया, कहे कि मैं करता हूँ। उसमें राग की मन्दता हो, उसमें भी वापस कलुषता आवे। हाय... हाय! अवस्था हो गयी, ऐसा हुआ। एक बार खाना। कहते हैं कि अरे! योग की क्रिया में फँसा और आत्मा कौन है उसका तुझे भान नहीं। समझ में आया? कठिन काम, भाई! वीतरागमार्ग दुनिया से पूरा अलग प्रकार का है।

ऐसे **विषैरस भोगनिसौं नेकु न हटतु है...** देखो! अज्ञानी विषय के रस में से जरा भी विमुख नहीं होता। शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श—पाँचों विषय, उसमें उसका ध्येय है अज्ञानी का। स्वद्रव्य का विषय आत्मा क्या है, उसके ध्येय की खबर नहीं। अज्ञानी का विषय पाँच शब्द-रूप आदि अथवा राग, पुण्य-पाप का विकल्प, वह अज्ञानी का विषय है। उसमें से जरा भी विमुख नहीं होता। आहाहा! बन्ध है न! यहाँ

बन्ध कहना है न! बन्ध अधिकार है न! मन, वचन, क्रियाओं में शुभभाव, वह बन्ध का कारण है। वह परविषय है, वह कहीं स्ववस्तु नहीं। आहाहा! कठिन पड़े न!

एक बार भाई ने लिखा है न, निहालभाई सोगानी ने एक बार लिखा है कि 'जैसी स्त्री आदि की विषय की वार्ता सुनना, वह जैसे विषय है, उसी प्रकार वीतराग की वाणी भी विषय है।' ऐ प्रेमचन्दभाई! सोगानी सुने हैं न? निहालभाई, द्रव्यदृष्टि प्रकाश। भाई ने पढ़ा नहीं होगा। पढ़ा है भाई? द्रव्यदृष्टि प्रकाश। भाई को कहता हूँ, बल्लुभाई के भाई को। एक द्रव्यदृष्टि प्रकाश है। दो भाग अलग हैं। तीसरा भाग जरा... वह उसमें है तीसरे में। जैसा स्त्री का विषय, वैसे ही वाणी है, वह विषय है। चिल्लाहट मचा जाये लोग। बापू! यह यहाँ यह कहना चाहते हैं। वह विषय कहने से लक्ष्य... परलक्ष्य, वही विषय है। स्व विषय छूटकर पर में जाये, चाहे तो वीतराग की वाणी सुनता हो, वह शुभभाव का विषय है। ऐई! गजब बात है। झेला जाये नहीं, ऐसा है।

(समयसार) ३१वीं गाथा में कहा है न, भाई! ३१वीं गाथा। '**जो इंदिये जिणित्तं**' वहाँ वीतराग की वाणी भी विषय में ली है। ३१ गाथा। '**जो इंदिये जिणित्तं णाणसहावाधियं मुणदि आदं**।' शास्त्र हो, देव हो, गुरु हो। वह सब इन्द्रिय के विषय इन्द्रिय है, ऐसा कहा है वहाँ। उन्हें इन्द्रिय कहा है। देव, गुरु, शास्त्र की वाणी और देव, गुरु को इन्द्रिय कहा है। वह अनीन्द्रिय आत्मा नहीं। वह इन्द्रिय, यह जड़ इन्द्रिय और भाव इन्द्रिय (अर्थात्) खण्ड-खण्ड ज्ञान—इन तीनों को इन्द्रिय कहकर तीन को जीतना, ऐसा कहा है। अर्थात् कि उसके लक्ष्य को छोड़कर अतीन्द्रिय भगवान आत्मा की दृष्टि करना, इसका नाम इन्द्रिय को जीता, ऐसा कहा जाता है। आहाहा! ऐई चेतनजी! भारी कठिन काम है। चिल्लाहट मचा जाये। ऐसा लिखा है। अरे, सुन न!

आत्मा के आनन्द का विषय द्रव्य है, उसे छोड़कर जितना पर के ऊपर लक्ष्य जाये, वह सब परविषय है। आहाहा! समझ में आया? ऐ शान्तिभाई! यह सब झेल सके नहीं तुम्हारे हों वहाँ अन्दर। सोनगढ़ का एकान्त है, ऐसा पुकारे बेचारे, एकान्त है। पर से भी लाभ होता है, पर के आश्रय से भी कल्याण होता है और स्वआश्रय से हो तो यह अनेकान्त कहलाये। ले! यह माणेकलालभाई कहे... यहाँ तो कहे, स्वविषय प्रभु आत्मा अखण्ड आनन्द का नाथ पूर्णानन्द प्रभु ध्रुव, उसे विषय बनावे तो धर्म होता है।

पर का विषय देव-गुरु-शास्त्र जहाँ तक रहे, वहाँ तक उसे धर्म नहीं होता। ऐई जयन्तीभाई! ऐसी बात है। **विषैरस भोगनिसौं नेकु न हटतु है...** पर के विषय के लक्ष्य से एक अंश भी हटता नहीं, ऐसा कहते हैं। यह बन्ध का अधिकार है न भाई इसमें! यह बन्ध बताते हैं।

मुमुक्षु : भावबन्ध इसलिए....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, अन्दर राग और पुण्य का विकल्प और उसका निमित्त पर, वह सब परविषय है। आहाहा! बन्ध अधिकार है न। वह बतलाना है। आहाहा!

जिसे यह लोग तो धर्म मान बैठे हैं।

मुमुक्षु : लोग तो मानकर बैठे ही न!

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो कहते हैं, **स्वारथकै हेतु भ्रम भारत ठटतु हैं...** लौकिक कार्य। स्वार्थ के लौकिक (कार्य) वह सब लौकिक। शुभभाव भी लौकिक है। आहाहा! **विषैरस भोगनिसौ निकु...** जरा भी विमुख नहीं होता पर के विषय में से, ऐसा कहते हैं। सम्यग्दृष्टि ९६ हजार स्त्रियों के वृन्द में दिखाई दे, तथापि वह परविषय से छूटा हुआ है। आहाहा! यह आयेगा आगे। सम्यग्दृष्टि निश्चय में लीन है। स्व-आश्रय की दृष्टि में एकाग्र है। परविषय से, राग से तो मुक्त है। समझ में आया? देखो आयेगा। यह तो तुम्हारे उसके बाद आता है न। ३२वाँ। ३२वाँ पद है। ११वाँ कलश है न, उसमें से। **'सर्वत्राध्यवसानमेवमखिलं त्याज्यं'** ३१ है न, बाद में ३२। १९३ पृष्ठ पर। **सम्यग्दृष्टि जीव आत्मस्वरूप में स्थिर होते हैं....** देखो। है? १९३ पृष्ठ। नीचे ११वाँ श्लोक, उसमें अन्दर में ३२वाँ पद।

असंख्यात लोक परवांन जे मिथ्यात भाव,
तेई विवहार भाव केवली-उकत है।

जितना व्यवहार है, उसे धर्म माने, उतने मिथ्यात्वभाव हैं। कठिन काम!

जिन्हकौ मिथ्यात गयौ सम्यक दरस भयौ, ते नियत-लीन....

यह तो ज्ञानस्वरूप में ही एकाग्र है, वह उसका स्व-विषय है। **विवहारसौं मुकत हैं...** है? दया, दान, भक्ति, भगवान का विकल्प, उससे समकिती मुक्त है। वीतराग की

वाणी सुनना... वीतराग की बात सुनना दुर्लभ हो पड़ी है जगत को। यहाँ तो कहते हैं कि व्यवहार में... व्यवहार कहो या राग कहो या आस्रव कहो, उसमें जिसकी एकताबुद्धि है, वह मिथ्यादृष्टि है। क्योंकि... भाई! व्यवहार अर्थात् शुभभाव; शुभभाव अर्थात् भावबन्ध। भावबन्ध की जिसकी दृष्टि है, (वह) मिथ्यादृष्टि है। परन्तु भावबन्ध से सम्यग्दृष्टि मुक्त है। आहाहा! बन्ध अधिकार का लिया है न इसमें। जितना भगवान की भक्ति, दया, दान, व्रत, पूजा, शास्त्र श्रवण, मनन, चिन्तवन। कहना—यह सब भाव व्यवहार है, राग है, बन्ध है। इस बन्धभाव से एकत्व है जो जीव, वह मिथ्यादृष्टि है। बन्धभाव से मुक्त है, वह समकिती है, ऐसा कहते हैं। अरे! यह बात है।

निरविकलप निरुपाधि आतम समाधि,
साधि जे सुगुन मोख पंथकौं ढुकत है।
तेई जीव परम दसामैं थिररूप ह्वैकै,
धरममैं धुके न करमसौं रुकत हैं॥३२॥

धर्मी तो स्वभाव-सन्मुख के झुकाव में अन्दर चला जाता है। वह राग से रोका नहीं जाता, ऐसा कहते हैं। आहाहा! यहाँ भी ऐसा कहते हैं, **विषैरस भोगनिसौं नेकु न हटतु है...** यह विषय (अर्थात्) यह स्थूल (विषय) ले। यह स्त्री का विषय, परन्तु वह तो स्थूल (विषय है)। यहाँ तो वीतराग की वाणी भी परविषय है, पराश्रित है न! समझ में आया? कहे न, अपने भाई! गुरु को बराबर मानो, तुम्हारे भव का छेद हो जायेगा। बिल्कुल मिथ्यात्व भाव है। गुरु और देव को मानना, वह तो परद्रव्य को मानने का विकल्प है, राग है। उस राग से कल्याण होगा (यह) दृष्टि मिथ्यात्व है। ऐसी बात है। हिम्मतभाई!

मुमुक्षु : कठोर पड़े ऐसा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कठोर पड़े या सरल पड़े, मार्ग यह है। वीतराग भगवान त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव ऐसा फरमाते हैं। कहो, समझ में आया या नहीं, समझ में आया? आहाहा!

धर्मी तो व्यवहारमात्र से छूटा है, कहते हैं, अज्ञानी को व्यवहार से एकत्व है।

आहाहा! इसलिए उसने राग और शुभ से लाभ माना, वह तो राग से एकत्व है। कठिन काम भाई यह! परन्तु ऐसा सीधा सीधा रास्ता? उसे तिरने का कोई (दूसरा) मार्ग होगा या नहीं? एकदम एल.एल.बी. की बातें? ऐसा कितने ही कहते हैं। एल.एल.बी. की नहीं, सुन न! अभी तो सम्यग्दर्शन के पहले एकड़ा की बातें हैं यह। समझ में आया? **विषैरस भोगनिसौं...** जरा भी ... पर की रुचि से हटता नहीं, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? पर का प्रेम है, उसे आत्मा के स्वभाव का द्वेष है। समझ में आया? दृष्टान्त देते हैं। **अज्ञानी जीव की मूढ़ता पर मृगजल और अन्धे का दृष्टान्त**। अन्धे का दृष्टान्त देते हैं।

★ ★ ★

काव्य - २७

अज्ञानी जीव की मूढ़ता पर मृगजल और अन्धे का दृष्टान्त

(सवैया इकतीसा)

जैसैं मृग मत्त वृषादित्यकी तपत मांहि,
तृषावंत मृषा-जल कारन अटतु है।
तैसैं भववासी मायाहीसौं हित मानि मानि,
ठानि ठानि भ्रम श्रम नाटक नटतु है।।
आगेकौं धुकत धाइ पीछे बछरा चवाइ,
जैसैं नैन हीन नर जेवरी बटतु है।
तैसैं मूढ़ चेतन सुकृत करतूति करै,
रोवत हसत फल खोवत खटतु है।।२७।।

शब्दार्थः-वृषादित्य=वृष[1] संक्रान्ति का सूर्य। तृषावंत=प्यासा। मृषा=झूठा। अटतु है=भटकता है। नटतु है=नाचता है। नैनहीन नर=अन्धा मनुष्य।

अर्थः-जिस प्रकार ग्रीष्मकाल में सूर्य का तीव्र आताप होने पर प्यासा मृग उन्मत्त होकर मिथ्याजल की ओर व्यर्थ ही दौड़ता है, उसी प्रकार संसारी जीव माया ही

१. जेठ महीने में सूर्य वृष संक्रान्ति पर आता है।

में कल्याण सोचकर मिथ्या कल्पना करके संसार में नाचते हैं। जिस प्रकार अन्ध मनुष्य आगे को रस्सी बटता (भाँजता) जावे और पीछे से बछड़ा खाता जावे, तो उसका परिश्रम व्यर्थ जाता है, उसी प्रकार मूर्ख जीव शुभाशुभ क्रिया करता है व शुभक्रिया के फल में हर्ष और अशुभक्रिया के फल में विषाद करके क्रिया का फल खो देता है।।२७।।

काव्य-२७ पर प्रवचन

जैसैं मृग मत्त वृषादित्यकी तपत मांहि,
तृषावंत मृषा-जल कारन अटतु है।
तैसैं भववासी मायाहीसौं हित मानि मानि,
ठानि ठानि भ्रम श्रम नाटक नटतु है।।
आगेकौं धुकत धाइ पीछे बछरा चवाइ,
जैसैं नैन हीन नर जेवरी बटतु है।
तैसैं मूढ़ चेतन सुकृत करतूति करै,
रोवत हसत फल खोवत खटतु है।।२७।।

क्या कहते हैं? यह तो वीतरागमार्ग की बात है, बापू! जहाँ इन्द्र अर्धलोक के स्वामी सुनते होंगे, वह बात कैसी होगी? साधारण बात होगी कुम्हार जैसी? दया पालन करो, दया से धर्म होगा। यह तो कुम्हार भी कहता है। वीतराग ऐसा कहते हैं? समझ में आया? एक भवतारी इन्द्र, शकेन्द्र धर्मकथा सुनने आवे, वह कथा बापू! कैसी होगी? समझ में आया? क्षायिक समकिती। एक भव में मोक्ष जानेवाले हैं इन्द्र और इन्द्राणी दोनों, पहले देवलोक के। वहाँ से होकर अन्तिम मनुष्य का भव करके मोक्ष जानेवाले हैं। ऐसे भी जब सन्त आदि समवसरण में आवे, वह कथा कैसी होगी? भाई! समझ में आया? **जैसै मृग मत्त वृषादित्यकी तपत मांहि...** ग्रीष्मकाल में सूर्य का तीव्र आताप और प्यासा मृग.... **तृषावंत मृषा-जल कारन अटतु है...** मृगजल में दौड़ा-दौड़ करता है, कहीं पानी नहीं मिलता, भगवान! आहाहा! समझ में आया?

भाई ने डाला है न वह। है या नहीं उसमें? है, हों यह। डाला है उसने। मुम्बई का व्याख्यान था, वह बनाया है न उसने। 'सरोवर कांठे मृगला तरस्या रे लोल, अे दौडे हांफी झांझवा जलनी रे काज। अरेरे, साचा वारि अेने ना मळे रे लोल।' वारि अर्थात् पानी। भरा सरोवर छोड़कर मृगजल (के पीछे) प्यासे मृग दौड़ते हैं हांफ कर। धूल नहीं मिले वहाँ। पानी कहाँ था? इसी प्रकार भगवान आनन्द का सरोवर प्रभु, ऐसे जल को अन्तर से छोड़कर यह पुण्य की क्रिया—दया, दान, व्रत की क्रिया मृगजल है। उसमें शान्ति और धर्म मानकर मृग—अज्ञानी घूमा करते हैं। समझ में आया? 'अेम मनना मृगला ने पाछा वाळजो रे लोले, जोडी द्यो आतम सरोवर आज, अेने मळशे आतम सुख अमूला रे लोल।' यह मन का मृग ऐसे फिरा करे और ऐसे मोड़ न अब! यह परविषय को छोड़ और ऐसे (मुड़), ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

जिसकी दृष्टि पर्याय और राग और निमित्त के ऊपर है, वे सब विषय के भोग के ही अर्थी हैं, ऐसा कहते हैं। भगवान आनन्द सरोवर से भरपूर प्रभु, उसके सन्मुख (देखता नहीं इसलिए) स्व विषय तो करता नहीं। स्व को ध्येय बनाता नहीं। जो करनेयोग्य है, वह करता नहीं और मुफ्त का हैरान होकर (भटकता है)। समझ में आया? 'ऐ मिथ्यात्व मूळ अनन्त पड्या रे लोल।' यह राग और पुण्य को धर्म मानना, वह मिथ्यात्व का मूल सुरक्षित है। 'डांखळा तोडे वृक्ष न सुकाय, तमे लेजो सम्यक् कुहाडी हाथमां रे लोल।' आहाहा! चैतन्य ज्ञानानन्दस्वभाव भगवान आत्मा, उसमें नजर कर, उसमें देख, तुझे शान्ति मिलेगी और सम्यग्दर्शन होगा। बाकी बाहर के चमक के मृग (जल) में... मृग चमक का पानी देखकर (माने कि) शान्ति मिलेगी, तृषा मिटेगी। नहीं मिलेगी, भाई! आहाहा!

लो, यहाँ तो कहते हैं, देव-गुरु-शास्त्र मानने से तृषा नहीं छूटेगी। ऐसा कहते हैं। यह तो परद्रव्य है। राग है, वह तो विकल्प है। वहाँ देखने जायेगा कि उसमें कल्याण होगा, नहीं मिलेगा। हैरान होगा उस मृग की भाँति, ऐसा कहते हैं। ऐई शान्तिभाई! मार्ग तो ऐसा है। जँचे, न जँचे, मार्ग यह है तीन काल में। वीतराग परमात्मा तीर्थंकरदेव केवलज्ञानी भगवान का यह मार्ग है। इससे कुछ भी फेरफार करके बोले, वह वीतराग का मार्ग नहीं। समझ में आया?

तैसैं भववासी मायाहीसौं हित मानि मानि,... देखो! जैसे मृगजल में मृग पानी पीने जाये, वहाँ मिलेगा नहीं। उसी प्रकार **भववासी मायाही...** यह सब पुण्य और पाप के भाव माया है, विकार है। आहाहा! **हित मानि मानि,...** उसमें मेरा हित होगा, ऐसा मानकर.... यह पुण्य के भाव, वे मृगजल जैसा पानी है वहाँ। वहाँ धरम-बरम है नहीं। आहाहा! कठिन ऐसी भाषा तो.... **भववासी मायाहीसौं हित मानि...** वह सब माया कहलाती है। वह पुण्य-पाप, विकल्प और संयोग, वह सब माया है, वह आत्मा में है नहीं। उसे **हित मानि मानि, ठानि ठानि भ्रम श्रम...** भ्रमणा को निश्चित—पक्का करता... करता श्रम करके **नाटक नटतु है।** आहाहा! **माया ही में कल्याण सोचकर मिथ्या कल्पना करके संसार में नाचते हैं।** समझ में आया? **आगेकौं धुकत धाई पीछे बछरा चवाई...** अन्धा मनुष्य था। वह डोरी बुनता था, डोरी... डोरी... सामने आगे बुनता जाये और पीछे बछड़ा चबाता जाये बछड़ा।

आगेकौं धुकत धाई पीछे बछरा चवाई, जैसैं नैन हीन नर जेवरी बटतु है... वह डोरी बुने डोरी। परन्तु सामने बुनता जाये और पीछे वह बछड़ा चबाता जाये। आहाहा! इसी प्रकार व्यवहार की क्रिया में धर्म माननेवाले, परन्तु मिथ्यात्व से वह सब नाश हो जाता है। अन्ध है। कुछ सुकृत करके मुझे धर्म होगा, (ऐसा माने)। **तैसैं मूढ़ चेतन सुकृत करतूति...** देखो। है न? यह सुकृत करे। **रोवत हसत...** ऐसे सुकृत काम करे और असाता का उदय हो तब ऐं... ऐं... ऐं... हाय, हाय! साता का उदय हो तो हर्ष, असाता का उदय हो तो शोक। सब तेरा किया हुआ पानी फिर जाता है, सुन न! शुभभाव .... विशेष कहेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ९५, आषाढ़ शुक्ल १२, सोमवार, दिनांक ०५-०७-१९७१

बन्ध द्वार पद २७ से ३०

यह समयसार नाटक, बन्ध अधिकार। अज्ञानी जीव की मूढ़ता के ऊपर दृष्टान्त दिया है न? अन्तिम अधिकार। दृष्टान्त दिया न? जैसे मृगजल में पानी नहीं और मृग पानी पीने दौड़ते हैं, उसी प्रकार अज्ञानी... पुण्य-पाप के भाव, शरीर, वाणी, मन, लक्ष्मी आदि यह बाह्य चीज़ें हैं, उसमें कहीं सुख नहीं, तथापि मिथ्यादृष्टि मूढ़ जीव, तृष्णा में मृगजल में जैसे मृग दौड़ता है, वैसे अज्ञानी दौड़ता है। बराबर है यह? माणेकलालजी! यह पैसे के लिये, यह स्त्री के लिये .... ऐसा कहते हैं यह। पूरी दुनिया की बात है न! मृगजल में कुछ पानी नहीं है। वह तो रेतीली जमीन में सूर्य की किरणें पड़ने से ऐसा वराळ जैसा लगता है। वराळ कहाँ थी वहाँ? जैसे मृग वहाँ दौड़ते हैं, उसी प्रकार अज्ञानी, आत्मा में आनन्द है, उसे भूलकर (बाहर में दौड़ता है)।

यह बन्ध अधिकार है न! पैसे में, स्त्री में, परिवार में, इज्जत में-कीर्ति में कुछ ठीक है, ऐसा धारकर वेग से अज्ञान में पड़े हैं। अन्त में पुण्य और पाप के भाव में भी कुछ ठीक है, (ऐसा मानकर) उसमें पड़े हैं। शुभभाव जो है दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा—वह बन्धभाव है। बन्धभाव में भी अज्ञानी गति कर रहे हैं (कि) उसमें से कुछ धर्म होगा और शान्ति मिलेगी। दूसरा दृष्टान्त वह दिया अन्ध का। अन्धा डोरी-डोरी बुनता है। एक ओर बुनता है और पीछे बछड़ा चबाता है। इसी प्रकार अज्ञानी **मूढ चेतन सुकृत करतूति करैं**। यहाँ ऐसा कहना है वापस, हों! सुकृत कहते हैं यहाँ। शुभभाव कोई दया, दान, व्रत, पूजा आदि भाव करे। **रोवत हसत फल...** परन्तु अज्ञानी है, मूढ़ है। इसलिए उसे साता का उदय हो अनुकूल (तो) हर्ष करे और असाता का उदय हो, वहाँ शोक करे। है न?

तैसें मूढ़ चेतन सुकृत करतूति करै... बन्धभाव करे, शुभभाव करे, परन्तु मिथ्यादृष्टि है और सुकृत में धर्म मानता है। इसलिए... शुभक्रिया चाहिए, परन्तु उन्होंने ऐसा लिखा है। **शुभक्रिया के फल में हर्ष, अशुभक्रिया के फल में विषाद करके क्रिया का फल खो देता है**। यह क्रिया अर्थात् शुभक्रिया, शुभपरिणाम। शुभपरिणाम का कुछ फल

चाहिए ठीक पुण्य आदि, वह भी उसे मिलता नहीं, ऐसा कहते हैं। क्योंकि दृष्टि आत्मा के ऊपर नहीं है, उसकी दृष्टि तो राग के भाव के ऊपर है। इसलिए वह भाववाला तो अनुकूल (में हर्ष), प्रतिकूलता में द्वेष किये बिना रहेगा ही नहीं। इसलिए वास्तव में उसे सुकृत का फल भी यथार्थ मिलेगा नहीं। संयोग मिले। संयोग मिले, कहा न! सुकृत से साता का फल मिले। परन्तु मिलने पर वापस हर्ष करेगा।

जो आत्मा में नहीं, उस साता का संयोग—यह पैसा, लक्ष्मी, कीर्ति, शरीर-बरीर, यह अनुकूल, लो न, उसमें हर्ष करेगा। वह अपने स्वभाव को भूलकर बन्धभाव को अनुमोदन करता है, ऐसा कहते हैं। इसलिए ऐसा चाहिए अन्दर में, हों! ऐसा किया है उसने? उसने क्या किया है? बन्ध है न। कितना? २७। बस, सुकृत की क्रिया का अर्थ किया है। यह बराबर है। **तैसे मूढ** प्राणी सुकृत की, ऐसा कहना है न? एक ओर बुने तथा एक ओर चबावे। ऐसा फल आवे वापस, अनुकूल में हर्ष करेगा, तो उसका सब जाता है। सुकृत की क्रिया करे तब रोवत-हसत खटतु है। अरति-रति करके बैठे। **खोवत खटतु है...** उसमें कुछ मिले नहीं, तथापि उसे अनुकूल में-प्रतिकूल में.... राग-द्वेष है न, उसे मिथ्यात्व है न!

ज्ञानी को तो स्वभाव पर दृष्टि होने से उसे बन्ध के परिणाम का तो (त्याग ही है), विरक्त त्यागी है धर्मी। इसलिए उनका फल उसे कुछ है नहीं। उसे तो अन्दर ज्ञाता-दृष्टा का फल शान्ति और वीतरागता है। अबन्ध परिणाम है न। यह तो बन्ध परिणाम के स्वामी (पने) की बात चलती है। समझ में आया? जिसे आत्मा अबन्धस्वरूपी चैतन्य आनन्द का धाम, जिसे उसके आनन्द की पिपासा अन्तर में नहीं, ऐसे जीव को तो बाहर में सुखबुद्धि पड़ी है। वहाँ पुण्य के भाव में—शुभभाव में बाहर में उसमें कुछ ठीक... ठीक... ठीक... ठीक... वह तो सब सुकृत को भी खो बैठेगा, कहते हैं। क्योंकि उसने दृष्टि तो.... अनुकूलता मिलेगी तो हर्ष करेगा। प्रतिकूलता मिलेगी तो खेद करेगा। तो यह अर्थ ठीक है। उसने ऐसा अर्थ किया है उसने? उसने अर्थ किया होगा यहाँ बुद्धिलाल ने। देखो तो सही, किसने देखा है? देखने में क्या कुछ.... यहाँ २७ है न?

शुभक्रिया के फल में हर्ष... उसी प्रकार मूर्ख जीव शुभाशुभ क्रिया... यहाँ अब ऐसा अर्थ किया है। शुभाशुभ क्रिया करता है और अशुभ क्रिया फल में.... यह बराबर

है। **सुकृत करतूति करै, रोवत हसत फल खोवत खटतु हैं।** बस, यह बराबर है। चेतन सुकृत करे, शुभभाव करे न। राग की मन्दता का भाव करता है और उसे खटकता है... अन्दर स्वभाव नहीं... तथापि उसे—खटक को ही अपना स्वरूप मानता है। और उसमें पुण्यफल हो, संयोग मिलते हैं, उसमें हर्ष करेगा। प्रतिकूल मिलेगा उसे वैसा (अहर्ष) करेगा। क्योंकि राग-द्वेष है, ऐसा कहते हैं।

अब **अज्ञानी जीव के बन्धन से न सुलझ सकने पर दृष्टान्त...** बन्धन में से पृथक् पड़ता ही नहीं अज्ञानी। बन्धन को ही अपना स्वरूप अनादि से मानता है।

★ ★ ★

काव्य - २८

अज्ञानी जीव बन्धन से न सुलझ सकने पर दृष्टान्त (सवैया इकतीसा)

लियैं द्रिढ़ पेच फिरै लोटन कबूतरसौ,
उलटौ अनादिकौ न कहूं सुलटतु है।
जाकौ फल दुख ताहि सातासौं कहत सुख,
सहत-लपेटी असि-धारासी चटतु है।।
ऐसैं मूढ़जन निज संपदा न लखै क्यौंही,
यौंहि मेरी मेरी निसिवासर रटतु है।
याही ममतासौं परमारथ विनसि जाइ,
कांजीकौ परस पाइ दूध ज्यों फटतु है।।२८।।

शब्दार्थ:-द्रिढ़ (दृढ़)=मजबूत। सहत (शहद)=मधु। असि=तलवार। निसिवासर=रात-दिन। परस (स्पर्श)=छूना।

अर्थ:-जिस प्रकार लोटन कबूतर के पंखों में मजबूत पेंच लगे होने से यह उलट-पुलट फिरता है, उसी प्रकार संसारी जीव अनादि काल से कर्म-बन्धन के पेंच में उलटा हो रहा है, कभी सन्मार्ग ग्रहण नहीं करता, और जिसका फल दु:ख है, ऐसी विषय-भोग की किंचित् साता को सुख मानकर शहद लपेटी तलवार की धार को

चाटता है। ऐसा अज्ञानी जीव सदाकाल परवस्तुओं को मेरी मेरी कहता है और अपनी ज्ञानादि विभूति को नहीं देखता, परद्रव्य के इस ममत्वभाव से आत्महित ऐसा नष्ट हो जाता है जैसे कि कांजी के स्पर्श से दूध फट जाता है।।२८।।

काव्य-२८ पर प्रवचन

लियैं द्रिढ़ पेच फिरै लोटन कबूतरसौ,
उलटौ अनादिकौ न कहूं सुलटतु है।
जाकौ फल दुख ताहि सातासौं कहत सुख,
सहत–लपेटी असि–धारासी चटतु है।।
ऐसैं मूढ़जन निज संपदा न लखै क्यौंही,
यौंहि मेरी मेरी निसिवासर रटतु है।
याही ममतासौं परमारथ विनसि जाइ,
कांजीकौ परस पाइ दूध ज्यों फटतु है।।२८।।

जैसे... लोटन कबूतर होता है, उसके पंख में पेच होता है, इसलिए ऐसे घूमा ही करता है, घूमा ही करता है। इसी प्रकार अज्ञानी अनादि का **न कहूं सुलटतु है...** राग के परिणाम से भिन्न मेरी चीज़ है, ऐसा सुलटा अनादि का होता नहीं। राग के भाव को ही अपना स्वरूप मानता है। **कर्मबंधन के पेच में उलटा हो रहा है...** जिस भाव से बन्धन हो, उस भाव को ही अपना स्वरूप मान (रहा है)। कहो, बराबर है? **अनादिकौ न कहूं सुलटतु है, जाकौ फल दु:ख ताहि सातासौ कहत सुख...** पुण्य के कारण कोई साता मिले, अब उसमें तो दु:ख है, तो भी हमको ठीक बादशाही है, (ऐसा) सुख कहता है, मानता है।

यह पैसे में सुख है, इज्जत में सुख है, धूल के बँगले में सुख है, ऐसा मूढ़ जीव मिथ्यादृष्टि (जीव) मानता है। कहो, मलूकचन्दभाई! यह तो यह आया इसमें, कहीं पैसा-बैसा में शान्ति नहीं, ऐसा कहते हैं। ये क्या कर आये अभी तक सब?

मुमुक्षु : आनन्द कर आये।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो उस लड़की का विवाह किया, उसमें पैसे खर्च किये होंगे न, ५-६ लाख। कितने ही कुछ कहते थे। उनका पुत्र, परन्तु उन्हें कहा तो जाये न कि उनका पुत्र करेगा। इनका हक न हो भले, परन्तु कहलाये तो सही न कि इनका पुत्र करेगा।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु प्रसन्न तो हो न सामने बैठे हो तो। यह न्यालभाई, इस पुत्री को विवाह करते हुए....

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : दूसरा विषय होगा, मूढ़ का विषय..... आहाहा!

कहते हैं, अरे! **कभी सन्मार्ग ग्रहण नहीं करता।** आहाहा! राग और निमित्त में जिसकी रुचि और प्रीति है। रागरहित और निमित्तरहित भगवान आत्मा शुद्ध आनन्दस्वरूप है, उसकी तो इसे खबर भी नहीं, उसकी इसे रुचि नहीं। **जिसका फल दुःख है, ऐसी विषय-भोग की किंचित् शाता को सुख मानकर...** लो। साता, पैसा, लक्ष्मी... वह क्या कहलाता है? वह सब जलसा उड़े विवाह में, पार्टी, ऐसा सब। और पार्टी कहीं घर में न करे, पाँच सौ, हजार लोग हों तो वीशी में डाले, नहीं? वीशी में कहते हैं न? लॉज में डाले या बड़े-बड़े.... आहाहा!

मुमुक्षु : बड़ी जगह हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी नहीं, कहते हैं, मूढ़ ....। ऐसे पैसे खर्च करने में....

मुमुक्षु : पुत्री हो उसे कैसा दुःख हो....

पूज्य गुरुदेवश्री : किसकी पुत्री और किसका पुत्र? बापू! वस्तु पर है, उसमें तेरी कहाँ थी? आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, जरा फल दुःख... विषय-भोग की किंचित् साता मिले, दिखाई दे। स्त्री अनुकूल हो, पैसा हो, महल-मकान हो और उसमें जरा साता पावे तो कहते हैं, शहद लपेटी तलवार की धार को चाटता है। तलवार की धार ऊपर जैसे शहद लगाया हो, जरा ठीक लगे जरा मीठापने, परन्तु जीभ कट जाती है, कट-फट जाये।

इसी प्रकार साता के उदय में जगत को बाहर की चीज़ राजपाट, स्त्री, कुटुम्ब मिले, उसमें जरा साता ठीक लगे। परन्तु उसमें मिथ्यात्व से इसकी जीभ तो कट जाती है (अर्थात्) आत्मा की शान्ति तो काट डालता है, कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? शहद लपेटी तलवार की धार को चाटता है। शहद से चुपड़ी हुई तलवार चाटता है। जरा स्वाद लगे परन्तु जीभ कट जाती है, इसे कुछ भान नहीं होता। आहाहा!

उसमें लड़का ठीक हो, बहुएँ आज्ञाकारी हो, अच्छे घर की आयी हो, और लड़के के लड़के ठीक हों तो मूर्ख मानता है कि हम अभी सुखी हैं। मिथ्यादृष्टि है, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : भले मिथ्यादृष्टि हो, सुखी तो है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कहा न सुखी। तलवार की धार में (चुपड़े हुए) शहद को चाटने जैसा सुख है। जीभ तो कट जाती है एकदम, एकदम अन्दर। आहाहा! बन्धभाव की बात है न! राग है, पुण्य का भाव है, वह बन्ध है। उसके फल में अनुकूल मिले, उसमें इसे सुख जैसा लगे, ऐसा कहते हैं। परन्तु सुख है नहीं, वहाँ तो दुःख है। आहाहा! मिथ्यात्वभाव से इसकी शान्ति लुट जाती है।

ऐसें मूढ़जन निज संपदा न लखै क्यौंहीं... देखो! किसी प्रकार से भी.... भगवान आत्मा ज्ञान और आनन्द की लक्ष्मी है, उसे किसी प्रकार से भी देखता नहीं अर्थात् कि जानने की दरकार करता नहीं। आहाहा! यह साधु नाम धराकर भी, आचार्य नाम धराकर भी ऐसे मूढ़ उलझता है, मिथ्यात्व में पड़ा है, ऐसा कहते हैं। हो मिथ्यात्व और बड़ा आचार्य नाम धरावे। शिष्य हो २५-५०-१००-१००। धमाधम हो, हाथी के हौदे दीक्षायें होती हों न, कहो। वह तो कोई पूर्व के पुण्य के कारण से वह संयोग होते हैं। मूढ़ उसमें सुख मानता है कि हमारे ठीक होता है यह।

मुमुक्षु : प्रभावना होती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी प्रभावना नहीं। प्रभावना तो अन्दर होती होगी या बाहर? आहाहा! बाहर में, वह तो विकल्प हो, उसे बाह्य कहलाता है। बाहर की तो वस्तु कहाँ थी? आहाहा!

चैतन्य भगवान.... विकल्प से भिन्न ऐसे निर्विकल्प स्वरूप के आनन्द का वेदन, वह प्रभावना है। सच्ची प्रभावना तो वह है। आहाहा! और बहुत तो विकल्प उठे शुभ, उसे व्यवहार प्रभावना (कहा जाता है), वह बन्ध का कारण है। वह बन्ध का कारण है। आहाहा! समझ में आया? मार्ग ऐसा अलग है। भगवान आत्मा ज्ञान की मूर्ति, उसकी निजसम्पदा तो जाने नहीं, कहते हैं। है न? '**निज संपदा न लखै...**' मैं आनन्द और ज्ञान का सागर हूँ। पुण्य, पाप, दया, दान, व्रत के विकल्प, वह तो राग की उपाधि और मैल है। मुझमें नहीं और मेरी चीज़ नहीं। अज्ञानी निजसम्पदा को जानता नहीं। विपदा को अपनी सम्पदा जानता है। शुभ-अशुभराग तो विपदा है, आपदा है। आपदा को सम्पदा मानता है। यद्यपि बाहर की लक्ष्मी तो कहीं रह गयी धूल। आहाहा!

'**मूढ़जन निज संपदा न लखै क्यौंही...**' ऐसा है न? किसी प्रकार से भी, आत्मा अन्दर शुद्ध आनन्द है, उसके ऊपर उसकी दृष्टि जाती ही नहीं। वहाँ ही अटककर पड़ा है पुण्यभाव में, ऐसा कहते हैं मूल तो। समझ में आया? जैन साधु हो, दिगम्बर हों नग्न दिगम्बर, पंच महाव्रत के विकल्प उठे, राग है वह तो। महाव्रत के परिणाम तो राग है। उस राग में एकाकार होकर साता बाँधे, अनुकूलता हो तो उसका हर्ष वेदन करे। आत्मा की शान्ति कट, कट जाती है तब। आहाहा! मैं एक आत्मा, शुभ-अशुभ विकल्प के राग से अत्यन्त भिन्न मेरी चीज़ है। मेरी सम्पदा में तो आनन्द और शान्ति पड़ी है। मिथ्यादृष्टि अज्ञानी साधु हुआ हो तो भी ऐसी बाहर की क्रिया में (रत) निजसम्पदा को जानता नहीं। आहाहा! '**निज संपदा न लखै क्यौंही...**' किसी भी प्रकार से पर में ही उसकी बुद्धि चिपटी है, बस, बन्धभाव में।

'**यौंही मेरी मेरी निसिवासर रटतु है...**' रात और दिन। निसि अर्थात् रात, वासर अर्थात् दिन। रात और दिन। आहाहा! यह मैंने पुण्य किये, यह मेरी लक्ष्मी है, हमने पूर्व के पुण्य किये, उसका फल मुझे है। ऐसा मूढ़ जीव बन्धभाव और बन्ध के फल को मेरा... मेरा कर रहा है। आहाहा! '**याही ममतासौं परमारथ विनसी जाई...**' वह पर में ममता करने से... अरे, दया-दान-व्रत के परिणाम में ममता करने से मिथ्यात्व होता है, कहते हैं। आत्मा की शान्ति का नाश होता है। समझ में आया? '**ममतासौं परमारथ विनसी जाई...**' ज्ञानानन्दस्वरूप चिदानन्द प्रभु का तो भान नहीं। '**कांजीकौ परस पाई**

दूध ज्यौं फटतु है...' यह नमक का पानी दूध में डाले, दूध फट जाये। उसी प्रकार अज्ञानी शुभराग को अपना माने और उसकी शान्ति फट जाती है, टूट जाती है, कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? मूल तो **सुकृत** में लिया था न इसमें। अधिक जोर वहाँ देना है। बन्धभाव है न उसे। हाँ, यहाँ साता मिली, उसका फल। मूढ़ मानता है, सुख कहाँ था? आहाहा!

शरीर अनुकूल हो, पैसा-कीर्ति बड़ी हो, दुनिया में महाप्रशंसा—वह तो सब परवस्तु है। पर, वह मुझे है—यह मान्यता ही निजसम्पदा को खो बैठती है, ऐसा कहते हैं। **कांजीकौ परस पाई...** नमक के पानी का दूध को स्पर्श मिलने से दूध फट जाता है, दूध फट जाता है। इसी प्रकार राग की क्रिया पुण्य की, दया, दान, व्रत, भक्ति की वह क्रिया मेरी है, वह बन्धभाव वह मैं हूँ। उसमें इसका सम्यग्दर्शन फट जाता है, नाश हो जाता है, सम्यग्दर्शन उत्पन्न नहीं होता, इसका अर्थ ही नाश हो जाता है, ऐसा। कर्ता-कर्म (अधिकार) में आया है न। कर्ता-कर्म में, नहीं? ६९-७० गाथा में आया है। है न उसमें? सम्यग्दर्शन का नाश करता है। राग की एकताबुद्धि में सम्यग्दर्शन उत्पन्न नहीं होता, इसलिए उसे नाश करता है, ऐसा कहा जाता है। समझ में आया? है न उसमें? कर्ता, नहीं? ६९-७० (गाथा)। लो, यह पृष्ठ आया।

कहते हैं, यह शुभराग जो पुण्य है, वह मेरा स्वरूप है, ऐसा माननेवाला अज्ञानी 'अज्ञानभाव के कारण, ज्ञानभवनमात्र सहज उदासीन ज्ञाता-दृष्टा अवस्था का त्याग करके...' क्या कहते हैं? राग जो शुभ विकल्प है, वह मेरा है, ऐसा अज्ञानभाव से मानकर ज्ञानभवन—ज्ञान का होना, आत्मा का होना, शुद्ध का होना—ऐसी दशा का त्याग करके, ऐसा। सहज उदासीन अवस्था का त्याग करके अर्थात् कि सहज उदासीन अवस्था उत्पन्न करता नहीं, ऐसा 'त्याग करके' का अर्थ है। सहज अवस्था थी और त्याग करता है, ऐसा नहीं है। ऐसा वहाँ कहाँ था? समझ में आया? यहाँ तो यह सिद्ध करना है कि जो बन्धभाव को अपना मानता है, वह अबन्धपरिणाम का नाश करता है। अबन्धपरिणाम उत्पन्न नहीं होते, इसलिए इसका अर्थ कि वह नाश करता है, ऐसा। समझ में आया? भारी अटपटी बातें हैं यह, भाई!

यह वह तो सीधा-सट्ट था दया करना, व्रत पालना, अपवास करना। ऐसा मार्ग

निकला, यह तो दूसरा निकला। अरे भाई! ऐसी क्रियायें तो अनन्त बार कीं। आहाहा! देव-गुरु-शास्त्र के लिये सिर दिया, ऐसा भी अनन्त बार किया है। कितनी अर्पणता, ऐसा कहना है। परन्तु वह तो राग की अर्पणता है। कहते हैं, राग में एकाकार होने से उसकी अरागी आत्मदशा का नाश करता है। क्योंकि आत्मा वस्तु स्वयं अबन्ध द्रव्य और अबन्ध गुण है। उसके परिणाम अबन्ध होना चाहिए। समझ में आया? अज्ञानी को भान नहीं होता। अनादि से शुभभाव को अपना मानकर शुद्धता की अवस्था का वह नाश करता है। समझ में आया? नाश करता है अर्थात् उत्पन्न नहीं होते। उसके बदले यह उत्पन्न होते हैं, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

वस्तु तो रागरहित अबन्धस्वरूप है, उसका आश्रय करने से अबन्ध परिणाम ही होते हैं। ऐसी ही उसकी दशा और स्थिति है। ऐसे अबन्धपरिणाम को उत्पन्न नहीं करके, अबन्ध परिणाम का वह नाश करता है। उत्पन्न हुए हैं, ऐसा नहीं, परन्तु उत्पन्न करता नहीं और उसके स्थान में राग की एकता में मिथ्यात्व को उत्पन्न करता है। आहाहा! समझ में आया? **कांजीकौ परस पाई दूध ज्यौं फटतु है... आत्महित ऐसा नष्ट हो जाता है।** अर्थात् आत्महित प्रगट हुआ है और नष्ट होता है? इस रागबुद्धि में—अहितबुद्धि में आत्मा की हितबुद्धि की पर्याय उत्पन्न नहीं होती। आहाहा! अब, **अज्ञानी जीव की अहंबुद्धि पर दृष्टान्त।**

★ ★ ★

काव्य - २९

अज्ञानी जीव की अहंबुद्धि पर दृष्टान्त (सवैया इकतीसा)

रूपकी न झाँक हीयैं करमकौ डांक पियैं,
ग्यान दबि रह्यौ मिरगांक जैसैं घनमैं।
लोचनकी ढांकसौं न मानै सदगुरु हांक,
डोलै मूढ़ रांकसौ निसांक तिहू पनमैं।।
टांक एक मांसकी डलीसी तामैं तीन फांक,
तीनकौसौ आंक लिखि राख्यौ काहू तनमैं।

तासौं कहै नांक ताके राखिवैकौ करै कांक,
लांकसौं खड़ग बांधि बांक धरै मनमैं।।२९।।

शब्दार्थ:–मिरगांक (मृगांक)=चन्द्रमा। ढांक=ढक्कन। हांक=पुकार। टांक (टंक)= तोलने का एक बाट (चार माशे)। फांक=खण्ड। कांक=झगड़ा। लांक (लंक)=कमर। खड़ग (खड्ग)=तलवार। बांक=वक्रता।

अर्थ:–अज्ञानी जीव को अपने स्वरूप की खबर नहीं है, उस पर कर्मोदय का डांक[१] लग रहा है, उसका शुद्ध ज्ञान ऐसा दब रहा है जैसे कि चन्द्रमा मेघों से दब जाता है। ज्ञाननेत्र ढँक जाने से वह सद्गुरु की शिक्षा नहीं मानता, मूर्खतावश दरिद्री हुआ सदैव नि:शंक फिरता है। नाक है सो मांस की एक डली है, उसमें तीन फाँक है, मानों किसी ने शरीर में तीन का अंक ही लिख रक्खा है, उसे नाक कहता है, उस नाक (अहंकार) के रखने को लड़ाई करता है, करम से तलवार बाँधता है और मन में वक्रता ग्रहण करता है।।२९।।

काव्य-२९ पर प्रवचन

रूपकी न झाँक हीयैं करमकौ डांक पियैं,
ग्यान दबि रह्यौ मिरगांक जैसैं घनमैं।
लोचनकी ढांकसौं न मानै सदगुरु हांक,
डोलै मूढ़ रांकसौ निसांक तिहूं पनमैं।।
टांक एक मांसकी डलीसी तामैं तीन फांक,
तीनकौसौ आंक लिखि राख्यौ काहू तनमैं।
तासौं कहै नांक ताके राखिवैकौ करै कांक,
लांकसौं खड़ग बांधि बांक धरै मनमैं।।२९।।

'**कांक**' अर्थात् झगड़ा। **लांकसौ, लांक** अर्थात् कमर कसके। **खडग बांधि बांत धरै मनमैं।**

---

१. सफेद कांच पर जिस रंग का डांक लगाया जाता है, उसी रंग का काँच दिखने लगता है। उसी प्रकार जीवरूप काँच पर कर्म का डाँक लग रहा है, सो कर्म जैसा रस देता है, जीवात्मा उसीरूप हो जाता है।

हम ऐसे हैं, हम ऐसे हैं, हम बड़े, उसके प्रमाण में हमारा वैभव होना चाहिए। हमारे हीन साधारण नहीं चलता। कहो, समझ में आया? आहाहा! ऐसे अभिमानी पर के अहंकारी **रूपकी न झांक हीयैं...** अर्थ चलता है पहले। स्वरूप का तो भान भी नहीं, कहते हैं, जरा भी झाँक नहीं। सच्चिदानन्द प्रभु निर्मल आनन्दकन्द प्रभु आत्मा, उसकी तो झाँक भी नहीं, कहते हैं, खबर भी नहीं। उस पर **कर्मोदय का डांक लग रहा है,...** लो। **सफेद काँच पर जिसका रंग का डाँक लगाया जाता है, उसी रंग का काँच दिखने लगता है। उसी प्रकार जीवरूप काँच पर कर्म का डाँक लग रहा है, सो कर्म जैसा रस देता है, जीवात्मा उसी रूप हो जाता है।** पर्याय में रागरस आवे। तो 'रागरूप मेरा' ऐसा मानकर अज्ञानी रागरूप हो जाता है। रागरूप हो जाता है, ऐसा कहते हैं, पर्याय में, हों!

बनारसीदास ने यह (पद) स्वतन्त्र रचा है यह। **करमको डांक पियैं।** डांक रह गया है कर्म के निमित्त में। निमित्त के संग में रागादि उत्पन्न हों, इससे उसमें रहा राग की प्रसिद्धि करता है, परन्तु स्वरूप की झांक करता नहीं। ज्ञानानन्द मेरी चीज़ है, शुद्ध है, द्रव्य है, खबर नहीं, उसके ऊपर तो झांक भी करता नहीं। **ग्यान दबि रह्यौ मिरगांक जैसैं घनमैं।** मृगांक अर्थात् चन्द्र जैसे बादलों में दब रहा है, वैसे ज्ञान दब गया है। यह पुण्य-पाप के भाव में दब गया। वे मेरे हैं और यह मेरा हित है। जैसे यह मृगांक—चन्द्रमा घनबादलों में ढँक गया, उसी प्रकार भगवान आत्मा चैतन्य पुण्य के प्रेम में ढँक गया, ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

ग्यान दबि रह्यौ मिरगांक जैसैं घनमैं, लोचनकी ढांकसौ न माने सदगुरु हांक... यह नेत्र ढँक गये हैं अन्दर के, कहते हैं। आहाहा! ज्ञाननेत्र ढँक गये हैं, इससे सद्गुरु की शिक्षा मानता नहीं। यह कहे भले सब, परन्तु अपने अभी ऐसा नहीं होता। वह ज्ञानी इसे कहे लाख बार, परन्तु सुनता नहीं और दरकार करता (नहीं)। आहाहा!

मुमुक्षु : सुनने किसलिए आता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : सुनने तो आवे या नहीं? खड्डे में पड़ा हो न! भगवान के समवसरण में जाये। उसमें क्या है? जाये तो भी धुले हुए मूले की भाँति वापस आता है। आहाहा!

लोचनकी ढांकसौं... यह अन्दर ज्ञाननेत्र ढँक गये। **न मानै सदगुरु हांक...** हाँक अर्थात् आज्ञा। आज्ञा का अर्थ, सद्गुरु की आज्ञा ऐसी होती है कि राग से रहित तेरी चीज़ है, उसकी दृष्टि और अनुभव कर। ऐसी उनकी आज्ञा है, वह आज्ञा मानता नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? क्योंकि वह मानता है, उससे ज्ञानी की आज्ञा अलग है। राग और पुण्य, यह और यह और यह और यह। वह बन्धभाव में एकाकार है, उसे सद्गुरु की आज्ञा की हाँक बजती नहीं, कहते हैं। छूने देता नहीं। **डोलै मूढ़ रांकसौ निसांक तिहूं पनमैं...** रंक जैसा गरीब होकर, **मूर्खतावश दरिद्री हुआ सदैव निःशंक फिरता है।** रंक–भिखारी, मानो मैं हूँ। आहाहा! कुछ मुझे लाभ हो, मुझे कुछ मिले, मुझे कोई बड़ा कहे, कोई गिनती में दुनिया ले—ऐसे भिखारी पर में ऐसी माँग करता है। आहाहा!

डोलै मूढ़ रांकसौ.... भिखारी जैसा डोले। आहाहा! कहीं मुझे बड़ा कहो, बड़ा कहो। अच्छा कहो, मेरे नाम का जलसा उड़ाओ, जलसा उड़ाओ। नाम ही तेरा नहीं न, यह नाम तो जड़ का है। **निसांक तिहूं पनमें...** लो। यह अज्ञानी तो निःशंक होकर घूमता है, सदैव निःशंक होकर। परन्तु यह तुझे भान नहीं। तुझे दुनिया से क्या लेना है? भाई! यश मिले बाराती। यश कहाँ से हो? दुनिया अच्छा कहे। मर जायेगा परन्तु, अब सुन न! **टांक एक मांसकी डलीसी तामैं तीन फांक...** यह नाक रखने के लिये मर जाते हैं, कहते हैं। यह तिगड़ा है न देखो न। यह तिगड़ा है न यह। देखो यह तीन। तीन हैं न तीन।

मुमुक्षु : दो इस ओर....

पूज्य गुरुदेवश्री : और एक बीच में। **टांक एक मांसकी डलीसी तामैं तीन फांक...** तीन तो यह। **तीनकौसौ आंक लिखि राख्यौ काहू तनमै...** शरीर में तीन का अंक लिख रखा है, मानो। इस नाक के लिये सब करना पड़ता है। यह तुमको खबर नहीं पड़ती, तुमको क्या... ? नाक रखने के लिये करना पड़ता है। इस नाक की तो राख होगी।

हमारे घर प्रमाण, प्रतिष्ठा प्रमाण सब सम्हालना पड़ता है, तुमको खबर नहीं पड़ती। तुमने कभी पैसा देखा नहीं। ऐई! एक बार कहा था इसने, हों! 'बापूजी ने इतने

अधिक पैसे कहाँ देखे थे ?' कहते हैं। खबर है ? अहमदाबाद में कहा था। यह तुमको खबर नहीं, भूल गये। ऐई! खबर है या नहीं ? लो, तुम्हारे लड़के को खबर है। ले, कहा था इसने। तुम्हारे पास कहाँ थे ? पच्चीस हजार, पचास हजार थे। इसे तो करोड़ों रुपये। तीन करोड़। 'बाहर में प्रसिद्ध होने जैसा नहीं, हों' वापस उसको कहे... परन्तु वह तो बाहर तो प्रसिद्ध करे। लोग भी करते हैं न। तत्पश्चात् इसके हिस्से करके करे। बहू के नाम के, पुत्र के नाम के। फलाना नाम के, ढींकणा नाम के। वह कहीं बनिया है, इसलिए ऐसा कुछ शीघ्र दे देवे, ऐसा कुछ है नहीं। आहाहा!

तीनकौसौ आंक लिखि राख्यौ काहू तनमै... कहते हैं, मनुष्य की एक डली, एक छोटा टुकड़ा। कहीं झगड़ा करे झगड़ा। **फांक**—खण्ड। तीन फाँक हैं न—तीन खण्ड, ऐसे। एक, दो और तीन खण्ड। कमर... यह तो बाद में कहेंगे। अरे! **नाक कहता है उस नाक (अहंकार) के रखने को लड़ाई करता है।** भाई! नाक की व्याख्या की अहंकार। भाई! हमारे पुत्री का विवाह करना हो तो पद्धतिसर घर चाहिए। घर चाहिए, वर चाहिए, उसके प्रमाण में चाहिए। अब गरीब के घर में, गाँव में दे, वह कहीं समानता कहलाये ? ऐसा मूढ़ अहंकार करके चैतन्य के स्वभाव को भूल जाता है। आहाहा! यह तो सब पानी रखकर हुआ है यह सब। चिमनभाई! क्या होगा यह सब ? ऐसी छोटी भूल भी बड़ी कहलाती होगी ?

मुमुक्षु : साहेब! बड़े में बड़ी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे! भगवान आत्मा चैतन्यमूर्ति की तो तुझे खबर नहीं, उसकी तुझे श्रद्धा नहीं और ऐसे छोटे-बड़े में अहंकार कर रहा है। मूढ़ है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! वहाँ बड़ा मिथ्यात्व है, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

करै कांक लांकसौं खड़ग,... ऐसा। लो, कमर बाँधी... बराबर कमर बाँधी है अभी, कहते हैं। धन्धा-बन्धा ऐसा चलता हो न, (तो कहे), कमर बाँधी है, अभी कमर बाँधी है। एक ओर अपना रक्षण करे और कहे, हमारे पीछे तुमने कमर बाँधी है, हों! बोलते हैं या नहीं ? आहाहा! किसकी कमर बाँधे ? धूल भी... मूढ़। 'हमारे पीछे तुमने कमर बाँधी, हमारे लिये तुमने बहुत कमर बाँधी' ऐसा कहे। कान्तिभाई! क्या होगा यह सब ? ऐसा घोर अन्धकार होगा ? यह व्यवहार का जो अभिमान है, वह मिथ्यात्व है,

ऐसा कहते हैं। समझ में आया? वह तो परचीज़ है। उसमें हम करते हैं और हमारे चाहिए, हमारे प्रमाण में हमारे चाहिए, कहो। प्रीतिभोज करता है तब... करता है न प्रतिभोज? पहले था, अब तो कहाँ... ? पहले नौ टाईम जीमाते थे और दसवें टाईम प्रीतिभोज।

मुमुक्षु : यह पार्टी और यह प्रीतिभोज।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह पार्टी। एक दिन शाम को जीमकर शाम को रवाना कर दे। एक समय जीमण....

पहले तो नौ-नौ टाईम जीमाते थे और वरषीतप... वरषीतप क्या कहलाता है वह? नहीं, वरसी नहीं। वरसी तो मर गया हो, उसे कहा जाता है। वहाँ तो वर्षीतप कहते हैं, परन्तु वरसीतप भी नहीं, वरसी, वह भी नहीं। वरौठी। वरौठी करे। हमारे गाँव में होता था न पहले छोटी उम्र में... वरौठी करते थे। समधि पहले आये हों तो करे दो टाईम। फिर लोग, लोगों को लावे भले प्रकार। वह समधि वरौठी करता हो, इसलिए मण्डपवाला भी गाँव के अपने सगे-सम्बन्धी दूसरे सम्बन्धियों को सबको लावे। तीन सौ-चार सौ लोग हो जाये... परन्तु अपने सो लोगों का करके... वरौठी की है, इसलिए हमारे सम्बन्धी सब आये। नाक रखने के लिये मर जाता है। कर्जा करके भी करता है।..

खड़ग बांधि बांक धरै मनमैं,... लो। **वांक** अर्थात् वक्रता। .... वक्र होकर वक्र आड़ा। आहाहा! अरे प्रभु! तू कौन कहाँ है? भाई! यह सब पर के अहंकार, वह सब मिथ्यात्वभाव है। आहाहा! हमारे जैसा सुन्दर शरीर नहीं, हमारे जैसे घर की स्त्री आज्ञाकारी और ऐसी खानदानी लड़की नहीं। परन्तु तुझे कब था? सुन न! मुफ्त का किसका लगा है? हमारे लड़के... फलाना तूफान करे तो वह हमारा लड़का न हो। हमारा लड़का तो होशियार हो। हो भले बड़ा चोर, परन्तु माने नहीं।

'छगन मगन सोने का, पड़ोसी का मिट्टी का', वापस और ऐसा कहे। पड़ोसी का पीतल का और गाँव में मिट्टी का, ऐसा। पड़ोसी और पीतल। वह प-प आया न। गाँव की मिट्टी। अर्थात् ग और ग। ऐसे छगन, मगन सोना के। हमारे लड़के सोना के। लड़के कब तेरे थे? सुन न ...! वह तो कोई जगत के आत्मा हैं। जगत की चीज़ है। जगत के रजकण, उनके शरीर, वह जगत के रजकण भिन्न चीज़ है। हाय, हाय! मार डाला। यहाँ तो कहते हैं, आत्मा आनन्दस्वरूप के अतिरिक्त एक राग के कण को और रजकण को

अपना माने, अहंकार करे, वह मूढ़ मिथ्यादृष्टि है। समझ में आया? लो, रखने को लड़ाई करे। नाक रखने को। अहंकार रखना हो... **कमर से तलवार बांधता है और मन में वक्रता ग्रहण करता है।**

अज्ञानी की विषयासक्तता पर दृष्टान्त। अब।

★ ★ ★

काव्य - ३०

अज्ञानी की विषयासक्तता पर दृष्टान्त (सवैया इकतीसा)

जैसैं कोउ कूकर छुधित सूके हाड़ चाबै,
हाड़निकी कोर चहुं ओर चुभैं मुखमैं।
गाल तालु रसना मसूढ़निकौ मांस फाटै,
चाटै निज रुधिर मगन स्वाद-सुखमैं।।
तैसैं मूढ़ विषयी पुरुष रति-रीति ठानै,
तामें चित्त सानै हित मानै खेद दुखमैं।
देखै परतच्छ बल-हानि मल-मूत-खानि,
गहै न गिलानि पगि रहै राग-रुखमैं।।३०।।

शब्दार्थः-पगि रहै=मग्न हो रहे। रुख=द्वेष।

अर्थः-जिस प्रकार भूखा कुत्ता हड्डी चबाता है और उसकी नोंक चारों ओर से मुख में चुभ जाती है, जिससे गाल, तालु, जीभ तथा जबड़ों का मांस फट जाता है और खून निकलता है, उस निकले हुए अपने ही रक्त को वह बड़े स्वाद से चाटता हुआ आनन्दित होता है। उसी प्रकार अज्ञानी विषयलोलुपी जीव काम-भोग में आसक्त होकर सन्ताप और कष्ट में भलाई मानता है। कामक्रीड़ा में शक्ति की हानि और मल-मूत्र की खानि साक्षात् दिखती है, तो भी ग्लानि नहीं करता, राग-द्वेष में मग्न ही रहता है।।३०।।

काव्य-३० पर प्रवचन

जैसैं कोउ कूकर छुधित सूके हाड़ चाबै,
हाड़निकी कोर चहुं ओर चुभैं मुखमैं।
गाल तालु रसना मसूढ़निकौ मांस फाटै,
चाटै निज रुधिर मगन स्वाद-सुखमैं।।
तैसैं मूढ़ विषयी पुरुष रति-रीति ठानै,
तामें चित्त सानै हित मानै खेद दुखमैं।
देखै परतच्छ बल-हानि मल-मूत-खानि,
गहै न गिलानि पगि रहै राग-रुखमैं।।३०।।

जैसे भूखा कुत्ता हड्डी चबाता है हड्डी। हड्डी की कोर-अणी दाढ़ में चुभे, यहाँ तालुवे में। तालुवा पोचा हो, उसमें अणी लगे, उसमें से खून निकले। **चुभै मुखमैं, गाल तालु रसना मसूढ़निकौ मांस फाटै...** तालु, जीभ, उसमें सर्वत्र माँस फटे। **चाटै निज रुधिर...** वह तो अपना खून चाटे और मूढ़ मानता है कि मैं हड्डियाँ चाटता हूँ। आहाहा! **मगन स्वाद सुखमैं, तैसैं मूढ़ विषयी पुरुष रति-रीति ठानै...** आहाहा! स्त्री का विषय, उसमें रमने में रति माने, उसमें सुख है और मजा है, ऐसा माने। मूढ़ है, कहते हैं, वह मिथ्यादृष्टि है। ऐसी व्याख्या है। **रति-रीति ठानै...** ऐसा है न? रति में सुख माने। **अज्ञानी विषय लोलुपी जीव काम-भोग में आसक्त होकर संताप और कष्ट में भलाई मानता है।** लो।

तामैं चित्त सानै... वास्तव में तो उसका राग वहाँ एकाग्र होता है। हित मानता है। ऐसा कहे, उसमें मुझे मजा आता है। आहाहा! स्त्री का शरीर—माँस, हड्डियाँ, चमड़ी, पेशाब, विष्टा से भरपूर सब, इसकी उसमें **रति-रीति ठानै...** प्रेम करे, विषय-रति। **चित्त सानै हित मानै...** ठीक है इसमें, मजा आता है। और शरीर में खेद होता है, शरीर में दु:ख होता है, कष्ट होता है, प्रत्यक्ष देखता है तो भी उसमें सुख मानता है। **देखै परतच्छ बल-हानि...** आहाहा! विषय की वासना में बल की हानि, वीर्य की हानि होती है, शरीर का बल घटता है। **मल-मूत-खानि...** आहाहा! दस्त, पेशाब और विष्टा की खान है।

प्रभु आत्मा अमृत की खान है (और) शरीर मल-मूत्र की खान है। सन्ताप और कष्ट में भलाई माने। शरीर में कष्ट हो, पसीना हो, शरीर जीर्ण हो, जठर मन्द पड़ जाये, भोजन ले सके नहीं। इतना शरीर में वीर्य की हानि होने पर भी उसे सुखी माने। यह मिथ्यादृष्टि के लक्षण हैं, ऐसा कहते हैं यहाँ।

तब कहे, समकिती हो न, वह भी स्त्री से तो विवाह करता है और शादी होती है। नहीं, बापू! तुझे खबर नहीं। वह स्त्री से विवाह करता ही नहीं समकिती। वह तो उसे आत्मा के ऊपर लगन लगी है। आहाहा! उसे राग-विकल्प आता है, उसका वह स्वामी नहीं और उसमें दु:ख मानता है। आहाहा! समझ में आया? भरत चक्रवर्ती को ९६ हजार स्त्रियाँ। उन्हें है, ऐसा कहना, यह बात ही खोटी है, कहते हैं। समकिती को स्त्री ही नहीं होती। समकिती को राग नहीं होता तो स्त्री कहाँ से आयी? ऐसा कहते हैं यहाँ तो। आहाहा! राग नहीं होता इसलिए अपनी दृष्टि में अपने द्रव्य-गुण-पर्याय में राग लाता ही नहीं। राग को अपने में खतौनी नहीं करता इसलिए समकिती रागरहित है। आहाहा! समझ में आया?

यहाँ तो सम्यग्दर्शन और मिथ्यात्व—दो की ही बात है इसमें। अपना आनन्दस्वरूप भगवान, उसमें से सुखबुद्धि छोड़कर, राग में रति और सुखबुद्धि करता है, वह मिथ्यादृष्टि के लक्षण हैं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! भले फिर देव-गुरु-शास्त्र को मानता हो। समझ में आया? परन्तु उसमें सुख मानता है, वह मूढ़ मिथ्यादृष्टि है। वास्तव में तो वह देव-गुरु को मानता नहीं। क्योंकि देव-गुरु, वे तो शुद्ध की श्रद्धा की बात करते हैं। 'देव, गुरु, धर्म की शुद्धि कहो कैसे रहे, कैसे रहे शुद्ध श्रद्धान आणो।' राग के—पुण्य के प्रेमभाव से भी प्रभु भिन्न है, ऐसी शुद्ध श्रद्धा करता नहीं तो देव-गुरु-शास्त्र की भी तुझे श्रद्धा नहीं, ऐसा कहते हैं। ओहोहो! आत्मा में आनन्द को भूलकर किसी भी राग के विकल्प में और निमित्त में उल्लसित वीर्य का होना, वही मिथ्यात्वभाव है। धरमचन्दभाई! ऐसी बात है बहुत कठिन!

गहै न गिलान पगि रहै राग-रुखमैं... ग्लानि न ग्रहे कि अरेरे! यह शरीर पेशाब, विष्टा, मल-मूत्र की खान, हड्डियाँ और चमड़ी, उसकी ग्लानि नहीं गिने। **पगि रहै...** मग्न रहे राग और द्वेष में। राग में लीन है और या द्वेष में लीन है। वे सब मिथ्यादृष्टि के

लक्षण हैं, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? क्योंकि राग में और पर में सुख नहीं। ऐसे तत्त्व को सुखरूप माना, वह विपरीत दृष्टि हुई। स्वरूप में सुख है, वह नहीं माना, वह विपरीत दृष्टि हुई। अजीव में ठीक है तो अजीव को जीव माना, राग में मजा है, वह आस्रव में जीव माना। आहाहा! अभी इसमें उतारा है। 'जो यह तुम ऐसा कहते हो', जैन सन्देश में आया है। भाई! उसने ऐसा लिखा है, उन रतनचन्दजी ने। 'विपक्ष' है न वह शब्द। असमग्र समकित आदि। पुरुषार्थसिद्धि उपाय में। पूर्ण वस्तु से विपक्ष अर्थात् उन्होंने कहा कि 'देश समकिती अर्थात् देश—आंशिक चारित्र है, वह समग्र से विपरीत है। इसलिए उससे बन्ध होता है।' रतनचन्दजी (उवाच)।

परन्तु वह विपक्ष नहीं। पूर्ण दर्शन-ज्ञान-चारित्र से देशरूप—आंशिक चारित्र और सम्यग्दर्शन-ज्ञान, वह विपरीत नहीं, विपक्ष नहीं, वह तो एक जाति है। अच्छा लिखा है। उसमें दिया है न दृष्टान्त। धवल में से दिया है। धवल में आता है न कि देव हैं, वे पूर्ण वीतराग हैं, अरिहन्त और सिद्ध। आचार्य, उपाध्याय और साधु तो पूर्ण वीतराग नहीं और उन्हें तुम रत्नत्रय कहते हो। उसमें आता है। उसमें लिखा है, हों! परन्तु वह देश रत्नत्रय है, वह भी वीतरागता है, वह वीतराग की जाति के ही हैं। पूर्ण और अपूर्ण, इतना ही अन्तर है। है अपूर्ण, परन्तु है वीतरागता। आहाहा! समझ में आया? ऐसा आत्मा में... विपक्ष कहा है न उसमें। कितनी गाथा है?

असमग्रं भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धो यः।
स विपक्षकृतोऽवश्यं मोक्षोपयो न बन्धनोपायः ॥२११॥

इसका अर्थ वह उल्टा किया है। जो असमग्रभाव है, उससे देशभाव है, वह विपक्ष है और उस विपक्ष से बन्ध होता है और वह बन्ध मोक्ष का उपाय है। अपूर्ण रत्नत्रय की भावना करनेवाले पुरुष को शुभकर्म का बन्ध होता है। वह बन्ध विपक्षकृत अथवा रागकृत होने से... विपक्ष तो राग विपक्ष है। पूर्ण दर्शन, ज्ञान, चारित्र का आंशिक जो (परिणमन) है, वह उसका विपक्ष नहीं। परन्तु वह अन्वय-व्यतिरेक लगाकर लाये, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के साथ। कि अपूर्ण हो वहाँ राग से बन्ध होता है और अपूर्ण न हो तो बन्ध नहीं होता। इसलिए सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के साथ अन्वय-व्यतिरेक होता है। परन्तु उन्होंने कहा, ऐसा नहीं। '**विपक्षकृतोऽवश्यं मोक्षोपयो**' ऐसा कहा न,

'**विपक्षकृतोऽवश्यं मोक्षोपयो**' ऐसा डाला उन्होंने काव्य में। .... उल्टा।

सिर से चलते हैं कि जितने अंश में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है, उतने अंश में तो अबन्ध है और जितने अंश में राग है, उतने अंश में बन्ध है। उतना राग बन्ध का कारण है, समकिती को, मुनि को भी। वह राग, निश्चयस्वरूप जो मोक्ष का मार्ग, उससे विपक्ष है। पूर्ण स्वरूप से, अपूर्ण विपक्ष है, ऐसा नहीं। समझ में आया? बहुत लड़ाई चलती है अन्दर परस्पर। यह सब जगह अब। भाई! मार्ग वह कुछ... जिस भाव से बन्ध हो, वह भाव मोक्षमार्ग होगा? और जो मोक्ष का—छूटने का मार्ग है, उससे बन्ध होगा? आहाहा! बहुत अधिक बात... अन्त में तो लिया है, शुभ उपयोग अपराध है वह। ...वह अपराध है। समकिती की भूमिका में तीर्थंकरगोत्र बँधे और मुनि की भूमिका में आहारक शरीर बँधे, वह शुभ उपयोग अपराध है। मोक्ष के मार्ग से बन्ध है नहीं। आहाहा! अरे, लोगों को कुछ खबर नहीं, अब यह फँसे हैं।

यहाँ से बाहर आया न कि जरासा मात्र.... यहाँ तो नौ तत्त्व की श्रद्धा का राग, तीर्थंकर की श्रद्धा का राग और सिद्धान्त की रुचि का राग—दोनों बन्ध के कारण हैं। १७० (गाथा) में आया। पंचास्तिकाय। पंचास्तिकाय में। नौ तत्त्व की रुचि वह राग। तीर्थंकर कहते हैं कि हमारी रुचि, वह राग। है न? पंचास्तिकाय नहीं? १७० गाथा है। देखो, 'संयम, तप संयुक्त होने पर भी नौ पदार्थों, तीर्थंकर के प्रति जिसकी बुद्धि का जुड़ान वर्तता है, सूत्रो के प्रति जिसे रुचि वर्तती है, उस जीव को निर्वाण दूरतर है।' उसे मोक्ष दूर है। पाठ में देखो। '**सपयत्थं**।' नौ पदार्थ की भेदवाली श्रद्धा विकल्प है। तीर्थंकर, स्वयं तीर्थंकर साक्षात् तीन लोक के नाथ की श्रद्धा भी राग है। '**अभिगदबुद्धिस्स सुत्तरोइस्स**।' और सिद्धान्त शास्त्र वीतराग के, आगम का प्रेम, रुचि, वह भी राग है। '**दूरंतरं णिव्वाणं**।' किसे? '**संजमतवसंपउत्तस्स**।' सम्यग्दृष्टि है, अन्तर चारित्रदशा है, उसे भी जो इतना राग रहता है, वह बन्ध का कारण है। मार्ग, वीतरागमार्ग है यह तो। समझ में आया?

कहते हैं, राग और द्वेष में मग्न है... यहाँ अन्तिम यह लेना है न? चाहे तो सत्य स्थापना का शुभराग हो या असत्य उत्थापने का द्वेष अंश हो। समझ में आया? छद्मस्थ सत्य स्थापने जाता है, वहाँ शुभराग आता है। असत्य—खोटा उत्थापने जाता है, वहाँ

द्वेष का अंश आता है। है वह सब प्रशस्त राग और बन्ध का कारण है। वस्तु ज्ञाता-दृष्टा ज्ञानस्वरूप, उसमें और यह स्थापन और यह अस्थापन की वृत्ति उठे, (वह विकल्प है)। ऐसी बात है।

इसलिए कहते हैं, अरे! शरीर में से हड्डियाँ, चमड़ी, पेशाब, खून आदि—पाँच यदि अलग करके तपेला में भरे, पाँच यहाँ से निकालकर (अलग-अलग तपेला में भरे तो) सामने देखे नहीं। परन्तु ऊपर जहाँ चमड़ी मढ़ी हुई। अन्दर हड्डियाँ, चमड़ी ऊपर। यह ऊपर... इसकी ग्लानि नहीं उसे—अज्ञानी को, कहते हैं। उसमें उसे सुखबुद्धि—प्रेम वर्तता है। आहाहा! द्वेष नहीं ऐसा कुछ, हों! ऐसा शरीर है, इसलिए उसमें द्वेष है, ऐसा नहीं। शरीर की स्थिति ऐसी है। अज्ञानी पर में प्रेम करके और राग-द्वेष को प्रगट करता है। राग-द्वेष के निमित्त... परन्तु राग-द्वेषरहित भगवान आत्मा शुभराग से भी रहित प्रभु, ऐसे चैतन्य की रुचि और ज्ञान करता नहीं, इसलिए उसे बन्धभाव टलता नहीं। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ९६, आषाढ़ शुक्ल १३, मंगलवार, दिनांक ०६-०७-१९७१

बन्ध द्वार काव्य - ३१ से ३४

यह समयसार नाटक। बन्ध अधिकार। नीचे १०वाँ कलश है। १९३ पृष्ठ है न? १०वाँ कलश।

विश्वाद्विभक्तोऽपि हि यत्प्रभावादात्मानमात्मा विदधाति विश्वम्।
मोहैक-कन्दोऽध्यवसाय एष नास्तीह येषां यतयस्त एव।।१०।।

इसका पद है पद। **जो निर्मोही है, वह साधु है।**

★ ★ ★

काव्य - ३१

जो निर्मोही है वह साधु है (अडिल्ल)

सदा करमसौं भिन्न, सहज चेतन कह्यौ।
मोह-विकलता मानि, मिथ्याती ह्वै रह्यौ।।
करै विकल्प अनंत, अहंमति धारिकै।
सो मुनि जो थिर होइ, ममत्त निवारिकै।।३१।।

शब्दार्थ:-अहंमति=अहंबुद्धि। निवारिकै=दूर करके।

अर्थ:-वास्तव में आत्मा कर्मों से निराला है, परन्तु मोह के कारण स्वरूप को भूलकर मिथ्यात्वी बन रहा है, और शरीर आदि में अहंबुद्धि करके अनेक विकल्प करता है। जो जीव परद्रव्यों से ममत्वभाव छोड़कर आत्मस्वरूप में स्थिर होता है, वह साधु है।।३१।।

काव्य-३१ पर प्रवचन

सदा करमसौं भिन्न, सहज चेतन कह्यौ।
मोह–विकलता मानि, मिथ्याती ह्वै रह्यौ।।
करै विकल्प अनंत, अहंमति धारिकै।
सो मुनि जो थिर होइ, ममत्त निवारिकै।।३१।।

वास्तव में आत्मा कर्म से सदा ही—त्रिकाल भिन्न है। **सदा करमसौं भिन्न, सहज चेतन कह्यौ...** वह स्वाभाविक ज्ञानानन्दस्वरूप, वह आत्मा। बन्ध अधिकार है न, इसलिए बन्धरहित ही आत्मा है, ऐसा कहते हैं। शरीर, कर्म आदि अथवा राग आदि से बन्धरहित ही सदा ही आत्मा भिन्न है। **सदा करमसौं भिन्न...** स्वाभाविक चेतन कहा। सहज स्वरूप चैतन्य—जानन, आनन्द आदि, उसे कुछ कर्म का और राग का सम्बन्ध है नहीं। **मोह विकलता मानी...** परन्तु अपने स्वरूप को भूलकर, राग और द्वेष और कर्मसहित हूँ, कर्मवाला हूँ, रागवाला हूँ—ऐसे मोह की विकलता—मूढ़ता मानकर **मिथ्याती व्है रह्यौ...** राग, वह मैं हूँ; कर्म, वे मुझे हैं; कर्म के बन्ध में मैं हूँ—ऐसा जो व्यवहार है, उसे ही अपना स्वरूप माना है। यह मिथ्यात्वी जीव है, ऐसा कहते हैं।

कर्मबन्धनसहित हूँ, रागसहित हूँ—यह मान्यता मिथ्यादृष्टि की है, ऐसा कहते हैं। क्योंकि सदा कर्म से भिन्न, वह तो त्रिकाल भिन्न है, अबद्धस्वरूप है। शुद्ध चैतन्यस्वभाव अतीन्द्रिय आनन्दस्वभाव चेतन सहज कर्म और राग से भिन्न होने पर भी मिथ्यादृष्टि मोह में गहलता में (मानता है कि) मैं राग हूँ, कर्म से बँधा हुआ हूँ। देखो, शास्त्र में कर्म से बँधा हुआ तो कहा है।

मुमुक्षु : किस नय से कहा है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहारनय से। यह व्यवहारनय है, वह झूठा है, ऐसा कहा। असद्भूतनय के साथ यह अपना... राग, वह निश्चय से असद्भूत है। आहाहा! राग का विकल्प हो या कर्मसम्बन्ध, उस सम्बन्धरहित—बन्धरहित चीज़ है, ऐसा कहते हैं। सम्बन्धरहित कहो या बन्धरहित कहो। ऐसा आत्मा सदा ही ऐसी चीज़ होने पर भी मोह

की भ्रान्ति से मिथ्यात्वी होकर, राग, वह मैं; कर्म, वह मैं; कर्मबन्धन में हूँ—यह मान्यता मिथ्यात्वी की है।

करै विकल्प अनंत... मैं नारकी हूँ, मैं मनुष्य हूँ, मैं देव हूँ, मैं क्रोधी हूँ, मैं मानी हूँ, लोभी हूँ, रागी हूँ, द्वेषी हूँ, देव हूँ—ऐसे अनन्त विकल्प मिथ्यादृष्टि '**अहंमति धारिकै...** रागादि में और परादि में अहंपना मानकर अनन्त ऐसे विकल्प करता है। है नहीं, ऐसा मानकर अनन्त विकल्प करता है, ऐसा कहते हैं। **सो मुनि जो थिर होइ...** उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं। मुनि... '**यतयः**' शब्द पड़ा है सही। **थिर होइ, ममत निवारिकै...** राग और कर्म वे मुझमें हैं ही नहीं। ऐसे पर का ममत्व छोड़कर और अपने आनन्दस्वरूप में स्थिर एकत्वरूप से रहता है, उसे यहाँ समकिती अथवा मुनि कहते हैं। कहो, समझ में आया? विकल्प अनन्त करता है। उसमें बड़ी व्याख्या है न पूरी। नारकी हूँ, मनुष्य हूँ, देव हूँ, क्रोध हूँ, मान हूँ, मैं पुण्यवाला हूँ, पापवाला हूँ। आहाहा! जिससे रहित है, उससे सहित मानने का विकल्प स्वयं मिथ्यात्वभाव है, ऐसा कहते हैं। अब, **सम्यग्दृष्टि जीव आत्मस्वरूप में स्थिर होते हैं।** यह श्लोक आया ग्यारह।

सर्वत्राध्यवसान-मेव-मखिलं त्याज्यं यदुक्तं जिनै-
स्तन्मन्ये व्यवहार एव निखिलोऽप्यन्याश्रयस्त्याजितः।
सम्यङ्निश्चय-मेक-मेव तदमी निष्कम्पमाक्रम्य किं,
शुद्धज्ञानघने महिम्नि न निजे बध्नन्ति सन्तो धृतिम्।।११।।

★ ★ ★

काव्य - ३२

सम्यग्दृष्टि जीव आत्मस्वरूप में स्थिर होते हैं (सवैया इकतीसा)

असंख्यात लोक परवांन जे मिथ्यात भाव,
तेई विवहार भाव केवली-उकत हैं।
जिन्हकौ मिथ्यात गयौ सम्यक दरस भयौ,
ते नियत-लीन विवहारसौं मुकत हैं।।

निरविकलप निरुपाधि आतम समाधि,
साधि जे सुगुन मोख पंथकौं ढुकत हैं।
तेई जीव परम दसामैं थिररूप ह्वैकै,
धरममैं धुके न करमसौं रुकत हैं।।३२।।

शब्दार्थ:-असंख्यात लोक परवांन=जितने लोकाकाश के प्रदेश हैं। उकत=कहा हुआ। नियत=निश्चयनय। मुकत=छूटे हुए।

अर्थ:-जिनराज का कथन है कि जीव के जो लोकाकाश के प्रदेशों के बराबर मिथ्यात्वभाव के अध्यवसाय हैं, वे व्यवहारनय से हैं। जिस जीव को मिथ्यात्व नष्ट होने पर सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, वह व्यवहार छोड़कर निश्चय में लीन होता है, वह विकल्प और उपाधिरहित आत्म-अनुभव ग्रहण करके दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग में लगता है और वही परमध्यान में स्थिर होकर निर्वाण प्राप्त करता है, कर्मों का रोका नहीं रुकता।।३२।।

पद-३२ पर प्रवचन

असंख्यात लोक परवांन जे मिथ्यात भाव, तेई विवहार भाव केवली-उकत हैं। जितने असंख्या लोक प्रमाण पुण्य-पाप के विकल्प-भाव हैं, वे सब विभाव हैं और उतने ही मिथ्यात्व हैं। **तेई विवहार भाव केवली-उकत हैं...** मिथ्यात्वभाव को ही व्यवहारभाव कहा, व्यवहारभाव को मिथ्यात्वभाव कहा। आहाहा! यह बड़ी चर्चा चली थी इसके ऊपर। उस समय—बनारसीदास के समय श्वेताम्बर के मेघविजय (के साथ)। ऐसा कहे, 'व्यवहार, वह मिथ्यात्व?' यहाँ तो व्यवहार अर्थात् परवस्तु, विकल्प आदि, उस सहित वस्तु नहीं है। अबद्धस्पृष्ट है, वह सम्यग्दर्शन है और उस सम्यग्दर्शन का विषय है। ऐसा न मानकर वह व्यवहारवाला, रागवाला, पुण्यवाला, दया-दान-भक्ति-पूजावाला—ऐसा माना (तो) जितने व्यवहार, उतने मिथ्यात्व हैं। यह कठिन काम! समझ में आया? **तेई विवहार भाव...** असंख्यात लोक प्रमाण जो मिथ्यात्वभाव... **तेई विवहार भाव केवली-उकत हैं...** है न पाठ में? '**जिनै यदुक्तं... त्याज्यं जिनै**

यदुक्तं।' आहाहा! जितने विकल्प, वे सब स्वभाव में नहीं और वह विकल्प असंख्य प्रकार के वे मेरे, वह पराश्रित भाव, वे मेरे—यह जितने भाव उतने मिथ्यात्व हैं। कहो, समझ में आया?

असंख्यात लोकप्रमाण... जो यह लोक है न लोक, उसके आकाश के प्रदेश हैं असंख्य—ऐसे असंख्यात लोकप्रमाण शुभ-अशुभभाव है। वह सब विभाव है, पर है, बन्धभाव है। वह सब 'मेरे' (यह मान्यता) उतने मिथ्यात्वभाव हैं। कहो, समझ में आया? 'व्यवहार, वह मिथ्यात्व?' ऐसा कहे वापस। किस अपेक्षा से कहा है? कि जो उसमें नहीं, ऐसे विभावभाव के असंख्य दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, भगवान स्मरण, भगवान की भक्ति—यह सब परिणाम व्यवहार है, पर-आश्रित है और उतने परिणाम 'मेरे' हैं अथवा 'उन परिणाम सहित हूँ' तो जितने परिणाम हैं, उतने मिथ्यात्व (भाव) है। आहाहा! समझ में आया? भारी कठिन लगे वर्तमान लोगों को तो। व्यवहार का अवलम्बन है न, व्यवहार से होता है। निश्चय-व्यवहार का आया था। अब चलने लगी हैं यह सब बातें। व्यवहार तो, भले शरीर के आश्रित व्यवहार, परन्तु वह साधन है, निश्चय साध्य है। ऐसा बड़ा लेख लिखा है वह पन्नालाल कोई दादरवाला। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, जिसे तू विकल्प आदि को व्यवहार साधन कहता है, वह सब निमित्त की व्याख्या शास्त्र ने की है। परन्तु वह सब 'मेरे' हैं, (यह मान्यता) उतना सब मिथ्यात्वभाव है। आहाहा! अबन्धस्वभावी भगवान आत्मा में आस्रव और राग और कर्म, वह सब बन्धभाव है। एक भावबन्ध, एक द्रव्यबन्ध। उससे रहित है, तो भी उसे सहित मानना, (वह) जितना व्यवहार, उतना मिथ्यात्व है। आहाहा! **जिन्हकौ मिथ्यात्व गयौ...** पाठ में तो ऐसा ही लिया है न कि भगवान ने जब (कहा कि) पर को मारता हूँ, जिलाता हूँ, सुखी-दुःखी करता हूँ, अनुकूलता देता हूँ, प्रतिकूलता देता हूँ—ऐसा जो अध्यवसाय, वह मिथ्यात्व है, उसे छोड़। ऐसा कहने से आचार्य कहते हैं कि पर का कर सकता हूँ, जिलाऊँ, मारूँ, सुखी-दुःखी करूँ—ऐसे भाव को जब भगवान अध्यवसाय और मिथ्यात्व कहते हैं, तो मैं तो ऐसा कहता हूँ.... है न पाठ में?

'व्यवहार एव निखिलोऽपि... तन्मन्ये व्यवहार एव निखिलोऽपि' तो भगवान ऐसा कहना चाहते हैं कि पर का करूँ, जिलाऊँ, मारूँ, सुखी-दुःखी करूँ, शस्त्र लूँ,

शस्त्र से काम लूँ, शरीर से काम लूँ, वाणी से काम लूँ—ऐसी जो एकत्वबुद्धि, उतना अध्यवसाय है, वह मिथ्यात्व है। उसका भगवान ने त्याग कहा है। तो आचार्य कहते हैं कि उसका तो त्याग है, परन्तु उसकी अपेक्षा में ऐसा मैं मानता हूँ कि जितना पराश्रयभाव होता है, वह सब व्यवहार है, भले एकत्वबुद्धि न हो। समझ में आया?

यह देव-गुरु और शास्त्र के आश्रय से भी जो भाव होता है, वह सब व्यवहार है, उसे भगवान ने छुड़ाया है। है न उसमें? '**अन्याश्रयस्त्याजितः**' दूसरे पद में है। '**निखिलोऽप्यन्याश्रयस्त्याजितः**' आहाहा! गजब बात है! देव-गुरु-शास्त्र, त्रिलोकनाथ तीर्थंकर परमेश्वर का आश्रय लेने जाये, वहाँ राग होता है। वह व्यवहार है और उसका त्याग भगवान ने कहा है। आहाहा! समझ में आया? अध्यवसाय त्याज्य जब भगवान ने कहा, तब तो मैं ऐसा मानता हूँ कि '**व्यवहार एव निखिलोऽप्यन्याश्रयस्त्याजितः**' अमृतचन्द्राचार्य, कुन्दकुन्दाचार्य ऐसा कहते हैं कि 'हम तो ऐसा मानते हैं कि जितना परद्रव्य की क्रिया का कर्ता हूँ, ऐसा जो अध्यवसाय एकत्वबुद्धि, उसे जब भगवान ने छुड़ाया है, तो मैं ऐसा जानता हूँ कि पर के आश्रय से जितना विकल्प उठे, उस व्यवहार को भी भगवान ने छुड़ाया है।' समझ में आया? मार्ग बहुत अलौकिक मार्ग है! साधारण को तो अन्दर...

जिन्हकौ मिथ्यात गयौ सम्यक दरस भयौ,... देखो! जितने विकल्प शुभ के पर-आश्रित, वे भी छोड़नेयोग्य हैं। उन्हें आदरनेयोग्य (मानता) है और वे मुझे हैं—इतने भाव सब मिथ्यात्व है। तब वह मिथ्यात्व अन्य आश्रित क्रिया के या अन्य आश्रित परिणाम के... **मिथ्यात गयौ सम्यक दरस भयौ,...** अकेला आत्मा शुद्ध चैतन्य ज्ञायक, वह 'मैं' ऐसा अनुभव हुआ। **ते नियत लीन...** सम्यग्दृष्टि की स्वभाव में एकाग्रता, वह उसकी स्थिति है। **विवहारसौं मुक्त है...** ओहोहो! व्यवहार साधन है, निश्चय साध्य है। व्यवहार कारण है, निश्चय कार्य है। व्यवहार हेतु है, हेतुमान निश्चय है—यह सब निमित्त के कथन हैं। यह तो ज्ञान कराया है। आहाहा!

मुमुक्षु : छोड़ा तब कारण कहलाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कारण कहाँ था? वह तो कारण यह है, उसे निमित्त का आरोप दिया है। कारण दो है ही नहीं, कारण तो एक ही है। कारण का कथन दो प्रकार

से है, निरूपण दो प्रकार से है। निश्चय से कारण दो है ही नहीं। आहाहा! इसी प्रकार सम्यग्दर्शन दो है ही नहीं। स्व के आश्रय से दृष्टि अनुभव हुआ, वही सम्यग्दर्शन है। परन्तु सम्यग्दर्शन का निरूपण दो प्रकार से है। एक निश्चय सम्यग्दर्शन और विकल्प उठा देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का, उसे आरोपित सहचर देखकर व्यवहार समकित कहा है, परन्तु है नहीं। समझ में आया? आहाहा!

बन्ध अधिकार है न। जो भाव पराश्रित है, वह सब बन्ध का कारण है। इसलिए धर्मी को बन्ध के कारणभाव की दृष्टि छूट गयी है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? सम्यग्दृष्टि तो नियत में लीन है। अपना शुद्धस्वरूप निर्मल, उसमें उसकी एकाग्रता है। आहाहा! और विकल्प जो व्यवहार है, निर्विकल्प दृष्टि और अनुभव में उस विकल्प का भी अन्दर त्याग है। उसकी पर्याय में विकल्प नहीं, ऐसा यहाँ तो कहते हैं। समझ में आया? जिसकी पर्याय में शुभराग है, ऐसा जिसने माना है, तो जितने प्रकार के शुभ हैं, उतने प्रकार के मिथ्यात्वभाव है। गजब काम भाई ऐसा! ऐसी बात तो सुनना कठिन पड़े। भगवान आत्मा... आत्मा किसे कहते हैं? राग और आस्रव, वह आत्मा? वह तो भिन्न तत्त्व है। राग, आस्रव, दया-दान, व्रत, भक्ति, पूजा, भगवान का स्मरण, सब पर—वह तो आस्रवतत्त्व है। तो आस्रवतत्त्व सहित 'मैं' हूँ, इतने व्यवहार भाव, वे सब मिथ्यात्व है। यह तो उथल-पुथल का काम है।

वे कहे कि व्यवहार को मिथ्यात्व कहते हो। परन्तु किस अपेक्षा से कहा? अन्य आश्रित भाव, वह 'मेरा' है, उतना उसका नाम मिथ्यात्व है। चाहे तो अरिहन्त भगवान, पंच परमेष्ठी के आश्रय से भक्ति और उनकी श्रद्धा, वह भाव राग और पराश्रित है। और वह पराश्रित भाव 'मेरा है, मुझमें है, उससे मुझे लाभ होता है'—इतने सब मिथ्यात्वभाव है। प्रेमचन्दभाई! ऐसी बातें बहुत कठिन! यहाँ तो कहे, 'गुरु की बराबर श्रद्धा करो, मानो, रुचि करो, तुम्हारा कल्याण हो जायेगा।' यहाँ इनकार करते हैं। ऐई! 'ज्ञानी को पकड़ो बराबर श्रद्धा में, तुम्हारा कल्याण हो जायेगा।' यहाँ कहते हैं, ज्ञानी परद्रव्य है, उसे पकड़ने से राग होता है और राग से लाभ होता है, (ऐसा मानना), वह मिथ्यात्वभाव है। भारी काम भाई कठिन यह तो!

यह श्लोक ही ऐसा है। क्योंकि २७२ के पहले का है न यह? २७२ (गाथा)।

'**व्यवहारनयः प्रतिषिद्धो जानीहि निश्चयनयेन**'। व्यवहार, वह प्रतिषिद्ध है। स्व का आश्रय करने से पर का आश्रय उसमें आता नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! धर्मी को जितना पराश्रयभाव उत्पन्न होता है, उतना भाव स्वाश्रयभाव से रहित भाव है। आहाहा! गजब बात है! लो, गजब की बात करते हैं न! हमारे मूलचन्द कापड़िया। जहाँ-तहाँ गजब... गजब... बहुत भाषा प्रयोग करते हैं। मूलचन्द कापड़िया। सूरतवाले नहीं? जहाँ-तहाँ प्रयोग करे 'गजब का व्याख्यान था। गजब का ऐसा था।' ऐसी भाषा बहुत प्रयोग करे। गजब तो यह है! आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि पर आश्रय... 'पर का करूँ, जिलाऊँ, सुखी करूँ, दूसरे को मोक्ष कर दूँ, दूसरे को नरक में डालूँ, दूसरे को सुविधा दूँ, शस्त्रों द्वारा और हाथ द्वारा मैं काम करूँ'—यह सब परद्रव्य की एकत्वबुद्धि का मिथ्यात्वभाव है। कहो, समझ में आया? ऐसे भगवान को 'स्वाहा' होवे न ऐसे, वह देह की क्रिया मेरी है और उससे मुझे लाभ होता है—इतने मिथ्यात्वभाव हैं। ....गजब! इसके अतिरिक्त... अब इसके अतिरिक्त आया वापस। स्वाहा... स्वाहा... वाणी में लेने से... अब आया विकल्प उसमें, पराश्रयी है न विकल्प। भगवान यह है, ऐसे परमात्मा (का विकल्प)। वह विकल्प भी मेरा है और उस विकल्प से मुझे लाभ होगा—इतने भाव सब मिथ्यात्व है। ऐसा है। ऐई!

सम्यप्रदाय में तो यह भाई मुश्किल पड़े, हों! रहने न दे। वह भी लिखा है। अब चला है न वह।

मुमुक्षु : सम्प्रदाय में व्यवहार से लाभ होता है, इस मान्यता के ऊपर ही चले हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसके ऊपर तो यह बात है। उसकी जगह ऐसा हो, ऐसा हो, उसकी ही लगायी है। 'व्यवहार साधन।' अरे भाई! वह तो निमित्त का ज्ञान कराया है। स्वरूप के आश्रय से साधन होता है, वहाँ जो निमित्त की योग्यता प्रमाण राग की मन्दता उसकी भूमिका प्रमाण कितनी थी, उसका ज्ञान कराया है। वह साधन-बाधन है नहीं। आहाहा! गजब बात है। जिसे साधन कहा, उसे साधन माने तो मिथ्यात्व है, ऐसा कहते हैं। क्योंकि वह तो व्यवहारनय का कथन है और व्यवहारनय को मानना, हेय है उसे (उपादेय) मानना और उससे लाभ मानना, (वह) मिथ्यात्व है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

असंख्यात लोक परवांन जे मिथ्यात भाव, तेई विवहार भाव केवली-उकत हैं। आहाहा! **तेई विवहार भाव...** मिथ्यात्व, वह व्यवहार और व्यवहार, वह मिथ्यात्व। आहाहा! ऐसा **केवली-उकत है...** ऐसा केवली परमात्मा सर्वज्ञदेव की दिव्यध्वनि में ऐसा आया है। ऐसा कि व्यवहारभाव, वह परभाव है, विभाव है और विभाव है, वह स्वभाव से भिन्न है। उसे एकत्वरूप से मानना अथवा उस विभाव से मुझे लाभ होगा, (यह) आत्मा की मान्यता जितने प्रकार शुभ के, उतने (प्रकार) मिथ्यात्व के हैं। आहाहा! **जिन्हकौ मिथ्यात गयौ सम्यक दरस भयौ...** पर के आश्रय से लाभबुद्धि हटकर चैतन्य के आश्रय से लाभ हुआ—ऐसी जहाँ मान्यता सम्यक्त्व की हुई, वह तो स्वभाव के स्वाश्रय में ही एकत्व है। पराश्रयभाव से तो वह मुक्त है। आहाहा! जिससे मुक्त है, उससे उसे लाभ होगा? भारी कठिन!

वाद-विवाद करने बैठाया हो। उसमें चर्चा... कहा न, एक बार बहुत चर्चा हुई थी। यहाँ एक साधु आये थे न विद्याविजय, नहीं? धर्मविजय के शिष्य। कैसा कहलाये, शिवपुरी? शिवपुरी। अपने गये थे शिवपुरी? एक बार गये थे। शिवपुरी गये थे एक बार। वहाँ दिगम्बर के घर हैं। वे आये थे यहाँ। बहुत चर्चा चली। विद्याविजय थे, ४० वर्ष की दीक्षा और यह थे कल्याणचन्दजी में से देवचन्दजी और... कल्याणचन्द और सब थे। छह-आठ व्यक्ति सब बैठे हुए। चर्चा होते-होते कहा, 'करम-फरम को आत्मा करे, यह बात आत्मतत्त्व में नहीं और कर्म से जीव में विकार हो, यह वस्तु का स्वरूप नहीं।' तब कहे, 'परन्तु यह सब अभी तक चलता है न?' 'चले चाहे जो चले, चले अर्थात् अज्ञान से चलता है' कहा। फिर जब पहुँचे नहीं न्याय में, इसलिए खड़े हुए। चालीस वर्ष की दीक्षा। बहुत वर्ष पहले की बात है, हों! लगभग बीस वर्ष हुए होंगे। यहाँ समयसार नाटक.... 'यह ४० वर्ष से मुँडाया है, कुछ तो लाभ होगा या नहीं?' कहे। (संवत) ९८? यह तो वे... वह तो दर्शनविजय। यह तो विद्याविजय। वह त्रिपुटी। यह वल्लभचंद... धर्मविजय के शिष्य।

वे (संवत्) १९९८ में अपने आये थे। ९९ में पौष महीने में। दर्शनविजय त्रिपुटी। वह तो कहे कि अपने को यह कुछ खबर नहीं पड़ती। मैंने कहा, भव्य या अभव्य हैं, यह खबर पड़ती है? कहे, 'खबर नहीं पड़ती।' तब तुम परीक्षा करने

निकल गये। यह तो वीतराग की वाणी और यह गुरु की वाणी। दर्शनविजय, ज्ञानविजय और चारित्रविजय की त्रिपुटी। बहुत कहने लगे कि यह गुरु की वाणी कहलाती है, भगवान की वाणी नहीं। बहुत अच्छी बात, कहा, तुम्हारा क्या नाम है? कहा। मेरा नाम दर्शनविजय। भव्य हो या अभव्य यह निर्णय किया? कहे, नहीं। कहे, भव्य-अभव्य का निर्णय नहीं किया? और गुरुवाणी का, वीतराग वाणी का निर्णय करने बैठे तुम? परन्तु ... पकड़ हो न इसलिए... फिर घूमने लगे। यह तो आया, यह तो जो था, वह आ गया।

यह तो फिर (संवत्) १९९९ में गये थे न कांप में। थे न पूनम, कैसे? पूनमचन्दजी। स्थानकवासी पूनमचन्दजी। रतनशी के शिष्य और यह थे। दोनों वहाँ गये पूनमचन्दजी के पास। 'हम दोनों इकट्ठे होकर श्वेताम्बर—स्थानकवासी, मन्दिरमार्गी, उनका (कानजीस्वामी का) विरोध करेंगे।' वह कहे, 'अब रहने दो विरोध करना, मुझे पकड़ा था एक शब्द में वहाँ मुफ्त में। बात चलती थी उसमें पकड़ा। कहे, भव्य हो या अभव्य? दर्शनविजय नाम तुम्हारा ऐसा न?' यह खबर नहीं पड़ती भव्य-अभव्य की, नाम निश्चित् का ठिकाना नहीं मिले। अनन्त संसार में से कभी निकलेगा (या) नहीं, इसका अभी निर्णय नहीं, वह तुमको वीतरागवाणी की परीक्षा आवे, बिल्कुल खोटी बात है। एक बात।

और वह कहे, तब.... यह तो २००० के बाद, हों! (संवत्) २००० का चातुर्मास था न यहाँ वापस भावनगर में चातुर्मास था देवचन्दजी का। २००० में था। वे फिर आये थे यहाँ। यह २००० के बाद। छह-आठ ठाणा थे। कल्याणजी थे, वे देवचन्दजी थे, वह थे आचार्य हैं न एक? यति हो गया। उसे बैठाया था केशरचन्दजी ने। सब थे छह-आठ ठाणा। वे दो ठाणा थे विद्याविजयजी। कहा, कर्म से आत्मा का विकार होता नहीं और करम-फरम का पर का आत्मा कुछ कर नहीं सकता। अभी इतना ठिकाना नहीं। भगवान जाने, अब ४० वर्ष से मुँडाया है। क्या मुँडाया? मुँडाया, लौंच किया, वह तो जड़ का है। अन्तर से मुँडाये बिना बाहर का मुँडन! आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, जिसे पराश्रयी भाव—चाहे तो तीन लोक के नाथ और नौ तत्त्व और आगम—परमागम वीतराग की वाणी, उसकी भक्ति और उसके आश्रय से होनेवाला शुभभाव—वह बन्ध है, बन्ध का कारण है। यह बन्ध अधिकार है। बन्ध के कारण को

अपना स्वरूप माने, वह मिथ्यादृष्टि है। कहो, समझ में आया इसमें ? यह इसमें कहते हैं, **जिन्हकौ मिथ्यात गयौ सम्यक दरस भयौ...** यह तो नियत बन्धभाव से भिन्न पड़ गया है, ऐसा कहते हैं। बन्धभाव अर्थात् राग, शुभराग, उसका भी आश्रय जिसने छोड़ा है और स्वभाव का आश्रय किया है। चिदानन्द भगवान का आश्रय लेकर सम्यग्दर्शन हुआ, वह स्वभाव की निर्मल पर्याय में एकत्व है। राग और विकल्प से तो भिन्न पड़ गया है। आहाहा! समझ में आया ?

निरविकलप निरुपाधि आतम समाधि... अब देखो। राग से भिन्न पड़ा हुआ सम्यग्दृष्टि आत्मा क्या साधता है ? कहते हैं, क्या उस व्यवहार से भिन्न पड़ा, उसे साधता है ? **निरविकलप निरुपाधि आतम समाधि, साधि जे सुगुन मोख पंथकौं ढुकत हैं।** आहाहा! **वह व्यवहार छोड़कर निश्चय में लीन होता है। वह विकल्प और उपाधिरहित आत्म-अनुभव प्रगट करके दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग में लगता है।** सम्यग्दृष्टि—धर्मी तो स्वभाव सन्मुख की एकाग्रता में लगे हुए हैं। अपने शुद्धस्वरूप की श्रद्धा, शुद्ध का ज्ञान और शुद्ध में लीनता—ऐसी निर्विकल्प चीज़, राग की उपाधिरहित आतम समाधि... ऐसा जो आत्मा, उसकी रागरहित शान्ति, व्यवहाररहित समाधि... व्यवहार तो असमाधि है। आहाहा! समझ में आया ?

व्यवहारभाव तो राग है और राग है, वह तो असमाधि और अशान्ति और आकुलता है। क्या साधे ? सम्यग्दृष्टि साधे क्या ? कि निर्विकल्प अस्ति तत्त्व पूर्णानन्द और राग की उपाधिरहित, ऐसे आत्मा की समाधि। वह अन्तर शान्ति, रागरहित शान्ति को साधे। **साधि जे सुगुन,...** लो। **आत्म अनुभव ग्रहण करके दर्शनज्ञानचारित्ररूप मोक्षमार्ग में लगता है। 'मोख पंथकौ ढुकत है।'** राग से भिन्न पड़कर स्वभाव-सन्मुख की एकता में वह लगा हुआ है। आहाहा! कैसी बात की है, देखो न! महाप्रभु चैतन्य, वह विकल्प से भिन्न है, ऐसी दृष्टि हुई, तो आत्मा में लगा हुआ है, वह व्यवहार में लगा हुआ नहीं। व्यवहार का साधन करे तो निश्चय हो, ऐसा है नहीं—ऐसा कहते हैं। आहाहा! भारी कठिन काम! बड़ा आकाश फटा है चारों ओर उल्टा। अब यह बात उसे (कैसे बैठे ?) हा-हो, हा-हो। धामधूम से धमाधम चली, ज्ञानमार्ग रहा दूर। क्या हो ? आहाहा!

कहते हैं, **'मोख पंथकौ ढुकत है।'** व्यवहार से मुक्त है और मोक्षपंथ में ढुकत

है। निश्चय में लीन है और मोक्षमार्ग में लगा है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! राग-विकल्परहित निर्विकल्प चीज़ प्रभु आत्मा की, उसकी जहाँ दृष्टि हुई, वह राग से मुक्त है और स्वभाव के साधक में जुड़ गया है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! व्यवहार तो निभाना है और निश्चय में आना है।

मुमुक्षु : दो बात कैसे बने?

पूज्य गुरुदेवश्री : जो छोड़नेयोग्य है, उसे निभाना है। आहाहा! गजब बात है बापू! कठिन काम है। यह तत्त्व... वास्तविक तत्त्व... अभी तो इसकी समझण में अन्तर है, कहते हैं। व्यवहार से होगा, व्यवहार साधन करूँगा तो उससे निश्चय होगा। यह तेरे व्यवहारश्रद्धा में अन्तर है। निश्चय तो है नहीं, परन्तु सम्यक् व्यवहारश्रद्धा चाहिए अभी, उसका भी ठिकाना नहीं। आहाहा! समझ में आया? '**साधि जे सुगुन मोख पंथकौ ढुकत है...** आहाहा! यह तो आत्मा शुद्धता का अनुभव करके शुद्धता में शुद्धता को ही साधता है, लो। 'ढुकत' का अर्थ 'लगता है'।

तेई जीव परम दसामैं थिररूप व्हैकै... परम दसामैं थिररूप व्हैकै... वह राग है व्यवहार, वह तो विनय में गया पर में। अपना शुद्धस्वभाव चैतन्य ज्ञायक आनन्दस्वरूप की निर्मल पर्याय उसमें स्थिरतारूप से दशा में **व्हैकै धरममैं धुके,...** लो। अपना निज स्वभाव शुद्ध, उसमें धुके—जुड़ता है। **न करमसौं रुकत है...** राग से अब रोका जाये, ऐसा नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! कठिन बात! राग से रोका जाये नहीं, क्योंकि उससे भिन्न पड़ा, उसे अब कौन रोके? ऐसा कहते हैं। भाई! बात तो अभी समझण में लेना कठिन पड़े, प्रयोग करना तो और.... ऐसा स्वरूप अन्धाधुन्धी चला है और वास्तविक मार्ग दूर रह गया है। आहाहा! करो वाद-विवाद। वाद-विवाद से कुछ पार नहीं पड़ता बापू! क्योंकि शास्त्र में कथन व्यवहार के बहुत आते हैं। निमित्त देखकर कहा है या नहीं? हस्तावलम्बन देखकर (कथन) बहुत आते हैं, परन्तु उसका फल तो संसार है।

भगवान ने कहा किसलिए?

मुमुक्षु : छोड़ने के लिये।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसे जानना कि ऐसा राग अन्दर मन्द होता है, मुनि होते हैं

उन्हें या समकिती हो, उसे ऐसा राग होता है, इतना ज्ञान कराने के लिये; आदरने के लिये नहीं। आहाहा! **धरममैं धुके,...** लो। **परमध्यान में स्थिर होकर निर्वाण प्राप्त करता है। 'न करमसौं रुकत है' कर्मों का रोका नहीं रुकता।** आहाहा! यों भी कहाँ कर्म इसे रोकता था? स्वयं राग में प्रीति करके स्वयं रुकता था। वह राग की प्रीति छूटकर स्वभाव की दृष्टि हुई; इसलिए अब राग से रोका जाये, ऐसा नहीं। आहाहा! कठिन बातें भाई ऐसी! अनन्त काल के संसार का अन्त लाना, यह वह कहीं साधारण बात है? और अनन्त-अनन्त काल शान्ति की प्राप्ति समाधि की रहे, उसका उपाय तो अपूर्व ही होगा न! आहाहा! लो, यह पूरा हुआ।

अब शिष्य का प्रश्न। १२वाँ कलश। नीचे है न १२?

रागादयो बन्धनिदानमुक्तास्ते शुद्धचिन्मात्रमहोऽतिरिक्ताः।
आत्मा परो वा किमु तन्निमित्तमिति प्रणुन्नाः पुनरेवमाहुः ।।१२।।

★ ★ ★

काव्य - ३३

शिष्य का प्रश्न (कवित्त)

जे जे मोह करमकी परनति,
बंध-निदान कही तुम सब्ब।
संतत भिन्न सुद्ध चेतनसौं,
तिन्हकौ मूल हेतु कह अब्ब।।
कै यह सहज जीवकौ कौतुक,
कै निमित्त है पुग्गल दब्ब।
सीस नवाइ शिष्य इम पूछत,
कहै सुगुरु उत्तर सुन भब्ब।।३३।।

शब्दार्थः-परनति=चाल। निदान=कारण। संतत=सदैव। मूल हेतु=मुख्य कारण। कौतुक=खेल।

अर्थः-शिष्य मस्तक नवाकर प्रश्न करता है कि हे गुरुजी! आपने मोहकर्म की सब परिणति बंध का कारण कही है, सो वह शुद्ध चैतन्यभावों से सदा निराली ही है। अब कहिये बन्ध का मुख्य कारण क्या है? बन्ध जीव का ही स्वाभाविक धर्म है अथवा इसमें पुद्‌गल द्रव्य का निमित्त है? इस पर श्रीगुरु उत्तर देते हैं कि हे भव्य! सुनो।।३३।।

काव्य-३३ पर प्रवचन

अब शिष्य प्रश्न करता है, **जे जे मोह करमकी परनति, बंध-निदान कही तुम सब्ब।** कर्म के निमित्त से होनेवाले विकारी भावों की परिणति, वह तो बन्ध का कारण आपने कहा। आपने तो ऐसा कहा कि शुभराग से भी आत्मा तो सतत निरन्तर भिन्न है। **तिन्हकौ मूल हेतु कहु अब्ब, कै यह सहज जीवकौ कौतुक...** जो विकार बन्ध का भाव है, बन्ध का निदान तो आपने विकारी परिणाम कहा। और कहा कि विकारी परिणाम से आत्मा भिन्न है। अब बन्ध का कारण कहना किसे? वह तो भिन्न परचीज़ है और आपने उसे बन्ध का कारण कहा। आहाहा! **संतत भिन्न सुद्ध चेतनसौं...** ज्ञान और आनन्द ऐसा प्रभु, उससे निरन्तर भिन्न है राग-विकल्प, तो उसका कारण कौन है? राग हो, उसका कारण कौन? विकारभाव—विभावभाव, उससे आपने भगवान आत्मा को भिन्न कहा और फिर उससे बन्ध कहा। परन्तु जिससे भिन्न है, उससे बन्ध हो उसे क्या? यह क्या कहते हो आप? ऐसा कहते हैं।

इसमें भी बड़ी गड़बड़ है। **कै यह सहज जीवकौ कौतुक...** यह विकार, वह जीव का कौतुहल है? **कै निमित्त है पुग्गल दब्ब...** या पुद्‌गलद्रव्य निमित्त है, उससे होता है यह? **कहै सुगुरु उत्तर सुन भब्ब...** हे भव्य! सुन तब, कहा उसका उत्तर। तुम कहते हो कि यह बन्धन... यह पुण्य और पाप विकल्प आदि कर्मपरिणति है, वह बन्धन का कारण है। तथा एक ओर कहा कि विकल्प से तो भगवान भिन्न है। राग से तो आत्मा भिन्न है। अब तेरे बन्ध का हेतु कौन? इस विभाव का कारण कौन? ऐसा शिष्य प्रश्न करता है। उसका उत्तर। है न भावार्थ में आ गया न!

अर्थ :- **शिष्य मस्तक नवाकर प्रश्न करता है कि हे गुरुजी! आपने मोहकर्म**

की सब परिणति बन्ध का कारण कही है, सो वह शुद्ध चैतन्यभावों से सदा निराली है। अब कहिये बन्ध का मुख्य कारण क्या है ? बन्ध जीव का ही स्वाभाविक धर्म है ? कुतुहल। राग स्वाभाविक धर्म है ? **अथवा इसमें पुद्गलद्रव्य का निमित्त है ?** या पुद्गल के कारण होता है ? ऐसा कहते हैं। कर्म के कारण होता है या जीव का यह वह कोई स्वाभाविक धर्म है ? **इस पर श्रीगुरु उत्तर देते हैं कि हे भव्य! सुनो।** १३वाँ कलश नीचे।

न जातु रागादिनिमित्तभावमात्मात्मनो याति यथार्ककान्तः।
तस्मिन्निमित्तं परसङ्ग एव वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत् ।।१३।।

यहाँ सब विवाद। वे यहाँ कहे कि पर के कारण विकार होता है। ऐसा यहाँ भगवान ने कहा है। यहाँ कहते हैं कि तू पर का संग करे तो ममता करने से भाव होता है। समझ में आया ? यह कहते हैं, लो! स्फटिकमणि का दृष्टान्त दिया। नहीं था २००६ के वर्ष में वहाँ ? राजकोट... उसने लिखा है। अकेला आत्मा अपने कारण से विकार नहीं करता, वह तो पर के कारण से विकार करता है। स्फटिकमणि। स्फटिकमणि अकेला रंगवाला होता नहीं, उसे रंग के निमित्त कारण, उसके कारण रंग का कारण होता है। इसी प्रकार जीव अकेला विकार नहीं करता, कर्म के कारण विकार होता है। खोटी बात है, कहते हैं, तुझे खबर नहीं। निमित्त के संग (में) तू ममता करता है, इसलिए तुझे विकार होता है। वह बन्ध का कारण है।

★ ★ ★

काव्य - ३४

शिष्य की शंका का समाधान (सवैया इकतीसा)

जैसैं नाना बरन पुरी बनाइ दीजै हेठ,
उज्जल विमल मनि सूरज-करांति है।
उज्जलता भासै जब वस्तुकौ विचार कीजै,
पुरीकी झलकसौं बरन भांति भांति है।।
तैसैं जीव दरबकौं पुग्गल निमित्तरूप,

ताकी ममतासौं मोह मदिराकी मांति है।
भेदग्यान द्रिष्टिसौं सुभाव साधि लीजै तहां,
सांची शुद्ध चेतना अवाची सुख सांति है।।३४।।

शब्दार्थ:-नाना बरन=अनेक रंग। पुरी=डांक। हेठ=नीचे। करांति (क्रान्ति)= चमक। मांति=उन्मत्तता। अबाची=वचन-अगोचर।

अर्थ:-जिस प्रकार स्वच्छ और सफेद सूर्यक्रान्ति अथवा स्फटिकमणि के नीचे अनेक प्रकार के डाँक लगाये जावें तो वह अनेक प्रकार का रंग-बिरंगा दिखने लगता है, और यदि वस्तु का असली स्वरूप विचार किया जावे तो उज्ज्वलता ही ज्ञात होती है, उसी प्रकार जीवद्रव्य में पुद्गल के निमित्त से उसकी ममता के कारण मोह-मदिरा की उन्मत्तता होती है, पर भेदविज्ञान द्वारा स्वभाव सोचा जावे, तो सत्य और शुद्ध चैतन्य की वचनातीत सुख-शान्ति प्रतीत होती है।।३४।।

काव्य-३४ पर प्रवचन

जैसैं नाना बरन पुरी बनाइ दीजै हेठ,
उज्जल विमल मनि सूरज-करांति है।
उज्जलता भासै जब वस्तुकौ विचार कीजै,
पुरीकी झलकसौं बरन भांति भांति है।।
तैसैं जीव दरबकौं पुग्गल निमित्तरूप,
ताकी ममतासौं मोह मदिराकी मांति है।

देखो! कर्म के निमित्त में तेरी ममता है। वह मोह मदिरा की भाँति मिथ्यात्वभाव है। आहाहा! कर्म के निमित्त में तेरी ममता है। यह कर्म मुझे है, यह कर्म मेरा है—ऐसी जो कर्म में ममता, वह मदिरा मोह है, वह मिथ्यात्वभाव है। वह तुझसे हुआ है। पर से हुआ नहीं, ऐसा कहते हैं। लो, ठीक।

भेदग्यान द्रिष्टिसौं सुभाव साधि लीजै तहां,
सांची शुद्ध चेतना अवाची सुख सांति है।।

लो।

जैसैं नाना बरन पुरी... अनेक प्रकार के बाहर के डंक। स्फटिकमणि हो, उसे काले, लाल आदि फूल का निमित्त हो, वह उसकी डाक कहलाती है। **बनाई दीजै हेठ, उज्जल विमल मनि सूरज करांति है...** वह (स्फटिकमणि) तो शुद्ध है। **जिस प्रकार स्वच्छ और सफेद सूर्यकान्त अथवा स्फटिकमणि के नीचे अनेक प्रकार के डाँक लगाये जायें तो,...** सूर्यकान्त—यह काँच अथवा स्फटिकमणि, **वह अनेक प्रकार का रंग-बिरंगा दिखने लगता है...** है तो सफेद परन्तु निमित्त के संग में तो रंग-बिरंगी दिखती है। **वस्तु का असली स्वरूप विचार किया जावे... उज्जवलता भासै, उज्जल विमल मनि सूरज करांति है।** जैसे **वस्तुकौ विचार कीजै...** स्फटिक का विचार करे, तब तो उज्ज्वल ही है, उसका स्वभाव उज्ज्वल ही है।

पुरीकी जलकसौं बरन भांति भांति है.... यह निमित्त के कारण से, निमित्त के संग से, निमित्त की ममता से **बरन भांति भांति...** स्फटिक में रंगराग दिखता है, ऐसा कहते हैं। यह तो पहला दृष्टान्त है। **पुरीकी झलकसौं...** लाल फूल की लाल झाँकी दिखती है, काले फूल की की काली झाँकी दिखती है स्फटिक में। **पुरीकी जलकसौं बरन भांति भांति है....** लो। निमित्त के कारण से वहाँ रंग-बिरंगी दिखती है, परन्तु वह निमित्त के संग से है, ऐसा कहते हैं।

तैसैं जीव दरबकौं पुग्गल निमित्तरूप... लो। इसी प्रकार भगवान आत्मा चैतन्यवस्तु, उसे विकार में पुद्गल निमित्त है। देखो, यह निमित्त का विवाद। **पुग्गल निमित्तरूप, ताकी ममतासौं...** यह यहाँ प्रश्न है। उसे निमित्त की ममता है कि मैं बन्ध में हूँ, बन्ध मुझे है—ऐसा जो ममत्व मिथ्यात्वभाव, **ताकी ममतासौं मोह मदिराकी भांति है...** लो। **जीवद्रव्य में पुद्गल के निमित्त से उसकी ममता के कारण...** देखो, कितना स्पष्ट किया है, स्वयं स्पष्ट किया है। **मोह मदिरा की उन्मत्तता होती है।** मिथ्यात्व और राग-द्वेष की गहलता उत्पन्न होती है। उस निमित्त की ममता के कारण से, निमित्त के कारण से नहीं। समझ में आया?

यह स्फटिकमणि का दृष्टान्त जहाँ हो वहाँ यही चलता है। एक व्यक्ति ने यह

डाला है उसमें। देखो, स्फटिकमणि स्वयं के कारण से रंग-बिरंगी नहीं होती, पर के कारण से रंग-बिरंगी होती है। परन्तु पर के कारण से का अर्थ? उसकी अपनी योग्यता है, इसलिए रंग-बिरंगी होती है। पर के कारण से रंग-बिरंगी हो तो लकड़ी को रंग-बिरंगी करो, लो। उसके नीचे रखो लाल, काला फूल। होगा? लकड़ी, यह लो लाल-लाल। लो, कुछ नहीं होगा। उसकी योग्यता बिना क्या हो? निमित्त क्या करे उसे? यह यहाँ कहते हैं।

निमित्त का विवाद, व्यवहार का विवाद, क्रमबद्ध का विवाद। पूरे पाँच का विवाद है। उपादान-निमित्त का विवाद, निश्चय-व्यवहार का विवाद और क्रमबद्ध—ये पाँच बोल सोनगढ़ के चर्चित जहाँ-तहाँ। इन पाँच में भूल है। यह तो एक में भूल तो पाँच में भूल है, ऐसा लो न। क्रमबद्ध को माने, वह यथार्थ सर्वज्ञ को मानता है... सर्वज्ञ (स्वरूपी) जीव है। जैसे केवली तीन काल-तीन लोक को जानते हैं, वैसे आत्मा तो अकेला जाननेवाला-देखनेवाला है। ऐसा जो निर्णय करे तो इसका अर्थ ही यह कि क्रमसर होता है, उसे जाननेवाला रहे और राग आवे, उसका जाननेवाला रहे। राग के कारण ज्ञात होता है, ऐसा है नहीं। इसलिए निमित्त से, व्यवहार से होता है, यह बात उड़ जाती है। और निश्चय और व्यवहार। निमित्त, वही व्यवहार है। व्यवहार से वहाँ ज्ञान होता है, ऐसा भी नहीं है, वह तो ज्ञान से ज्ञान होता है। निमित्त से ज्ञान होगा? वह तो ज्ञान का स्वभाव है, उससे ज्ञान होता है। पाँचों उड़ जाते हैं, एक गोली से।

वहाँ भी प्रश्न किया था सभा में। एक व्यक्ति ने प्रश्न किया। 'क्रमबद्ध की व्याख्या करो महाराज! समय—दिन बहुत हो गये। थोड़े दिन रहे। क्रमबद्ध की व्याख्या करो।' कहा, बराबर है। बराबर पूछा। टाईमसर पूछा तुमने। आवश्यक है यह, कहा। यह बात दो दिन चली थी। वह तो स्वयं अनुकूल था। परन्तु ऐसा प्रश्न किया खड़े होकर, सभा में। क्रमबद्ध का स्पष्टीकरण बराबर होना चाहिए। थोड़े दिन रहे। कितने रहे थे.... थोड़े रहे थे। दस-बारह दिन हो गये थे वहाँ। वह नहीं श्वासवाला? वकील था वह? उसे दम चढ़ता। फिर भजन बोला था। ... भजन। दम—श्वास चढ़े।

अरे भाई! क्रमबद्ध अर्थात् क्या? आत्मा ज्ञानस्वरूप सर्वज्ञ है। जैसे सर्वज्ञ ज्ञान है, वह जानता है। बस, जानता है। होता है, ऐसा जानता है। इसी प्रकार यहाँ हो, उसे

जाननेवाला ज्ञानस्वभाव है। और उस-उस समय में वह-वह होता है, उसका उस-उस समय में उसी प्रकार का ज्ञान स्वयं से होता है। आहाहा! इसीलिए फिर राग से होता है, यह रहता नहीं और आड़ा-टेढ़ा हो, यह भी रहता नहीं और व्यवहार से निश्चय होता है, यह बात भी रहती नहीं। ऐसे पाँचों ही खोटी (बातें) उड़ जाती हैं। आहाहा!

आत्मा ज्ञानस्वरूप है। उसका अपना त्रिकाली स्वभाव तीन काल—तीन लोक को जानने का है त्रिकाली। उसमें त्रिकाली में ज्ञानचेतना त्रिकाल पड़ी है। लो, ठीक। भाई का प्रश्न था। त्रिकाली में ज्ञानचेतना त्रिकाल पड़ी है। पर्याय नहीं; ध्रुव। एक त्रिकाल ज्ञानचेतना है अन्दर। बस, उसका ज्ञान होने पर पर्याय में ज्ञानचेतना प्रगट होती है। रागादि हो, उसे जाननेवाला रह जाता है, बस। यह कहना भी व्यवहार है। अपनी पर्याय को वास्तव में जानता है। यह असद्भूत व्यवहार से कथन है। मार्ग ऐसा है। नय का स्वरूप सत्य को स्पष्ट करने के लिये है, उसके बदले नय के स्वरूप में फँस गये। व्यवहार ऐसा है और फलाना ऐसा है और ढींकणा ऐसा है।

यहाँ तो कहते हैं, पुद्गल के निमित्त की ममता से उसे विकार होता है, मिथ्यादृष्टि को। समझ में आया? **भेदग्यान द्रिष्टिसौं सुभाव साधि लीजै तहां,...** देखो! कहते हैं कि निमित्त की ममता छोड़कर, पर की ममता और पर से भिन्न दृष्टि करके, **भेदग्यान द्रिष्टिसौं सुभाव साधि लीजै...** अपने शुद्धस्वभाव का साधन करे। विभाव की ममता छोड़। पर से होता है, यह बात छोड़ दे। **भेदग्यान द्रिष्टिसौं सुभाव साधि लीजै...** देखो! राग से भिन्न पड़ा, उसे स्वभाव साधना है। राग साधना है?

सांची शुद्ध चेतना अवाची सुख सांति है... वहाँ तो सच्ची शुद्धचेतना प्रगट होती है। .... **सोचा जावे तो सत्य और शुद्ध चैतन्य की वचनातीत अवाची सुख-शान्ति...** राग से भिन्न पड़कर—भेदज्ञान करके अन्तर के स्वभाव का साधन करने से सच्ची शुद्धचेतना और आनन्द—दोनों प्रगट होते हैं, ऐसा कहते हैं। ज्ञानचेतना और कर्मचेतना। कर्म अर्थात् ऐसी शुद्ध... कर्म है न वह। समझ में आया? ऐसी अवाची सुख शान्ति। राग से भिन्न पड़कर स्वभाव का साधन करने से कथन में न आवे, ऐसी शान्ति प्रगट होती है, उसे धर्म कहते हैं और वह धर्म का साधन है। ऐसा पूर्ण, वह साधन है, दूसरा कोई साधन है नहीं।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ९७, आषाढ़ शुक्ल १४, बुधवार, दिनांक ०७-०७-१९७१
बन्ध द्वार काव्य - ३५ से ३९

समयसार नाटक। बन्ध अधिकार। १९६ पृष्ठ पर ३५वाँ (पद) है। बन्ध अधिकार है न, इसलिए ऐसा कहते हैं.... यह संग आ गया न। '**परसंग एव**'। आत्मा में विकार कैसे होता है? पहला शिष्य का प्रश्न था कि जितनी राग-द्वेष आदि की परिणति है विकारभाव, वह तो आत्मा के स्वभाव से भिन्न है। और जब आत्मा के स्वभाव से भिन्न (है, तो) वह आत्मा को बन्ध का कारण कैसे हो? आत्मा अपना स्वभाव शुद्ध आनन्द है, उसे छोड़कर कर्म के निमित्त का संग करता है। स्वभाव का संग छोड़कर कर्म के निमित्त का संग करता है। जो पर की ममता है, उसके प्रमाण में—संग के प्रमाण में उसकी योग्यता (प्रमाण) उसे विकार होता है। उसका यह दृष्टान्त—उदाहरण देते हैं।

★ ★ ★

काव्य - ३५

पुनः – (सवैया इकतीसा)

जैसैं महिमंडलमैं नदीकौ प्रवाह एक,
ताहीमैं अनेक भांति नीरकी ढरनि है।
पाथरकौ जोर तहां धारकी मरोर होति,
कांकरकी खांनि तहां झागकी झरनि है।।
पौंनकी झकोर तहां चंचल तरंग ऊठै,
भूमिकी निचांनि तहाँ भौंरकी परनि है।
तैसैं एक आतमा अनंत-रस पुदगल,
दुहूंके संजोगमैं विभावकी भरनि है।।३५।।

शब्दार्थः-पाथर=पत्थर। झाग=फेन। पौंन=हवा। निचांनि=वाल।

अर्थः-जिस प्रकार कि पृथ्वी तल पर यद्यपि नदी का प्रवाह एकरूप होता है, तो

भी पानी की अनेक अवस्थाएँ होती हैं, अर्थात् जहाँ पत्थर से ठोकर खाता है, वहाँ पानी की धार मुड़ जाती है, जहाँ रेत का समूह होता है, वहाँ फेन पड़ जाता है, जहाँ हवा का झकोरा लगता है, वहाँ लहरें उठती हैं, जहाँ धरती ढालू होती है, वहाँ भँवर पड़ती है। उसी प्रकार एक आत्मा में भाँति भाँति के पुद्गलों का संयोग होने से अनेक प्रकार की विभावपरिणति होती है।।३५।।

काव्य-३५ पर प्रवचन

जैसैं महिमंडलमैं नदीकौ प्रवाह एक,
ताहीमैं अनेक भांति नीरकी ढरनि है।
पाथरकौ जोर तहां धारकी मरोर होति,
कांकरकी खांनि तहां झागकी झरनि है।।
पौंनकी झकोर तहां चंचल तरंग ऊठै,
भूमिकी निचांनि तहाँ भौंरकी परनि है।
तैसैं एक आतमा अनंत-रस पुदगल,
दुहूंके संजोगमैं विभावकी भरनि है।।३५।।

क्या कहते हैं, देखो! **जैसे महिमंडलमैं...** नदी का प्रवाह, पानी का प्रवाह तो एकरूप ऐसे जाये। नदी का पानी। परन्तु **ताहीमैं अनेक भांति नीरकी ढरनि है...** पानी के—उसके नीचे-ऊँचे में अनेक प्रकार से तरंग होती है। उसका कारण? **पाथरकौ जोर...** जहाँ नदी में बड़े पत्थर आवे, उसके जोर के कारण पानी का प्रवाह मोड़ खाता है... मोड़ खाता है। समझ में आया? बड़ा पत्थर आवे (तो) पानी का प्रवाह ऐसे मुड़ जाता है। उसमें प्रवाह तो एकरूप हो वास्तव में तो। बड़े पत्थर हों, पानी ऐसे आड़ मार जाता है। ऐसे जाने के बदले, ऐसे चला जाता है। यह तो दृष्टान्त है, हों! इसमें सिद्धान्त तो आत्मा में घटित करेंगे। **पाथरकौ जोर तहां धारकी मरोर होति... पत्थर से ठोकर खाता है।** पानी, पत्थर हो, वहाँ पानी ठोकर खाये पाणी अर्थात् पानी ऐसे मुड़ जाये, मरोड़ खा जाये। **पानी की धार मुड़ जाती है।**

और **कांकर की खांनि तहां झागकी झरनी है...** जहाँ पानी के नीचे रेत बहुत हो... पानी का प्रवाह चलता हो परन्तु रेत बहुत हो नीचे तो वहाँ झाग होते हैं। झाग-झाग होते हैं पानी के ऊपर। नीचे रेत अधिक हो तो पानी में झाग होते हैं। **पौनकी झकोर तहां चंचल तरंग ऊठै....** जो पानी का प्रवाह जाता है, हवा का जहाँ झकोर आवे आँधी, पवन की आँधी (अंधड़), होवे न नदी में बहुत। वहाँ हवा के झकोरे लगे, लहर उठे, पानी ऊँचा-नीचा हो। **भूमिकी निचांनि तहां भौंरकी परनि है...** जहाँ गड्डा आवे पानी में, नदी का प्रवाह चलता है और जहाँ खड्डा-खड्डा-गड्डा (आवे), वहाँ ऊपर भंवर होती है, भंवर खाये पानी। **तैसैं एक आत्मा...** उसमें ऐसा कहा था। नदी का प्रवाह एक, ऐसा था। पानी का प्रवाह एक, परन्तु जैसे पत्थर आदि के निमित्त हों, निमित्त के संग में उसमें उस प्रकार की विविधता होती है।

इसी प्रकार **आत्मा अनंत-रस पुद्‌गल...** आत्मा एक। अनन्त आनन्द और ज्ञान का सागर प्रभु आत्मा है। परन्तु उसे कर्म के निमित्त जितने अनेक प्रकार के रसवाले होते हैं, उसका वह संग करे। **अनंत-रस पुद्‌गल...** आत्मा एक और पुद्‌गल अनन्त रस। **दुहुं के संयोग से...** जैसे पानी के प्रवाह में भी पत्थर, रेत, हवा, खड्डा भिन्न-भिन्न प्रकार के कारण से पानी में भी उस प्रकार की विविधता उत्पन्न होती है, उसी प्रकार भगवान आत्मा ज्ञानानन्द शुद्ध चैतन्य प्रवाह, ऐसी मूर्ति होने पर भी, कर्म के निमित्त के रस में उसका जुड़ान होता है, जिस प्रकार का रस उसमें जुड़ान होता है, वह **अनंत-रस पुद्‌गल दुहुंके संजोगमैं विभावकी भरनि है**। वहाँ विभाव उत्पन्न होता है। **विभाव की परिणति होती है...** लो। समझ में आया इसमें?

यह स्वयं बनारसीदास ने (स्पष्ट किया है)। '**संग एव**' है न, आहाहा! उसे स्पष्ट किया है। आत्मा तो एक स्वरूप है। जैसे नदी का प्रवाह एकरूप है, परन्तु उसे पत्थर का संयोग होने पर पानी का पूर मुड़ जाता है, ऐसे मरोड़ खाता है, आड़ खाता है। रेत अधिक हो वहाँ झाग होते हैं, खड्डा हो, वहाँ भंवर आती है, पवन की झकोर आवे जहाँ, वहाँ तरंग उछलती है। इसी प्रकार आत्मा तो एक स्वरूप है। तब वे कहते हैं न कि आत्मा एक परन्तु जैसा कर्म आवे, वैसी विविधता उसके कारण से होती है। ऐसा नहीं है। यहाँ तो कर्म के जितने प्रकार हैं, उस ओर का संग करता है, सम्बन्ध करता है,

इसलिए उसे (विभाव) होता है, ऐसा कहते हैं। उसकी ममता से... आ गया न पहले। जो कर्म के रस के अनन्त प्रकार, उसके संयोग में ममता करता है। इसलिए उसे विकार की परिणति अनेक प्रकार की उत्पन्न होती है। तब वे लोग ऐसा कहते हैं कि देखो, आत्मा तो एक है, उसे एक प्रकार होना चाहिए। तो विविधता होती है, वह कर्म के कारण होती है। यह क्या अपेक्षा है? उसका स्वभाव नहीं, इसलिए कर्म के संग में जुड़ने से विविध प्रकार के विकार होते हैं। कर्म है, इसलिए होते हैं और कर्म के कारण होते हैं, ऐसा नहीं है। समझ में आया?

देखो, इसी और इसी में पण्डितों में बड़े प्रश्न खड़े हुए हैं। हल तो हो गया है, परन्तु उन्हें हल नहीं होता। वहाँ नहीं कहा था बनारस में? तुम थे वहाँ? भाई ने प्रश्न किया था न, कैलाशचन्दजी (ने)। काशी के बड़े पण्डित। वहाँ उपादान-निमित्त का (प्रश्न) ऐसा कि अभी विचार में है। विचार में क्या, उसका तो स्पष्टीकरण हो गया है, कहा। विचार कोटि में है। चौदह वर्ष पहले। सब उसमें निश्चित हो गया, कहा। इतने वर्ष हो गये तो निर्णय किया नहीं। विचार कोटि में है, ऐसा कहा था। बनारसी-काशी में। व्याख्यान चलता था। यह सब पण्डित थे काशी में पढ़े हुए फूलचन्दजी, यह कैलाशचन्दजी। कहे, उपादान से कैसे होगा और निमित्त से होगा, यह विचार कोटि में है। कहा, विचार कोटि का समाधान हो गया है।

यह तो (संवत्) १९७१ के वर्ष से (निर्णय) हो गया है, कहा। उस समय नहीं था उसे। ७१ के वर्ष से (निश्चित) हो गया है, लाठी में से। आत्मा में जितना विकार होता है, वह अपनी योग्यता से होता है, तब कर्म को निमित्त कहा जाता है। और अपने पुरुषार्थ से ही उस विकार को टाल सकते हैं। तो एक सिद्धान्त (संवत्) १९७१ लाठी में दूसरा चातुर्मास था। ७० का बोटाद था और ७१ का लाठी था। ५६ वर्ष हो गये। ५६ की भेरी बजी। खलबलाहट हो गयी तब। खलबलाहट होने लगी गुप्त। तब हमारे दामोदर सेठ थे दामनगर के। वे कर्म के पक्ष के बहुत। कर्म से होता है, कर्म से होता है। धूल भी नहीं होता कर्म से, कहा, परद्रव्य से आत्मा में कुछ होता होगा? जैसी अपनी पर्याय निमित्त के संग में जुड़ती है, उसकी ममता करती है, तत्प्रमाण विकार होता है। उससे होता है (ऐसा) नहीं और (निमित्त में) विविधता है, इसलिए एकरूपता

टलकर विविधता होती है, इसलिए निमित्त की विविधता से विविधता यहाँ होती है, ऐसा नहीं है। यह यहाँ कहते हैं, देखो!

एक आत्मा में भाँति-भाँति के पुद्गलों का संयोग होने से अनेक प्रकार की विभाव परिणति होती है। पहले में संग कहा था न, यहाँ संयोग कहा। किसे पड़ी है इसका निर्णय करने की? यह तो जिसमें पड़े, उसमें चले—हाँके। अपने जैन में तो कर्म के कारण सब होता है। धूल भी होता नहीं, सुन। कर्म तो जड़-मिट्टी-धूल है। वे कहे कि ईश्वर के कारण हमारे सब होता है। तो यह कहे कि कर्म के कारण होता है। उनका ईश्वर मालिक, इसका जड़ मालिक। मलूकचन्दभाई! क्या कहा? तुम्हारे जड़ मालिक। इसका ईश्वर कर्म अर्थात् कर्म प्रमाण भटके। ऐसा नहीं है। अपनी वर्तमान पर्याय में जैसे निमित्तों के संग में जितने प्रमाण में यह ममता करे, उतने प्रमाण में (विभाव) होता है। यह पूरा सिद्धान्त है। समझ में आया?

इसलिए तो यह दृष्टान्त दिया नदी का। उसमें कहा था, 'महाराज! आत्मा एकरूप रहता नहीं और विकार होता है, वह अपनी योग्यता से होता है, ऐसा कानजीस्वामी कहते हैं।' प्रश्न उठा है न वह। ऐई! क्या कहलाता है वह तुम्हारा? टेप रिकॉर्डिंग में उतर गया है। (संवत्) २०१३ के वर्ष। चौदह वर्ष हुए। यह कहे कि अपनी योग्यता से होता है। (वे) कहे, नहीं। क्या कहा? फिर तुमको दूसरा कहा था। भगवान आवे तो भी... कुछ ऐसा कहा था, नहीं मानूँगा। यहाँ तो कहा, आत्मा वस्तु शुद्ध एकरूप होने पर भी, उसकी अशुद्धता की जितनी योग्यता है, तत्प्रमाण निमित्त-आधीन होकर करता है। निमित्त आधीन स्वयं होता है, निमित्त कुछ कराता नहीं। करावे क्या? धूल करावे। उसे बेचारे को खबर भी नहीं कि हम जड़कर्म जगत के तत्त्व हैं या नहीं? आहाहा!

जैन में यह मिला सबको। कर्म के कारण विकार होता है, 'कर्म से राजा कर्म से रंक, कर्म ने डाला आड़ा अंक।' ऐई! पहली स्तुति बोले न! ... ऐसा कहकर बोले न! सुना है या नहीं? स्थानकवासी में बोले। पहले दस मिनिट—पन्द्रह मिनिट... उसमें यह सब आवे। 'कर्म से राजा, कर्म से रंक।' यह बात बराबर है। परन्तु 'कर्म ने डाला आड़ा अंक' यह खोटी बात है। वे ऊपर रखे और वे हाँ करे सुननेवाले। ऐसा नहीं। भगवान आत्मा चैतन्यस्वरूप अपने स्वभाव को भूलता है, तब निमित्त की ममता में जुड़ता है,

इतने प्रमाण में उसे विकार और दु:ख होता है। ऐसा है। समझ में आया? ३६वाँ। नीचे १४वाँ। नीचे १४वाँ कलश।

इति वस्तुस्वभावं स्वं ज्ञानी जानाति तेन सः।
रागादीन्नात्मनः कुर्यान्नातो भवति कारकः।।१४।।

ऐसा कि '**न अतो भवति कारक**।'

★ ★ ★

काव्य - ३६

जड़ और चैतन्य की पृथक्ता (दोहा)

चेतन लच्छन आतमा, जड़ लच्छन तन–जाल।
तनकी ममता त्यागिकै, लीजै चेतन–चाल।।३६।।

अर्थ:–आत्मा का लक्षण चेतना है और शरीर आदि का लक्षण जड़ है, सो शरीर आदि से ममत्व छोड़कर शुद्ध चैतन्य का ग्रहण करना उचित है।।३६।।

पद-३६ पर प्रवचन

चेतन लच्छन आतमा, जड़ लच्छन तन–जाल।
तनकी ममता त्यागिकै, लीजै चेतन–चाल।।३६।।

चेतन लच्छन आतमा, जड़ लच्छन तन-जाल, तनकी ममता... देखो, आया वहाँ से। तन में सब डालना, हों! तन–शरीर, कर्म सब। नीचे डाला है न देखो। **शरीर आदि का लक्षण जड़ है,...** सब। **चेतन लच्छन आतमा, जड़ लच्छन तन-जाल, तनकी ममता त्यागिकै, लीजै चेतन-चाल।** आहाहा! कहते हैं, आत्मा का लक्षण तो जानना–देखना–चेतना है। वह तो जानने–देखनेवाला भगवान है। **जड़ लच्छन तन-जाल...** कर्म, शरीर, वाणी, वह सब जड़ है। शरीर, कर्म आदि जड़ है। अब **तनकी ममता त्यागिकै,...** यह शरीर और कर्म की ममता त्यागकर, ऐसा कहते हैं। कहो, समझ

में आया? **लीजै चेतन-चाल**। भगवान आनन्द और ज्ञान स्वरूप है, उसकी चाल—गति का परिणमन कर। पर के कारण कुछ तुझमें होता नहीं। उसकी ममता त्याग, ऐसा कहा। उसमें ममता की है, इसलिए ममता का त्याग कर।

कर्म मुझे है और कर्म मुझे हैरान करते हैं, कर्म है तो मुझे विकार होता है—ऐसी जो ममता, उस ममता को छोड़ और चैतन्य की चाल ले। आहाहा! भगवान ज्ञानस्वरूप है, जाननेवाला-देखनेवाला है, आनन्दमूर्ति है, उसकी गति का परिणमन कर। समझ में आया? **शरीर आदि से ममत्व छोड़कर शुद्ध चैतन्य का ग्रहण करना चाहिए।** अर्थात् कि कर्म के निमित्त की ममता से जो विकार होता था, उसकी ओर की ममता छोड़कर आत्मा की ओर दृढ़ता करके चैतन्य के शुद्ध परिणमन को ग्रहण कर। कहो, समझ में आया? श्लोक १५वाँ है। नीचे है वह? यह तो फिर शुद्ध परिणति की बात है। यह तो विशेष उसका अधिक स्पष्ट (करते हैं)। इसमें आयेगा यह बाद में। **आत्मा की शुद्ध परिणति**। भगवान आत्मा को जो कर्म के निमित्त से अशुद्ध अवस्था-विकार होता था, वह पर की ममता छोड़कर स्वभाव की दृष्टि करने से आत्मा की शुद्ध परिणति—निर्मल दशा हो, उसे धर्म कहते हैं। अरे, यह गजब!

★ ★ ★

काव्य - ३७

आत्मा की शुद्ध परिणति (सवैया तेईसा)

जो जगकी करनी सब ठानत,
जो जग जानत जोवत जोई।
देह प्रवांन पैं देहसौं दूसरौ,
देह अचेतन चेतन सोई।।
देह धरै प्रभु देहसौं भिन्न,
रहै परछन्न लखै नहि कोई।
लच्छन वेदि विचच्छन बूझत,
अच्छनसौं परतच्छ न होई।।३७।।

शब्दार्थ:-जोवत=देखता है। प्रवांन=बराबर। परछन्न (प्रच्छन्न)=गुप्त ढँका हुआ। वेदि=जानकर। विचच्छन=ज्ञानी। बूझत=समझता है। अच्छनसौं=इन्द्रियों से। परतच्छ (प्रत्यक्ष)=प्रगट।

अर्थ:-जो संसार की सब क्रियाएँ[१] करता है, जो जगत को जानने-देखनेवाला है, जो शरीर के बराबर रहता है, पर शरीर से पृथक् है। क्योंकि शरीर जड़ है और वह चैतन्य है, वह प्रभु (आत्मा) यद्यपि देह में है पर देह से निराला है, वह ढँका हुआ रहता है, सबको दिखाई नहीं देता, ज्ञानी लोग लक्षण आदि से उसे पहिचानते हैं, वह इन्द्रियगोचर नहीं है।।३७।।

काव्य-३७ पर प्रवचन

जो जगकी करनी सब ठानत,
जो जग जानत जोवत जोई।
देह प्रवांन पैं देहसौं दूसरौ,
देह अचेतन चेतन सोई।।
देह धरै प्रभु देहसौं भिन्न,
रहै परछन्न लखै नहि कोई।

परतच्छ—प्रगट। नीचे **परतच्छ** का अर्थ **प्रत्यक्ष** किया। प्रत्यक्ष नीचे का (शब्द) है। नीचे है न वह। **परछन्न** का अर्थ ढँकना। गुप्त हो गया है। बहुत संक्षिप्त दोहे बनाये हैं।

लच्छन वेदि विचच्छन बूझत,
अच्छनसौं परतच्छ न होई।।३७।।

जो जगकी करनी सब ठानत,... देखो! कहते हैं, अज्ञानभाव में चार गति में राग-द्वेष करना, गति होना, वह जीव स्वयं करता है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

१. चतुर्गति गमन, राग-द्वेष आदि।

जो जगकी करनी सब ठानत,... चार गति, राग-द्वेष वह जीव स्वयं करता है, अज्ञानभाव से (करता है)। समझ में आया? **जो जग जानत जोवत जोई...** उसका वह आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को जानने में स्वयं जगत को देखनेवाला होता है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? **जो जगकी करनी सब ठानत,...** चार गति, राग-द्वेष, पुण्य-पाप—यह स्वयं अज्ञानभाव से—पर की ममता में वस्तु के स्वभाव के अजानपने से करता है। और ज्ञान होने पर **जो जग जानत जोवत जोई...** लो। **जगत को जानने-देखनेवाला है।** भगवान! तू राग से लेकर (समस्त) परचीज़ को जानने-देखनेवाला आत्मा है। ऐसे आत्मा को जानने से उसे धर्म की शुद्ध परिणति—अवस्था होती है। सार-सार डाला है न अकेला।

देह प्रवांन पै देहसौं दूसरौं... है यह शरीर के प्रमाण भगवान आत्मा अन्दर, तथापि देह से भिन्न है। यह तो मिट्टी है। यह शरीर तो अजीवतत्त्व है। देह प्रमाण—शरीर के अवगाहन प्रमाण अन्दर भिन्न, परन्तु शरीर से दूसरा जीव है। **देह प्रवांन पै देहसौं दूसरौं, देह अचेतन चेतन सोई...** देह और कर्म तो सब अचेतन जड़ हैं। भगवान आत्मा तो चैतन्य जाननेवाला-देखनेवाला है। ऐसी दृष्टि करना। यह वस्तु का स्वभाव जानने से उसे आनन्द और ज्ञान की परिणति होती है। न जानने से अज्ञान में राग-द्वेष और चार गति होती है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

देह धरैं प्रभु देहसौं भिन्न... आहाहा! देह-मिट्टी को मानो ऐसे धरता हो, रखता हो, परन्तु है भिन्न। रखता नहीं। आत्मा आत्मा में है और देह देह में है। देह से निराला है। **देह धरैं प्रभु...** देखो, प्रभु आत्मा को प्रभु कहा। प्रभु स्वयं है चैतन्य का नाथ। आहाहा! **देह धरैं प्रभु देहसौं भिन्न...** शरीर के रजकण-रजकण से भगवान आत्मा तो भिन्न चीज़ है। **रहै परछन्न लखै नहि कोई...** परन्तु गुप्त है। गुप्त है, इसलिए उसे जान नहीं सकते। लोग नहीं जानते। अन्दर गुप्त चैतन्य है। चैतन्य चमत्कार अन्दर गुप्त है। शरीर-वाणी और मन से अन्दर भिन्न चीज़ गुप्त पड़ी है। उसे लखे नहीं, लखे नहीं अर्थात् जाने नहीं। कोई जाने नहीं। गुप्त है, इसलिए जानता नहीं।

लच्छन वेदि विचच्छन बूझत... परन्तु आत्मा का लक्षण ज्ञान और आनन्द है, उसके द्वारा जानकर, वेदकर विचक्षण उसे समझता है, समकिती आत्मा का ज्ञान और

आत्मा को जानता है, ऐसा कहते हैं। **ज्ञानी लोग लक्षण आदि से उसे पहिचानते हैं। लच्छन वेदि विचच्छन बूझत...** ज्ञानी उसे जानता है। **अच्छनसौं परतच्छ न होई...** वह आँखों से ज्ञात हो, ऐसा नहीं। यह बनारसीदास का स्वतन्त्र है। उस पाठ के साथ सम्बन्ध है।

इति वस्तुस्वभावं स्वं नाज्ञानी वेत्ति तेन सः।
रागादीनात्मनः कुर्यादतो भवति कारकः।।१५।।

समझ में आया? अपना निज स्वभाव शुद्ध ज्ञान और आनन्द, उसे नहीं जाननेवाला राग-द्वेष और अज्ञान करे। उसमें कर्म करता है, ऐसा यहाँ नहीं डाला। अन्यत्र कहीं नहीं। ज्ञानावरणीय ने ज्ञान को रोका, लो। क्या रोके ज्ञान को? जड़ को बेचारे को खबर भी नहीं। स्वयं ज्ञान की हीन अवस्था करता है, तब ज्ञानावरणीयकर्म को निमित्त कहा जाता है। बहुत फेरफार। '**लच्छन वेदि**'—लक्षण का जाननेवाला, लो। पहिचानते हैं... आत्मा जाननेवाला है। वह राग भी नहीं, पुण्य भी नहीं, विकल्प भी नहीं। शरीर और कर्म तो नहीं, नहीं और नहीं। वह तो चैतन्यस्वरूप आनन्द और ज्ञान है। आहाहा! इन्द्रियों से प्रत्यक्ष हो, ऐसा नहीं। अब शरीर की अवस्था।

★ ★ ★

काव्य - ३८

शरीर की अवस्था (सवैया तेईसा)

देह अचेतन प्रेत-दरी रज,-
रेत-भरी मल-खेतकी क्यारी।
व्याधिकी पोट अराधिकी ओट,
उपाधिकी जोट समाधिसौं न्यारी।।
रे जिय! देह करै सुख हानि,
इते पर तौ तोहि लागत प्यारी।

देह तौ तोहि तजेगी निदान पै,
तूही तजै किन देहकी यारी।।३८।।

शब्दार्थ:–प्रेत–दरी=मुर्दाखाना। रज=रक्त। रेत=वीर्य। क्यारी=बाड़ी। पोट=गठरी। अराधि=आत्मस्वरूप। उपाधि=क्लेश। जोट=समूह।

अर्थ:–देह जड़ है मानों एक मुर्दाखाना ही है। वह रज और वीर्य से भरी हुई है, मल–मूत्ररूपी खेत की क्यारी है, रोगों की गठरी है, आत्मा के स्वरूप को ढँकनेवाली है, कष्टों की समुदाय है और आत्मध्यान से पृथक् है। हे जीव! यह देह सुख का घात करती है, तो भी तुझे प्रिय लगती है, आखिर को यह तुझे छोड़ेगी ही, फिर तू ही इससे अनुराग क्यों नहीं छोड़ देता?।।३८।।

काव्य-३८ पर प्रवचन

देह अचेतन प्रेत–दरी रज,–
रेत–भरी मल–खेतकी क्यारी।
व्याधिकी पोट अराधिकी ओट,
उपाधिकी जोट समाधिसौं न्यारी।।
रे जिय! देह करै सुख हानि,
इते पर तौ तोहि लागत प्यारी।
देह तौ तोहि तजेगी निदान पै,
तूही तजै किन देहकी यारी।।३८।।

क्या कहते हैं? **देह अचेतन प्रेत-दरी रज...** यह मुर्दे का खाना है, यह श्मशान का खाना है। आहाहा! है न? **एक मुर्दाखाना ही है**। यह मुर्दा है। उसमें भगवान बसता है। यह खाना है, लो, यह खाना है—मुर्दाखाना। तिजोरी के खाने। यह मुर्दाखाना है, श्मशानखाना है यह मिट्टी का। आहाहा! **देह अचेतन प्रेत-दरी...** यह तो चुडैल को रहने का स्थान है यह, कहते हैं। चुड़ैल हड्डियों में रहे न, उसी प्रकार इन हड्डियों में चुड़ैल को रहने का स्थान है। आत्मा को रहने का स्थान है, (नहीं)। आहाहा! **देह अचेतन**

प्रेत-दरी... है न, प्रेत... प्रेत... मुर्दाखाना अथवा क्या कहा ? चुड़ैलखाना। यह चुड़ैल-चुड़ैल। कहा था न एक बार, नहीं ? (संवत्) १९५९ में गये न जब पालेज। ५९। पालेज। तब आसोज महीना था। ५९ का आसोज महीना। तो साथ में मकान है न भाई का मकान, नहीं ? मनसुख का। वहाँ जीन था। वहाँ वह... हम सात-आठ-नौ गये हुए पालेज में पहले-पहले। तेरह वर्ष की उम्र। मैंने कहा, यह क्या गाते हैं ? यह महिलायें इकट्ठी होकर रासडा गाये न। वहाँ न जाने देने के लिये कहें, 'वहाँ चुड़ैल गाती है। वहाँ नहीं जाना।' कहे। 'चुड़ैल बोले और अपने यदि हाँ करें तो चिपटे, लगे।'

यह तो ५९ के वर्ष की बात है। सवंत् १९५९ का आसोज। वह पूनम ही होगी। क्योंकि पूनम की रात्रि थी न, रासडा गाते थे। हम पहले-पहले गये। छोटी उम्र थी। तेरह वर्ष की उम्र। क्या है यह ? पीछे बोली हैं न इतनी अधिक महिलायें। यह महिलायें नहीं, यह चुड़ैल है। बाद में तो देखा कि यह तो जीन है। जीन की महिलायें वे मजदूर हों न। फुरसत होकर गाती थी। वह रासडा ले रासडा। उन छोटे लड़कों को जाने न देने के लिये ऐसा कहते थे। परन्तु यह चुड़ैलखाना है सही तो। आहाहा! कितने वर्ष हुए (संवत्) ५९ को ? ६८ ? ६८ वर्ष हुए। खुल्ला कमरा था वहाँ सोने का था। वहाँ गाते थे, उसे सुनते थे। कहे, 'चुड़ैल है, चुड़ैले हैं। अब अपने को वहाँ नहीं जाना।' आहाहा!

इसी प्रकार यह (शरीर) चुड़ैल का घर है। इसे अपना नहीं मानना, ऐसा कहते हैं। **मानो एक मुर्दाखाना ही है।** यह कहीं अर्थ दूसरा किया है, हों! प्रेत का अर्थ। चुड़ैलखाना। प्रेत—भूत... भूत... भूत की गुफा, लो। प्रेत अर्थात् भूत, दरी अर्थात् गुफा। आहाहा! भगवान आनन्दस्वरूप स्वयं। यह (शरीर) प्रेत-भूत का खाना। यह उसकी गुफा, उसे अपना माने। गजब है न! कहते हैं। वहाँ से तो भगे। यह चुड़ैल वहाँ रहती है तो भगे वहाँ से। उसके बदले यह भूत का खाना—गुफा मेरी है, मेरी चीज़ है। धूल भी नहीं, यह तो मिट्टी हड्डियाँ हैं। सुन न अब....! यह तो अजीव है। आहाहा! **देह अचेतन प्रेत-दरी रज, रेत-भरी मल खेतकी कयारी...** आहाहा!

रज और वीर्य से भरी हुई मल-मूत्ररूपी खेत की क्यारी है। इसमें मल-मूत्र बहुता हैं क्यारी में। भगवान आत्मा में तो अतीन्द्रिय आनन्द, स्वच्छता, शुद्धता भरी है। इस ओर मल-मूत्र की खान है। आहाहा! अमृत का सागर प्रभु मृतक कलेवर में

मूर्च्छित है। यह आता है न कर्ता-कर्म (अधिकार, गाथा ९६) में। धूल भी नहीं, यह तो सब मिट्टी है और चुड़ैल का घर है, यह तो भूत का। वहाँ भगना चाहिए या घुसना चाहिए उसमें? ... परन्तु शरीर कुछ ठीक हो, लड्डू-बड्डू पचते हों दो-तीन चूरमा के, अरबी के पत्ते आवे। उसे ऐसा कहना कि (मुर्दाखाना)! ऐ जादवजीभाई! लठ्ठ जैसा शरीर हो, सोने की अँगूठी जैसा। उसमें अन्यत्र कहीं आता है। इसके बाद आयेगा। **ऊपर की चमक दमक पट भूषन की...** बाद में आयेगा, चालीस (पद) में। इस चमड़ी का ऊपर चमक-दमक लगती है। यह चमड़ी है ऊपर। हड्डियों के ऊपर चमड़ी है। जैसे गार होती है न ऊपर, उसी प्रकार यह ऊपर की गार है। इस बन्ध अधिकार में लेने का हेतु कि यह शरीर जड़ है, इसे अपना मानना, वह बन्धभाव अज्ञान है। ऐसा कहते हैं। आहाहा!

रेत भरी मल-खेत की क्यारी... लो, यह खेत में क्यारी होती है न क्यारी। इसी प्रकार यह क्यारी रेत की भरी हुई है। **व्याधिकी पोट...** यह व्याधि की पोटली है, यह तो पूरी। आहाहा! कहा था न रात्रि में, नहीं कुछ? इस एक शरीर में भगवान ने इतने रोग देखे हैं। पाँच करोड... कितने? (पाँच करोड़) अड़सठ लाख नब्बे हजार पाँच सौ चौरासी। भगवती आराधना में है। भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर तीर्थंकरदेव ने इस शरीर में पाँच करोड़ अड़सठ लाख नब्बे हजार पाँच सौ चौरासी (५०,६८,९०,५८४) इतने रोग हैं यहाँ। प्रिय तो लगे, मानो कि आहाहा! क्या करना इसे? क्या है? धूल है, सुन न! उसे मेरा मानना और उसकी सम्हाल करने में रुकना, वह सब बन्धभाव है, ऐसा कहते हैं। बन्धभाव। आहाहा! चैतन्य की सम्हाल करना, वह अबन्धभाव है। आहाहा!

व्याधिकी पोट... है न? वह तो रोगों की गाँठ है। खिले तब खबर पड़े। जीव को ऐसा अच्छा लगे, रूपवान लगे ऐसा हो। कीड़े पड़ते हैं एक-एक यहाँ। नहीं कहा था वह? शीतला निकली थी। नहीं कहा था? लाठी में एक बहिन थीं, लाठी में। चिमनभाई! लाठी नहीं यह...? डेला में उस ओर सुखलाल रहता है... उसमें एक बहिन थीं। जामनगर विवाह किया था, नहीं? चम्पक था कोई। दो वर्ष का विवाह था। और निकली शीतला और दाने-दाने में कीड़े। दो वर्ष का विवाह। चमड़ी कुछ वैसी थी। नरम महिला थी, हों! बहुत वर्ष की बात है। चालीसेक वर्ष पहले की बात है। फिर

ऐसे फिरे ऐसे और कीड़ों का यहाँ ढ़ेर। ऐसे फिरे तो यहाँ से। दाने-दाने में कीड़े। ऐसा बोलती थी, बेचारी, हों! 'ऐ माँ! मैंने ऐसे पाप इस भव में नहीं किये, हों! यह पीड़ा सहन नहीं होती।' ऐसा बोले बेचारी। वह (शरीर) प्रिय लगता था न? आहाहा!

हमारे सब परिचित न, वे दामनगर के, लाठी के। ऐसा बोलती थी, हों! 'ऐ माँ! ऐसे पाप मैंने इस भव में नहीं किये। कहाँ के आये होंगे?' चींटियाँ काटे। ऐसे फिरे तो ऐसा ढ़ेर, ऐसे फिरे... पूरे शरीर में। ऐ कानजीभाई! नाम पहिचानते हो या नहीं? यह क्या कहे उसे .... का डेला कहलाये उसे? यह वह। नागरभाई की पुत्री। यह वह। बहुत वर्ष हो गये, हों! आहाहा! वैराग्य था उस समय.... दाने-दाने में कीड़े पड़कर ऐसी पीड़ा पकी हुई। यह अब वह शरीर प्रिय (लगे)। .... गजब की बात है न! **व्याधिकी पोट अराधिकी ओट...** यह आत्मा की तो आड़-आड़ करनेवाली है। ओट अर्थात् **आत्मा के स्वरूप को ढँकनेवाली है**। आहाहा! भगवान आत्मा शरीर की ओट में ढँक गया है। आहाहा! ओट आ गयी ओट। यह ज्वार-ओट कहते हैं न? आहाहा!

चौबीस घण्टे नहलाना और खिलाना और पिलाना। लड़के को पिलाना, बड़े को वस्त्र। वस्त्र में इत्र डाले, ऐसी (गन्ध) फैलावे। इत्र-इत्र—सेंट। आहाहा! अरे भगवान! इस मुर्दे को शृंगारना है यह तो। प्रभु! तेरा शृंगार तो दूसरी चीज़ है। आहाहा! देखो न, देह की भी कितनी बात! बन्ध अधिकार है न! आहाहा! भाई! ऐसा शरीर... समझ में आया? **उपाधिकी जोट...** है न? कष्टों का तो समुदाय है। यह कष्ट का तो ढ़ेर है। इसमें सब कष्ट ही भरे हैं। आहाहा! दर्द आता है न, कान में दर्द आवे। कीड़े यहाँ पड़े और यहाँ कुछ हो। उसे क्या कहा जाता है तुम्हारे? कैन्सर। यहाँ कैन्सर होता है छाती में। आहाहा!

उस बेचारी को हुआ है न कैन्सर, देखो न! भाई नहीं आये? नहीं आये। घर में होंगे। देवशीभाई की बहू को कैन्सर हुआ है। ऑपरेशन हो ऐसा नहीं। ऑपरेशन करेंगे तो मर जायेगी। शरीर ऐसा जीर्ण है। अभी गये थे। चन्दुभाई की माँ की मामी होती है, मामा होते हैं। यहाँ देवशीभाई नहीं रहते? यह जीर्ण शरीर। आहाहा! ऐसे जाप करते हैं। उसे शृंगारना और उसे आहार-पानी देना। कहते हैं कि बापू! यह कीड़ों के लिये दे, वह और अलग, यह तो प्रेम से दे उसे। भूत के मुख में ग्रास दे। यह भूत आया न भूत।

यह भूत है। आहाहा! देह से वैराग्य कराते हैं। बापू! यह चीज़ तेरी नहीं। आहाहा! क्या कहा? उपाधि की ओट कहा न? उपाधि का समुदाय है, वह कष्ट का समुदाय है, यह अकेला। श्रीमद् ने, वेदना की मूर्ति है—ऐसा कहा है। यह देह वेदना की मूर्ति है। भगवान आत्मा आनन्द की मूर्ति है। आहाहा! अन्दर आनन्द अतीन्द्रिय आनन्द। देह तो मात्र कष्ट और वेदना की मूर्ति है। आहाहा! यह कौन जगे? आहाहा!

वह नहीं आता भाई, क्या कहलाता है तुम्हारे? विरावाला नहीं? विरावाला। अन्दर पूरा भगन्दर। यहाँ से कीड़े सब। विरावाले को विवाद था न राजकोट का। व्याख्यान में आये थे (संवत्) १९८९ के वर्ष में, विरावाले व्याख्यान में आये थे। कुछ ठिकाना नहीं। ऐसे सोवे पीठ में कीड़े हों, मर गये तब यहाँ सब। फिर इतना दुःख हो कि उसे माँस थोड़ा डाले नीचे तो कीड़े माँस खाये तो दुःख थोड़ा लगे। आहाहा! यह दशा! विरावाले थे न, यह राजकोट। कौन सा वर्ष ९५, नहीं? ९५। अपना ९५ में चातुर्मास था, उससे पहले सब हुआ। व्याख्यान में आये थे ८९ में। चातुर्मास था न सम्प्रदाय में। भोजनशाला में। तीन हजार लोग ऐसे समाते नहीं थे। तब आये थे, व्याख्यान में बैठे थे। यह लोखणी। भाई आये थे न तलकशीभाई। उन्होंने सुना था। भाई कहते थे। मणिभाई नहीं? वे वकील देखने गये थे वहाँ मणिभाई। ऐसे कीड़े पड़ते हैं। यहाँ से ऐसे कीड़े। माँस रखे थोड़ा तो कीड़े उसे बटका कम भरे। यह गजब बात है! आहाहा!

उससे तेरी चीज़ प्रभु! भिन्न है, ऐसा कहते हैं। तुझे और उसे कुछ सम्बन्ध नहीं है। इतना कैसे प्रेम है तुझे? ऐसा कहते हैं। प्रेम तो प्रभु के साथ होना चाहिए, चैतन्य आनन्द के साथ। यह क्या है तुझे? इसका प्रेम तो बन्ध का कारण है, ऐसा कहते हैं। अबन्ध परिणामी भगवान आत्मा का प्रेम, वह मोक्ष का कारण है। समझ में आया?... **समाधिसौं न्यारी...** आत्मा की शान्ति से तो न्यारा है यह जड़। समाधि इसमें कहाँ थी यह आनन्द? आहाहा! **समाधिसौं न्यारी...** आत्मा के आश्रय से शान्ति... शान्ति... शान्ति... शान्ति... ऐसी शान्तिरूपी समाधि, उससे देह तो भिन्न चीज़ है। उसके कारण समाधि नहीं, उसके कारण समाधि प्रगट नहीं होती। यह तो कष्ट का पुतला है। आहाहा! दो द्रव्य की भिन्नता का भान कराते हैं। आहाहा! मेरापना हो गया है न एकमेक मानो। तीन काल में एक नहीं। यह तो कहा न, प्रभु देह से भिन्न है।

देह धरै प्रभु देहसौं भिन्न, रहै परछन्न लखे नहि कोई... प्रभु अन्दर विराजता है चैतन्य। अरे, कोई इन्द्रिय से ज्ञात हो, ऐसा नहीं, वह तो अतीन्द्रिय से ज्ञात हो, ऐसा है। आहाहा! खबर भी नहीं उसकी, ख्याल भी नहीं और हो गये धर्मी। क्या हो? अनादि से ऐसा ही किया है न! **समाधिसौं न्यारी...** एक-एक शब्द में कितना भरा है, देखो न! **रे जिय! देह करै सुख हानि...** अरे जीव! देह की प्रीति तो तेरी शान्ति को नाश कर डालती है। आहाहा! सवेरे नहाये, इत्र-बित्र लगाये, सामने दर्पण हो। सामने देखता हो तो बन्दर देख लो। बाल संवारने के लिये। यह वह हो न, क्या कहते हैं उसे? कंघा। ऐसे और एक ऐसे और फिर एक ऐसे। दो भिन्न पड़े न। ....गजब है न यह! क्या करता हूँ यह? इसकी खबर भी नहीं होती। उस ओर के बाल ऐसे रखे और माँग पाड़े, उस ओर के ऐसे रखे, ऐसे एक माँग और बीच में करे ऐसे। हाँ, अब बराबर हुआ। फिर एक को करे तीन।

कहते हैं, **देह करै सुख हानि...** तेरे धर्म के सुख-शान्ति की तो हानि कर डालेगा। अब इस देह से धर्म हो, ले और ठीक। कहो, सचेत देह का... क्या कहा? सजीव देह से धर्म होता है, यह प्रश्न उठा यहाँ। आहाहा! खानियाचर्चा है न, उसमें दूसरा बोल डाला है। यह यहाँ से उठा सब। उन पण्डितों में खलबलाहट हो गयी। वे लोग कहते हैं, 'धर्म पुण्य से और देह से नहीं होता।' अरे, ऐसा नहीं। देह सचेतन हो तो उससे धर्म होता है। किससे धर्म होता है? धूल से? काशी के पढ़े हुए बड़े पण्डित इकट्ठे हुए हैं न खानियाचर्चा से। खानियाचर्चा देखी है या नहीं? ऐ प्रेमचन्दजी! खानियाचर्चा वहाँ है। पढ़ी है? नहीं! वह मन्दिर में आयी है न। भेंट आयी है। सब मन्दिर में दी है। जहाँ-जहाँ मन्दिर है। दो पुस्तकें हैं। १६ रुपये की। आठ-आठ की पुस्तक हैं। १६ की दो। बहुत सरस है। आहा!

रे जिय! देह करै सुख हानि... भगवान तो आनन्द की मूर्ति है। उसे यह देह की ममता तो उसके सुख और शान्ति का नाश करती है। **इते पर तौ तोहि लागत प्यारी...** ऐसा होने पर भी तुझे देह प्यारी लगती है। आहाहा! **देह तो तोहि तजेगी निदान...** शरीर तो तुझे छोड़ेगा निश्चित। **तूही तजै किन देहकी यारी... तूही तजै किन देहकी यारी**। देह का प्रेम तू क्यों नहीं छोड़ता? वह तो छोड़ देगा। ५०-६० वर्ष, ८० वर्ष हुए, देह तो

समय आयेगा तो एकदम, जाओ। चलो देह हमारे संग में। मुर्दा कहे, नहीं आयेंगे। आनन्दघनजी कहते हैं न! आनन्दघनजी में आता है। 'चलो देह हमारे संगे।' अरे मूर्खा! हम किसी (के साथ) गये हैं? सुन न, आगे जा न। हम तो मुर्दे हैं। आहाहा! आत्मा का दर्शन सम्यक् कराने को यह सब बात ली है। अबन्ध परिणाम प्रगट कराने को बन्ध की चीज़ में मूल (कारण) यह हुआ है, ऐसा कहते हैं। कारण तो यह सच्चा है। आहाहा! देह अच्छा हो तो क्रिया अच्छी होती है। देह दुःख का सिर। श्वेताम्बर में दशवैकालिक में आता है। धूल भी नहीं। आहा!

देह तो तोहि तजेगी निदान... आखिर को यह तुझे छोड़ेगी ही, फिर तू ही इससे अनुराग क्यों नहीं छोड़ देता? तू क्यों राग छोड़ता नहीं? यह तो छोड़ेंगी। छोड़। ऐसे झाग शमन हो जायेंगे एकदम। .... जीव। देह तुझे छोड़ देगी। तू अब प्रेम क्यों नहीं छोड़ता ... ? एक ओर में यह छोड़े और तू छोड़ता नहीं? आहाहा! आत्मा का भान होने पर देह का वैराग्य होता है, ऐसा कहते हैं। और जिसे देह के ऊपर राग है, वह मिथ्यादृष्टि बन्ध को करता है, ऐसा कहते हैं। कहने का आशय यह है। सम्यग्दृष्टि को तो राग का राग नहीं, तो देह का राग (कहाँ से होगा)? आहाहा! अरे, धन और कीर्ति तू छोड़ दे। अरे, ऐसी अच्छी देह मिली हो, उसे भोगना जानना। ले, यह मूर्ख। भोगना क्या इन हड्डियों को क्या भोगना? आहाहा! **आखिर को यह तुझे छोड़ेगी ही, फिर तू ही इससे अनुराग क्यों नहीं छोड़ देता?** ठीक पॉईन्ट डाला है, हों! एक ओर भगवान आत्मा तथा एक ओर देह, दोनों का भेदज्ञान।

अच्छी देह हो तो धर्म होता है, लो। क्या कहा? शरीर साधन... 'शरीर आद्यं खलुं धर्म साधनम्', लो। ऐसा आता है, पुरुषार्थसिद्धि (उपाय) में आता है। वैद्य तो कहे, शरीर ठीक हो तो मन की स्फूर्ति रहती है, मन की स्फूर्ति हो तो धर्म होता है। धूल भी नहीं होता, सुन न .... पागल! समझ में आया? वह कुछ दवा आयी थी। उसमें बहुत रखे। वह कोई फार्मेसी कही... दवा नहीं आती वह? एक बड़ा पन्ना भरकर विज्ञापन देते हैं अपने जैन में, हों! एक फलानी दवा। बहुत ऊँची दवा, कहते हैं। हमारी प्रसिद्ध है। फलाने महाराज ने महिमा की है, फलाने महाराज ने महिमा की है। तेल... तेल कुछ आता है। उसमें आता है अपने जैन में, हों! उसमें हम कहाँ पढ़ने जाते हैं?

पूरा पृष्ठ ऐसा भरकर... आहाहा! ऐसा कि इसकी तो महिमा साधु ने की है, फलाना ने की है। इसलिए लो, स्फूर्ति होगी।

एक और जैन गजट में आता है। मोती का साबुन, नहीं? ऐसा पूरा पृष्ठ। चर्बीरहित मोती साबुन। बहुत महिमा आती है। साबुन, मोती साबुन। वहाँ अधिक होता है। वह वहाँ होता है जमशेदपुर। वहाँ के अखबार में आता है। टाटा कम्पनी। एक बाई फूलदानी हाथ में लेकर भगवान की यात्रा करने जाये, दर्शन करने जाये। मन शुद्धि यह है और शरीर शुद्धि के लिये साबुन लो। जिससे कपड़े में तेज मारे। ऐसा लिखा है, हों! झाग मारे और ऐसे मारे। धूल भी नहीं। वहाँ ऐसा अखबार में है। जैन गजट में, नहीं? एक पीछे पूरा पन्ना आता है। प्रत्येक में पूरा पन्ना आता है। भगवान की पूजा करने जाये। पूजा करने जाये, वह मन शुद्धि और साबुन से काया शुद्धि होती है। अरे, ऐसे के ऐसे धन्धा करे। कोयले को साबुन से धोवे, कोयला सफेद होता होगा? जला डाले तो होता है, सुलगाये तो होता है। आहाहा!

★ ★ ★

काव्य - ३९

पुनः (दोहा)

सुन प्रानी सदगुरु कहै, देह खेहकी खांनि।
धरै सहज दुख दोषकौं, करै मोखकी हांनि।।३९।।

शब्दार्थः-खेद=मिट्टी। सहज=स्वभाव से।

अर्थः-श्रीगुरु उपदेश करते हैं कि हे जीव! शरीर मिट्टी की खदान है, स्वभाव से ही दुख और दोषमय है तथा मोक्षसुख में बाधक है।।३९।।

पद-३९ पर प्रवचन

सुन प्रानी सदगुरु कहै, देह खेहकी खांनि।
धरै सहज दुख दोषकौं, करै मोखकी हांनि।।३९।।

लो, यहाँ तो मोक्ष की हानि करे, भाई! उसमें तो कहे, ... पण्डित यह चर्चा करते हैं, लो। अरे, भगवान! **सुन प्रानी सद्गुरु कहै...** गुरु उपदेश करते हैं। **देह खेहकी खांनि...** शरीर तो मिट्टी की खान है, राख की खान है। उसमें राख है, धूल है। उसमें कुछ होगा? **धरै सहज दुख दोषकौ...** लो। यह तो **स्वभाव से ही दुःख और दोषमय...** देह तो दोषमय मात्र गन्ध मारे विष्टा, पेशाब। आहाहा!

पसीना थोड़ी देर रहे दो घण्टे-चार घण्टे तो मानो ऐसा हो जाये मानो। गन्ध मारे शरीर गन्ध मारे। कितनों को ऐसी होती है न वायु। दुर्गन्धित वायु वायु। यह श्वास ही गन्ध मारती है, बहुत गन्ध मारती है। ऐसे शरीर अच्छा हो परन्तु वायु गन्ध मारे। वायु कहलाती है दुर्गन्धित वायु। ऐसी वायु होती है। है न, हमने बहुत देखे हों। यहाँ नजदीक खड़ा हो तो गन्ध मारे। शरीर गन्ध मारे। परन्तु उसमें—गन्ध में क्या हो वहाँ? बीड़ी पीवे वह गन्ध मारे, यह तो यहाँ से गन्ध मारे। वहाँ पीकर आया हो, छोड़कर आया, तो भी गन्ध मारे।

धरै सहज दुख दोषकौ... स्वाभाविक दुःख और दोष, दोनों। आहाहा! **करै मोखकी हानि...** यह मोक्ष के मार्ग और मोक्ष की हानि करनेवाली है। लो, देह जड़ हानि करती है या नहीं मोक्ष की? निमित्त। ऐई! यह तो स्वयं पर की ममता की, इसलिए हानि होती है, ऐसी उसकी बात की है। आहाहा! **शरीर मिट्टी की खदान है, स्वभाव से ही दुख और दोषमय है तथा मोक्षसुख में बाधक है**। विशेष कहेंगे। शरीर की बात बाद में कहेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ९८, आषाढ़ शुक्ल १५, गुरुवार, दिनांक ०८-०७-१९७१
बन्ध द्वार काव्य - ४० से ४४

यह शरीर की व्याख्या करते हैं। शरीर अत्यन्त भिन्न चीज़ है, तथापि अनादि का शरीर के ऊपर इसे प्रेम है। इसलिए इसे मिथ्यात्व का बन्ध पड़ता है, ऐसा कहते हैं। क्योंकि यह शरीर तो परचीज़ जड़-मिट्टी है। यह मेरा है, यह मान्यता मिथ्यात्व है। इसलिए उसके अवगुण गाते हैं। शरीर ऐसा है। भगवान अमृत का सागर है। आत्मा तो अमृत अतीन्द्रिय अबन्धस्वरूप है, ऐसा कहा है यहाँ। यह शरीर तो बन्ध का ही कारण है। इसकी—शरीर की एकताबुद्धि, वह संसार है, मिथ्यात्व है। वह शरीर कैसा है, इसकी बात करते हैं। ४०वाँ (पद) है।

★ ★ ★

काव्य - ४०

पुनः (सवैया तेईसा)

रेतकीसी गढ़ी किधौं मढ़ी है मसानकीसी,
अंदर अंधेरी जैसी कंदरा है सैलकी।
ऊपरकी चमक दमक पट भूषनकी,
धोखै लागै भली जैसी कली है कनैलकी।।
औगुनकी औंडी महा भौंडी मोहकी कनौडी,
मायाकी मसूरति है मूरति है मैलकी।
ऐसी देह याहीके सनेह याकी संगतिसौं,
ह्वै रही हमारी मति कोल्हूकेसे बैलकी।।४०।।

शब्दार्थः-गढ़ी=छोटा गढ़ या किला। मढ़ी=छोटा मंदिर-देवली। कंदरा=गुफा। सैल=पहाड़। कली है कनैलकी=कनैर के फूल की कली। औड़ी=गहरी। भौंड़ी=खराब, भद्दी। कनौड़ी=कानी आँख। मसूरति=आधार।

अर्थः—यह देह बालू की गढ़ी के समान अथवा मरघट की मढ़ी के समान है और भीतर पर्वत की गुफा के समान अन्धकारमय है। ऊपर की चमक-दमक और वस्त्र-आभूषणों से अच्छी दिखती है, परन्तु कनैर की कली के समान दुर्गन्धित है, अवगुणों से भरी हुई, अत्यन्त खराब और कानी आँख के समान निकम्मी है, माया का समुदाय और मैल की मूर्ति ही है। इस ही के प्रेम और संग से हमारी बुद्धि कोल्हू के बैल के समान हो गई है, जिससे संसार में सदा भ्रमण करना पड़ता है।।४०।।

काव्य-४० पर प्रवचन

रेतकीसी गढ़ी किधौं मढ़ी है मसानकीसी,
अंदर अंधेरी जैसी कंदरा है सैलकी।
ऊपरकी चमक दमक पट भूषनकी,
धोखै लागै भली जैसी कली है कनैलकी।।
औगुनकी औंडी महा भौंडी मोहकी कनौडी,
मायाकी मसूरति है मूरति है मैलकी।
ऐसी देह याहीके सनेह याकी संगतिसौं,
ह्वै रही हमारी मति कोल्हूकेसे बैलकी।।४०।।

घानी का बैल होता है न, ऐसी मति हो रही है अज्ञानी की। **रेतकीसी गढ़ी...** रेत का विशाल ढ़ेर। यह होता है न यह रेत में देखो न ऐसे वहाँ राजस्थान में। बड़े ढ़ेर। हवा ऐसी आवे, खड्डा हो वहाँ ढ़ेर हो और वह ढ़ेर हो, वह उड़कर खड्डा हो। ऐसी रेत बहुत रेत जयपुर। अपने दिखता था, नहीं? बहुत ढ़ेर हो जाते एकदम। ऐसी हवा आवे और ढ़ेर हो जाये। इसी प्रकार यह रेत का ढ़ेर है। आहाहा! **रेतकीसी गढ़ी...** छोटा गढ़, किला... किला... यह रेत का किला है, यह सब। पलभर चूरा होने में देरी न लगे, ऐसा कहते हैं। रेत का किला। आहाहा! यह नाशवान है। अन्दर अमृतस्वरूप अतीन्द्रिय आनन्द का धाम... सबको विवाद उठा है। बहुत आते हैं चर्चा में, हों! पर्यायबुद्धि... यह पर्यायबुद्धि, यह मिथ्यात्व है? नहीं। पर्याय न माने, तब तो वेदान्त हो जाये।

मुमुक्षु : पर्याय न मानने की कहाँ बात है ? एकान्त पर्याय को माने और ध्रुव को न माने, उसकी बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : तुम्हारा लेख है, हों, हिम्मतभाई का। तुम्हारा काका।

वहाँ ऐसा कहे... व्याख्यान वाँचते थे, परन्तु खबर पड़ी वह, खबर पड़ी वहाँ भागे। यह पण्डित कहलाये सोनगढ़ के, देखो! ऐई! यह तुम्हारे भाई की बात चलती है। वह सुलगा न... वहाँ कारखाना नया डाला न ? ऐसा ... डाला। ऐसा कि पण्डित कहे तो कहलाते, ऐसा लगता है। कहे शब्द हो न, उसका शून्य लगाया। पण्डित करके कहे, ऐसा करके शून्य लगाया। पण्डित कहलाते थे, ऐसा लगे। इन्दौर वाँचते थे न तब। उसमें सुलगा था न। वहाँ तारा आया तो वे भागे। देखो, यह पण्डित। हाथी के दिखलाने के कुछ और चबाने के कुछ। बाहर में दिखलाये कि ऐसा है, ऐसा है और अपने को अवसर आवे तो भागे। ऐ हिम्मतभाई! .... ऐसी आलोचना की है।

एक चिमनभाई की आलोचना की। चिमनभाई वहाँ खातेगाम गये होंगे न खातेगाम। चिमनभाई। चिमनलाल ताराचन्द की आलोचना की। कुछ गायन-बायन बोले होंगे बेलातेला का। ऐसा कि बेलातेला... वह कुछ धर्म नहीं, अपवाद मार्ग है। सामने पण्डित बोले होंगे। अन्त में तो उसे तपस्या कही है और तुम त्याग को उड़ाते हो। और तुम भी सब यह सुगन्ध, सुगन्धी तेल से नहावे, साबुन से नहावे, अच्छे-अच्छे आहार करते हो सुगन्धित, ऐसा सब डाला होगा।

अरेरे! क्या हो ? भाई! यह तो राग आता है, होता है, परन्तु वस्तुस्थिति क्या है, ऐसा इसे निर्णय करना चाहिए न! सम्यग्दृष्टि छह खण्ड के धनी चक्रवर्ती, लो। भोजन खाये वह कितना ? बत्तीस ग्रास। अब एक ग्रास ९६ करोड़ सैनिक न खा सकें, ऐसा उसका आहार होता है। क्या कहा ? भरत चक्रवर्ती का ३२ ग्रास का उनका आहार। एक ग्रास ९६ करोड़ सैनिक न पचा सकें, ऐसा आहार। लाखों करोड़ों की भस्म अन्दर, हीरा की-मोती की भस्म। उसकी दासी ऐसी मजबूत हो कि ऐसे हीरा ऐसे तोड़े...

मुमुक्षु : चूरा करे।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसी तो दासियाँ। अब वे समकिती और उसी भव में मोक्ष

जानेवाला है। आहाहा! ऐसा आहार! एक ग्रास में कितनी भस्म होती है उसे! भाई! वह तो पुण्य के योग से ऐसा योग होता है, परन्तु धर्मी को उसके प्रति रुचि नहीं होती। यह (बात) समझ में नहीं आती। आहाहा! समझ में आया?

धर्मी को आहार में ऐसी सुखबुद्धि होती नहीं। विकल्प आया है, उसे जानते हैं कि यह दु:खदायक है। परन्तु उस समय दूसरा समाधान नहीं होता, इसलिए वह आहार लेते हैं। क्योंकि वास्तव में तो आहार और विकल्प से रहित है। आहाहा! क्या हो? ऐसी बात गड़बड़ में चढ़ गयी। बाहर के त्याग का यह... आहाहा! कहते हैं, अरे! यह शरीर रेत का ढ़ेर है। आहाहा! प्रभु! तू अमृत का सागर है। शाश्वत् नित्य ज्ञानानन्द का पुंज है, जबकि शरीर मात्र रेत का पिण्ड है। आहाहा! दोनों चीज़ें निराली है। **मढी है मसानकीसी...** यह श्मशान की मढ़ी। श्मशान में झोंपड़ा बनाये न रहने का। **मसानकीसी मढी है।** लो। श्मशान की मढ़ी है यह तो। मरघट है न मरघट। मरे हुए का घाट हो, वहाँ झोंपड़ी बनाये। ऐसा मरा हुआ यह मुर्दा है। भगवान अन्दर अमृतस्वरूप चैतन्यस्वरूप है, इसी प्रकार यह (शरीर) मरघट है। आहाहा!

अंदर अंधेरी जैसी कंदरा है सैलकी... बड़े पर्वत में पत्थर की गुफा होती है न गुफा। मात्र अन्धेरा, उसी प्रकार अन्दर में अन्धेरा। वह लड़का पूछता था न कि अन्दर देखें तो अन्धेरा दिखता है। वह जामनगर का परेश... परेश। आठ वर्ष की उम्र। अभी तो पन्द्रह-सोहल वर्ष का होगा। आठ-नौ वर्ष पहले। लड़का होशियार है। 'महाराज! आप आत्मा देखो, आत्मा देखो कहते हो।' आठ वर्ष की उम्र में, हों! अभी तो पन्द्रह-सोलह वर्ष हो गये होंगे। अभी तो (यह प्रश्न) दूसरे बहुत करते हैं। यह आत्मा देखो, कहाँ देखें हम? बाहर तो यह दिखता है। आँखें बन्द करें तो अन्धेरा दिखता है अन्दर। परन्तु अन्धेरे का जाननेवाला कौन है अन्दर? कहा। यह कहते हैं, बात सच्ची है। अन्दर अन्धेरी है। गुफा में अन्धकार होता है न, वैसे अन्धेरा है। परन्तु अन्धेरे का जाननेवाला (कौन)? प्रकाशमय चैतन्यमूर्ति है। जिसकी सत्ता में अन्धकार ज्ञात होता है, वह अन्धेरेरूप नहीं। आहाहा!

अन्धेरेरूप तो यह जड़-मिट्टी है। जिसकी सत्ता में—अस्तित्व में अन्धकार ज्ञात होता है, वह अन्धकाररूप नहीं। खबर नहीं, परन्तु कभी विचार किया नहीं। यह शरीर

और यह स्त्री, पुत्र और परिवार, पैसा हो गया, मरा उसमें। कुछ कमाना आवे तो... तो हो गया, गहरा गया। आहाहा! परन्तु तू कौन है ? भाई! तेरी अस्ति न हो तो यह शरीर की अस्ति को कहे कौन ? यह है, ऐसा जाने कौन ? शरीर जाने ? जाननेवाला चैतन्य भगवान है, वह जानता है कि यह शरीर है। वह अन्धेरेरूप है (नहीं)। इसमें अन्धेरा है यह सब।

ऊपरकी चमक दमक पट भूषनकी... यह चमड़ी की चमक लगे ऊपर की यह और पट भूषण का चित्राम लगे, लो। है न, **चमक दमक...** भाषा ऐसी प्रयोग की है न चमक-दमक। ऐसे चमक-दमक होने गया। यह तो चमड़ी ऊपर की जो चमक-दमक लगती है वह। एक छाल निकालकर देख। गन्ने का छिलका ऊपर से निकाले, इतनी यदि यह चमड़ी ऊपर से निकाले....

मुमुक्षु : खून निकले।

पूज्य गुरुदेवश्री : थूकने खड़ा न रहे, ऐसा है यह। और प्रभु तो अन्दर आनन्दमूर्ति अमृत का सागर है। उसमें जरा एकाग्र हो तो अमृत झरे, ऐसा है। उसकी चमड़ी उखाड़े तो माँस दिखाई दे। उसमें एकाग्र हो तो उसमें आनन्द आवे। आहाहा! ऐसी दोनों चीज़ें निराली हैं।

धोखै लागै भली जैसी कली है कनैलकी... यह धोखा दे, ऐसी है ....। यह ऊपर से लगे, यह और अन्दर गन्दगी। माँस, हड्डियाँ और चमड़ी, पेशाब और विष्टा और वीर्य। आहाहा! यह आत्मा को धोखा देती है। दगा... दगा देती है। आहाहा! **धोखै लागै भली जैसी कली है कनैलकी...** यह अपने को कुछ खबर नहीं, कोई होगी कनैल की कली। बाहर से अच्छी लगे और अन्दर गन्ध भरी हो, दुर्गन्ध भरी हो। **औगुनकी औंडी...** वह अवगुण की तो गहरी खाई है, लो। गहरी है न, गहरी। गहरी लिखा है। औंडी अर्थात् गहरी, ऊंडी। अवगुण की ऊंडी गहर... गहर अर्थात् गहरी। गम्भीर फोड़ा होता है न ऐसा अवगुण का फोड़ा है यह शरीर। आहाहा! जिसे सर्वस्व माना मानो... आहाहा! मिथ्यादृष्टि शरीर को अपना मानकर चैतन्य को भूल जाता है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ?

औगुनकी औंडी महा भौंडी... महा भूंडी है, कहते हैं। आहाहा! है न ? अत्यन्त

खराब। भूंडी का अर्थ किया अत्यन्त खराब। **मोहकी कनौडी...** मोह की काणी आँख है। यह काणी आँख के समान निकम्मी है, ऐसा कहते हैं, मोह की कनौडी, ऐसा। मोह की काणी आँख। अन्ध हो जाता है, इसलिए दिखता नहीं उससे। आत्मा यह है और शरीर ऐसा... **मायाकी मसूरति...** यह माया का समुदाय है। अकेला माया का यह समुदाय है। **मूरति है मैलकी...** मैल की मूर्ति है। भगवान निर्मलानन्द की मूर्ति यह (आत्मा) है। यह (शरीर) मैल की मूर्ति है। **ऐसी देह याहीके सनेह...** ऐसी जो देह, उसके प्रेम में और उसकी संगति में... लो, दोनों। प्रेम और संगति से **ह्वै रही हमारी मति कोल्हूकेसे बैलकी...** यह बैल होता है न बैल कोल्हू का। क्या कहलाता है ? घानी का। घानी का बैल जैसा है घानी का बैल जैसा। अब इसे विशेष कहेंगे।

★ ★ ★

काव्य - ४१

पुनः (सवैया इकतीसा)

ठौर ठौर रकतके कुंड केसनिके झुंड,
हाड़निसौं भरी जैसें थरी है चुरैलकी।
नैकुसे[1] धकाके लगै ऐसै फटियाज मानौ,
कागदकी पूरी किधौं चादरि है चैलकी।।
सूचै भ्रम वांनि ठानि मूढ़निसौं पहचांनि,
करै सुख हानि अरु खांनि बदफैलकी।
ऐसी देह याहीके सनेह याकी संगतिसौं,
ह्वै रही हमरी मति[2] कोल्हूकेसे बैलकी।।४१।।

शब्दार्थः-ठौर ठौर=जगह जगह। केसनिके=बालों के। झुंड=समूह। थरी (स्थल)= स्थान। चुरैल=भूतनी। पुरी=पुड़िया। वांनि=टैव। चैल=कपड़ा। बदफैल=बुरे काम।

अर्थः-इस देह में जगह-जगह रक्त के कुण्ड और बालों के झुण्ड हैं; यह हड्डियों

१. 'थोरे से' भी पाठ है। २. 'गति' भी पाठ है।

से भरी हुई है, मानों चुडैलों का निवासस्थान ही है। जरा सा धक्का लगने से ऐसे फट जाती है, जैसे कागज की पुड़िया अथवा कपड़े की पुरानी चद्दर; यह अपने अथिर स्वभाव को प्रगट करती है, पर मूर्ख लोग इससे स्नेह लगाते हैं। यह सुख की घातक और बुराईयों की खानि है। इस ही के प्रेम और संग से हमारी बुद्धि कोल्हू के बैल के समान संसार में चक्कर लगानेवाली हो गई है।।४१।।

काव्य-४१ पर प्रवचन

लो चुड़ैल आयी चुड़ैल।

ठौर ठौर रकतके कुंड केसनिके झुंड,
हाड़निसौं भरी जैसें थरी है चुरैलकी।
नैकुसे[१] धकाके लगै ऐसै फटियाज मानौ,
कागदकी पूरी किधौं चादरि है चैलकी।।
सूचै भ्रम वांनि ठानि मूढ़निसौं पहचांनि,
करै सुख हानि अरु खांनि बदफैलकी।
ऐसी देह याहीके सनेह याकी संगतिसौं,
ह्वै रही हमरी मति[२] कोल्हूकेसे बैलकी।।४१।।

ठौर-ठौर... रक्त के कुण्ड हैं, लोही के कुण्ड भरे हैं, कहते हैं, लो। आहाहा! जहाँ-जहाँ मारो वह वहाँ खून निकले। समझ में आया? जगह-जगह रक्त के कुण्ड हैं, खून है खून। चेलना को हुआ था न दोह्यला। श्रेणिक का रक्त पीऊँ। रक्त जैसा है। श्वेताम्बर में दूसरी बात है, इसलिए फिर ठीक नहीं बैठी। भाई लाये थे प्रदीप। चेलना रानी तो पहले से समकिती थीं। धर्म तो उसको प्राप्त कराया श्रेणिक को। वह और वापस माँस खाये? उसे माँस का विचार आवे ऐसा कि भले लड़का चाहे जैसा (गर्भ में आया हो), परन्तु माँस नहीं खाऊँ। .... बात सच्ची। उसे दोह्यला आया कि श्रेणिक का खून देखना है। जहाँ हो वहाँ खून। एक छुरी मारकर खून बताया ऐसे, लो। खून भरा है जहाँ और तहाँ। चाहे जहाँ छुरी मारो। पानी भरा हो... जहाँ तहाँ गड्ढा खोदे तो पानी निकले।

नदी का पानी चला ही जाता हो, वहाँ गड्ढा खोदे तो पानी निकले। यहाँ तो जहाँ खोदे वहाँ खून निकले। उसमें (शरीर में) कहाँ अमृत भरा है? आया न?

ठौर ठौर रक्तके कुंड केसनिके झुंड.... यह बाल... बाल... **हाड़निसौ भरी जैसे थरी है चुरैलकी....** हड्डियों से भरी हुई है। मानो चुड़ैल का घर हो। **चुरैलकी थरी...** अर्थात् रहने का स्थान। है न? थरी अर्थात् स्थल—स्थान। यह चुड़ैल का स्थान। अरे, गजब! बनारसीदास ने... इस शरीर के प्रेम में आत्मा को भूल गया है, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : नीचे की दो लाईनों में।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! **हमारी मति कोल्हुके बैलकी....** ऐसा कहा न। **नैकुसे धकाके लगै...** जरा सा धक्का लगे और एकदम फूट जाये। **ऐसे फटि जाय मानौ, कागदकी पूरी,...** लो। कागज का टुकड़ा हो जैसे एकदम फूट जाये, वैसे फट जाता है। **कीधौं चादरि है चैलकी...** पुरानी-पुरानी चादर। पुराने वस्त्र जीर्ण फट जायें ऐसे खेंचने से, इसी प्रकार फट जाता है। ऐसा जरा यह फटा, यह हुआ, यह हुआ, यह हुआ, आहाहा!

देखो न, यह क्या कहा जाता है उस रक्त का? रक्त का....

मुमुक्षु : ब्लडप्रेशर।

पूज्य गुरुदेवश्री : ब्लडप्रेशर। ब्लडप्रेशर तो... रक्त दबाव नहीं, दूसरा यह होता है अन्दर यह.... निकलता है ऐसे फोड़े की भाँति, नहीं? क्या कहा यह शान्तिभाई को था वह?

मुमुक्षु : डायबिटीज।

पूज्य गुरुदेवश्री : डायविटीज। डायबीटिज ऐसी व्याधि है कि कुछ फोड़े निकले, कुछ निकले। डॉक्टर बहुत कहते थे चुन्नीभाई को। गिर जाये या ऐसा हो और ऐसा हो। फूटा हो या फोड़ा हुआ हो तो वह सूखे नहीं, क्योंकि वह अन्दर दर्द है। बहुत ध्यान रखते थे। खाते भी सही, परन्तु इंजैक्शन लगाते थे। प्रतिदिन नियम से। दगा दिया, दगा दिया। घड़ीक में सड़े, फटे। आहाहा! **कागदकी पूरी...** यह कागज की नाव छोड़े पानी में, तुरन्त डुब जाती है। आहाहा! **कागदकी पूरी चादरि है चैलकी।**

सूचै भ्रम वांनि... लो। क्या कहा? **वांनि**—टेव। **कागज की पुड़िया अथवा पुरानी चद्दर हो, यह अपने अस्थिर स्वभाव को प्रगट करती है,...** लो। **सूचै भ्रम वांनि...** यह तो अस्थिर भ्रमणा दिखाती है, उसमें कुछ ठिकाना नहीं। आहाहा! **ठानि मूढ़निसौं पहचानि...** मूढ़ ने उसे अपना माना है। **मूर्ख लोग इससे प्रेम लगाते हैं।** शरीर का प्रेम, उसमें भगवान आत्मा को भूल जाना, वह बात करते हैं। **मूर्ख लोग इससे प्रेम लगाते हैं।** आहाहा! **करै सुख हानि...** सुख की तो हानि करनेवाले हैं। जितनी शरीर के लिये सम्हाल, उसकी दरकार, उतनी सुख की हानि करनेवाला है। आहा! **अरु खांनि बदफैलकी...** बदफैल की खान है। बदफैल है न, बुराईयाँ। बुराईयों की खान है—बदफैल की खान है। बुराई की, बुराई की खान। **ऐसी देह याहीके सनेह याकी संगतिसौं...** दो बातें। उसका स्नेह और उसका परिचय करना। **ह्वै रही हमारी मति कोल्हूकेसे बैलकी,...** लो। **संसारी जीवों की दशा कोल्हू के बैल के समान है।** अब दृष्टान्त घटित करेंगे।

★ ★ ★

काव्य - ४२

संसारी जीवों की दशा कोल्हू के बैल के समान है (सवैया इकतीसा)

पाटी बांधी लोचनिसौं सकुचै दबोचनिसौं,
कोचनिके सोचसौं न बेदै खेद तनकौ।
धायबो ही धंधा अरु कंधामांहि लग्यौ जोत,
बार बार आर सहै कायर है मनकौ।।
भूख सहै प्यास सहै दुर्जनको त्रास सहै,
थिरता न गहै न उसास लहै छनकौ।
पराधीन घूमै जैसौ कोल्हूकौ कमेरौ बैल,
तैसौई स्वभाव या जगतवासी जनकौ।।४२।।

शब्दार्थः-पाटी=पट्टी। लोचनिसौं=नेत्रों से। सकुचै=सिकुड़ता है। कौचनिके=

चाबुकों के। धायबौ=दौड़ना। आर=एक प्रकार का अंकुश। कायर=साहसहीन। त्रास= दु:ख। उसास=विश्राम। कमेरौ (कमाऊ)=निरन्तर जुतनेवाला।

अर्थ:-संसारी जीवों की दशा कोल्हू[१] के बैल के समान हो रही है, वह इस प्रकार है कि नेत्रों पर ढँकना बँधा हुआ है, स्थान की कमी के कारण दबोच से सिकुड़ासा रहता है, चाबुक की मार के डर से शरीर के कष्ट की जरा भी परवाह नहीं करता, दौड़ना ही उसका काम है, उसके कन्धे में जोत लगा हुआ है (जिससे निकल नहीं सकता), हर समय अरई की मार सहता हुआ मन में हत-साहस होता है, भूख-प्यास और निर्दय पुरुषों द्वारा प्राप्त कष्ट भोगता है, क्षण भर भी विश्राम लेने की थिरता नहीं पाता और पराधीन हुआ चक्कर लगाता है।।४२।।

काव्य-४२ पर प्रवचन

घाणी का बैल होता है न?

पाटी बांधी लोचनिसौं सकुचै दबोचनिसौं,
कोचनिके सोचसौं न बेदै खेद तनकौ।
धायबो ही धंधा अरु कंधामांहि लग्यौ जोत,
बार बार आर सहै कायर है मनकौ।।
भूख सहै प्यास सहै दुर्जनको त्रास सहै,
थिरता न गहै न उसास लहै छनकौ।
पराधीन घूमै जैसौ कोल्हूकौ कमेरौ बैल,
तैसौई स्वभाव या जगतवासी जनकौ।।४२।।

१. संसारी जीवों के नेत्रों पर अज्ञान की पट्टी बँधी हुई है, वे परिमित क्षेत्र से आगे नहीं जा सकते, यह उनके लिये दबोचनी है, स्त्री आदि के तीखे वचन चाबुक हैं, विषय-सामग्री के लिये भटकना उनका धन्धा है, गृहस्थी छोड़कर निकल नहीं सकते यह उन पर जोत है, कषाय चिन्ता आदि अरई हैं, परिग्रह-संग्रह के लिये भूख-प्यास सहते हैं, स्वामी राजा आदि का त्रास सहना पड़ता है, कर्मों की पराधीनता है, अनन्त काल चक्कर लगाते हो चुका पर एक क्षण भर के लिये भी सच्चा सुख नहीं पाया।

आहाहा! बहुत महिमा की है, हों! नीचे है देखो। **पाटी बांधी लोचनिसौं... संसारी जीवों के नेत्रों पर अज्ञान की पट्टी बँधी हुई है।**

मुमुक्षु : कोल्हू के बैल की भाँति।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, जैसे उस बैल को पट्टी बाँध दे, उसे कुछ सूझ ही नहीं पड़ती। उसी प्रकार अज्ञानी को अज्ञान की बड़ी पट्टी बाँध दी है। 'मैं आत्मा हूँ, यह देह भिन्न है, राग भिन्न है' उसका कुछ भान नहीं। आहाहा! **सकुचै दबोचनिसौं... वे परमितिक्षेत्र से आगे नहीं जा सकते,...** ऐसा। उसमें इतने में और इतने में रहता है न घानी का (बैल)। वह भी अपने क्षेत्र में बस। माना हुआ क्षेत्र हो घर-मकान, आहाहा! बस प्रसन्न-प्रसन्न हो जाये। पिता का पुराना मकान था, उसके लड़के ने बेच डाला था, फिर हुआ पैसावाला। उसकी माँ कहती है कि परन्तु वह चाहे जो माँगे, उसे दे, परन्तु अपना पुराना मकान है, वह लेना ही है। हम वहाँ रहे हैं पुराने।

हमारे उमराला में (हुआ था)। पहले दिया होगा हजार-दो हजार की कीमत में। तब कहाँ थी कुछ (कीमत)? दो-तीन हजार की होगी। अब वह पैसेवाले हो गये, जिन्होंने बेचा। .... वृद्धा कहे, वह मकान लेना ही है। माँगे उतने दो। ऐसे कुछ बहुत पैसे दिये। उसने पत्र में लिखा, परन्तु वह मकान मेरी माँ को चाहिए है, ला। फिर दिया। बहुत पैसे लिये... उमराला में ब्राह्मण....

मुमुक्षु : लगभग बीस हजार का अंक था।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, इतना अंक था। दो-तीन हजार का मकान था। बीस हजार दे आये, ले। देखो, यह कहाँ मकान तेरा? तू किसका? आहाहा! कहते हैं, **परिमितक्षेत्र से आगे नहीं जा सकते।** यह हमारा यह इतना क्षेत्र, बस। हमारा जन्मस्थान। हम इसमें बड़े हुए। बाहर निकलना। आहाहा! **यह उनके लिये दबोचनी है।**

स्त्री आदि के तीखे वचन चाबुक है। (पहले) धीरे-धीरे कहे, अब कहे कठोर वचन। समझ में आया? निभाना नहीं आता था तो किसलिए विवाह किया? अब तो देना पड़ेगा सब। एक राजा की रानी थी। राजा कुछ बोलने लगा होगा तो रानी एकान्त में कहे, 'हम जमींदार की पुत्री हैं। दरबार! ध्यान रखना। हम जमींदारनी।' बस इतना

कहा तो वह.... अरे, अरे! 'यह हम कोई कोली-किसान की पुत्री नहीं। यह बनिया डरपोक की नहीं। जमींदार की पुत्री हैं।' उपज बड़ी, हों! दो-तीन करोड़ रुपये की। घर में दबावे। बाहर में ऐसे महाराज... महाराज... महाराज....

'ध्यान रखना, हों दरबार! हमारे ऊपर आओगे नहीं किसी समय, ध्यान रखना। हमारे ऊपर होकर हमारा अपमान करो, ऐसा नहीं चलेगा। हम जमींदारनी हैं।' हाय, हाय! ऐसा लगे पुरुष को (मानो) मार डाला। ऐसे वचन बोले अन्दर। हाय... हाय! बाहर में दीवानखाने में बैठे हों, लोग खम्मा... खम्मा करे और वह रानी अन्दर ऐसा करे। ऐसे कठोर वचन बोले, कहते हैं। यह लड़की बीस वर्ष की हुई बड़ी हुई बड़ी, तुमको अक्ल भी है कुछ? खोजा अभी तक? खोजा या नहीं कुछ? अक्ल बिना के हो। सुनकर बैठा रहे। क्या करे? है या नहीं? गुणवन्तभाई! संसार में ऐसा सब चलता है। क्या कहते हैं? वह चाबुक मारे और वह आर मारे। बैल को ऐसे आर मारे। उसी प्रकार यह स्त्री के आर मारे, कहते हैं। चाबुक, स्त्री आदि के तीखे वचन चाबुक हैं। आहाहा!

कोचनिके सोचसौं न बेदै खेद तनको... विषय सामग्री के लिये भटकना... यह आया वापस, देखा? **धायबो ही धन्धा,...** लो। चाबुक-चाबुक, चाबुक से ऐसे शरीर। इसी प्रकार स्त्री के वचन। **सोचसौं न बेदै खेद तनकौ।** मन में खेद हो परन्तु क्या करे? जैसे... **स्थान की कमी के कारण, स्थान की कमी के कारण दबोच से सिकुड़ासा रहता है।** ऐसे संकोच हो न उसको और **चाबुक की मार के डर से शरीर के कष्ट की जरा भी परवाह नहीं करता।** आहाहा! वह बैल नहीं आया था? ज्योतिष का शिष्य नहीं था बैल? चिमनभाई! तुम्हारे पास आकर नहीं किया था? कौन बनावे टीका? अब वहाँ जाकर खड़ा रहा। बैल पहले से सिखाया हुआ हो, मारकर सिखाया हुआ। मलिन विद्यायें। उसे मैंने देखा है। यह उसका वह था, वे सब लोग नौकर रखे हुए। उसके मूल व्यक्ति सिखाये हुए हों। परन्तु उनसे ऐसा डरता, बैल ऐसा डरता था। मारता अन्दर से। मार-मारकर कचूमर निकाल दे। मलिन विद्या सीखकर।

यह कौन है यहाँ? टीका की है, वह कौन है? हिम्मतभाई के (नजदीक) जाकर खड़ा रहा फिर से वहाँ। तुम्हारी लड़की कौन है? .... लेकर खड़ी थी। विदेहा। उसमें विदेहा कौन है? आणन्दभाई की पुत्री। खोजने के लिये महिलाओं में गया। वह

धणी, हों! धणी मानो कि महिलाओं में होगी। विदेहा को उठा ली लड़के ने। वापस वहाँ जाकर खड़ा रहा। ऐसी मलिन विद्या। मारे ऐसा, हों! बाहर में ऐसा कहे, हाँ, बैल को भारी विद्या है। धूल भी नहीं वह सब। मलिन विद्या। मार-मारकर कचूमर निकाल डाले।

यहाँ कहते हैं, **चाबुक के मार के डर से शरीर के कष्ट की जरा भी परवाह नहीं करते। दौड़ना ही उसका काम है,...** लो। यह **धायबो धंधा—**मुम्बई जाये, अफ्रीका जाये, माँ-बाप छोड़े, परिवार छोड़कर दौड़ा-दौड़ धन्धा-धन्धा बैल की भाँति, यह बैल की भाँति। कहो, बराबर होगा या नहीं, माणेकलालजी? देखो, दाहोद छोड़कर मुम्बई। यह तो दृष्टान्त है। सबको ऐसा ही है। आहाहा! **धायबो ही धंधा अरु।** बेचारा बैल जैसे दौड़ा-दौड़ करे, वैसे यह भी दौड़ा-दौड़ काम। दौड़ना उसका काम, ऐसा। **धायबो ही धंधा अरु कंधामांहि लग्यौ जोत।** उस बैल को डाले न सिर पर जोत। इसी प्रकार इसे। **कन्धे में जोत लगा हुआ है, जिससे निकल नहीं सकता।** ऐसा कष्ट। ऐसे स्त्री, पुत्र, परिवार, मकान, इज्जत जाल बिछाकर बैठा हो, (उसमें से) निकलना, आहाहा! भाई! अभी तो मुझे शरीर से ठीक नहीं। अभी दो दिन अलग रहने दे। कौन करेगा तब यह सब? अब लुटा देना है सब? हैरान होकर बेचारा! ऐ मोहनभाई! ऐसे संसारी घानी के बैल जैसे हैं, कहते हैं। आहाहा!

परन्तु यह कहते हैं कि मोह में लगा है न, वह उसे जोत सिर पर पड़ा है। दु:ख भोगना है उसे। आहाहा! शरीर के प्रेम से शरीर को पहिचाननेवालों के साथ ऐसी लगन उसे लगी है, कहते हैं। यह तो धूल को पहिचाने कि यह हमारा पुत्र। परन्तु कहाँ तेरा था? लगन लगी है, कहते हैं। निकल नहीं सकते। और **बार बार आर सहै कायर है मनकौ,...** आर मारे न, क्या कहलाता है वह? लकड़ी होती है न। लकड़ी में वह कील-कील। पीछे भोंके बरडा में। आर-आर मारे, क्या करे? खेद सहन करे परन्तु **अरई की मार सहता हुआ मन में हत-साहस होता है।** आहा! जाये कहाँ? वह कुण्डाले और कुण्डाले घूमे। इसी प्रकार यह मूढ़ जाये कहाँ? यह घर, यह स्त्री और पुत्र में वहाँ-वहाँ घूमे। धन्धा। आहाहा! ठीक, यह पण्डितजी ने घटित किया है यह। संसार का नाटक-खेल। **कायर है मन को।** मन में जरा कायर हो जाये, परन्तु क्या करे, ऐसा कहते हैं।

भूख सहै प्यास सहै दूर्जनको त्रास सहै,... लो। **भूख-प्यास और निर्दय पुरुषों द्वारा प्राप्त कष्ट भोगता है। थिरता न गहै न उसास लहै छनकौ।** स्थिरता क्षण भर भी नहीं मिलती। **क्षणभर भी विश्राम लेने की थिरता नहीं पाता।** बैल तो हाँक रखे सवेरे से शाम तक ऐसे और ऐसे। यह भी सवेरे से शाम धन्धा-मजदूर बड़ा।

मुमुक्षु : काम चालीस घण्टे के और दिन चौबीस घण्टे का। करे क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु वह मेरा काम है ही नहीं। मैं तो आत्मा हूँ। मुझे काम कैसा? आत्मा का काम जानने का-देखने का काम। उसे यह काम कैसा? समय थोड़ा लगता है और काम बहुत बड़े करोड़ों, क्या करना? आहा! **दुर्जनको त्रास सहै।** निर्दय मनुष्य हो। नौकर हो और सेठ ऊपर ऐसा बोले, ऐसा बोले। क्या करे, नहीं तो नौकरी छोड़ देगा। अभी नहीं बोला जाता उसके सामने। सहन करो, आहाहा! इस संसार के (दु:ख).... **थिरता न गहै न उसास लहै छनकौ।** क्षण भी बैठकर शान्ति-स्थिरता का समय इसे नहीं मिलता। आहाहा! आत्मा का तो विचार करने का समय कहाँ इसके पास! फुरसत से बैठा, यह इसका ऐसा हो, इसका ऐसा हो, मशीन ऐसे करूँ, फलाना ऐसा करूँ, ढींकणा ऐसा करूँ।

पराधीन धुमै जैसौ कोल्हूकौ कमैरौ बैल... यह घानी का बैल काम करनेवाला, **कमेरौ** अर्थात्। घानी का बैल जो है, वह काम करनेवाला है। वह काम करनेवाला जो बैल है, कमाऊ है न अन्दर? **निरंतर जुतनेवाला...** है न? शब्दार्थ है। **कमेरौ** अर्थात् कमाऊ। ऐसा। कमाऊ बैल। आहाहा! **निरंतर जुतनेवाला...** यह कमाऊ बैल कहलाता है। आहाहा!

मुमुक्षु : यह कमाऊ पुत्र।

पूज्य गुरुदेवश्री : और यह कमाऊ बैल। **तैसौई स्वभाव या जगतवासी जनकौ...** आहाहा! अरे! कहाँ जाना है और कहाँ कौन है? उसका (विचारने का) समय मिलता नहीं। 'मरने का समय नहीं, तुम क्या बात करते हो' और एक व्यक्ति ऐसा कहता था। ठीक! मरेगा तब तो पैर पड़ा रहेगा वहाँ, सुन न अब! मरने का समय नहीं अभी। तुम धर्म... धर्म... धर्म, ऐसा कहते हो। .... मजाक करे। ऐसा स्वभाव इस जगतवासी जन का है। नीचे घटित किया है न, नीचे कहा है।

विषयसामग्री के लिये भटकना उनका धन्धा है,... जहाँ से इज्जत मिले, पैसा मिले, खाने का मिले, पीने का मिले, कीर्ति मिले, वहाँ भटका करता है। **गृहस्थी छोड़कर निकल नहीं सकते, यह उन पर जोत है।** गृहस्थीपने को छोड़ सकता नहीं। **कषाय-चिंता आदि आर...** लगती है। बड़े आर का गोदा-कषाय का—क्रोध, मान, माया, लोभ। आहाहा! **परिग्रहसंग्रह के लिये भूख-प्यास सहते हैं।** एक बार का दो बजे खाये—तीन बजे खाये, पूरे दिन भी न खा सके। भाई! आज तो बहुत ग्राहक है। सच्ची बात, सच्ची। ऐसे धन्धे अज्ञानियों के, आत्मा के लिये समय लेता नहीं, ऐसा कहते हैं। **स्वामी-राजा आदि का त्रास सहना पड़ता है...** देखो, आया देखो! निर्दय हो और ऐसे राजा या मालिक। क्या करे? **कर्मों की पराधीनता है अनन्त काल चक्कर लगाते हो चुका पर एक क्षणभर के लिये भी सच्चा सुख नहीं पाया।** आहाहा!

भगवान आत्मा आनन्दस्वरूप, उसमें दृष्टि देने से आनन्द आवे, उसके (लिये) समय निकालता नहीं। बाहर की इज्जत, कीर्ति, शरीर और धन्धे के कारण (समय जाता है)। इसने ऐसा कहा, **तैसोई स्वभाव या जगतवासी जनकौ।** सच्चा सुख नहीं पाया, सच्चा सुख मिलता नहीं। कहो, मलूकचन्दभाई! तुम देख आये या नहीं सर्वत्र? मुम्बई, स्विट्जरलैण्ड। दोनों बड़े मजदूर हैं न। यह मजदूर के बादशाह। भाई यह बड़े व्यक्ति.... पाँच करोड़ का बाप। भले इसके पास पैसा न हो, परन्तु लड़के के पास बहुत पैसा। भले इसे पूछकर करे नहीं। करे तो ऐसा हो न। परन्तु कहलाये तो बाप न! यह छोड़, कहते हैं कि पर का प्रेम छोड़कर आत्मा को जान, यहाँ ऐसा कहते हैं, करने की बात आयी। छोड़ तेरी होली। तेरी चीज़ कौन है, उसे पहिचान न, भाई! तुझमें कीमत है। तेरा मूल्य न हो, ऐसी तेरी चीज़ है। आहाहा! उसका मूल्य क्या करना! उसका मूल्य आँकने से स्वयं मूर्ख हो जाये ऐसा है। आहाहा! ऐसी चीज़ यह! उसे छोड़कर यह पर के रस में क्यों पड़ा, ऐसा कहते हैं यहाँ तो। सच्चा सुख नहीं पाया, लो। **संसारी जीवों की हालत।** अपना बनाकर डाला है।

★ ★ ★

काव्य - ४३

संसारी जीवों की हालत

(सवैया इकतीसा)

जगतमैं डोलैं जगवासी नररूप धरैं,
प्रेतकेसे दीप किधौं रेतकेसे थूहे हैं।
दीसैं पट भूषन आडंबरसौं नीके फिरि,
फीके छिनमांझ सांझ-अंबर ज्यौं सूहे हैं।।
मोहके अनल दगे मायाकी मनीसौं पगे,
डाभकी अनीसौं लगे ओसकेसे फूहे हैं।
धरमकी बूझ नांहि उरझे भरममांहि,
नाचि नाचि मरि जांहि मरीकेसे चूहे हैं।।४३।।

शब्दार्थ:-डोलैं=फिरैं। प्रेतकेसे दीप=मरघट पर जो चिराग जलाया जाता है। रेतकेसे थूहे=रेत के टीले। नीके=अच्छे। फीके=मलीन। सांझ-अंबर=संध्या का आकाश। अनल=अग्नि। दगे=दाहे जले। डाभकी=दूब-घास की। अनी=नोंक। फूहे=बिन्दु। बूझ=पहिचान। मरी=प्लेग।

अर्थ:-संसारी जीव मनुष्य आदि का शरीर धारण करके भटक रहे हैं, सो मरघट के दीपक[१] तथा रेत के टीले[२] के समान क्षणभंगुर हैं। वस्त्र-आभूषण आदि से अच्छे दिखाई देते हैं परन्तु साँझ के आकाश के समान क्षणभर में मलिन हो जाते हैं। वे मोह की अग्नि से जलते हैं फिर भी माया की ममता में लीन होते हैं और घास पर पड़ी हुई ओस की बूंद के समान क्षण भर में नष्ट हो जाते हैं। उन्हें निजस्वरूप की पहिचान नहीं है, भ्रम में भूल रहे हैं और प्लेग के चूहों की[३] समान नाच-नाच कर शीघ्र मर जाते हैं।।४३।।

---

१. जल्दी बुझ जाता है, कोई थाँभनेवाला नहीं है।

२. मारवाड़ में वायु के निमित्त से बालू के टीले बन जाते हैं और फिर मिट जाते हैं।

३. जब चूहों पर प्लेग का आक्रमण होता है, तो वे बिल आदि से निकलकर भूमि पर गिरते हैं और बड़ी बैचेनी के साथ दो चक्कर लगाकर शीघ्र मर जाते हैं।

काव्य-४३ पर प्रवचन

जगतमैं डोलैं जगवासी नररूप धरैं,
प्रेतकेसे दीप किधौं रेतकेसे थूहे हैं।
दीसैं पट भूषन आडंबरसौं नीके फिरि,
फीके छिनमांझ सांझ-अंबर ज्यौं सूहे हैं।।
मोहके अनल दगे मायाकी मनीसौं पगे,
डाभकी अनीसौं लगे ओसकेसे फूहे हैं।
धरमकी बूझ नांहि उरझे भरममांहि,
नाचि नाचि मरि जांहि मरीकेसे चूहे हैं।।४३।।

यह प्लेग के चूहे, प्लेग के चूहे का दृष्टान्त दिया, लो। उस समय प्लेग होगा? तीन सौ वर्ष पहले की बात है। **जगतमैं डोलैं जगवासी नररूप धरैं**। यह तो दृष्टान्त दिया है। कोई भी मनुष्य का धारण करे, मनुष्य आदि कोई भी भव धारण करे। **प्रेतकेसे दीप कीधौं रेतकेसे थुहे हैं**। मरघट पर चिराग जलाया जाता है। वह श्मशान का दीपक। श्मशान का लड्डू होता है। श्मशान में जाते हैं न लड्डू रखने। घड़ा हो और फिर ऊपर लड्डू रखे और ऐसे दो पैर नीचे पत्थर मारे। ऐसा करते हैं, कुछ सुना है श्मशान में उसका दीपक। श्मशान के दीपक जैसा है, कहो, लो। भटक रहे हैं। **मरगट के दीपक... जल्दी बुझ जाता है, कोई थामनेवाला नहीं है**। श्मशान में दीपक को क्या रहे? हवा लगे और समाप्त। वह ऐसा है यह, श्मशान के दीपक जैसा है। यह थोड़ी चमक लगती है। हवा, यह काल आया, उड़ जायेगा, फू होकर उड़ जायेगा। भगवान तो शाश्वत्-नित्य है, वह कहीं उड़े, ऐसा नहीं है। आहाहा!

प्रेतकेसे दीप कीधौं रेतकेसे थूहे हैं। यह रेत के बड़े ढ़ेर। मारवाड़ में है न! **रेत के टीले के समान क्षणभंगुर है। मारवाड में वायु के निमित्त से बालू के टीले बन जाते हैं और फिर मिट जाते हैं**। यह तो अभी देखा है। जयपुर, नहीं? ऐसे दिशा को जाते थे हम। ऐसा बड़ा ढ़ेर। दूसरा कुछ नहीं। हवा आयी ढ़ेर हो गया। ऐसे चार मील दूर जाते थे दिशा को वहाँ। ऐसी हवा चले और धूल ऐसी उड़े कि मनुष्य दब जाये। और **टीले**

के समान क्षणभंगुर। घड़ीक में उड़ जाये। ऐसी हवा चले कि खाली। इसी प्रकार यह शरीर के रजकण क्षण में उड़ जाते हैं। आहाहा! तड़पते हुए मरता है। **रेतकेसे थूहे।**

दीसैं पट भूषन आडंबरसौं नीके फिरि। नीके—अच्छे और **फीके** अर्थात् मलिन, लो। आडम्बर से भला आदमी दिखाई दे, कहते हैं। शरीर में ऐसे वस्त्र पहने हों, टीपटोप किये हों। ऐसा तिलक यहाँ किया हो और गहने पहने हों, वे लटकते हों और होंठ लाल किये हों, हाथ में फिर मेहंदी लगाकर नख-बख लाल किये हों। मेहंदी नहीं लगाते? ये लड़कियाँ बहुत करती हैं। अब तो लड़के भी करते हैं....। कौन जाने क्या हुआ है? पहले लड़किया लगाती थीं, हों! अब लड़के लगाते हैं। देखा है? हमारे यहाँ बहुत लड़के आते हैं न? ऐसे लड़कियों जैसे लाल नख करे, हाथ भी लाल करे। हाँ, वे करते होंगे।

वस्त्र-आभूषण आदिसै अच्छे दिखाई देते हैं, परन्तु सांझ के आकाश के समान क्षणभर में मलिन हो जाते हैं। सन्ध्या हो ऐसी सन्ध्या, एक क्षण में अन्धेरा। वह सन्ध्या जैसा दिखाव लगे। स्त्री, पुत्र, परिवार, पैसा, बँगला और कीर्ति। ओहोहो! एक क्षण में फू... जाओ। **फीके छिनमांझ सांझ-अंबर ज्यौं सूहे हैं...** ऐसा। आकाश में जैसे सन्ध्या खिले, वैसी खिली हुई दिखाई दे, परन्तु उस खिलती में देरी कितनी इसे? क्षणभर में अन्धकार हो जाता है। आहाहा!

मोहके अनल दगे। मोह की तो अग्नि सुलगती है, कहते हैं। पर मेरा, ऐसी मान्यता भी अग्नि सुलगती है और राग-द्वेष के भाव, वे सब अनल—अग्नि सुलगती है। **मायाकी मनीसौं पगे। माया की ममता में लीन होते हैं,...** ऐसा। **मायाकी मनीसौं पगे...** ऐसा। उसमें लीन हो जाता है। **डाभकी अनीसौं लगे ओसकेसे फूहे हैं।** डाभ की अणी के ऊपर पानी की बूँद, (उसे) गिरने में कितनी देरी! **घास पर पड़ी हुई ओस की बूंद के समान क्षणभर में नष्ट हो जाते हैं।** आहाहा!

वह विवाह करने गया हो, तब मानो क्या हुआ हो मानो ऐसा, आहाहा! बड़े ऐसे डाले, क्या कहलाते हैं वे बड़े? कलगी। कलगी लगावे, मुख पर वह व्यवस्थित चोपड़े। क्या होता है? सफेद आता है न कुछ?

मुमुक्षु : पाउडर।

पूज्य गुरुदेवश्री : पाउडर। मुख पर चोपड़कर मानो ऐसे रूपवान लगे, ऐसे बैठे। दो-चार घड़ी तो लगे, कहते हैं, **डाभकी अनीसौं लगे ओसकेसे फूहे हैं।** ओस की बिन्दु—पानी की बिन्दु जैसे डाभ की अणी पर हो।

उत्तराध्ययन में बहुत आता है, दसवें अध्याय में। **समयं गोयमं मा समाहि।** सब कण्ठस्थ था, भूल गये... पूरा उत्तराध्ययन कण्ठस्थ था न। ३६ अध्ययन। छह हजार श्लोक कण्ठस्थ थे। पूरा दशवैकालिक, पूरा उत्तराध्ययन। आचार का पहला भाग, सूयगडांग का पहला भाग... तीनों पूरे-पूरे। कण्ठस्थ थे हमको। हाँ, हाँ, रोज १५००-१५०० श्लोक। हमारे हीराजी महाराज को स्वाध्याय का बहुत.... फुरसत में बैठे नहीं।

अब उस समय जानपना नहीं था तो लोग बैठते उनकी चर्चा में। अब यह सब हुआ है। तब कहाँ था? सामायिक-प्रौषध करना, वाँचना, फिर यह हमारे श्वेताम्बर में कैसे सब? एक घण्टे मुश्किल से सुनने को आवे। ऐसा जहाँ पूरा हो, वह सब समेटकर दुकान पर। ऐई! सब पैसेवाले हों, सब वहाँ। तब पौण-पौण लाख (७५०००), अब तो पैसे बढ़ गये हैं। अठारह घर, सब आगे पैसे। एक व्याख्यान में आवे, महाराज की शर्म से आवे। परन्तु जहाँ पूरा हो, वहाँ तो भागे। कुछ पूछना-करना क्या क्या... कुछ नहीं। आहाहा!

धरमकी बूझ नांहि... एक आत्मा कौन है, उसका भान नहीं होता। धर्म की खबर नहीं होती। इस बाहर की खबर में फँस गया। **उरझे भरममांहि...** भ्रमणा हो, उसमें तल्लीन होकर सावधान रहे, ऐसा कहते हैं। आहाहा! **भ्रम में भूल रहे हैं और प्लेग के चूहों के समान नाच-नाच के शीघ्र मर जाते हैं...** लो। प्लेग के चूहे थे न। वे बाहर निकले सही, बहुत चल न सके। पानी, एक पानी पीने को ही ऐसे जाये, ऊँचा-ऊँचा। वहाँ से बाहर निकल न सके। यह तो हमने वहाँ पालेज में बहुत (देखा था)। वे भाग गये थे। हम तो वहाँ थे। कुछ हुआ नहीं, चूहे को पकड़ते भी सही। प्लेग के चूहे, हों! मर गया। लो, यह धीरे-धीरे चले है। और बड़े चूहे। पानी पीने आवे। वह हो न पानी ऐसे कलश खाली पड़ा हो और जरा पानी-पानी पड़ा हो, ऐसे पीने जाये, वापस निकलना मुश्किल पड़े। ऐसे मुर्दे जैसे। ऐसे मरी के—प्लेग के जो चूहे, आहाहा!

दृष्टान्त कैसा दिया, देखो न! नाच-नाचकर मरे। नाचकर अर्थात् ऐसे घूमे... भटका-भटक करे, ऐसा। नाचकर का अर्थ वहाँ कहाँ नाच भटकाभटक करे जहाँ-तहाँ। मर जाये, देखो। नाच-नाचकर शीघ्र मर जाते हैं। फिरकर ऐसे... चक्कर मारे, जाये ऐसे से ऐसे। पालेज में ऐसा बहुत देखा हुआ है। (संवत्) १९६० के वर्ष। ५९ में गये थे न.... रात्रि में सोने चले जाये। हम तो वहीं के वहीं रहेंगे। कुछ हुआ नहीं था। हो गया तब उसे। आहाहा!

सम्पत्ति की बात करते हैं अब जरा। हमारी लक्ष्मी। ऐई मलूकचन्दभाई! हमारे मकान, हमारे पैसे, हम इज्जतवाले।

मुमुक्षु : यह क्या? जगत के जीव करते हैं, वह सब ही उल्टा?

पूज्य गुरुदेवश्री : सब उल्टा। आत्मा का नहीं करते और दूसरा करे, वह सब उल्टा। आहाहा!

★ ★ ★

काव्य - ४४

धन सम्पत्ति से मोह हटाने का उपदेश (सवैया इकतीसा)

जासौं तू कहत यह संपदा हमारी सो तौ,
साधनि अडारी ऐसैं जैसै नाक सिनकी।
ताहि तू कहत याहि पुन्नजोग पाई सो तौ,
नरककी साई है बड़ाई डेढ़ दिनकी।।
घेरा मांहि पर्‌यौ तू विचारै सुख आंखिनकौ,
माखिनके चूटत मिठाई जैसै भिनकी।
एते परि होहि न उदासी जगवासी जीव,
जगमैं असाता है न साता एक छिनकी।।४४।।

शब्दार्थः-अडारी=छोड़ी। साई=बयाना। घेरा=चक्कर।

अर्थः-हे संसारी जीवों! जिसे तुम कहते हो कि यह हमारा धन है, उसे साधुजन

इस तरह छोड़ देते हैं जिस तरह कि नाक का मैल छिनक दिया जाता है और फिर ग्रहण नहीं किया जाता। जिस धन के लिये तुम कहते हो कि पुण्य के निमित्त से पाया है सो डेढ़ दिन का बड़प्पन है पीछे नरकों में पटकनेवाला है, अर्थात् पापरूप है। तुम्हें इससे आँखों का सुख दिखता है, इसके कारण तुम कुटुम्बीजन आदि से ऐसे घिर रहे हो जैसे मिठाई के ऊपर मक्खियाँ भिनभिनाती हैं। आश्चर्य है कि इतने पर भी संसारी जीव संसार से विरक्त नहीं होते, सच पूछो तो संसार में असाता ही असाता है, क्षणमात्र को भी साता नहीं है।।४४

पद-४४ पर प्रवचन

जासौं तू कहत यह संपदा हमारी सो तौ, साधनि अडारि एसैं जैसै नाक सिनकी। यह सम्पदा कहते हैं कि हमारी। यह साधु ने तो नाक के मैल की भाँति छोड़ दी है। आहाहा! नाक का मैल निकाल डाले, वैसे। कहते हैं, न? .... **यह हमारा धन है, उसे साधुजन इस तरह छोड़ देते हैं, जिस तरह कि नाक का मैल छिनक दिया जाता है।** ऐसे मानो एकदम। आहाहा! साधु, छह खण्ड के धनी चक्रवर्ती एक क्षण में कफ छोड़े, वैसे छोड़कर चले जाते हैं। अरे, यह हमारी चीज़ नहीं। हम जहाँ हैं, वहाँ यह नहीं और यह है, वहाँ हम (नहीं)। आहाहा! अपने स्वरूप का साधन करने साधुजन ने अरबों-अरबों की कीमत के पैसे (धन-सम्पत्ति), नाक का मैल जैसे छोड़ते हैं (उसी प्रकार) छोड़ देते हैं। **फिर ग्रहण नहीं किया जाता...** लो। **ताहि तू कहत याहि पुन्नजोग पाई सो तौ,...** लो। हमारे पुण्य है। पुण्य भी तेरा नहीं, सब तेरी चीज़ नहीं, भाई! आहाहा! लो, शब्द तो आया इसमें।

ताहि तू कहत याहि पुन्नजोग पाई—पुण्य के योग से यह सब मिला। मर जायेगा परन्तु अब, सुन न! पुण्य भी तेरा नहीं और पैसा भी तेरा नहीं। आहाहा! पुण्य का भाव भी विकार, उसका बन्ध पड़ा वह जड़, उसका फल आया वह संयोग—तीनों ही तेरी चीज़ नहीं। **पुन्नजोग पाई सो तौ**। हम कहाँ लेने जाते हैं? देखो न, हमारा पुण्य ऐसा है, ऐसा कहता है। **नरक की साई है बड़ाई डेढ़ दिन की,...** लो। नरक का साई है। नरक

में ले जानेवाला। नरक में पटकनेवाली है। यह पैसे-बैसे का बहुत मोह करे और मरकर नरक में जायेगा, कहते हैं....! जड़ तेरा हो गया? जड़ को तूने कमाया? कमाया पाप और पैसा कमाया, ऐसा मानता है। पाप कमाया है।

नरककी साई.... यह तो नरक में पटकनेवाली है। **बड़ाई डेढ़ दिन की...** डेढ़ दिन की बात है तेरी सब, कहते हैं। फू होकर रह जायेगा।

मुमुक्षु : चार दिन की चाँदनी

पूज्य गुरुदेवश्री : यह डेढ़ दिन की बात ली है। **बड़ाई डेढ़ दिन की...** इसका अर्थ इसमें बराबर नहीं हुआ। है, डेढ़ दिन का बड़पन, इतना। पहला अर्थ किया, फिर नरक का डाला। डेढ़ दिन की महत्ता है, फिर जाये नरक में नीचे। आहाहा!

.... पैसे लिखाओ। लिखो इक्यावन हजार, ओहो! मुख फट जाये दूसरे का। आहाहा! ऐई! बड़ी रकम लिखाना, हों! पहले तुमको डाला है। फिर दूसरे के पास... नहीं तो रकम व्यवस्थित नहीं देंगे। यह लिखाओ... लिखो। इक्यावन हजार एक सौ ग्यारह। एक लाख ग्यारह हजार एक सौ ग्यारह। सब एकड़ा इसलिए प्रसन्न-प्रसन्न हो जाये। अब धूल भी तेरी नहीं, सुन ने! आहाहा!

मुमुक्षु : परन्तु वह पैसा देकर मन्दिर बनावे।

पूज्य गुरुदेवश्री : मन्दिर अपने आप होता है। यहाँ कोई माँगने जाते नहीं रामजीभाई कहीं। तो भी पैसा तो आता है वहाँ से। ऐई! यहाँ का रिवाज ही नहीं कोई ऐसा....

मुमुक्षु : माँगना अलग चीज़, परन्तु पैसे बिना होगा?

पूज्य गुरुदेवश्री : पैसे बिना ही होता है। पैसे कहाँ घुस जाते हैं इसमें? यह तो जड़ से हुआ है। यह कहा नहीं था कि दीवार... ईंटों से होती है यह। ईंटों के रजकण से चिनी जाती है, पैसे से चिनी जाती है? आहाहा! पर के कारण पर हो, यह वस्तु कहाँ है? आहा! बड़ी डेढ़ दिन की बड़ाई है। कहते हैं, फिर जायेगा नीचे। आहाहा! नरक में जायेगा, ऐसा कहते हैं।

घेरा मांहि पर्यौ तू विचारै सुख आंखिनकौ... आहाहा! स्त्री बैठी हो, पुत्र बैठा

हो, दामाद और पुत्रियाँ, वह तो मानो चक्रवर्ती का राज बैठा। कहीं अभी हुआ न इकट्ठा? एक लड़का, दो लड़कों की बहुएँ, दो लड़कियाँ, सब कुटुम्ब इकट्ठा, बैसे मानो, आहाहा! ऐई! तुम्हारे तो कुछ नहीं हो इसलिए क्या है? आहाहा! आठ-आठ पुत्र हों, आठ-आठ बहुएँ हों समान सी। लड़के हों सब ऐसे मानो। ऐई, क्या कहते हैं? अपनी भाषा है न काठियावाड़ की? आज्ञाकारी कुटुम्ब, ऐसा। क और क दोनों इकट्ठे हों न। कहल्युं (आज्ञाकारी) परिवार इकट्ठा हुआ है। कहते हैं, आहाहा! और बोले तो... ऐसे भाव, ऐसी भाषा। यह आज्ञाकारी कुटुम्ब इकट्ठा हुआ। अब आज्ञाकारी कुटुम्ब मरने को इकट्ठा हुआ है। सुन न, श्मशान में है। तुझे क्या है? आहाहा! **तू विचारै सुख आंखिनकौ...** आँख का सुख है यह सब। देखने को तो मिलता है, आहाहा! ऐसा कहते हैं, हों!

माखिन के चूटत मिठाई जैसै भिनकी, एते परि होहि न उदासी जगवासी जीव,... लो। मिठाई के ऊपर मक्खी ऐसे बैठे न भिनभिनाती हुई। उसी प्रकार तेरे पास सब स्वार्थ के पुतले सब इकट्ठे हुए हैं। सब ठगों की टोली इकट्ठी हुई है। स्त्री और पुत्र.... आता है न, नियमसार में आता है। आजीविका के लिये ठगों की टोली सब इकट्ठी हुई है।

मुमुक्षु : वह लूटने को तैयार है....

पूज्य गुरुदेवश्री : लुटता है.... लुटता इसलिए, उसे कहते हैं न! नहीं तो कौन इसे कहता है? पैसे कमा-कमाकर... सुमनभाई में खर्च किये उसमें, लो। क्या कहलाता है वह? पढ़ाई में। अमेरिका में, कहो। ऐई! वापस मकान... यह संसार ही सब ऐसा है। कैसे माने? कान्तिभाई! कान्तिभाई को कोई विवाह नहीं। परन्तु दूसरे हों न माँ और बापू। माँ के हाथ में, ढींकणा के हाथ में। एक रखी है। दो रखे हैं, नहीं? बहिन और एक भाई। **जैसे मिठाई के ऊपर मक्खियाँ भिनभिनाती हैं, आश्चर्य है कि इतने पर भी संसारी जीव संसार से विरक्त नहीं होते...** लो, देखो। **न उदासी जगवासी जीव, जगमैं असाता है न साता एक छिनकी।** असाता से भरपूर है, एक क्षणमात्र कहीं साता है नहीं।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ९९, आषाढ़ कृष्ण १, शुक्रवार, दिनांक ०९-०७-१९७१
बन्ध द्वार काव्य ४५ से ४८

समयसार नाटक, बन्ध द्वार। ४५वाँ बोल है। है न २०२ पृष्ठ। बन्ध अधिकार है, इसलिए बन्ध अर्थात् पर के साथ तुझे कुछ सम्बन्ध नहीं, ऐसा सिद्ध करते हैं। **लौकिक जनों से मोह हटाने का उपदेश।**

★ ★ ★

काव्य - ४५

लौकिक जनों से मोह हटाने का उपदेश (दोहा)

ए जगवासी यह जगत्, इन्हसौं तोहि न काज।
तेरै घटमैं जग बसै, तामैं तेरौ राज।।४५।।

अर्थः-हे भव्य! ये संसारी जीव और इस संसार से तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं है, तुम्हारे ज्ञानघट[1] में समस्त संसार का समावेश है और उसमें तुम्हारा ही राज्य है।।४५।।

काव्य-४५ पर प्रवचन

ए जगवासी यह जगत्, इन्हसौं तोहि न काज।
तेरै घटमैं जग बसै, तामैं तेरौ राज।।४५।।

हे जगवासी! ऐसा कहते हैं, 'तू संसार में—जग में रहा हुआ आत्मा है।' यह जगत अर्थात् शरीर, कर्म, परवस्तु के साथ तुझे कुछ सम्बन्ध नहीं है। यह शरीर जड़-मिट्टी है। कर्म भी जड़ है। दूसरे आत्मायें दूसरे हैं। दूसरे के शरीर जड़-पुद्गल दूसरी चीज़ है। यह भव्य जीव को कहते हैं कि 'हे जगवासी! जग में रहे हुए आत्मा! इस जगत के साथ तुझे कुछ सम्बन्ध नहीं है, कार्य नहीं है।

१. निर्मल ज्ञान में समस्त लोक-अलोक प्रतिबिम्बित होते हैं।

मुमुक्षु : निमित्त सम्बन्ध भी नहीं ?

पूज्य गुरुदेवश्री : सम्बन्ध ही न हो न। क्या काम ? उसके कारण से उसका (कार्य) होता है। तेरे कारण से यह अज्ञान, ज्ञान, सुख-आनन्द सब तेरे कारण से तुझमें होता है। पर के कारण से कुछ है नहीं। है न ? **तैंरै घटमें जग बसै...** तेरे आत्मा में ही, पूरे जगत की सब जो चीज है, उसका जो ज्ञान, वह तुझमें बसता है।

तामैं तेरौ राज... तेरी उल्टी दशा विकार की या सुल्टी दशा धर्म की, वह सब तुझमें है, बाहर में है (नहीं)। कहो, समझ में आया यह ? **तामैं तेरौ राज...** भाई! तू आत्मा है। यह वस्तु है अनादि-अनन्त। अब उसमें उल्टी-सुल्टी दशा या गुण-अवगुण, वह सब तेरा तुझमें तेरे कारण से है। पर के कारण से कुछ है नहीं। कहो, बराबर है ?

मुमुक्षु : बहुत संक्षिप्त।

पूज्य गुरुदेवश्री : बहुत संक्षिप्त कहा। तू आत्मा वस्तु है। यह देह, वाणी, मन वह तो जड़ मिट्टी है। दूसरे आत्मायें देव-गुरु-शास्त्र या स्त्री-पुत्र, परिवार आदि के, वे दूसरे हैं। उनके साथ तुझे क्या काम है ? बाबूभाई!

मुमुक्षु : सब धर्मपालक होओ।

पूज्य गुरुदेवश्री : धर्म पावे—न पावे, वह उसके कारण से पावे। वह इसके कारण से कहाँ से हो ? यह वह उसकी योग्यता हो तो वह पावे। उसको तेरे कारण से पावे, ऐसा कुछ है नहीं, ऐसा कहते हैं यह। और तू भी प्राप्त करे तो पर के कारण (पावे), ऐसा नहीं है, ऐसा कहते हैं। तू भी धर्म समझे या अधर्म करे, वह सब तेरा तुझमें है। पर के कारण से कुछ है नहीं। आहाहा! बन्ध है न, अर्थात् पर का सम्बन्ध तुझमें कुछ है नहीं, ऐसा सिद्ध करते हैं।

मुमुक्षु : अबन्धस्वभाव।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, हाँ, बन्धस्वभाव नहीं। पर का बन्धपना, वह तुझमें है ही नहीं। तेरी पर्याय में अज्ञानरूप से राग हो या विकार हो, अधर्म हो या ज्ञानरूप से धर्म हो, वह सब तुझमें तुझसे है। पर के कारण से कुछ है नहीं। कहो, इसका स्पष्टीकरण करते हैं, लो।

तुम्हारे ज्ञानघट में समस्त संसार का समावेश है और उसमें तुम्हारा ही राज है। कहो। लोकालोक जानने में आवे, वह तेरा ज्ञान है। ज्ञान को और पर को कुछ सम्बन्ध नहीं है। वह ज्ञान पर को जाने, ऐसा तुझे सम्बन्ध है। परन्तु पर से तुझे कुछ हो और तुझसे पर में कुछ हो, ऐसा वस्तु का स्वरूप नहीं है। यह धन्धे-पानी में तो होशियार व्यक्ति कर सकता है या नहीं? कहते हैं कि पर के रजकण—यह धन्धे के, पैसे के, शरीर के, वह तो जगत की चीज़ जड़ है। उस जगत के साथ तेरे आत्मा को कोई सम्बन्ध नहीं है। तेरा तत्त्व भिन्न, वह तत्त्व भिन्न। आहा! यहाँ तो कहते हैं कि देव-गुरु और शास्त्र से भी तुझे कुछ सम्बन्ध नहीं है। ऐसा कहते हैं। क्योंकि वह परचीज़ है। तुझमें उल्टी-सुल्टी मान्यता हो या ज्ञान हो... मूल यहाँ तो ज्ञान हो, उसे यह सब समझ में आता है, ऐसा कहते हैं। दशा उल्टी हो विकार, वह भी मुझसे मुझमें और धर्म होता है, वह भी मेरे स्वभाव के आश्रय से मुझसे मुझमें। पर के कारण से कुछ धर्म-अधर्म है, ऐसा है नहीं। आहाहा! यह बात करते हैं। देखो, **शरीर में त्रिलोक के विलास गर्भित है**। ४६।

याही नर-पिंडमैं विराजै त्रिभुवन थिति,

पिंडे सो ब्रह्मांडे, ऐसा कहा जाता है न! इस पिण्ड में यह सब ब्रह्माण्ड में है और ब्रह्माण्ड में है, वह तुझमें सब है।

★ ★ ★

काव्य - ४६

शरीर में त्रिलोक के विलास गर्भित हैं (सवैया इकतीसा)

याही नर-पिंडमैं विराजै त्रिभुवन थिति,
याहीमैं त्रिविधि-परिनामरूप सृष्टि है।
याहीमैं करमकी उपाधि दुख दावानल,
याहीमैं समाधि सुख वारिदकी वृष्टि है।।
याहीमैं करतार करतूति हीमैं विभूति,

यामैं भोग याहीमैं वियोग यामैं घृष्टि है।
याहीमैं विलास सब गर्भित गुपतरूप,
ताहीकौं प्रगट जाके अंतर सुदृष्टि है।।४६।।

शब्दार्थ:-नर-पिंड=मनुष्य शरीर। त्रिविध=उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप। वारिद=बादल। घृष्टि=घिसना। गर्भित=समावेश।

अर्थ:-इसी मनुष्य-शरीर में तीन[१] लोक मौजूद हैं, इसी में तीनों प्रकार के परिणाम[२] हैं, इसी में कर्म-उपाधिजनित दु:खरूप अग्नि है, इसी में आत्मध्यानरूप सुख की मेघवृष्टि हैं, इसमें कर्म का कर्ता आत्मा है, इसी में उसकी क्रिया है, इसी में ज्ञान-संपदा है, इसी में कर्म का भोग व वियोग है, इसी में भले-बुरे गुणों का संघर्षण है और इसी देह में सब विलास गुप्तरूप गर्भित हैं; परन्तु जिसके अन्तरंग में सम्यग्ज्ञान है, उसे ही सब विलास विदित होते हैं।।४६।।

काव्य-४६ पर प्रवचन

याही नर-पिंडमैं विराजै त्रिभुवन थिति,
याहीमैं त्रिविधि-परिनामरूप सृष्टि है।
याहीमैं करमकी उपाधि दुख दावानल,
याहीमैं समाधि सुख वारिदकी वृष्टि है।।
याहीमैं करतार करतूति हीमैं विभूति,
यामैं भोग याहीमैं वियोग यामैं घृष्टि है।
याहीमैं विलास सब गर्भित गुपतरूप,
ताहीकौं प्रगट जाके अंतर सुदृष्टि है।।४६।।

जिसे, आत्मा तीनों काल कर्म-शरीर से अत्यन्त भिन्न है, ऐसा अन्तर में जिसे भान हो, उसे यह सब स्थिति मुझमें है, (ऐसा) उसे ज्ञात होता है, ऐसा कहते हैं। क्या

१. कटि के नीचे पाताल लोक, नाभि मध्यलोक और नाभि से ऊपर ऊर्ध्वलोक।
२. उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य।

कहा? **याही नर-पिंडमैं,...** यह शरीररूपी पिण्ड, इसमें निज भगवान आत्मा भिन्न। उसमें **विराजै त्रिभुवन थिति...** पाताल, यह तिरछा और ऊर्ध्व। (ऐसा) इस शरीर में तीन—पग (अर्थात्) नीचे पाताला, यह मध्यम, यह ऊर्ध्व। तीन लोक तुझमें है। है न? **तीन लोक मौजूद है। कटि के नीचे पाताललोक...** कटी-कटी। **नाभि मध्यलोक, नाभि के ऊपर ऊर्ध्वलोक।** देह के रजकणों से अत्यन्त भिन्न चीज़ है तू, कहते हैं। तुझे और शरीर को... यह किसी के परमाणु—रजकण हैं, उसे और तुझे कोई सम्बन्ध है नहीं। आहाहा!

यहाँ तो वहाँ तक आगे लेंगे। देव-गुरु-शास्त्र से भी तुझे कुछ सम्बन्ध नहीं है। वह तो परचीज़ है। पर से तुझे कुछ मिले, ऐसा नहीं और पर तुझे कुछ दे, ऐसा नहीं। बालचन्दभाई! बराबर होगा यह? यह सब धन्धा-बन्धा में कर-करके....

मुमुक्षु : अभिमान।

पूज्य गुरुदेवश्री : अभिमान? हरिभाई तो बहुत प्रसिद्ध हैं न तुम्हारे में। बड़ी कमाई करते हैं। बहुत ऐसे हैं और वैसे हैं, ऐसी बातें करे लोग।

मुमुक्षु : बातें करे न!

पूज्य गुरुदेवश्री : बातें करे। आहाहा!

मुमुक्षु : सत्य नहीं, इसका अर्थ ऐसा।

पूज्य गुरुदेवश्री : सत्य ही नहीं सब वस्तु। तुझमें तो तेरे भाव, तुझमें तेरा धर्म, तुझमें तेरा अधर्म, तुझमें और तुझमें.... तीन लोक तुझमें और तुझमें है तेरे कारण से। आहाहा! सर्वज्ञ परमेश्वर तीर्थंकरदेव वीतराग ऐसा कहते हैं और आगे तो ऐसा कहेंगे अभी तो। कि कोई भगवान को खोजने के लिये डोली चढ़कर जाये पर्वत पर, वहाँ कहाँ भगवान थे? भगवान तो यहाँ हैं।

मुमुक्षु : मेरे भगवान मुझमें हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : मुझमें हैं। आहाहा! वहाँ कहीं शत्रुंजय से भगवान मिले, ऐसा नहीं है। भगवान वहाँ कहाँ थे? भगवान तो यहाँ है।

मुमुक्षु : सम्मेदशिखर में होंगे?

पूज्य गुरुदेवश्री : सम्मेदशिखर में... आहाहा!

यह बाद में आता है, देखो! **केई उदास रहैं प्रभु कारन, केई कहैं उठि जाहिं कहीकै...** भागो, छोड़ दो, त्यागो सबको, चलो। **केई प्रनाम करै गढ़ि मूरति...** मूर्ति बनाकर प्रणाम करे। वहाँ मूर्ति कहाँ दे, ऐसा है? वह तो पर है, ऐसा कहते हैं। **केई पहार चढ़ैं चढ़ि छींकै...** डोली... डोली... डोली में बैठकर जाते हैं न ऊपर। वहाँ कहाँ भगवान थे? वह तो परवस्तु है। भगवान तो यहाँ हैं अन्दर। वहाँ खोजता नहीं और देखने जाये बाहर। वहाँ कहाँ मिले ऐसा है? ऐसा कहते हैं। आहाहा! वह तो एक भाव शुभ हो, तब भक्ति का एक निमित्त है, परन्तु वह शुभभाव पुण्य है। वहाँ कुछ धर्म है और उसमें भगवान प्राप्त हो, ऐसा नहीं है। आहाहा! कठिन बातें, भाई! भगवान के पास लेने जा तो कुछ मिले, ऐसा नहीं है। भगवान वहाँ नहीं, तेरा भगवान तो यहाँ है। वे भगवान कहते हैं कि तू तेरे सन्मुख देख और अन्दर देख, तो तुझे भगवान की प्राप्ति होगी। हमने कहाँ (हमारे में तुझे) ले लिया है कि हमारे पास में तू है?

देखो, **केई पहार चढैं चढ़ि छींकै...** है या नहीं? छींका... छींका (अर्थात्) यह डोली चढ़कर जाये, मानो भगवान मिलेंगे वहाँ। वहाँ कहाँ भगवान थे? सम्मेदशिखर और शत्रुंजय और गिरनार। वह तो परपदार्थ है। भगवान की मूर्ति है वह तो। भगवान स्वयं साक्षात् हो तो भी तुझसे भिन्न है। वे कहीं तुझे दे-ले, ऐसा है नहीं। आहाहा! ऐसी बात परन्तु भारी कठिन! भगवान के समक्ष माँगता है न 'शिवपद हमको देना रे, महाराज'। कहते हैं कि तेरा शिवपद मुझमें मेरे पास है कि हम तुझे (दें)? अन्दर आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु निर्मल शुद्ध आनन्द का धाम तेरा आत्मा है। वहाँ नजर कर तो वहाँ से मिले, ऐसा है। बाकी बाहर से कुछ मिले, ऐसा नहीं है। वह तो पुण्यबन्ध, अशुभ से बचने को ऐसा शुभभाव भक्ति, यात्रा आदि का होता है, परन्तु उसमें से आत्मा को धर्म हो या आत्मा की प्राप्ति हो, वह वस्तु बाहर में नहीं, ऐसा कहते हैं। कहो, समझ में आया? यह सब आयेगा।

केई कहैं असमान... ऊपर है, कोई कहे नीचे है। मुसलमान कहे कि नीचे है। यह कहे, ऊपर बैकुण्ठ है। **मेरो धनी नहि दूर दिसन्तर, मोहीमैं है मोहि सूझत नीकै...** मैं स्वयं भगवान आत्मा सर्वज्ञस्वभावी आत्मा मैं हूँ, ऐसा अन्तर में देखने से भगवान

अपना अपने में भासित होता है। आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : सबसे आँखें उठा लेते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : उठाई....

मुमुक्षु : अपने में स्थापना....

पूज्य गुरुदेवश्री : वहाँ कहाँ? परन्तु तू तो यहाँ है सब। जो है यहाँ है।

देखो, यह कहते हैं न। **याहीमैं त्रिविध-परिनामरूप सृष्टि है...** लो। तीन लोक—ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और तिरछालोक, वह तुझमें तीन है और उत्पाद-व्यय और ध्रुव तीन प्रकार के हैं न परिणाम। दूसरा बोल है न। **याहीमैं त्रिविध-परिनाम...** जो तेरे शुद्ध या अशुद्ध परिणाम उत्पन्न कर, पूर्व की पर्याय का अभाव होता है और ध्रुव—यह सब तुझमें है। कहीं तुझे परिणाम उत्पन्न करा दे और ध्रुव अर्थात् तुझे कोई टिका दे, (ऐसा है नहीं)।

मुमुक्षु : पूर्णता में परिणाम कहे।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! यह परिणाम तीन भेद दिये न तीन करके। तीन अपेक्षा से भेद। तीन को पर्याय कही है न भेद से। समझ में आया? आहाहा! कठिन बातें कहते हैं।

यहाँ तो परद्रव्य के लक्ष्य से राग होता है, वह भी तुझसे राग होता है, पर के कारण से नहीं और धर्म होता है, वह भी तेरे चैतन्य के आश्रय के कारण होता है, पर के कारण नहीं। कहो, त्रिविध परिणामरूप सृष्टि है—उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य। क्षण-क्षण में नये भाव उपजें, पुरानी अवस्था नाश हो, ध्रुवरूप से रहना—ये तीनों तुझमें तेरे कारण से है। तेरे परिणाम कोई दूसरा उपजा दे, भगवान उपजा दे, (ऐसा नहीं है)। साक्षात् तीन लोक के नाथ तीर्थंकर समवसरण में विराजते हों, वे तेरे परिणाम उपजा दें?

मुमुक्षु : भगवान को मानने से लाभ किसका?

पूज्य गुरुदेवश्री : मानने से... शुभराग हो।

मुमुक्षु : वह लाभ या गैरलाभ (नुकसार)?

पूज्य गुरुदेवश्री : लाभ अर्थात् शुभराग हो अर्थात् पुण्य। धर्म नहीं। ऐसा स्वरूप वीतराग ने (कहा और) ऐसा स्वरूप ही है। लोगों को सुनने में नहीं मिलता इसलिए कहीं चीज़ कुछ दूसरी हो जायेगी? आहाहा!

भगवान कहते हैं कि मेरे साथ तुझे सम्बन्ध नहीं। वह तो यहाँ पुकारते हैं। मैं तुझे कोई परिणाम दे दूँ शुभ-अशुभ के या शुद्ध के, यह मेरे साथ तुझे कुछ सम्बन्ध नहीं। मैं जगत का तत्त्व भिन्न हूँ। तेरा तत्त्व भिन्न है। कहो, समझ में आया?

मुमुक्षु : आज तो दिन धन्य है, यह आज कुछ लाभ मिलना....

पूज्य गुरुदेवश्री : लाभ तो उसके आत्मा से होगा या कहीं बाहर से मिलता होगा? इसके लिये तो बात करते हैं यह।

भगवान की दिव्यध्वनि में यह आया आज। श्रावण कृष्ण एकम्। विपुलाचल पर्वत राजगृही के पास। भगवान की दिव्यध्वनि। सिद्धान्त के हिसाब से श्रावण कृष्ण एकम् है आज। पहले कृष्ण (पक्ष) लगता है न। श्रावण कृष्ण एकम् है आज। यह तो लौकिक आषाढ़ कृष्ण एकम् है। वीतराग के शासन के हिसाब से तो यह श्रावण कृष्ण एकम् है। भगवान की वाणी आज खिरी थी। राजगृहीनगरी के विपुलाचल पर्वत पर गौतमस्वामी आये और वाणी (खिरी)। खिरने का काल था तो खिरी। उसमें यह आया कि मेरे कारण तुझे कुछ है नहीं, कहते हैं।

याहीमैं त्रिविध-परिनामरूप सृष्टि, याहीमैं करमकी उपाधि... यह कर्म की उपाधि तू मान अन्दर में तो वह तुझमें है। पर के कारण से कुछ (है नहीं)। **दुख दावानल...** दु:ख का दावानल-अग्नि सुलगती है राग की, वह भी तुझमें तेरे कारण से है। कर्म उपाधिजनित दु:खरूपी अग्नि। आहाहा! क्या कहते हैं? कर्म का निमित्त है, उसके साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है तुझे। परन्तु उसके निमित्त के सम्बन्ध में तुझे पुण्य और पाप, शुभ और अशुभभाव हों, वह अग्नि है। शुभ-अशुभभाव अग्नि है। यह भगवान की भक्ति का भाव अग्नि है, ऐसा कहते हैं। बालचन्दभाई! तुम्हारे ठीक था। पहले ढूंढिया मानो मूर्ति मानते नहीं थे, ऐसा कहते थे...। और अब वापस मूर्ति में धर्म नहीं, इसलिए वह की वह बात रह गयी तुम्हारे, ऐसा कितने ही कहते हैं।

मुमुक्षु : स्थानकवासी की गन्ध रह जाती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे भगवान!

कहते हैं न, अरे भाई! भगवान साक्षात् हो तो भी वह परवस्तु है। कहीं पर के कारण तुझे कुछ परिणाम शुभ हो, यह है नहीं। तेरे कारण उन्हें मान कि भगवान है, त्रिलोकनाथ है। माने तो यह शुभभाव हो और शुभभाव तो वास्तव में तो अग्नि है। आहाहा! गजब बात जगत की! वीतरागमार्ग को समझना जगत को....

मुमुक्षु : कठिन पड़ता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अन्धे अन्ध, ऐसा का ऐसा चला जाता है। धर्म क्या है? विकार क्या है? कुछ नहीं। देखो, क्या कहते हैं? **करमकी उपाधि दुख दावानल...** वह तो सब दुःख है। आहाहा! शुभ, वह स्वयं दुःख है। राग है न। प्रशस्त, परन्तु राग है न! चिल्लाहट निकल जाये ऐसा है।

ऐसे भगवान के पास जाकर, हे भगवान! भगवान कहते हैं कि तू मेरे ऊपर लक्ष्य करता है, वह तेरा शुभभाव, वह अग्नि है—दुःख है—राग है। वह तुझसे खड़ी हुई है, हमारे से नहीं। आहाहा! यह तो वीतरागमार्ग है। वीतरागमार्ग में राग का अंश भी कषाय और दुःख (कहा) है। आहाहा! आवे, अशुभ से बचने को हो, परन्तु है राग और अग्नि और दुःख। आहाहा! दया-दान-भक्ति-पूजा-व्रत-तप—ऐसा जो विकल्प—राग उठता है, वह शुभराग अग्नि है।

मुमुक्षु : तथापि लोग बहुत करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन करता है? भाव होते हैं उसके पास, इसलिए अग्नि है, कहते हैं। ज्ञानी उसे जानता हे कि यह दुःख है। आवे तो जानता है कि यह दुःख है। सुख तो मेरे स्वभाव का आश्रय लेकर जितना प्रगट—व्यक्त करूँगा, उतना सुख है।

मुमुक्षु : मजा तो बहुत आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी नहीं आता, मानता है ....।

झांझर बजावे और ऐसे धुन लगावे धुन। मानो यह धर्म। बापू! यह तो राग की मन्दता का भाव है। यह वीतरागमार्ग को समझना कठिन है। ऐसे के ऐसे सब वर्ष

व्यतीत किये सब, ऐसा कहते हैं। वीतराग के सम्प्रदाय में जन्मे, तो भी ऐसे के ऐसे वर्ष व्यतीत किये बिना भान के। कहते हैं, ओहोहो! दुःख दावानल है। कहो, उपाधि दुःखरूप अग्नि है। दावानल लिखा है न! दावानल अर्थात् अग्नि (अर्थ) किया। आहाहा! परन्तु तेरे कारण से तुझमें हुई। वह राग शुभ हो या अशुभ हो, ज्ञानी उसे जानता है, ऐसा कहना है यहाँ, हों! यह ज्ञानी को खबर है न कि यह अग्नि है और दुःख है। यह मेरा स्वभाव आनन्द और शान्ति है। समकिती धर्मी को यह ज्ञान होता है। अज्ञानी को उसका भान होता नहीं।

याहीमैं समाधि सुख वारिदकी वृष्टि है,... देखो अब। साधक है न ज्ञानी, वह जानता है कि जितना राग हो—शुभ और अशुभ, वह दुःख की अग्नि है। और आत्मा आनन्दस्वरूप भगवान का आश्रय लेकर समाधि—शान्ति—पुण्य-पाप के राग की अग्नि से रहित चीज़, वह समाधि, वह भी तेरी तेरे कारण से है। ऐसा **सुख वारिद...** वह सुखरूपी वर्षा की वृष्टि है। वह सुखरूपी झरमर-झरमर बरसता है सुख, वह तेरा तुझमें है। आहाहा! आनन्दमूर्ति प्रभु अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ आत्मा है। उसकी अन्तरदृष्टि होने पर समाधि सुख की वर्षा बरसती है, कहते हैं। वह भी तेरे कारण से है, पर के कारण से (नहीं)। तुझमें तेरे कारण से है, पर के सम्बन्ध से कुछ सुख और समाधि है नहीं। ..., आहाहा!

वारिदकी वृष्टि है... वारिद है न अर्थात् बादल। नीचे अर्थ किया है, बादल। बादल की वृष्टि। आहाहा! जैसे बादल भरा हो और उसमें से वर्षा आवे, उसी प्रकार भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द से भरपूर है अनादि से। उसकी अन्तरदृष्टि एकाग्र होने से आनन्द की वृष्टि बरसती है। वह भी तेरे कारण से तुझमें तुझसे होती है। पर के कारण से पर में वह है नहीं। आहाहा! समझ में आया? कठिन बातें भाई यह! ऐसी बात लोगों को ऐसी लगे कि यह सब व्यवहार—व्यवहार होता है और करते हैं, वह तो सब शून्य लगाया। यह शून्य ही रख, तब तुझे यह धर्म होगा। यहाँ तो ज्ञानी की बात है न। ज्ञानी जानता है कि जितना राग हो, वह दुःख है। आहाहा! दावानल है, देखो! कर्म की उपाधि कही है न! अशुभराग ही कर्म की उपाधि है? शुभ और अशुभ—दोनों राग उपाधि है।

याहीमैं करतार... इस विकारी परिणाम का कर्ता भी तू। ज्ञानी जानता है न यहाँ ज्ञान में कि यह जितने राग के परिणाम का परिणमन है, वह मेरा मुझमें है। सैंतालीस नय में आता है न! पर के कारण कुछ नहीं होता। आहाहा! **याहीमैं करतार करतूति भी यहाँ...** क्रिया जो राग की होती है या अन्तर धर्म की निर्मल क्रिया होती है, वह क्रिया भी तेरी तुझमें है। वह क्रिया कर्म में नहीं, शरीर में नहीं और कर्म, शरीर के कारण से नहीं। समझ में आया? आहाहा! कठिन! अभी तो बात.... समझी जाये नहीं, वह करे कब? आहाहा! **याहीमैं विभूति,** लो, ठीक। ज्ञान की सम्पदा की विभूति भी तुझमें तेरे कारण से है। वह आनन्दस्वरूप चैतन्य चमत्कार आत्मा, उसका आश्रय लेकर—स्वयं अपना आश्रय लेकर ज्ञानसम्पदा अन्दर में से प्रगट होती है। वह कहीं बाहर से होती (नहीं)। आहाहा! यह वाणी को सुनने से ज्ञान होता नहीं, ऐसा कहते हैं। ऐई! क्योंकि वह तो पर जगत है। वाणी आदि जगत में जाता है और तू उनसे भिन्न है। आहाहा!

ए जगवासी यह जगत, इन्हसौं तोहि न काज... तुझे उनके साथ कुछ काम नहीं। भाई! आहाहा! तेरा धर्म और अधर्मरूपी कार्य—परिणति, वह तुझमें तेरे कारण से है, ऐसा ज्ञानी—सम्यग्दृष्टि बराबर जानता है, ऐसा कहते हैं। विकार के परिणाम हों तो भी वह परिणमन—कर्तृत्व मेरा मेरे कारण से है। और धर्म की दशा हो—शुद्ध आनन्द की दशा प्रगट हो, वह भी मेरे कारण से मुझमें मुझसे है, पर के कारण से है (नहीं)। आहाहा! हे जगवासी! जग से तेरा काम नहीं तेरा। बनारसीदास ने भी बन्धद्वार में स्वतन्त्र श्लोक बनाये हैं। आहाहा!

याहीमैं विभूति... अरे! तेरी सम्पदा तुझमें है। धूल में भी नहीं यह पैसा और... क्या कहलाता है तुम्हारे घरबखरो?

मुमुक्षु : फर्नीचर।

पूज्य गुरुदेवश्री : फर्नीचर। बड़े गृहस्थ के अन्दर दो लाख का फर्नीचर हो।

मुमुक्षु : फर्नीचर के कारण तो घर शोभता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी नहीं।

मुमुक्षु : नहीं तो उज्जड़ जैसा लगे।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐई मलूकचन्दभाई! कितना फर्नीचर होगा तुम्हारे लड़के को? यह जा आये, अभी जाकर आये स्विट्जरलैण्ड। बड़ा बँगला और बड़ा बाग-बगीचा। यहाँ भले अपना कमरा हो छोटे में, वहाँ कहाँ वे थे? नहीं, वह कहता था हों, तब जाते, यह तुमको बहुत विभूति है तुम्हारी।

मुमुक्षु : वैभव न्यालभाई का वैभव।

पूज्य गुरुदेवश्री : लड़के का। इनका बड़ा लड़का है न!

मुमुक्षु : न्यालभाई का वैभव।

पूज्य गुरुदेवश्री : न्यालभाई का। उसके पास दो करोड़ रुपये है।

मैंने कहा, यह तुम्हारा बड़ा वैभव है, (ऐसा) लोग कहते हैं। बँगला और सब... परन्तु इस प्रकार से हमारे सबको रहना पड़े स्विट्जरलैण्ड में, ऐसा कहता था। स्विट्जरलैण्ड में सबको इस प्रकार से ही रहना पड़ता है। बड़े बाग-बगीचे। वापस दो करोड़। उसे कुछ कम सही...

मुमुक्षु : एक करोड़ के बदले दो करोड़ इसके।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सब वहाँ सुख में से आये हैं। उसका पिता है वहाँ।

मुमुक्षु : उसमें क्या मानने का है?

पूज्य गुरुदेवश्री : भाई! वहाँ उसे ऐसा छोटा पाजामा पहनना पड़े, ऐसा न हो वहाँ। आहाहा!

मुमुक्षु : यह छोटा पाजामा पहने, उसमें क्या? वह तो जिस देश में जाये वैसा रंग आवे न।

पूज्य गुरुदेवश्री : स्विट्जरलैण्ड में ऐसा नहीं पहना जाता, वहाँ छोटा पाजामा होता है।

मुमुक्षु : पतलून।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! धूल में भी नहीं कहीं, कहते हैं। बापू! मूढ़ होकर तूने पर में सुख है, ऐसा माना है। ज्ञानी मानता नहीं, परन्तु ऐसी कल्पना आये बिना

रहती नहीं। उस कल्पना को दु:खरूप जानता है। आहाहा! धर्मी, ऐसी विषय की कल्पना आवे, उसे दु:खरूप जानता है। अज्ञानी उसे सुखरूप मानता है। यह उसकी दृष्टि में बड़ा अन्तर है। आहाहा!

याहीमैं भोग.... शरीर का भोग और स्त्री का और पैसा का भोग कोई कर सके (ऐसा) तीन काल में नहीं, कहते हैं। वह तो परवस्तु है। पर का भोग आत्मा कर सकता है? वह तुझमें राग का भोग हो या आनन्द का भोग हो, वह तेरा तेरे कारण से है। समझ में आया? आहाहा! यह तुम्हारे लाठीवाले आये थे लखतर से। वहाँ गये थे न हम। चरण करने गये थे बाहर। वह याद किया था आज। आहाहा! बापू! यह बात तो ऐसी है, अगमनिगम की बात है। सम्यग्दृष्टि—धर्मी उसे कहते हैं कि जो (जानता है कि) राग का भोग, वह भी मेरा मुझमें है। स्त्री का, पैसे का भोग और मौसम्बी खा सकता हूँ, यह आत्मा में है ही नहीं। पर के साथ कुछ सम्बन्ध (नहीं है)। आहाहा! और रागरहित आत्मा का अनुभव धर्म—आनन्द का अनुभव, वह भी मेरे कारण से है। कहो, समझ में आया इसमें?

यामैं भोग याहीमैं वियोग,... लो। यह राग का वियोग हो, परन्तु वह तेरा तेरे कारण से है। पर के कारण से है (नहीं)। और सुख का भी जितना वियोग वर्तता है, वह भी तुझे तेरे कारण से है। आत्मा आनन्दस्वरूप है, उसकी दृष्टि होने पर जितना आनन्द आवे, उसका अनुभव भी तेरा और जितना आनन्द का वियोग रहता है, वह भी तेरा तेरे कारण से है। कर्म के कारण से वियोग रहता है, यह बात है (नहीं)। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बात सुनने पर जँचती नहीं इसे। इसकी अपेक्षा कहे कि व्रत पालो, अपवास करो, भक्ति करो, पचास हजार खर्च कर डालो, एक यात्रा-बात्रा करके। कहते हैं कि मर जाये तो भी धर्म नहीं, ले। तेरे लाख खर्च और करोड़ खर्च।

मुमुक्षु : परन्तु आप एक ऐसा कहते हो, दूसरे तो एक धर्म बहुत....

पूज्य गुरुदेवश्री : पूरी दुनिया कहे, पागल। पागल तो बहुत बातें कहे। भगवान तो ऐसा कहते हैं। कहो, समझ में आया? आहाहा!

यामैं भोग याहीमैं वियोग, यामैं घृष्टि... यह गुण का घर्षण होता है, प्रभु! वह भी तुझमें है। कोई अवगुण घर्षण करता है, ऐसा है (नहीं)? है? **इसी में भूल-बुरे गुणों**

का संघर्षण है। यह राग होकर गुण का घर्षण होता है, वह तेरा तुझमें और घर्षण होकर निर्मलता प्रगट हो एकाग्रता की, वह भी तेरा (तुझमें)। आहाहा! समझ में आया? अरे, ऐसी कैसी बात होगी यह? कहे। वीतराग का मार्ग ऐसा होगा? वीतराग तो ऐसा कहते हैं। भाई! तुझे मानने में न आया, इसलिए कहीं वस्तु दूसरी हो जायेगी? वस्तु तो यह है।

यामैं भोग ने याहीमैं वियोग, यामैं घृष्टि है... घर्षण हो तो पर के साथ कुछ नहीं, ऐसा कहते हैं। कर्म के कारण अवगुण होते हैं और कर्म हटे तो गुण होते हैं, ऐसा कुछ है (नहीं)। आहाहा!

मुमुक्षु : पूरी मान्यता उल्टी।

पूज्य गुरुदेवश्री : उल्टी मान्यता है, बस बात यह है। अज्ञान में पड़ा है और कुछ भान नहीं और कहे कि हम धर्म करते हैं। धूल भी धर्म नहीं। आहाहा! सर्वज्ञ तीर्थंकरदेव परमात्मा का यह कथन है। यह दिव्यध्वनि में आयी हुई बात है। आहाहा!

याहीमैं विलास, लो, ठीक। इस देह में सब विलास गुप्त—गर्भित है। विकार का होना, धर्म का अन्तर से होना, धर्म का घर्षण होना, विलास प्रगट होना, वह सब तेरा तेरी पर्याय में, तुझमें—तेरे अस्तित्व में है। पर के अस्तित्व का तुझे कुछ भी सम्बन्ध नहीं, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? **याहीमैं विलास सब गर्भित गुपत है...** गुप्तरूप।

मुमुक्षु : शक्तिरूप?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, शक्ति की यहाँ बात नहीं है। तेरी पर्याय में तुझमें है। शरीर और वाणी से गुप्त है बाहर, ऐसी बात है। समझ में आया?

मुमुक्षु : उसे ध्रुव चाहिए था।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं, यह ध्रुव-फ्रुव की बात यहाँ नहीं।

मुमुक्षु : ध्रुव की धुन लगी।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु वह ध्रुव की धुन लगे, उसे पर्याय कैसी होती है, उसका उसे भान होता है। यह मेरी पर्याय मुझसे हुई है, यह गुप्त अर्थात् शरीर, वाणी के सम्बन्ध में कुछ नहीं, ऐसा। उससे गुप्त—भिन्न है। यह बाहर से कुछ दिखाई दे, ऐसा (नहीं है),

ऐसा कहते हैं। बराबर है? अरे, अरे!

भक्ति करें और ऐसे मानो शत्रुंजय के दर्शन किये हों तो मानो धर्म। उसमें ऐसा सुने तो कैसी चोट लगे, हों! ऐई! नहीं आये या गये?

मुमुक्षु : वे गये।

पूज्य गुरुदेवश्री : गये। धीरुभाई... धीरुभाई तंबोली। वे अभी एक बार सुनने आये थे। वहाँ सुनने आये थे। (संवत्) २००१ के वर्ष नहीं, भाई? सुनने... दूसरी बात है यह। एक.... एक के वर्ष में (संवत् २००१ में)। तब नहीं हुआ था न भाई? लीलाधरभाई गुजर गये थे। २००१ के वर्ष। यात्रा करके आये हुए और यहाँ बात यह आयी। भागे, भड़के। हाय... हाय! यह तो कहे, महाराज मूर्ति मानते हैं, मन्दिर मानते हैं, ऐसा हम सुनते थे। यह कहते हैं कि मूर्ति और उससे धर्म नहीं होता। और वापस यह कैसा?

मुमुक्षु : नया नुख्सा निकाला।

पूज्य गुरुदेवश्री : तम्बोली थे न। धीरुभाई के पिता फूलचन्दभाई। शत्रुंजय गये होंगे, वहाँ से यहाँ आये थे। तब लीलाधरभाई गुजर गये यहाँ हार्टफेल होकर। पारेख। कहे, भाई? यह भगवान की भक्ति होती है, वह भी एक शुभभाव है। उसमें कुछ धर्म है? नहीं। तीन काल में वीतराग का मार्ग ऐसा है। ऐई! यह और दूसरे ऐसा प्ररूपे, उसे सुहाता हो और प्ररूपे वैसा। 'द्रव्यक्रिया रुचि जीवडा' कहा था न? हेमचन्दजी! 'भावधर्म रुचि हीन, उपदेशक भी वैसे ही, क्या करे जीव नवीन।' नया कहाँ से करे बेचारा! आहाहा! अनादि काल की बात, उसका इसमें घूंटकर पड़े बेचारे।

याहीमैं विलास सब गर्भित गुपतरूप, ताहीकौं प्रगट जाके अंतर सुदृष्टि हैं... देखो। जिसे सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन है, वह सब इस प्रकार से मानते और जानते हैं। समझ में आया? आहाहा! एक तो अभी शुभभाव करने को भी निवृत्त न हो, दुकान के धन्धे के कारण। वह कोई और करने जाये, तो यहाँ कहे कि वह धर्म नहीं। हाय... हाय!

मुमुक्षु : तो फिर करना क्या, ऐसा लगे?

मुमुक्षु २ : यहाँ आवे तो इनकार करे कि यह भी नहीं, तो अब करना क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह धर्म नहीं, पुण्य है, शुभभाव है। अशुभ से बचने को कहो या उस काल में आता है, ऐसा कहो। यह बात ऐसी है परन्तु अब... ऐई! ऐसा मार्ग... यहाँ तो कहते हैं, **ताहीकौं प्रगट...** जिसे अन्तर सुदृष्टि है, जिसे आत्मा ज्ञानस्वरूप आनन्द है, ऐसा सम्यग्दर्शन और ज्ञान हुआ, वह सब अपने में, पर्याय की विपरीतता—अविपरीतता सब अपने में जानता है। पर के कारण से कुछ जानता नहीं। आहाहा! कहो, कान्तिभाई! पुस्तक रखी है या नहीं? ठीक। बहुत सरस बात है!

याही-ताहीकौं प्रगट जाके अंतर सुदृष्टि है,... देखो! जिसे सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन है कि आत्मा पर से निराली चीज़ है, ऐसा शुद्ध चैतन्यस्वरूप मैं हूँ। ऐसा जिसे अन्तर भान है, उसे यह सब प्रगट है, ऐसा कहते हैं कि विकार का होना, वह भी मुझसे, मुझमें है; पर के कारण से नहीं। शुभभाव का होना, वह मुझसे मुझमें है; पर के कारण से नहीं। अशुभभाव का होना मुझसे मुझमें है; स्त्री, कुटुम्ब और परिवार के कारण नहीं। कहो, समझ में आया? यह भोग की जो क्रिया है, इसलिए अशुभपरिणाम होते हैं, ऐसा नहीं—ऐसा कहते हैं। आहाहा! अशुभपरिणाम भी मेरे कारण से मुझमें परिणमित हुए, ऐसा ज्ञानी जानता है। आहाहा! गजब बात भाई! शुभभाव भी मेरा मुझमें मेरे कारण से है। यह शास्त्र सुनते हैं, इसलिए उसके कारण शुभभाव है, ऐसा नहीं है—ऐसा कहते हैं। अपूर्व बात है। बात तो वीतराग की ऐसी है। अज्ञानी कहे वह बात (समान हो) तो वीतराग और उसमें अन्तर क्या? आहाहा!

देखो, **जिसके अन्तर में सम्यग्ज्ञान है, उसे ही सब विलास विदित होते हैं,...** लो। आहा! कहते हैं कि गुण का घटना—घर्षण होना, वह भी मेरे कारण से है। मैं राग में जितना जुड़ता हूँ, उतना गुण का घर्षण है। स्वभाव में एकाग्र होऊँ, उतना गुण का विकास है। वह सब मेरे कारण से मुझमें है। अब यह लोग कहे, कर्म के कारण से विकार होता है, कर्म घटे तो विकार घटे—ऐसा ज्ञानी जानता नहीं। अज्ञानी ऐसा मानता है। कहो, समझ में आया? पूर्व में ९९ बार ऋषभदेव... तुम्हारे क्या कहते हैं?

मुमुक्षु : समोसर्या।

पूज्य गुरुदेवश्री : समोसर्या। उसकी जो यात्रा करे, वह ९९ करे तो बस, उसका कल्याण हो जाये। यहाँ यह इनकार करते हैं।

एकबार वन्दे जो कोई, सम्मेदशिखर... उसे पशु और नरक (गति) न होई। परन्तु उसमें क्या हुआ? वह शुभभाव हो। और ऐसा शुभभाव हो कि उसके कारण मनुष्य और देव हो। नारकी और पशु न हो। परन्तु वह तो मनुष्य और... जिस भाव से मनुष्य हो और जिस भाव से देव हो, वह भाव ही स्वयं कषाय है। आहाहा! ऐसा ज्ञानी जानता है। आहाहा! कठिन बातें, भाई! घर्षण ही खड़ा हो... और करना और कहे कि यह राग दुःख अग्नि है। करे क्या? होता है। होता है, उसे जाने कि यह राग है, वह दुःख है। मेरे पुरुषार्थ की कमी के कारण, मेरे कारण यह राग उत्पन्न हुआ है। ऐसा धर्मी (जानता है कि) राग का करना—परिणमनापना और राग का भोक्तापना मेरे कारण से मुझमें है और धर्म का कर्तापना और धर्म का भोक्तापना, वह मुझे मेरे कारण से है। आहाहा! कहो, बालचन्दजी! कहो, यह पढ़ा है या नहीं? घर में है या नहीं?

मुमुक्षु : पढ़ा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पढ़ा है, ठीक। यह .... बराबर दिया है, देखो। हरिभाई गड़बड़ यह तो .... कहो, समझ में आया इसमें? आहाहा!

आत्मविलास जानने का उपदेश। ४७, ४७ (पद)।

★ ★ ★

काव्य - ४७

आत्मविलास जानने का उपदेश (सवैया तेईसा)

रे रुचिवंत पचारि कहै गुरु,
तू अपनौं पद बूझत नांही।
खोजु हियें निज चेतन लच्छन,
है निजमैं निज गूझत नांही।।
सुद्ध सुछंद सदा अति उज्जल,
मायाके फंद अरूझत नांही।
तेरौ सरूप न दुंदकी दोहीमैं,
तोहीमैं है तोहि सूझत नांही।।४७।।

शब्दार्थ:-रुचिवंत=भव्य। पचारि=बुलाकर। बूझत=पहिचानते। हियें=घटमें। गूझत नाहीं=उलझता नहीं है। सुछंद=स्वतन्त्र। उज्जल=निर्मल। अरूझत नाहीं=छूटता नहीं। दुंद (द्वंद)=भ्रमजाल। दोही=दुविधा।

अर्थ:-श्रीगुरु बुला करके कहते हैं कि हे भव्य! तुम अपने स्वरूप को पहिचानते नहीं हो, अपने घट में चैतन्य-चिह्न ढूंढ़ो, वह अपने ही में है, अपने से उलझता नहीं है, तुम शुद्ध स्वाधीन और अत्यन्त निर्विकार हो, तुम्हारी आत्मसत्ता पर माया का प्रवेश नहीं है। तुम्हारा स्वरूप भ्रमजाल और दुविधा से रहित है जो तुम्हें सूझता नहीं है।।४७।।

काव्य-४७ पर प्रवचन

रे रुचिवंत पचारि कहै गुरु,
तू अपनौं पद बूझत नांही।
खोजु हियें निज चेतन लच्छन,
है निजमैं निज गूझत नांही।।
सुद्ध सुछंद सदा अति उज्जल,
मायाके फंद अरूझत नांही।
तेरौ सरूप न दुंदकी दोहीमैं,
तोहीमैं है तोहि सूझत नांही।।४७।।

तेरौ सरूप न दूंदकी दोहीमैं... दुविधामय तेरा स्वरूप नहीं भ्रमजाल में। **तोहीमैं है तोहि सूझत नांही...** आहाहा! भगवान! तेरा आनन्दस्वरूप तेरा तुझमें है। आहाहा!

रे रुचिवंत... उसे कहते हैं कि हे रुचिवंत! **पचारि** अर्थात् बुलाकर कहते हैं। बुलाकर कहते हैं। **कहे गुरु, तू अपनौ पद बूझत नांही,...** भाई! तेरे स्वरूप को तू जानता नहीं। **रुचिवंत** तो शब्द कहा है। तेरा स्वरूप शरीर, वाणी, कर्म से भिन्न और शुभ-अशुभ विकल्प—राग उठे, उससे भिन्न है। आहाहा! ऐसे स्वरूप को तू जानता नहीं। **तू अपनौ पद बूझत नांही,...** तेरा निजपद है, उसे जानता नहीं। भगवान और भगवान का पद तो भगवान के पास रह गया। तेरा पद वहाँ कहाँ है?

खोजु हिये निज चेतन लच्छन... यह जाननेवाला... जाननेवाला... जाननेवाला... जाननेवाले के लक्षण से देख, शोध अन्दर। तेरा भगवान तेरे पास ही अन्दर है। आहाहा! **अपने घट में चैतन्य चिह्न ढूंढो।** यह जाननेवाला... जानना... जानना... इस जानने के लक्षण से अन्दर देख। यह आत्मा है। वहाँ शोध। राग और पुण्य और (शुभ) भाव में कहीं आत्मा नहीं। बन्ध का अधिकार है न! बन्धभाव में आत्मा नहीं, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? जितने पुण्य-पाप के भाव, वे बन्ध हैं, उनमें आत्मा नहीं। **है निजमैं निज गूझत नांही...** तुझमें तेरा प्रभु है, परन्तु तुझे दिखता नहीं, लो। **गूझत नाहिं, उलझता नहीं...** ख्याल में आता नहीं, ऐसा कहते हैं।

सुद्ध सुछंद सदा अति उज्जल... आहाहा! कैसा है भगवान अन्दर? शुद्ध है। **सुछंद—**स्वतन्त्र है। सुछन्द है न (अर्थात्) स्वतन्त्र। सदा अति उज्ज्वल है। त्रिकाल निर्मलानन्द प्रभु है। अरे, गजब! ऐसी अध्यात्म की बातें उस व्यवहार की रुचिवाले को नहीं बैठती, हों! व्यवहार को कहा है न! व्यवहार से समझाया है, परन्तु तू व्यवहार की रुचि (करे) तो सुनने के योग्य नहीं, ले, ऐसा पुरुषार्थसिद्धि उपाय में कहा है। आहाहा! उसका—व्यवहार का जिसे प्रेम है, वह यह सुनने के योग्य नहीं। क्योंकि व्यवहार की बात आयेगी और तुझे उसका प्रेम है, इसलिए व्यवहार से रहित आत्मा है, यह बात तुझे नहीं रुचेगी—नहीं सुहायेगी। आहाहा! कठिन काम!

भगवान अन्दर निर्मलानन्द प्रभु, कहते हैं, शुद्ध सदा अति उज्ज्वल विराजता है। त्रिकाल शुद्ध आनन्दस्वरूप है। निर्मल... निर्मल... सरोवर निर्मल जल से भरा हुआ है, ऐसा भगवान ज्ञान के निर्मल भाव से भरपूर है। अरे! परन्तु कहाँ पड़ा है स्वभाव, उसकी नजर नहीं और उसमें नहीं ऐसे पुण्य-पाप के ऊपर नजर है, इसलिए वह दिखने में आता नहीं। **मायाके फंद अरुझत नांही...** परन्तु माया अर्थात् राग आदि विकल्प के प्रेम में तुझे दिखता नहीं। **माया के फंद...** छोड़ता नहीं छोड़ता, कहते हैं। माया का फन्द छोड़ता नहीं, इसलिए दिखता नहीं, ऐसा।

तेरौ सरूप न दूंदकी दोहीमैं... आहाहा! **तुम शुद्ध स्वाधीन और अत्यन्त निर्विकार हो, तुम्हारी आत्मसत्ता पर माया का प्रवेश नहीं है।** पुण्य-पाप के विकल्प का प्रवेश नहीं। **तुम्हारा स्वरूप भ्रमजाल और दुविधा से रहित है।** भ्रम से कहे कि पर में सुख है।

उन सब भ्रमणा से भी भिन्न है। दुविधा—पुण्य और पाप की दुविधा से भी रहित है। **जो तुम्हें सुझता नाहीं...** है तो ऐसा, परन्तु तुझे दिखता नहीं। आहाहा! कठिन! यह तो सब निश्चय... निश्चय की बातें हैं, कहते हैं, उसमें हमारे व्यवहार करके निश्चय प्राप्त करना, यह बात तो इसमें आती नहीं। ऐई! व्यवहार करें तो फिर धीरे-धीरे प्राप्त करेंगे। यहाँ तो कहे, व्यवहार से भिन्न है। भिन्न कर तो मिलेगा। उससे (व्यवहार से) मिलेगा नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया?

तोहीमैं है तोही सूझत नांही... तेरा भगवान तो अन्दर ज्ञानानन्द सहजानन्द मूर्ति अनादि वस्तु तेरी तेरे पास है। तू है। **तोहीमैं है तोही सूझत नांही...** तुझे दिखता नहीं, ऐसा कहते हैं। हाँ, परन्तु यह तो सब निश्चय की बातें कीं। परन्तु अब उसमें व्यवहार करते... व्यवहार पहले करे तो निश्चय प्राप्त हो, ऐसा आया या नहीं? आ गया कि व्यवहार से भिन्न पड़ तो प्राप्त होगा। ऐई! हमें तो व्यवहार निभाना... क्या कहा? निभाते हुए... व्यवहार तो निभाते हुए आत्मा का दर्शन करना, आत्मा की शुद्धि करना। धूल भी शुद्धि नहीं होगी, ऐसा यहाँ कहते हैं। व्यवहार के विकल्प से चीज़ ही अत्यन्त भिन्न है। आहाहा! जिसे अभी समझण का ठिकाना नहीं होता, व्यवहारश्रद्धा का ठिकाना नहीं होता कि राग से आत्मा को कुछ लाभ नहीं होता, व्यवहार से भिन्न पड़े तो लाभ होता है। व्यवहार को रखकर लाभ होगा? आहाहा! ऐसे का ऐसे अवतार व्यर्थ गये अनन्त जगत के। धर्म के नाम से भी....

तोहीमैं है तोही सूझत नांही... तुझे सूझता नहीं। तुझे खबर नहीं, कहते हैं। ठीक। **आत्मस्वरूप की पहिचान ज्ञान से होती है।** अब लो!

★ ★ ★

काव्य - ४८

आत्मस्वरूप की पहिचान ज्ञान से होती है (सवैया तेईसा)

केई उदास रहैं प्रभु कारन,
केई कहैं उठि जांहि कहींकै।

केई प्रनाम करैं गढ़ि मूरति,
केई पहार चढैं चढ़ि छींकै।।
केई कहैं असमानके ऊपरि,
केई कहैं प्रभु ठिहे जमींकैं।
मेरो धनी नहि दूर दिसन्तर,
मोहीमैं है मोहि सूझत नीकै।।४८।।

शब्दार्थः-उदास=विरक्त। गढ़ि=बनाकर। मूरति (मूर्ति)=प्रतिमा। पहार (पहाड़)= पर्वत। असमान (आसमान)=ऊर्ध्वलोक। हेठि=नीचे। जमीं (जमीन)=धरती। दिसन्तर (देशान्तर)=अन्य क्षेत्र, विदेश।

अर्थः-आत्मा को जानने अर्थात् ईश्वर की खोज करने के लिये कोई तो बाबाजी बन गये हैं, कोई दूसरे क्षेत्र में यात्रा आदि को जाते हैं, कोई प्रतिमा बनाकर नमन-पूजन करते हैं, कोई छीके[१] पर बैठ पहाड़ों पर चढ़ते हैं, कोई कहते हैं कि ईश्वर आसमान में है और कोई कहता है कि पाताल में है; परन्तु हमारा प्रभु दूर देश में नहीं है-हम ही में है सो हमें भले प्रकार अनुभव में आता है।।४८।।

पद-४८ पर प्रवचन

यह आत्मा का भान अन्तर के ज्ञान से होता है। बाहर की मूर्ति-फूर्ति और यात्रा से नहीं होता, ऐसा कहते हैं। **केई उदास रहैं प्रभु कारन... आत्मा को जानने अर्थात् ईश्वर की खोज करने के लिये कोई तो बाबाजी बन गये हैं...** बाबा। छोड़ दो सब, एक ओर जंगल में रहो। परन्तु जंगल में रहे तो वे भगवान कहाँ थे वहाँ? ऐसे बाबा बनकर कुटुम्ब-कबीला छोड़कर अकेले जंगल में चले जाओ। परन्तु अकेले.... वहाँ कहाँ भगवान थे? भगवान तो यहाँ अन्दर है। आहाहा! **केई उदास रहैं प्रभु कारन...** उदास... उदास... नास्ति से ऐसे। पूरा जगत मेरा नहीं, यह नहीं। तेरा नहीं, परन्तु तुझमें क्या है, उसकी उसे खबर नहीं।

१. बुन्देलखण्ड में सीका कहते हैं।

उदास रहैं प्रभु कारन, केई कहै उठि जाहिं कहीकै... भागो, भाई यहाँ से (भागो)। देखो। **कोई दूसरे क्षेत्र में यात्रा आदि को जाते हैं।** लिखा है न अन्दर। अर्थ में है। सम्मेदशिखर चलो, शत्रुंजय चलो, वहाँ से मिलेगा। घर में रुंघावुं, दुकान में बैठना, उसकी अपेक्षा.... वहाँ से मिलेगा। सिद्धगिरि में मोक्ष होगा। ऐसा अज्ञानी उसकी.... कहते हैं या नहीं अपने? मरण करना तो सिद्धगिरि में करना। वह सिद्धगिरि में कहाँ है? सिद्धगिरि तो यहाँ है। आहाहा! **केई कहै उठि जाहिं कहीकै...** भागो यहाँ से। यह स्त्री-पुत्र और व्यापार-धन्धा ... छोड़। छोड़कर जाना कहाँ है तुझे? जंगल में गया, वहाँ भगवान है? भगवान तो यहाँ अन्दर है।

वह लड़का कहता था न अपना दिलीप। दिलीप कलकत्ता। १२ वर्ष का है न। अभी नहीं यहाँ। उसका पिता भी नहीं, उसके दादा भी नहीं यहाँ। अभी गये होंगे कलकत्ता। वह एक बार कहे... यह धर्मचन्दभाई के साली का पुत्र और यहाँ सतीश का छोटाभाई कमलेश। यहाँ गया होगा खाने... वहाँ एक है वह बादाम का वृक्ष है हरा। वह खाने गया था। यहाँ दिलीप है। है न बड़ा गृहस्थ, नहीं? जादवजीभाई के पुत्र का लड़का। बहुत लाखोंपति है, कलकत्ता के। यह ब्याजबटाव-हुण्डी का धन्धा है।

वह दिलीप कहे उस लड़के को—कमलेश को, 'ऐई कमलेश! तेरे माँ-बाप पड़े हैं खड्डे में और अपने को खड्डे में डालना चाहते हैं।' १२ वर्ष का, हों! गुणवन्तभाई! गुणवन्तभाई तो कहते थे कि वीर्यवाला है। अभी कहते थे नहीं दो दिन पहले? वीर्यवाला है। है १२ वर्ष का, परन्तु .... ऐसा.... हमारे वजुभाई तो ऐसा कहते हैं कि यह तो कोई (मुमुक्षु) आत्मा मरकर आया है।

मुमुक्षु : अपना कोई मुमुक्षु....

पूज्य गुरुदेवश्री : कोई मुमुक्षु मरकर आया। यह ऐसा कैसे बोलता है एकदम? तो उसको (कहे), चल, हम जंगल में जायें।

यह मेरे माँ-बाप कहते हैं, यह पढ़ो... पढ़ो... पढ़े, अनन्त बार पढ़े। यह पढ़ा कहलाये? याद है कुछ पठन का? यह पढ़ाई नहीं। ऐसा बोलता है। ऐसा बोले वह... उसके पिता को एकबार बुलावे। कहे, अपने जंगल में जायें। तब वह कमलेश कहता

है। अपने बोर्डिंग में है। 'परन्तु हमें जंगल में जाकर करने का तो यह है न, पर से भिन्न आत्मा को जानना। वह तो यहाँ भी हो सकता है।' उसने ऐसा जवाब दिया। वह बड़ी उम्र का है। मेट्रिक में आया। यह (दिलीप) छोटी उम्र का है। ऐसा बोलता है...। आत्मा की बात सूक्ष्म आवे ११वीं गाथा की। (तो) बोले कि आहाहा! ऐसा आत्मा! ऐसा आत्मा! जगत को ऐसी वस्तु क्यों नहीं बैठती? ऐसा बोले। आहाहा! ऐसी बात सुनने को मिले तो भाग्यशाली है, ऐसा बोले। स्वतन्त्र आत्मा है न! उसमें कहाँ किसी के आधीन है यह आत्मा? आहा! चलो भागो भाई, ऐसा कहे, यह बाबा होंवे।

केई प्रनाम करैं गढ़ि मूरति... मन्दिर बनाओ, अच्छी प्रतिमा लाओ और भगवान को प्रणाम करेंगे। वे वहाँ कहाँ भगवान थे? वह तो शुभभाव है। ऐई! है? **केई प्रनाम करैं गढ़ि मूरति...** मन्दिर बनावे, लाख, दो लाख, पाँच लाख, दस लाख का और मूर्ति ऐसी... ऐई मलूकचन्दभाई! कैसी बनायी है तुम्हारे यहाँ? अहमदाबाद। वह मलूकचन्दभाई के प्रमाण नहीं बनायी। मन्दिर नहीं बना अभी इनके प्रमाण में। इन कीर्तिवाले मनुष्य प्रमाण ऐसा बना नहीं। ऐई! यह तो मूर्ति ऐसी बनी है। है न? हाँ। अन्यमति देखने आते हैं अहमदाबाद में। क्या कहलाता है वह?

मुमुक्षु : खाडिया।

पूज्य गुरुदेवश्री : खाडिया। परन्तु कहते हैं कि वह प्रणाम करे, वह तो शुभभाव है। वह कहीं धर्म है? वहाँ से आत्मा मिलेगा? उस वस्तु में माल कुछ (नहीं है)। वीतरागमार्ग में ऐसा नहीं। ऐई! वहाँ से आये न, ऐसा आया वापस। है तो पुराने व्यक्ति। बहुत बार सुना हुआ है, इसलिए इतनी दिक्कत नहीं आती। नया तो भागे। नहीं त्रम्बकभाई?

मुमुक्षु : भड़के कि यह क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : है? अर्थ में लिखा है, देखो!

कोई प्रतिमा बनाकर नमन-पूजन करते हैं। प्रतिमा का नमन, पूजन और भक्ति। ऐसी धुन करो, बस। यह क्या है उसमें? वह तो शुभभाव है। वह कहीं धर्म है या संवर-निर्जरा है या सम्यग्दर्शन वहाँ से होगा? कहो। तो किसलिए यह सब कराया

आपने वहाँ? हरिभाई वहाँ थे उस भोजनशाला में। अब कितने लोग जीमते, नहीं? भोजनशाला में कितने लोग जीमते, नहीं? तीन-तीन हजार, चार हजार। सब हरिभाई के सिर पर था यह सब। कर सकते होंगे? नहीं?

देखो, स्वयं मूर्ति को माननेवाले... आगे कहेंगे। हम मानो यह मूर्ति और इससे हमको यह विवेक आया है न! परन्तु वह तो निमित्त से कथन है न, व्यवहार से बात है। है न, किसमें? चौदह गुणस्थान में? यह शुरुआत की है न इन्होंने। चतुर्दस गुणस्थान? कितने पृष्ठ पर है? ३३५। ओहोहो! हाँ, यह। लो। ३३५ कहाँ आया? ३३५?

मुमुक्षु : ३६५।

पूज्य गुरुदेवश्री : ३६५। हाँ, यह बराबर है।

मुमुक्षु : ३६४ के बाद।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, हाँ, यह लो भाई! **जाके मुख दरससों भगतके नैननिकौं, थिरताकी बानी बढ़ै चंचलता विलसी।** ३६५ पृष्ठ पर है। यह शुभभाव की बात करते हैं। यहाँ कहते हैं कि वह शुभभाव है, वह कहीं धर्म नहीं। आवे अवश्य, परन्तु वहाँ से परमात्मा मिल जाये, ऐसी चीज़ नहीं है। विशेष कहेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १००, आषाढ़ कृष्ण २, शनिवार, दिनांक १०-०७-१९७१
बन्ध द्वार काव्य - ४८ से ५१

४८वाँ चलता है न! **आत्मस्वरूप की पहिचान ज्ञान से होती है।**

यह करना यह। यह सब ऐसा कहता है कि यह, परन्तु यह नहीं, यह नहीं, परन्तु तब करना क्या हमारे? किये बिना चले नहीं जिन्दगी में, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : स्पष्टीकरण तो करना पड़ेगा न आज?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कहते हैं, देखो। **केई उदास रहै प्रभु कारन...** कितने ही तो प्रभु के कारण से उदास और बाबा हो जाये जोगी—साधु। परन्तु भान-बान उसे है नहीं। बाबा हो जाये, इससे कहीं आत्मा प्राप्त हो, ऐसा है (नहीं)। स्त्री-पुत्र छोड़ दो, भागो जंगल में। वहाँ कहाँ परन्तु जंगल में भगवान था? भगवान तो यहाँ है अन्दर।

मुमुक्षु : पर का तुझे लाभ नहीं, ऐसा आप कहते हो, इसलिए छोड़ना तो पड़े न?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह छोड़ना नहीं। राग का संग छोड़कर स्वभाव का संग करना, ऐसी बात है। पर को छोड़े कौन? (कौन) छोड़े और ग्रहण करे? आहाहा!

उदास... उदास पर से। यह स्त्री, पुत्र, परिवार सब ठगों की टोली है। छोड़ो, भागो। भागकर कहाँ जायेगा तू वहाँ? आत्मा क्या चीज़ है, उसका तो तुझे ज्ञान नहीं और ज्ञान बिना उसकी प्राप्ति होती (नहीं)। ज्ञान करना, ऐसा कहते हैं। बाबूभाई! वहाँ ऐसा कहे, कितने ही बातें करते हैं अहमदाबाद में। भाई! बात तो कितने ही ठीक लगती है, परन्तु फिर करना क्या हमारे? यह फलाना नहीं, यह नहीं, यह नहीं, यह नहीं, करना नहीं। अब करने का तो इनकार करते हैं, तब करना क्या? ऐई बालचन्दजी! आहाहा!

कहते हैं कि वह पर से भागे, इससे आत्मा मिले, ऐसा है नहीं। आत्मा अन्दर सच्चिदानन्दस्वरूप है। भगवान सर्वज्ञ ने कहा, ऐसा आत्मा का वह ज्ञान करे, उसकी श्रद्धा करे, उसमें रमणता करे तो आत्मा प्राप्त होता है। तो पहले अभी ज्ञान तो करे उसका कि चीज़ क्या है? ज्ञानगुण को सुधारना, वह तो कुछ करना नहीं मानो इसे। ज्ञानगुण जो राग की एकता में है, और परसन्मुख के झुकाव में है, वह ज्ञान बिगड़ा हुआ

है। उस ज्ञान को ज्ञान में... यह आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप हूँ, आनन्द हूँ, ऐसा उसका ज्ञान करना, उस ज्ञान से आत्मा की प्राप्ति होती है। कहो, समझ में आया?

केई उदास रहै प्रभु कारन... ईश्वर प्राप्त करने के लिये आत्मा का साक्षात् करने के लिये बाबा होकर भागे। मुँडाओ। मुँडाकर क्या है वहाँ? यह आत्मा अन्दर स्वयं सच्चिदानन्द शुद्धस्वरूप है। वह तो अन्तर के ज्ञान द्वारा प्राप्त हो, ऐसा है। बाहर के किसी बाह्य त्याग से, बाबापने से कुछ मिले, ऐसा (नहीं)। समझ में आया? **केई कहै उठि जांहि कहीकै...** चलो अब सम्मेदशिखर की और शत्रुंजय की, सिद्धगिरि की यात्रा करें। वहाँ कहाँ भगवान था सिद्धगिरि में? वह तो एक शुभभाव भक्ति का होता है, बीच में (आता है), परन्तु उससे धर्म हो जाये और उससे जन्म-मरण मिटे, यह वस्तु नहीं।

'तन मन्दिर में जीव जिन।' योगसार में है न? मन्दिर, मूर्ति और देव। मन्दिर और मूर्ति में देव नहीं, वह तो स्थापना (निक्षेप) है। वह तो भक्ति का शुभभाव होता है, तब उसका वहाँ लक्ष्य जाता है, पुण्य बँधे इतना। परन्तु उससे आत्मा को धर्म हो, (ऐसा नहीं)। यह सिद्धगिरि की ९९ (यात्रा) कर-करके मर जाये ऐसे सवेरे से शाम चढ़-चढ़कर। भटका भटक है। परन्तु यह कठोर लगे, हों! स्पष्ट करना चाहिए, ले। परन्तु यह पूर्णिमा की बड़ी यात्रा हुई न!

मुमुक्षु : .... सब पानी में गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : सिद्धगिरि, कदम्बगिरि और वह क्या कहा?

मुमुक्षु : हस्तगिरि।

पूज्य गुरुदेवश्री : हस्तगिरि। और हस्तगिरि है।

मुमुक्षु : चौक में।

पूज्य गुरुदेवश्री : वहाँ आगे है। आहाहा!

सिद्धगिरि तो यह आत्मा है, अनन्त... अनन्त... ज्ञान-दर्शन-आनन्द से भरपूर। उसका अन्दर ज्ञान करे और अन्दर में जाये तो आत्मा की प्राप्ति हो तो धर्म होता है। ऐसा है। आहाहा! बाबूभाई! तो क्या करना? यह करना परन्तु... आत्मा वस्तु है, अब उसमें ज्ञान-दर्शन-आनन्द गुण है। अब गुण की पर्याय सुधारना, यह करना नहीं? यह करना

है। यह तो मिट्टी जड़ है, उसे कुछ सम्बन्ध नहीं। यह तो बात (स्पष्ट है)।

केई कहै उठि जांहि कहीकै... भागो भाई, यात्रा करो। पहले तो बेचारे गाड़ी में यात्रा करते। दो महीने-तीन महीने में आते। अब तो रेल और.... चार महीने में आवे और फिर अगवानी करे सामने। यात्रा करके आये हैं। उन लोगों में यात्रा करने जाये और गंगाजल लेकर आवे न.... गंगाजल लेकर यह थोड़ा-थोड़ा दे। धूल भी नहीं कहीं।

यहाँ तो कहते हैं, सम्मेदशिखर में लाख बार, करोड़ बार जा, उससे धर्म नहीं, ले। यह अन्तर में आत्मा आनन्दस्वरूप है, उसके समीप जाये। राग के समीप है, वह स्वभाव के समीप जाये तो धर्म होता है। कहो, गुणवन्तभाई! एक तो ऐसा कहते कि स्थानकवासी में मानो मूर्ति मानते नहीं थे। और यहाँ आये मूर्ति में, तो मूर्ति में धर्म नहीं, ऐसा कहते हैं।...पूर्व की गन्ध रह गयी लगती है, कहे। ऐई! यह ऐसे के ऐसे हैं। मूर्ति मानना, वह वस्तु एक शुभभाव है। ऐसा भाव होता है। बिल्कुल नहीं मूर्ति—प्रतिमा और उसकी पूजा, ऐसा माने, वह तो मिथ्यादृष्टि है। परन्तु मूर्ति की पूजा से धर्म होता है, (ऐसा माने), वह भी मिथ्यादृष्टि है। समझ में आया? यह कठिन काम, भाई!

सिद्धगिरि में मरे, हो गया। वह (अन्यमत में) काशी में करवत ले तो वहाँ मोक्ष हो। यह (जैन) कहे, सिद्धगिरि में मरे तो मोक्ष होता है। धूल भी नहीं होता। सिद्धगिरि में कुछ चींटी और कौवे और कुत्ते मरते हैं वहाँ। उसमें क्या भला हुआ?

मुमुक्षु : वे सिद्धगिरि की यात्रा करने न आये हों....

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु यात्रा करने आये हों, तो शुभभाव-विकल्प है, राग है। आहाहा! यात्रा... यह यात्रा तो, यहाँ अन्तर में ज्ञानानन्द चिदानन्दस्वरूप के ऊपर आरूढ़ हो, वह यात्रा है। आहाहा! समझ में आया? **केई प्रनाम करैं गढ़ि मूरति...** मूर्ति बनावे, मन्दिर बनावे और प्रणाम करे। जय भगवान! जय भगवान!

मुमुक्षु : करना पड़ेगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान शिवपद दे न प्रभु! वहाँ कहाँ था, (तेरा) शिवपद था? भगवान कहते हैं। आहाहा!

यह तो भक्ति का भाव होता है, वह शुभभाव है क्योंकि परद्रव्य है न! प्रतिमा या

भगवान साक्षात् परमात्मा हो, परन्तु वह परवस्तु है और परद्रव्य-अनुसार वृत्ति हो, वह राग की ही होती है, धर्म की नहीं होती। स्व चैतन्यद्रव्य के अनुसार परिणति होती है, वह धर्म। अभी तो इसकी खबर भी नहीं। इसकी खबर, इसका ज्ञान, इसकी व्यवहारश्रद्धा तो करे। आहाहा! कहते हैं, **केई प्रनाम करैं गढ़ि मूरति...** इससे कहीं भगवान आत्मा प्राप्त होता नहीं। उससे समकित होता नहीं, ऐसा कहते हैं। ले, ९९ पूर्व वार... कहा न, वहाँ ऋषभदेव आये थे। उनकी पूजा करो, ९९ पूजा करो, तुम्हारा कल्याण (होगा)। अरे, लाख करके मर जाये तो भी कल्याण नहीं, ले। ऐई बाबूभाई! राग की मन्दता है, पुण्य बाँधे और मिथ्यात्व साथ में है। उससे मुझे धर्म होता है। परद्रव्य के अनुसार मेरा मुझे धर्म होता है, यह मिथ्यात्व की महा विपरीतता है। आहाहा!

केई पहार चढैं चढ़ि छींकै... चल न सके तो भी निर्बलता से भाई करो, डोली करो। डोलीवाले को तुरन्त वहाँ बुलाये। कहे, डोली। डोली रखी। चलो पर्वत पर, भाई! शक्ति नहीं परन्तु अब भगवान से भेंट तो कर आयें। वहाँ भगवान है? वह तो स्थापना है। और साक्षात् भगवान हो तो वह तो पर है। वह कहाँ तेरा यह भगवान है? आहाहा! तेरा भगवान तो यहाँ अन्दर में है। ज्ञानानन्दमूर्ति अतीन्द्रिय आनन्द का सागर, उसके समीप में उसका ज्ञान करे, उसकी श्रद्धा करे, उसमें स्थिर हो, वह धर्म है। यह करना तो इसे सूझता नहीं। यह करना तो इसे भासित नहीं होता।

दो-चार यात्रा कर डाले। एक शत्रुंजय की, एक गिरनार की, एक सम्मेदशिखर की, एक पावापुरी की।

मुमुक्षु : चम्पापुरी की।

पूज्य गुरुदेवश्री : चम्पापुरी की। लो, वासुपूज्य भगवान वहाँ से (मोक्ष गये हैं)। क्या आया उसके पास यह चम्पापुरी का वह बना वह गढ़?

मुमुक्षु : गुणावत।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, वह तो गौतम का।

मुमुक्षु : मन्दार...

पूज्य गुरुदेवश्री : मन्दारगिरि। वहाँ (गये) थे न। जा आये हैं न, सर्वत्र जा आये

हैं न! सर्वत्र जा आये हैं। मन्दारगिरि, चम्पापुरी और भागलपुर, सर्वत्र जा आये हैं न! पावापुरी और....

मुमुक्षु : राजगृही।

पूज्य गुरुदेवश्री : राजगृही के पाँच पहाड़, सर्वत्र जा आये हैं। वह तो एक भक्ति का शुभभाव होता है, वह पुण्यभाव है। वह पाप से बचने के लिये ऐसा भाव हो, परन्तु वह कोई धर्म है और उससे करते-करते कल्याण हो जायेगा, ऐसा नहीं है।

यह व्यवहार उत्थापते हैं। व्यवहार से धर्म नहीं होता, ऐसा इसमें कहते हैं।

मुमुक्षु : धर्म स्थापित करना है, उसमें उत्थापित कहाँ कहलाये?

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! तो फिर करना किसलिए? कोई नहीं जाये, ऐसा कहते थे। बाबूभाई कहते थे।

मुमुक्षु : अरे, परन्तु राग करके....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह राग आये बिना रहता नहीं। समकिती को भी होता है और अज्ञानी को भी होता है—ऐसा भाव आता है, परन्तु समझना चाहिए कि वह पुण्य है, धर्म नहीं। आहाहा! समझ में आया? ऐसी खींचतान हो गयी है न! एक व्यक्ति ने पूरी मूर्ति—प्रतिमा, मन्दिर उत्थापित कर दिये; एक व्यक्ति ने उसमें धर्म है, ऐसा स्थापित किया। दोनों खोटे हैं। इसमें कहाँ अब यह ढाँककर रखा है? यह तो उघाड़ा मार्ग है। मार्ग यह है।

केई पहार चढैं चढ़ि छींके... चाहे जैसे भी एकबार भगवान के निकट भेंट कराओ। यह मरते हुए भी भगवान की मूर्ति के पास जाये, लो। यह मूर्ति के पास जाये, वहाँ तो शुभभाव है। समझ में आया? अन्तर चैतन्यस्वरूप आनन्द और ज्ञान का सागर है। उसका ज्ञान करे अर्थात् ज्ञान का ज्ञान करे, आत्मा का ज्ञान करे, आत्मा की श्रद्धा करे और आत्मा में स्थिर हो, वह धर्म है। भारी कठिन मार्ग भाई! यह दस-दस हजार लोग जाये यात्रा में और उसमें यदि यह रखा हो, (ऐसी चर्चा करे तो) भागे। कहे, भागो। उसने पूछा था कल किसी को। कहा, कितने लोग आये इस यात्रा में? पूछा नहीं किसी लड़के को? कहे, ८-१० हजार होंगे। गया होगा। कौन गिनने गया था। परन्तु उस

समय यदि यह कहा हो कि इसमें धर्म नहीं है। हाय! हाय! तब वह स्थानकवासी प्रसन्न हों। हं, ठीक लगता है यह।

मुमुक्षु : ऐसी बात महाराज रखते हैं अवश्य।

पूज्य गुरुदेवश्री : उन स्थानकवासी को ऐसा कहे कि पूजा का भाव न आवे और भक्ति न आवे और देव-गुरु-शास्त्र की मान्यता का (भाव न आवे), प्रतिमा और मन्दिर आदि है, ऐसा न आवे तो वह मिथ्यादृष्टि है। ऐई! गई बात ....।

मुमुक्षु : परन्तु हो ऐसा कहलाये न।

पूज्य गुरुदेवश्री : वस्तु तो ऐसी है न। आवे भाव। भक्ति का भाव हो, परन्तु वह भाव शुभ है, पुण्य है। परद्रव्य सन्मुख की वृत्ति है, वह धर्म नहीं। धर्म तो भगवान आत्मा आनन्दस्वरूप के समीप में जाकर उसका ज्ञान करे, उसकी श्रद्धा करे, उसका नाम धर्म है। कहो, कान्तिभाई! तुम तो स्थानकवासी थे, इसलिए इस मूर्ति में धर्म न माने तो ठीक लगे। मूर्ति में धर्म नहीं, ऐसा माने तो और बाबूभाई को ठीक न लगे। एक मन्दिरमार्गी और एक स्थानकवासी। यह तो एक दृष्टान्त है।...

केई कहैं असमानकै उपरि... कोई कहे कि भगवान ऊपर रहते हैं। वहाँ भगवान ऊपर रहते हैं, वे तो सिद्ध भगवान हैं। तू कहाँ वहाँ है? **केई कहैं प्रभु हेठि जमींकै...** इसमें लिखा है यह, हों! देखो, पाताल में है, कोई कहे कि पाताल में है।

मुमुक्षु : जाते हैं न भगवान पाताल में जाते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, वह और अलग है। यह तो पाताल में वह लिखा है। कुरानवाले मुसलमान पाताल में मानते हैं, ऐसा लिखा है। इसमें है इसमें। उसमें नहीं नहीं? कोई कहे कि पाताल में है।

मुमुक्षु : भगवान पाताल में....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह और अलग। यह तो इन्होंने ऐसा लिखा है। कितना है यह?

मुमुक्षु : ४८।

पूज्य गुरुदेवश्री : ४८। देखो, निकला। कोई तो प्रभु को आसमान पर कहते हैं, कोई श्रद्धा लिये... कोई जमीन के नीचे प्रभु कहते हैं। ऐसी कुरानवाले की (मान्यता) है, लो। ऐसा दूसरे में लिखा है, हों! कुरान मुसलमान ऐसा कहते हैं। यह कुछ सुना नहीं। कहीं होगा। (उनकी मान्यता प्रमाण) नीचे भगवान रहते होंगे। ऐसे (मान्यता) कुरानवाले की है। यह बात... मेरो धणी कहीं नीचे नहीं और ऊपर भी नहीं। है न?

मेरो धनी नहि दूर दिसंतर... मेरा प्रभु मुझसे दूर नहीं और दूसरा देशान्तर में कहीं नहीं। वहाँ सम्मेदशिखर में भी नहीं भगवान। भाई! अब जिन्दगी में एकाध बार सम्मेदशिखर के दर्शन कर आयें तो जन्म सफल। धूल भी सफल नहीं, सुन न अब! ऐई, माणेकलालजी! यह सब उत्थापित हो जाता है यह तो व्यवहार।

मुमुक्षु : जैसा है, वैसा स्पष्ट होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार होता है, परन्तु वह व्यवहार धर्म का कारण है या उससे धर्म होता है, ऐसा नहीं है। ऐसी बात है। कठिन पड़े, हों! यह सब अहमदाबादवालों को।

मुमुक्षु : अपूर्व बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अपूर्व बात है, कहे। मार्ग तो ऐसा है। अनादि का है। वीतराग परमेश्वर तीर्थंकर केवली अनादि से ऐसा कहते आये हैं। यह कोई नयी बात (नहीं है)। सुनी न हो, इसलिए इसे नयी लगे।

मेरो धनी नहि दूर दिसंतर... परन्तु मेरा प्रभु दूर देश में नहीं। **मोहीमैं है...** 'मैं स्वयं ही परमात्मा ईश्वर हूँ। आनन्द और ज्ञान का स्वभाव, वह मैं स्वयं ईश्वर हूँ।' **मोहीमैं है मोहि सूझत नीकै...** मेरे ज्ञान में मुझे बराबर भासित होता है, ऐसा कहते हैं। देखो, है? **हमें भले प्रकार अनुभव में आता है।** राग और पर के अनुभव में आत्मा नहीं। परन्तु आत्मा अपने स्वभाव का अनुभव करे तो उसमें आत्मा उसे जानने में आवे। उसका नाम उसने धर्म और आत्मा के सन्मुख देखा और जाना और माना, ऐसा कहा जाता है। दिशा बदलना कठिन बात है।

मुमुक्षु : करनेयोग्य यह है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसे (बाह्यक्रिया) करके होगा, ऐसा नहीं, ऐसा (अनुभव) करके होगा यहाँ, ऐसी बात है यहाँ तो। आहाहा!

कितने ही इस मत के होते हैं कि दो-चार मन्दिर बनायें, पाँच-दस लाख खर्च करें अथवा खर्च करायें। साधु के पास पैसा न हो तो खर्च करावे।

मुमुक्षु : अनुमोदन।

पूज्य गुरुदेवश्री : अनुमोदन नहीं, करावे। तुम हमारे भक्त हो। तुम ऐसा करो। देखो, कैसा सरस मन्दिर हुआ तुम्हारे नहीं अभी नया? पालीताणा में। वह सब नया बनाया न। केसरियाजी। देखा था, हों। अन्दर गये थे एक बार। वळता अन्दर न गये और एक साधु था। आओ, आओ, कहे, देखो अन्दर केसरियाजी। कहा, देखा नहीं। देखा है, अन्दर गये थे एक बार। केसरियाजी कहाँ... ? वहाँ केसरियाजी कहाँ था? केसरिया तो यहाँ है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! **मोहीमैं है मोहि सूझत नीकै... नीकै** अर्थात् बराबर अनुभव में आता है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! अन्तर्मुख देखने से—ज्ञान में आत्मा को लेने से अनुभव में बराबर 'यह आत्मा' ऐसा आता है। उसे—अनुभव को आत्मा का धर्म कहा जाता है। आहाहा!

★ ★ ★

काव्य - ४९

पुनः (दोहा)

कहै सुगरु जो समकिती, परम उदासी होइ।
सुथिर चित्त अनुभौ करै, प्रभुपद परसै सोइ।।४९।।

शब्दार्थ:-परम=अत्यन्त। उदासी=वीतरागी। परसै=प्राप्त करे।

अर्थ:-श्रीगुरु कहते हैं कि जो सम्यग्दृष्टि अत्यन्त वीतरागी होकर मन को खूब स्थिर करके आत्म-अनुभव करता है, वही आत्मस्वरूप को प्राप्त होता है।।४९।।

काव्य-४९ पर प्रवचन

कहै सुगुरु जो समकिती, परम उदासी होइ। उसमें अकेला उदास कहा था, यह तो परम उदास। उसमें कहा था न, **केई उदास रहै प्रभु कारन। कहै सुगुरु जो समकिती, परम उदासी होइ।** राग और निमित्त से परम उदासीन। **सुथिर चित्त अनुभौ करै। सुथिर चित्त...** अपने चित्त को स्थिर करके, आत्मा आनन्द और ज्ञान है, उसका जो अनुभव करे। यह करे आया, देखो! बाबूभाई! अनुभव करे, ऐसा। परन्तु एक....

मुमुक्षु : करना, वह तो राग है।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु करना अर्थात्? करना, वह राग कहाँ है? अनुभव करे, ऐसा कहना है यहाँ। यह तो क्या करना, ऐसा आया यह तो। **सुथिर चित्त अनुभौ करै...** स्थिर चित्त होकर आनन्द का अनुभव करे आत्मा का। **प्रभुपद परसै सोइ...** वह प्रभुपद को स्पर्शे अर्थात् आत्मा प्रभु स्वयं, उसे स्पर्शता है। आहाहा! गजब! जगत से पूरी बातें बहुत अन्तर परन्तु।

मुमुक्षु : अन्तर ही हो न।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा!

उसमें वह हीरा-माणेक, चाँदी और सोना.... अब चोरियाँ कितनी होती हैं, देखो न! बहुत चोरियाँ, ओहोहो! वह साढ़े चार फीट की प्रतिमा, पाँच-सात मण की। आठ व्यक्ति आये बन्दूक लेकर, लो। ९०० वर्ष पहले की महावीर भगवान की। ओहोहो! दो मोटर लेकर आये और एक जीप। जीप में डालकर ले गये लोग। उसमें लेते थे और पैर टूट गये। उन्हें तो वह यह ऐसा .... रूप से चाहिए हो न। अभी हाथ आयी नहीं। अभी महीने पहले विष्णु की मूर्ति पचास लाख की गयी। वह तो फिर पकड़ में आ गयी मुम्बई में। पचास लाख की धातु की ऊँची।

मुमुक्षु : कांसा की।

पूज्य गुरुदेवश्री : हो, हो सब धातु। आहाहा! चोरियाँ... चोरियाँ... चोरियाँ... चोरियाँ...

इसे कौन चोरे? भगवान आत्मा सत्ता—अस्तिरूप आनन्द और ज्ञान से भरपूर भगवान, उसे कौन रक्षा करे तो रहे और न करे तो न रहे, ऐसा है? निर्जरा अधिकार में आ गया है। बात यह कि यह वस्तु है, उससे (बाह्य) चीज़ भिन्न है। राग के विकल्प से भी भिन्न है, ऐसा उसे आस्था में बैठता नहीं, विश्वास नहीं आता। यह अन्दर भगवान पूर्ण आनन्दस्वरूप ही हूँ, ऐसा विश्वास नहीं आता। यह सब देखे। यह देखे, उसका विश्वास आता है। देखनेवाला कौन कितना है, उसका विश्वास नहीं आता। आहाहा! साधु को भी वापस बाहर मान रखना, मन्दिर बनाना, नाम लगाना। लिखें अन्दर, फलाना महाराज ने बनाया है और फलाना महाराज ने... कहाँ नाम थे? भगवान! तू कहाँ था यहाँ? आहाहा! अरेरे! कहाँ का कहाँ भटकता है और मानता है कि हम धर्म करते हैं और कराते हैं।

यह सोने के भगवान.... भरत चक्रवर्ती ने तो सोने के तीन काल के बिम्ब नहीं बनाये थे? वे मुफ्त में बनाये होंगे?

मुमुक्षु : मुफ्त में ही बनाये न। उनके पास बहुत पैसे थे। उसकी उन्हें क्या कीमत?

पूज्य गुरुदेवश्री : भरत चक्रवर्ती ने तीन काल की (चौबीसी की) ७२ प्रतिमायें सोने की भले बनायी। परन्तु इससे क्या हुआ? वह तो शुभभाव था। समझ में आया? भरतेश में आता है न, भरतेश वैभव में। भरतेश वैभव में आता है। हेमचन्दजी! आया? पढ़ा है? भरतेश वैभव नहीं? बहिन के पास नहीं होगा ताराबेन के पास? भरतेश वैभव है, एक होगा। है या नहीं? बहिन के पास होगा कहीं। ताराबेन के पास, नहीं?

उसमें एक बात आती है। भरत के पुत्र हैं, उनके मामा, उनके सम्बन्ध करने आये। मामा में विवाहते हैं न। बुआ-मामा में विवाहते हैं। यह भरतेश में आता है भरतेश वैभव में। बड़ी पुस्तक है गुजराती में। थी हिन्दी परन्तु गुजराती.... अपने यहाँ बहुत थी, समाप्त हो गयी। यहाँ तो साढ़े सात-आठ लाख पुस्तकें बहुत प्रकाशित हुईं। .... और बहुत गाड़ियाँ जाये। उसमें उस लड़के का सम्बन्ध करने आये हुए उसके मामा। उनकी कन्या देने। फिर उसमें मामा के साथ बात हुई कि भाई, देखो! भेदरत्नत्रय, वह वस्तु नहीं, उससे धर्म नहीं। साक्षात् ऋषभदेव भगवान विराजते हैं अपने दादा। उन्हें

मानने से और उनकी पूजा से भी धर्म नहीं। अभेदरत्नत्रय से धर्म है। ऐसी उसके मामा के साथ बात हुई और लड़के को तो बैठे हुए थे पहले से।

फिर अब उसके पिता के साथ—भरत के साथ बात होने लगी। भरत कहते हैं, देखो! अपने दादा ऋषभदेव भगवान हैं। कहो, उन्हें माने और पूजा (करें) तो धर्म नहीं होगा? यह कहता है, पिताजी! तुम यह क्या कहते हो? क्या बदल गये? तुम पहले कहते थे न कि परद्रव्य के कारण से धर्म नहीं होता। यह ऋषभदेव दादा हैं और उन्हें माने, इसलिए धर्म होगा, ऐसा नहीं है। तब वह भरत कहते हैं, परन्तु तू कैसे बदल गया? लड़के को कहते हैं। यह तेरा मामा कन्या देने आया, वह उसके लोभ में बदल गया तू? भगवान को मानना नहीं? ऋषभदेव भगवान त्रिलोकनाथ साधु होकर, मुनि होकर केवली हुए। उन्हें मानने से और उनकी भक्ति से धर्म नहीं? 'अरे पिताजी! क्या कहते हो यह तुम? और यह कहाँ से बदल गया तुम्हारा यह?' लड़का कहता है, हों!

आप कहते थे न कि भेदरत्नत्रय से तो धर्म नहीं होता। अभेद चैतन्यमूर्ति भगवान का आश्रय श्रद्धा-ज्ञान करे तो धर्म होता है, ऐसा कहते थे। वाह शाबाश वाह! फिर कहे, बेटा शाबाश, जाओ। तेरी बात सच्ची है, कहे। आता है न उसमें। भरतेश वैभव में।

मुमुक्षु : परीक्षा करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ। यह तो बात, परीक्षा तो ठीक। यह तो उनकी बात हुई।

मुमुक्षु : आता है या नहीं, इतना।

पूज्य गुरुदेवश्री : आता है इतना। तो वहाँ और परीक्षा की कही।

मुमुक्षु : नहीं तो यह जवाब देने को इसमें लिखा जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसकी टेव है। चलता हो कुछ और डाले कुछ। मैंने तो उसमें है या नहीं, इतना कहा था। मुझे खबर है कि इसकी परीक्षा करने के लिये, उसका हेतु ऐसा था। कहो, समझ में आया इसमें? ऐई, कान्तिभाई!

अपने बहुत पुस्तकें बिक गयीं अभी। अभी है या नहीं, खबर नहीं। भाई ने किया था कुछ झाटकिया ने। अमृतलाल (झाटकिया) ने गुजराती किया था। अमेरलीवाला, नहीं? उसमें यह लिखा था, लो। भेदरत्नत्रय, वह व्यवहाररत्नत्रय है। देव-गुरु-शास्त्र

को मानना और उनकी पूजा करना, वह सब शुभराग है। उससे कल्याण और धर्म नहीं होता। अरे, परन्तु यह दादा धर्मकेवली होकर बैठे, उन्हें नहीं मानना? तुम क्या कहते हो यह? कहे, मानना, नहीं मानने का कौन कहता है यहाँ? उन्हें मानना, वह शुभराग है। कहो, उनके लड़कों को वहाँ आगे ऐसे उत्तर देना आवे। बात बैठी हो तब ही (जवाब) दिया न उसने। यहाँ तो बड़ों को कुछ भान नहीं होता। साठ-साठ वर्ष के हुए हों, चालीस वर्ष से मुँडाकर बैठे हों। तो भी कहे, नहीं, धर्म होता है। भगवान को मानने से धर्म नहीं होगा? परन्तु कौनसा भगवान? पर भगवान या यह भगवान? गजब, भाई!

यह तो कहा न, **कहै सुगुरु जो समकिती...** सुगुरु ऐसा कहते हैं और उसकी मान्यता और अनुभव है, ऐसा कहते हैं। कहे सद्गुरु—ज्ञानीगुरु ऐसा कहते हैं कि **समकिती परम उदासी होई...** पर निमित्त और राग से उदास होकर, **सुथिर चित्त अनुभौ करै...** उससे उदास कहा और यहाँ हुआ स्थिर। व्यवहार के राग से भी हटकर **सुथिर चित्त अनुभौ करै...** आत्मा के अन्दर में अनुभव करे। यह निश्चय आया। **प्रभुपद परसै सोइ...** वह आत्मस्वरूप को प्राप्त होता है, लो। आहाहा! **प्रभुपद परसै सोइ...** प्रभुपद आत्मा चिदानन्द प्रभु को **परसै** अर्थात् अनुभव करे, इसका नाम भगवान धर्म कहते हैं। यह है, वीतरागमार्ग में यह है। इससे विरुद्ध कहे, वे गुरु भी नहीं और शास्त्र भी नहीं और धर्म भी नहीं। इतना तो निर्णय तो करे। यह तो उसमें धर्म होगा। वाह महाराज वाह!

एक व्यक्ति कहे, नकार करे और तुम स्थापते हो बात। यह बात तो... उसकी अवश्य ही हो न। व्यवहार से होगा न? सीधे चरण निश्चय के? एकड़ा आता न हो और एम.ए. की परीक्षा? सुन न अब! यह सब दलील तो सुनी है या नहीं? .... कब के कहते आये हैं बहुत वर्ष से। यह तो एम.ए. की बात है। पहले एकड़ा सीखो, व्यवहार सीखो। क्या सीखे, सुन न अब! अनादि से सीखा हुआ ही है यह तो। यह व्यवहार के विकल्प और उसके निमित्त, उसके ऊपर से दृष्टि छोड़कर आत्मा के ऊपर दृष्टि देने से आत्मा का ज्ञान और अनुभव हो, तब उसे धर्म होता है। इसके अतिरिक्त कोई यह लाख-करोड़ क्रिया करके मर जाये, दया-दान, व्रत, तप, यात्रा, पूजा, सम्मेदशिखर और सिद्धगिरि। समझ में आया?

अब यहाँ परसों तो पूर्णिमा के दिन तो कितने ही.... पूर्णिमा नहीं चौदस, नहीं? अन्त में चौदस को शाम-शाम को। परन्तु तब यहाँ वर्षा थी। सवेरे गये थे गाँव में। वर्षा बहुत थी दोपहर में। यह और लोग कुछ जाये हजारों। झट भगवान से मिलें और पहले भगवान से मिलें वे। आहाहा! भगवान को विनय करे इतनी। हमको मुक्ति दो। भगवान कहते हैं कि मुक्ति मेरे पास नहीं। मेरे सामने देखने से तुझे मुक्ति मिले, ऐसा नहीं। आहाहा! शान्तिभाई!

क्या करना यह...? कहा न, अनुभव करे। आहाहा! मैं तो एक जाननेवाला-देखनेवाला चैतन्यतत्त्व हूँ, उसका अनुभव करना, उसकी श्रद्धा, उसका ज्ञान और रमणता, बस, यह प्रभुपद स्पर्शे। यह प्रभुपद को स्पर्शता है। प्रभु अर्थात् आत्मा। है न, देखो न अर्थ में, ऐसा कहा है। **वही आत्मस्वरूप को प्राप्त होता है।** अब कहते हैं कि व्यवहार में तो मन की चंचलता खड़ी होती है। ऐसा कहते हैं। इस चंचलता को रोके और स्वरूप में दृष्टि करे तो धर्म होता है। आहाहा! **मन की चंचलता।** देखो।

★ ★ ★

काव्य - ५०

मन की चंचलता (सवैया इकतीसा)

छिनमैं प्रवीन छिनहीमैं मायासौं मलीन,
छिनकमैं दीन छिनमांहि जैसौ सक्र है।
लियैं दौर धूप छिन छिनमैं अनंतरूप,
कोलाहल ठानत मथानकौसौ तक्र है।।
नटकौसौ थार किधौं हार है रहटकौसौ,
धारकौसौ भौंर कि कुंभारकौसौ चक्र है।
ऐसौ मन भ्रामक सुथिरु आजु कैसे होई,
ओरहीकौ चंचल अनादिहीकौ वक्र है।।५०।।

शब्दार्थः-प्रवीण=चतुर। सक (शक्र)=इन्द्र। ठानत=करता है। मथान=बिलोवना।

तक्र=छाँछ। थार=थाली। हार=माला। चक्र=चाक। भ्रामक=भ्रमण करनेवाला। चंचल= चपल। वक्र=टेढ़ा।

अर्थः-यह मन क्षण भर में पण्डित बन जाता है, क्षण भर में माया से मलिन हो जाता है, क्षण भर में विषयों के लिये दीन होता है, क्षण भर में गर्व से इन्द्र जैसा बन जाता है, क्षण भर में जहाँ-तहाँ दौड़ लगाता है और क्षण भर में अनेक वेष बनाता है। जिस प्रकार दही बिलोवने पर छाँछ की गड़गड़ी होती है, वैसा कोलाहल मचाता है; नट का थाल, रहट की माला, नदी की धार का भँवर अथवा कुंभार के चाक के समान घूता ही रहता है। ऐसा भ्रमण करनेवाला मन आज कैसे स्थिर हो सकता है, जो स्वभाव से ही चंचल और अनादि काल से वक्र है।।५०।।

काव्य-५० पर प्रवचन

छिनमैं प्रवीन छिनहीमैं मायासौं मलीन... लो! छिन में प्रवीण, छिन में माया सो मलिन, प्रवीण के सामने मलिन। '**छिनकमैं दीन छिनमांहि जैसौ सक्र है।**

लियैं दौर धूप छिन छिनमैं अनंतरूप,
कोलाहल ठानत मथानकौसौ तक्र है।।
नटकौसौ थार किधौं हार है रहटकौसौ,
धारकौसौ भौंर कि कुंभारकौसौ चक्र है।
ऐसौ मन भ्रामक सुथिरु आजु कैसे होई,
ओरहीकौ चंचल अनादिहीकौ वक्र है।।५०।।

ऐसौ मन भ्रामक सुथिरु आजु कैसे होई... कहते हैं कि परसन्मुख में तो भ्रमणा ही होती है मन की। चंचलता ही होती है। वहाँ कहीं अन्दर स्थिरता हो, ऐसा है (नहीं)। आहाहा! भगवान को—प्रतिमा को ऐसे देखे बराबर ऐसे। वह क्या है? वह प्रतिमा तो परद्रव्य है। उसकी ओर देखे तो विकल्प है। उसमें और यह तो वापस आंगी-बांगी रचकर देखे भगवान को, कहो। सिर पर मुकुट तीन लाख का, सोना-चाँदी के बाजूबन्ध। ऐसे डाले, नहीं? यहाँ कुछ। एकबार गये थे न ९५ में।

मुमुक्षु : कोट-पैंट पहनावे।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो अब कोट-पैंट, इत्र लगावे न! आहाहा! इत्र की एक बूँद में महापाप। ऐसे इत्र लगावे और उसमें अर्क डाले। तब गये थे न! (संवत्) १९९५ में। अपने भाई साथ में आये थे न साकळचन्दभाई। साकळचन्दभाई वहाँ उनके— श्वेताम्बर के वकील थे। श्वेताम्बर के वकील। ६००-७०० कुछ वेतन होगा।

(संवत्) १९९५ में साथ में थे यहाँ से। फिर दर्शन नहीं किये परन्तु बैठे थे। श्वेताम्बर के (मन्दिर में बैठे), परन्तु दर्शन तो यहाँ दिगम्बर के (किये)। फिर वह मुकुट था न ऊपर, इसलिए फिर एक व्यक्ति आया। कहे, मुकुट नीचे उतारा है देखना हो तो। अभी भी.... साकळचन्दभाई थे। वकील थे ऐसे श्वेताम्बर के। यह तो स्थानकवासी मोरबी के। यहाँ के पालनेवाले यहाँ थे। साथ में थे यात्रा में। यह उन्होंने कहा हुआ, भाई यह लोग मेहमान हैं साथ में इन्हें देखना हो तो। इसलिए मुकुट नीचे उतार। तीन लाख का था। अब भगवान को मुकुट और यह सब क्या लगाया? आहाहा! यह तो अकेली वीतराग मुद्रा हो तो भी उसके दर्शन से शुभराग है। आहाहा! परन्तु वह तो प्रशस्तराग है न?

मुमुक्षु : परन्तु राग है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु प्रशस्त है न? अच्छा है न? अच्छा कौन कहता है, सुन न अब! वह तो अशुभ की अपेक्षा से उसे प्रशस्त कहा, धर्म की अपेक्षा से वह तो प्रशस्त नहीं, वह तो अशुभ है। आहाहा! क्या हो परन्तु अब? धर्म के बहाने लूटमार चली है। आहाहा!

अरे! जीवन जाता है। कोई उसे सहायता करनेवाला नहीं। आहाहा! यदि सत्य बात को समझा नहीं और अनुभव में, दृष्टि में लिया नहीं तो सब थोथे-थोथा है। अभी लाख लोगों को धर्म प्राप्त कराया, ऐसा मानता हो, मन्दिर बनाये हों करोड़ों। क्या वह .... नहीं राजा? ढाई करोड़ कितने बनाये? सम्पत राजा ने। यह कुछ कहते हैं, अपने को बहुत अंक...

मुमुक्षु : सवा लाख।

पूज्य गुरुदेवश्री : सवा लाख जिनबिम्ब बनाये। ऐई! आता है न? यह सब खबर हो उसे। सवा लाख क्या, सवा करोड़ बनाये तो भी धर्म नहीं, ले। और बनाये क्या वह? पर की क्रिया आत्मा कर सकता है? मन्दिर बना सकता है आत्मा? मूर्ति को स्थापित कर सकता है आत्मा? वह तो परवस्तु है। उसका भाव हो मन्दता का कदाचित्, तो शुभभाव है। और उसमें धर्म माने, सच्चा धर्म इससे होता है (ऐसा माने तो) मिथ्यात्व को पोसता है। आहाहा! यह वह गजब काम, भाई! मन्दिर बनाये और फिर कहना कि मन्दिर से धर्म नहीं। यह भारी मार्ग है। बनावे कौन? उस काल में होनेवाला हो, वह होता है। बना सकता था कोई?

यह परमागम (मन्दिर) होता है, लो। तो कहते हैं, करने से होता है न? किया होगा तब होता है न? किसने किया है? सुन न! यह तो मुम्बईवालों ने ८० वर्ष में... ८० न? ८०। सूझा कि भाई, अपने मन्दिर का भाव है तीन लाख का। ऐसा वे कहते थे। सुना हमने तो यहाँ। यहाँ किसे वहाँ पूछते थे? तीन लाख का बनाना है। अब करते... करते... करते... दस-बारह (लाख) तक आ गया है। अब यह करने से होता है? कौन करे उसे? आहाहा! कितने लाख आये हैं? यह सब खबर है न। प्रवीणभाई को खबर है।

मुमुक्षु : पौने नौ।

पूज्य गुरुदेवश्री : पौने नौ। लो, यह इसे खबर हो न! पौने नौ लाख तो आ गये हैं। कौन लावे? वह तो आनेवाले हों वे (आते हैं)। बनावे कौन? अपने भाई यह कराने का भाव है। करने का भाव कर्तापना? परद्रव्य की क्रिया का कर्ता मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! यह कठिन काम, भाई!

यहाँ तो कहते हैं, क्या कहा? आया नहीं? मन... मन की आयी न? **छिनमैं प्रवीन छिनहीमैं मायासौं मलीन,...** लो। घड़ीक में बड़ा पण्डित लगे मन में। बातें करे जानपने की और फिर... **(यह मन) क्षण भर में पण्डित बन जाता है।** मन-मन। ज्ञान में पण्डित नहीं। मन में .... बातें करे बड़ी, ऐसा है और ऐसा है। उसमें क्या हुआ तुझे? वह तो संकल्प-विकल्प है। मन से होता ज्ञान, वह बन्ध का कारण है। आहाहा! **क्षण भर में माया से मलिन (हो जाता है)।** घड़ीक में वापस और, आहाहा! कीर्ति और

पैसा, स्त्री-पुत्र में बैठा हो, मलिन चित्त... जिसे कुछ सम्बन्ध नहीं उसे। तो भी घड़ीक में पण्डित दिखायी दे मूर्ख और घड़ीक में मूर्ख दिखायी दे (पण्डित)। यह मन की चंचलता है, कहते हैं। यह चंचलता छोड़कर आत्मा में स्थिर की दृष्टि करना, इसका नाम सम्यग्दर्शन है। आहाहा!

पहला सम्यग्दर्शन तो प्रगट करे। करने की तो यह क्रिया है। वह साथ में होता नहीं? होता है। शुभभाव नहीं? सुनने में आवे, वह शुभभाव नहीं?

मुमुक्षु : शुभभाव है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह अभी क्या है? यह सुनने का शुभभाव है। वहाँ धर्म है? समझ में आया? धर्म तो, यह सुनने का जो विकल्प है, उससे भिन्न चीज़ मैं हूँ अन्दर, (ऐसी) दृष्टि करे, राग से भिन्न पड़े, तब धर्म होता है। आहाहा! ऐसा कठिन मार्ग, भाई! **छिनमैं....** कहा न घड़ीक में। घड़ीक में मलिन। **छिनकमैं दीन छिनमांहि जैसौ सक्र है...** घड़ीक में दीन हो जाये, रंक हूँ, भाई, हम तो पामर हैं। **क्षणभर में विषयों के लिये दीन होता है।** मुझे पाँच इन्द्रिय के विषय मिलें, कीर्ति मिले, भोग मिले, यह सब। भिखारी, घड़ीक में मन में भिखारी। यह मुझे ऐसा साधन मिले, ऐसी स्त्री मिले, ऐसे पुत्र, ऐसी कीर्ति और ऐसा पैसा और ऐसी दुकान और ऐसे माल तथा ऐसे मुनीम। दीन-भिखारी है। आहाहा!

क्षणभर में गर्व से इन्द्र जैसा बन जाता है। गर्व माने। हम इन्द्र हैं, हमारे पास सब है। धूल। आहाहा! क्षण में तो इन्द्र जैसा अभिमानी होता है, कहते हैं। मन... मन... मन से होता है, वह धर्म नहीं, ऐसा सिद्ध करना है। बन्ध अधिकार है न। **दीन छिनमांहि जैसौ सक्र है, लियें दौर धूप छिन छिनमैं अनंतरूप... क्षणभर में जहाँ-तहाँ दौड लगाता है।** मुम्बई और विलायत, यह और वह... वहाँ दो लाख रोकूँगा तो ऐसा होगा, ढींकणा रखूँगा तो ऐसा। ऐसा करो और ऐसा करो।

मुमुक्षु : माल विलायत में खपे तो क्या करे?

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या माल... भाई जाते हैं न, देखो न! गोदिका। जाये दो-चार महीने और दो-चार लाख ले आवे। लोग जाने कि आहाहा! धूल भी नहीं वहाँ। सुन न

अब! वह तो उसके पूर्व का पुण्य हो तो आना हो वह आता है और मन घड़ीक में दौड़-धूप करे परन्तु वापस।

और उसमें तो अभी साधन एक देखो न। ६००-६०० मील हो तो एक घण्टे में-दो घण्टे में जाओ। और वह अपने को तो बड़ा कहे। मुम्बई से अफ्रीका जाये वह। छह घण्टे में। कितने मील ?

मुमुक्षु : २२००।

पूज्य गुरुदेवश्री : बस, २२०० छह घण्टे में २२०० मील, लो। तब तो जाये... दो घण्टे में ४०० मील जाता है वह। वह जाता है। यह अहमदाबाद से दो घण्टे में जयपुर। ४०६ मील है। दो घण्टे तो वह हो। आहा! यह तो मन की दौड़-धूप। घड़ीक में जयपुर और घड़ीक में विलायत। घड़ीक में मुम्बई और घड़ीक में अहमदाबाद। आहाहा! दौड़-धूप, लो।

और क्षणभर में अनेक वेश बनाता है। अनन्त रूप है न अनन्त। **छिनमैं अनंतरूप...** कुछ भिन्न-भिन्न विकल्प के बनावे अन्दर अशुभभाव अन्दर में ऐसे, लो। **कोलाहल ठानत मथानकौसौ तक्र है,...** लो। बिलौना। छाछ, छाछ बनाने का होता है न वह, क्या कहा जाता है उसे ? क्या कहा यह ?

मुमुक्षु : जोरणी।

पूज्य गुरुदेवश्री : जोरणी। उस दही को चूरा कर डाले न इसलिए, जेरनी उसका नाम है। पूरा दही हो ऐसे घट्ट। जेरणी डाले तो जेर-चूरा कर डाले। इसी प्रकार घड़ीक-घड़ीक में... **दहीं विलोवने पर छाछ की गड़गड़ी होती है।** गड़गड़ी... गड़गड़ी अन्दर, इसी प्रकार मन में। जैसे छाछ में गड़गड़ ऐसा गड़गड़ाहट विकल्प होता है। आहाहा!

स्वप्न ऐसे आवे, कल्पना ऐसी आवे। आहाहा! अरे भगवान! तू तो ज्ञानस्वरूप प्रभु है। यह कहाँ दौड़-धूप कल्पना की (लगायी है ?) आहाहा! छाछ में जैसे बिलौनी घूमा करती है, इसी प्रकार मन भटका करता है घड़ीक में ऐसे से यह और ऐसे से ऐसा। ऐसे से ऐसा। एक बार अहमदाबाद और एक बार मुम्बई और एक बार कहीं। अब आत्मा में स्थिर होना हो तो उसके बदले... नहीं, यह हमारा काम नहीं भाई! आहाहा!

कोलाहल ठानत मथानकौसौ तक्र है।

नटकौसौ थार... नट का थाल। ऐसे घुमावे न यह थाल। अपने था एक व्यक्ति कोई, करता था एक।

मुमुक्षु : मधुकर।

पूज्य गुरुदेवश्री : मधुकर। परन्तु वह दूसरा था अपना बनिया।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन?

मुमुक्षु : भजन मण्डलीवाला।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, वह। एक था। परन्तु ऐसा.... क्या है परन्तु यह?

मुमुक्षु : भजन करे।

पूज्य गुरुदेवश्री : भजन वहाँ कहाँ आया उसमें? दुनिया का दिखाव करना हो कि हमको यह आता है। थाल तो उसके कारण से फिरता है, हों! वह ऐसे... ऐसे करता है, इसलिए फिरता है, ऐसा नहीं है। अरे, अरे! कठिन बातें! यह ऐसे-ऐसे करे, इसलिए थाल फिरता है, ऐसा नहीं है। थाल तो स्वयं के कारण से उस पर्याय में उस प्रकार से फिरता है। आहाहा! ऐसा थाल का जैसे चक्र फिरता है, वैसे अज्ञानी का मन **नटकौसौ थार कीधौं हार है रहट कौसौ...** यह रहट है न। पानी ऊपर से निकले और नीचे फिरे नहीं यह?

मुमुक्षु : रहट... रहट....

पूज्य गुरुदेवश्री : रहट। रहट में से। **रहटकी माला,** लो। माला है न वह एक, ऐसा। ऐसे अन्दर डोली भरी हो। डोली हो सब पूरी। ऊपर से पानी निकले और नीचे से भरता जाये। इसी प्रकार मन में एक विकल्प जाये, वहाँ दूसरा आवे और दूसरा जाये वहाँ तीसरा आवे। वह रुई को कांतते हैं न, इसी प्रकार कांता ही करे एक के बाद एक संकल्प-विकल्प। आहाहा! ऐसा कहते हैं, देखो।

धारकौसौ भौंर कि कुंभारकौसौ चक्र है। धार के भंवर की भाँति। नदी में चक्र

होता है न भंवर... भंवर... यह चक्र पानी में ऐसे।

मुमुक्षु : भंवर खाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : भंवर खाये। इसी प्रकार इसका मन भंवर खाता है। घड़ीक में कुछ, घड़ीक में कुछ दूसरा। ओहोहो! स्त्री का विचार आवे तो स्त्री, आहाहा! अपने घर में होशियार, हों! ऐसी स्त्री मिली। अपना पुत्र भी होशियार पका। ऐसे के ऐसे कल्पना के घोड़े दौड़ाकर मन को चंचल करता है, कहते हैं। अस्थिर करता है, वह बन्धभाव प्रगट करता है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! कुम्हार का चक्र, लो, ठीक। कुम्हार का चक्र होता है न, घूमे ऐसे फिरा करता है।

मुमुक्षु : चाक।

पूज्य गुरुदेवश्री : चाक। इसी प्रकार मन चंचल रहा ही करता है। प्रभु का स्वभाव तो स्थिर होने का है, ज्ञान करने का है। ज्ञान करके स्थिर होने का है। इसके बदले ऐसे भाव में चंचल होकर अस्थिर हो जाता है, ऐसा कहते हैं।

ऐसौ मन भ्रामक सुथिरु आजु कैसे होई... ऐसा जो मन भ्रमणा और अज्ञान में स्थिर कैसे हो? ज्ञान करे तो स्थिर हो। कि यह चंचल कल्पना मेरा स्वरूप नहीं है। पर को मैं कुछ कर नहीं सकता। मैं तो ज्ञानस्वरूप शुद्ध चैतन्य हूँ। इस प्रकार अन्तर में ऐसी दृष्टि करे, स्थिर हो। **औरहीकौ चंचल अनादिहीकौ वक्र है।** अनादि का है यह वक्र— वांका अनादि का, ऐसा। 'मनडुं केम रहीने बाजे' ऐसा आता है न? 'कुंथु जिन मनडुं...' आनन्दघनजी में आता है।

लो। **मन की चंचलता पर ज्ञान का प्रभाव। ग्यानके जगैसौं निरवाण पथ धसा है।** सिद्ध यह करना है न। सम्यग्ज्ञान हो तो ऐसी कल्पना हट जाती है और कोई कल्पना-अस्थिरता हो तो उसका ज्ञाता-दृष्टा रहे। यह तो कल्पना का ही स्वामी हो जाता है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

★ ★ ★

काव्य - ५१

मन की चंचलता पर ज्ञान का प्रभाव (सवैया इकतीसा)

धायौ सदा काल पै न पायौ कहू साचौ सुख,
रूपसौं विमुख दुखकूपवास बसा है।
धरमकौ घाती अधरमकौ संघाती महा,
कुरापाती जाकी संनिपातकीसी दसा है।।
मायाकौं झपटि गहै कायासौं लपटि रहै,
भूल्यौ भ्रम-भीरमैं बहीरकौसौ ससा है।
ऐसौ मन चंचल पताकासौ अंचल सु,
ग्यानके जगेसौं निरवाण पथ धसा है।।५१।।

शब्दार्थ:-धायौ=दौड़ा। विमुख=विरुद्ध। संघाती=साथी। कुरापाती=उपद्रवी। गहै=पकड़े। बहीर=बहेलिया। ससा (शशा)=खरगोश। पताका=ध्वजा। अंचल=कपड़ा।

अर्थ:-यह मन सुख के लिये हमेशा से ही भटक रहा है, पर कहीं सच्चा सुख नहीं पाया। अपने स्वानुभव के सुख से विरुद्ध हुआ दु:खों के कुएँ में पड़ रहा है। धर्म का घाती, अधर्म का संगाती, महा उपद्रवी, सन्निपात के रोगी के समान असावधान हो रहा है। धन-सम्पत्ति आदि को फुर्ती के साथ ग्रहण करता है और शरीर से मुहब्बत लगाता है, भ्रमजाल में पड़ा हुआ ऐसा भूल रहा है, जैसा शिकारी के घेरे में खरगोश भ्रमण करता है। यह मन पताका के वस्त्र के समान चंचल है, वह ज्ञान का उदय होने से मोक्षमार्ग में प्रवेश करता है।।५१।।

काव्य-५१ पर प्रवचन

धायौ सदा काल पै न पायौ कहू साचौ सुख,
रूपसौं विमुख दुखकूपवास बसा है।
धरमकौ घाती अधरमकौ संघाती महा,
कुरापाती जाकी संनिपातकीसी दसा है।।

मायाकौं झपटि गहै कायासौं लपटि रहै,
भूल्यौ भ्रम-भीरमैं बहीरकौसौ ससा है।
ऐसौ मन चंचल पताकासौ अंचल सु,
ग्यानके जगेसौं निरवाण पथ धसा है।।५१।।

यह आत्मा और रागादि का ज्ञान करना—भेदज्ञान करना, तब चंचलता नाश होती है। समझ में आया? **धायौ सदा काल पै न पायौ कहूं साचौ सुख...** भटक-भटक करे। पैसे में सुख, स्त्री में सुख, पुत्र में सुख, कीर्ति में सुख। बड़े बँगले बनावे और वास्तु करे और फिर सुख। मूढ़ है, कहते हैं। आहाहा! **यह मन सुख के लिये हमेशा से ही भटकता रहता है।** आहाहा! देश छोड़कर परदेश, परदेश छोड़कर जाये आगे, वापस। देखो न, यह अफ्रीका जाते हैं न सब महाजन लोग। कितने ही गये। अफ्रीकावासी हो नहीं तो रहने न दे वहाँ। यहाँ रहो तो रहो, नहीं तो भाग जाओ। आहाहा! सुख के लिये अज्ञानी (भटकता है), सुख है आत्मा में, उसकी श्रद्धा-ज्ञान करता नहीं। और बाहर सुख के लिये भ्रमणा... भ्रमणा... भ्रमणा। आहाहा!

भटकता रहा है, पर कहीं सच्चा सुख नहीं पाया,... लो। **रूपसौं विमुख दुखकूपवास...** कहो। **अपने स्वानुभव के सुख से विरुद्ध हुआ। रूपसौं विमुख...** अर्थात् स्वरूप (से विमुख)। भगवान आत्मा आनन्दस्वरूप है, अतीन्द्रिय सुखस्वरूप ही है। ऐसे सुखस्वरूप से विमुख **दुखकूपवास बसा है...** दु:ख के बड़े कुएँ में बसा है, कहते हैं। दु:ख के कुएँ में पड़ा है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! पुण्य और पाप के भाव, वह दु:ख का कुआँ है। शुभ-अशुभभाव दोनों। उसमें—दु:ख में पड़ा है। उससे आनन्द भिन्न है, उसका भान करता (नहीं)। आहाहा!

पर में सुख, पर में सुख, पर में सुख। दुनिया में भी कुर्सी ऐसी मिले पैसेवाले को।

मुमुक्षु : परन्तु कुर्सी मिले न, सुख नहीं मिले न?

पूज्य गुरुदेवश्री : मानता है न यह। हमारे रिश्तेदार सुखी हैं, कहे लो। क्या कहा था... रिश्तेदार सुखी हैं? पैसा है, इज्जत है, परिवार ऐसा बहोळुं है। उसमें सुख कहाँ आया? वह तो परवस्तु है। पाँच हजार वेतन महीने में, और बक्षिस मिले बारह महीने में और बड़ा ऑफिसर कहलाये। कहो, सुख होगा या नहीं उसमें?

मुमुक्षु : सुनकर पोरस करे।

पूज्य गुरुदेवश्री : सुनकर पोरस.... कोट-पैन्ट पहने, सिर पर ऐसे डाला हो। पाँच हजार, दस हजार वेतन महीने में। आहाहा! प्याला फट जाये (अभिमान चढ़ जाये), हों!

एक बार ऐसा बना था वहाँ वळा में हों, वळा में। लड़का बहुत पैसेवाला था और इज्जत बहुत हो गयी। इसलिए वळा में गया और मान बहुत दे सब। इसलिए ऊँट पर बैठकर जाता होगा, उसका पिता और दोनों। उसमें से यह गाँव में गया मान के लिये। कोई साथ में है? कहे, हाँ एक व्यक्ति साथ में है। मेरे साथ पिता है, ऐसा वह नहीं बोला। इसलिए वे कहे, परन्तु तब बुलाओ यहाँ। तुमको यहाँ भोजन करना है और यहाँ तुम्हारे.... फिर वहाँ आया उसका पिता। इसलिए उसने वहाँ ऐसा कहा हुआ कि एक व्यक्ति मेरे साथ है। यह तो मेरा व्यक्ति, ऐसा बोला भाई और उसने—उसके पिता ने सुना।

ठीक, मुझे मनुष्य (नौकर) ठहराया यहाँ। मेरा बाप है (ऐसा) बोलने में इसे शर्म लगी। फिर गाली दी ठीक से उसने—उसके बाप ने, हों! इसकी माँ का पति हूँ मैं, कहे, व्यक्ति नहीं। किसने कहा तुझे व्यक्ति? ऐसा कहकर.... वह तो... इसकी माँ का पति हूँ, ऐसा। वह तो... ... ऐसा बोले... इतना मान? मेरे बापूजी—पिताजी साथ में हैं, इतना कहते तुझे (शर्म आती है)। ... ऐसे फाटेल (अभिमानी)। यह बना था वळा में बहुत वर्ष (पहले)। बहुत जगह बनता है, यह तो बहुत जगह.... अभिमान हो न! और बाप तो साधारण कपड़ा पहनता हो, साधारण वह फेंटा-बेंटा पहनता हो और यह फिर सुधरेल (फैशनबाज) हो अधिक। आहाहा!

कहते हैं, **दुखकूपवास बसा है...** दुःख के कुएँ में पड़े हैं सब। मान और माया और लोभ, आहाहा! **धरमकौ घाती,...** लो। वह धर्म का तो घात करनेवाला है। शुभाशुभ परिणाम हो चंचल... चंचल... वह धर्म का घाती है। लो, धर्म का घात करता है पुण्य-पाप का भाव, ऐसा कहते हैं। धर्म तो नहीं, परन्तु धर्म का घात करता है। यहाँ तो मन के संग से बन्ध होता है, यह सिद्ध करना है। मन का संग छोड़कर आत्मा का संग करे तो धर्म होता है। आहाहा! बहुत कठिन (लगे) लोगों को इसलिए...

मुमुक्षु : एकदम उतरे नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं उतरे। अभिमान चढ़ गया है न अन्दर। धर्म किया है और मन्दिर बनाया है और यह किया है। धूल भी किया नहीं, मर जायेगा। निगोद में जायेगा, सुन न! दुनिया तुझे चाहे जितना बड़ा ठहराये। वस्तु के स्वभाव से विरुद्ध तू मानता है इसलिए कहीं तत्त्व मिल जाये तुझे?

मुमुक्षु : बिल्कुल नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा!

धरमकौ घाती अधरमकौ संघाती... यह मन तो अधर्म का संगात है। पुण्य-पाप भाव दोनों अधर्म हैं, ऐसा कहते हैं। देखो, भाई! यहाँ तो स्पष्टीकरण किया। ऐई! मन का संग होने पर जो शुभाशुभ परिणाम होते हैं, वे दोनों अधर्म का संगात है। आहाहा! ऐसे पुण्य-पाप के विकल्परहित भगवान आत्मा चैतन्य की अन्दर दृष्टि करना, उसमें सुख है, उसमें शान्ति है और उसमें धर्म है। मन के विकल्प में कुछ धर्म है (नहीं)। आहाहा! धर्म का घाति है और अधर्म का संघाति है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! वापस संघाति महा, ऐसा। अधर्म का महासंघाति है। आहाहा!

कुरापाती जाकी संनिपातकीसी दसा है,... लो। महाउपद्रवी है। कुरापाती शब्द है, है न अन्दर, (अर्थात्) उपद्रवी। मन में शुभ-अशुभ के संकल्प-विकल्प, वह तो महाउपद्रव है। भगवान आत्मा उस मन के संगरहित, उन पुण्य-पाप के रागरहित है। उसका संग—असंग का संग करने से धर्म होता है। मन का संग करने से धर्म होता नहीं। आहाहा! बात ऐसी....

कुरापाती जाकी संनिपातकीसी दसा है,... सन्निपात जैसी दशा है, कहते हैं। आहाहा! है न? सन्निपाती कहा न? उपद्रवी और **सन्निपात के रोगी के समान असावधान हो रहा है।** सन्निपातिया को कुछ भान नहीं। आहाहा! चांपो यहाँ है। आता है न, भाई अनुभवप्रकाश में? भूल गया मेरा चांपो। वह शाम को घर में आया। उसे ऐसा कि चांपो बाहर है। स्वयं चांपो था। स्त्री को कहे, उघाड़ो। कौन है? कहे, चांपो यहाँ है? तब तुम कौन हो? ऐसे आत्मा है? परन्तु तू कौन है? यह आत्मा है, वह आत्मा आनन्द और ज्ञान है। ऐसे सन्निपतिया भानरहित होते हैं। उन्हें मन के संग में होनेवाले विकल्प सन्निपात जैसे हैं, कहते हैं। फिर विशेष कहेंगे। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

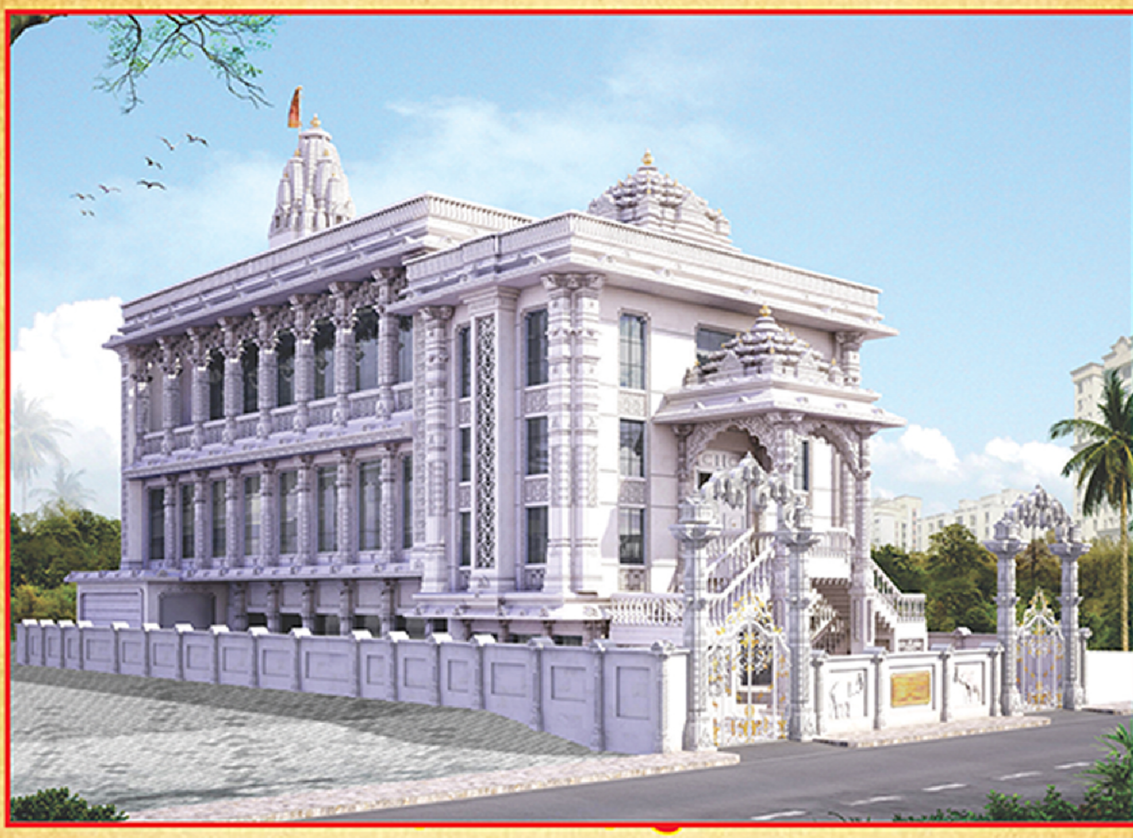

श्री सीमंधरस्वामी दिगंबर जिनमंदिर
विले पार्ला , मुंबई